बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 37 (अप्रैल-जून, 2013)
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट -हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा -442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक - 09422386554, ईमेल - amishrafaiz@gmail.com
मो. सहायक संपादक - 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com
प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
E-mail : bpsjnu@gmail.com फोन. 07152-232943, मो. 08055290240

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशन रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है ।

प्रचार प्रसार : रामप्रसाद कुमरे email: ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. 08055916194,09406546762
बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट - हिंदी विश्वविद्यालय , वर्धा 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903
वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**, के नाम से जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें । मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं ।
पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली -110032, मो. 09212796256
यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर / 7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर / 5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : अशोक सिद्धार्थ, रेखांकन: सिद्धेश्वर / ईशा मिश्रा

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA, GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

कंपोजिंग ले आउट : सन्नी गोस्वामी, पीसी लैब, सीहोर, म.प्र. (फोन : 07562-405545, 7828313926)
email: sunnysubeer@gmail.com
मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा , दिल्ली - 110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)
email : ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक

दूसरे समय में कहानी / 5

कहानी

बल्लू चाचा उवाच : अरविंद कुमार सिंह / 11

इस तरह से आती है मौत : अभिज्ञात / 21

उनके पर जानें और ये आसमां जाने : आशुतोष / 29

दुकान वाली मौसी : आकांक्षा पारे काशिव / 43

वो जो अव्यक्त है : ज्ञानप्रकाश विवेक / 67

अनुत्तरित : गोविंद उपाध्याय /82

एक रात जिंदगी : गीताश्री / 88

नर्गिस फिर नहीं आएगी : हुस्न तबस्सुम निहां / 96

बीसवां अफेयर और वेटिंग टिकट : इंदिरा दांगी / 106

सोनवारे नरहरि : जयनंदन / 114

जंजीर : ज्योति कुमारी / 123

उसके दरबार में : कैलाश बनवासी / 133

दीवारें नहीं टूटीं : कृष्णकांत / 147

बयान बिल्ला : मनीषा कुलश्रेष्ठ / 156

बुधना वाया बुद्धिदेव : नीलम शंकर / 175

बहुत देर हो गयी : नीरजा पांडे / 182

प्लीज मम्मी किल मी : प्रेम भारद्वाज / 196

दस्विदानिया : पंकज सुबीर / 207

बंधुआ लोकतंत्र : प्रदीप जिलवाने / 219

दादागिरी : राजकुमार राकेश / 236

अस्ताचल की धूप : रजनी गुप्त / 251

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा : शरद सिंह / 285
कितनी हैं सबला नारी : सरिता शर्मा / 296
अल्पविराम : शैलेय / 301
पार उतरना धीरे से : विवेक मिश्र / 314

स्मरण

सुधि आई रे के बहाने..: बंधु कुशावर्ती / 268
सुधि आई रे : सुभद्रा कुमारी चौहान / 270

साक्षात्कार

कहानी यथार्थ के आइने में जीवन का प्रतिबिंबन भर नहीं होती...
(अर्चना वर्मा से अशोक गुप्ता की बातचीत) / 47

आलेख

सृजन की नई चुनौतियों की सदी : भरत प्रसाद / 58
विचारधारा और कहानी : पल्लव / 190
कहानी की स्त्री बनाम स्त्री की कहानी : पंकज पराशर / 230
वैविध्य का संकट : राकेश कुमार सिंह / 264
हमारे समय की कहानियां : सूरज पालीवाल / 275
वर्तमान कहानी और सर्जनात्मकता की चुनौती : वैभव सिंह / 321

परिचर्चा

आज की कहानी-एक परिचर्चा : मनोज मोहन / 167

आरंभिक

दूसरे समय में कहानी

नए वर्ष की शुरुआत के साथ ही मुझे लगा कि क्यों न आज के हिंदी कहानी परिदृश्य का अवलोकन करने के लिए बहुवचन का एक भरा पूरा कहानी विशेषांक निकाला जाए और यह पड़ताल करने की कोशिश की जाए कि वर्ष 2001 से लेखन का आरंभ करने वाले नए कथाकारों ने रचनात्मकता के धरातल पर कौन से नए मूल्य जोड़े हैं, कहानी की दुनिया में कितना फेरबदल किया है और क्या कुछ छोड़ा है। हिंदी कहानी किन नए रास्तों पर आगे बढ़ी है और पहले से चली आ रही परंपरा को कितना समृद्ध कर रही है। सवाल बहुत से हैं। बहरहाल इस दिशा में कदमताल करते हुए हमने करीब सौ से अधिक नए पुराने कहानीकारों को बिना किसी भेदभाव के पत्र भेजे। हमारे पत्र का अधिकतर कहानीकारों ने ठीक-ठीक संज्ञान लिया जबकि युवा पीढ़ी के कुछेक अति चर्चित रचनाकार इससे कन्नी काटते भी नजर आए।

आज की हिंदी कहानी की परंपरा कोई 112 साल पुरानी है। हालांकि इस विषय पर हमारे यहां आलोचकों के मध्य पूर्ण मतैक्य नहीं है। हमारे कई आलोचकगण हिंदी कहानी का प्रस्थान बिंदु भारतेंदु काल को मानते हैं और कुछ उससे भी आगे बढ़कर द्विवेदी युग को। इसके आगे हम देखते हैं कि अधिकतर आलोचकों ने हिंदी की पहली कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' 1901(माधवराव सप्रे) को स्वीकार किया है। हिंदी कहानी पर बात करते हुए हम आज दावे के साथ कह सकते हैं कि साठोत्तरी पीढ़ी से लेकर बाद की कई पीढियां एक साथ सृजनरत हैं, जिनमें एकदम युवतर चेहरे भी हैं। यह हिंदी कहानी का विधागत आकर्षण ही है कि वह सभी को अपनी ओर खींच ही लेती है। अगर हम कहानी आलोचना की बात करें तो पाते हैं कि इस दिशा में शुरुआती पहली पुस्तक 1956 में प्रकाशित जानकी प्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना विधान' मानी जाती है। इसके बाद आगे चलकर वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह की पुस्तक 'कहानी नई कहानी' न सिर्फ नई कहानी आंदोलन की पड़ताल करती है बल्कि उस दौरान के नई कहानी आंदोलन से उभरे कई कथाकारों की रचना प्रवृत्तियों पर एक नए दृष्टिकोण के साथ बात करती है। इस बीच आठवें, नौंवे और शताब्दी के अंतिम दशक के दौरान कथा आलोचना का काम सुस्ती और छिटपुट रूप से चलता रहा। इस बीच आए कहानीकारों का मूल्यांकन ही नहीं हुआ। इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में कथा आलोचना की कमान युवा आलोचकों ने संभाली है और अब इस दिशा में तेजी से काम हो रहा है। वर्ष 1991 में सोवियत समाजवाद का पतन और इसी के साथ भारत में उदारवाद की शुरुआत हुई। इसी के साथ

भारत में सांप्रदायिकता का उभार विशेषकर मंदिर और मंडल आंदोलन एक साथ चले, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज जातियों में और भी बंट गया। इसकी परिणति बाबरी मस्जिद के ध्वंस के रूप में सामने आई। जाहिर है यहीं से साहित्य की दुनिया में भी बदलाव की प्रक्रिया तेजी से शुरू हुई। हिंदी की नई पीढ़ी के कहानीकारों को मंच देने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका हंस के संपादक राजेंद्र यादव की रही है जिन्होंने 1986 के बाद से लगातार संभावनाशील कहानीकारों को हंस में स्थान दिया।

इसके बाद कहानी विधा में नए कहानीकारों का प्रवेश बहुत तेजी से इक्कीसवीं सदी के नए दशक की शुरुआत के साथ होता है। यही वह महत्वपूर्ण मोड़ है जहां रवींद्र कालिया के संपादन में प्रकाशित वागर्थ के नवलेखन विशेषांक (2004) और बाद में नया ज्ञानोदय के विशेषांकों ने हिंदी में कहानीकारों की एक नई युवतर पीढ़ी को प्रकाशित कर सामने लाने में महती भूमिका का निर्वाह किया। जाहिर है बिना शक इसका पूरा श्रेय नया ज्ञानोदय के भविष्योन्मुखी संपादक रवींद्र कालिया को ही जाता है। इसी कड़ी में हम देखते हैं कथाक्रम, वसुधा, परिकथा, लमही के कहानी अंकों ने भी कहानी विधा की परंपरा को आगे बढ़ाने में अपने-अपने तरीके से योगदान दिया।

कहानी के परिदृश्य पर बात करते समय हमें ध्यान रखना होगा कि इक्कीसवीं सदी के पिछले तेरह सालों में हमारा समाज पूरी तरह से बदल चुका है। उदारीकरण के बाद हमारी सरकारों ने जिस तरह निजीकरण को बढ़ावा दिया है और बहुत से सार्वजनिक उपक्रमों को जिस तरह से मुक्त अर्थव्यवस्था के हवाले किया है उसने हमारे शहरों का यथार्थ बदला है। बहुत सारे नए रोजगार युवाओं के सामने आए हैं तो बहुत सारे अधेड़ लोगों ने अपनी नौकरियां बड़ी तादाद में बंद हुई फैक्ट्रियों की वजह से गंवाई भी हैं। बदले हुए समाज को देखने के लिए किसी शहर के रात में जगमगाते शॉपिंग माल की सैर करना काफी नहीं है बल्कि महानगरों में फ्लाईओवर के नीचे भयंकर ठंड में रात गुजार रहे लोगों को देखना किसी कड़ुवे सच से रू-ब-रू होने के समान है। ठीक इसी तरह गांवों का यथार्थ भी पहले जैसा नहीं रहा है। आज खेती ट्रैक्टर से हो रही है, खेती में यंत्रीकरण का प्रयोग तो खूब बढ़ा है पर उपज का सही दाम नहीं मिलने से किसान हताशा में है। खेती दिनोंदिन घाटे का सौदा बनती जा रही है। जाहिर है कि हमारा समय बेहद जटिल और चुनौतियों से भरा है। आज हमारे चारों ओर संचार क्रांति का शोर है, चमक-दमक है, टीवी पर सेक्स परोसते कार्यक्रम हैं; अखबार राजनीतिक बयानबाजियों, पेज थ्री पार्टियों, फैशन शो से भरे पड़े हैं; जबकि इसके ठीक उलट किसानों और बेरोजगारों की आत्महत्याओं की खबरें अखबार के कोनों में दम तोड़ रही हैं। समय के भयावह यथार्थ की जो अनुगूंजें आज समाज को मथ रही हैं जाहिर है कि यह सब कहानी में दर्ज हो रहा है लेकिन बहुत मद्धम स्वर में। यदि हम आज की कहानी की बात करें तो हमें स्वीकार करना होगा कि आज कहानियां सोवियत रूस के विखंडन और भूमंडलीकरण के बाद लिखी जा रही हैं। कहानी और समाज दोनों की बात करें तो साफ दिखता है कि वर्ष 1991 से लेकर 2010 तक का समय पूरी दुनिया और भारतीय समाज व जनमानस में भारी उलट पुलट करने वाला रहा है। इस बीच न सिर्फ हमारा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक ढांचा बदला है बल्कि साहित्य और संस्कृति की दुनिया भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाई है। निजीकरण और उदारीकरण की आंधी ने न सिर्फ जीवन का यथार्थ बदलकर रख दिया बल्कि उसे देखने का नजरिया भी बदल

दिया है। या फिर ये भी कहा जा सकता है कि वैश्विक बाजारवाद की आंधी ने कहानीकारों को भी अपने आगोश में ले लिया है। पहले हमारे अधिकतर साहित्यकार दुनिया को बेहतर बनाने की बात करते थे और रचनाओं का संदेश भी कुल मिलाकर यही होता था। इसके बरक्स आज यह सच स्वीकार कर लिया गया है कि दुनिया जैसी बननी थी वह बन चुकी है। अब तो सिर्फ अपना जीवन बेहतर बनाने की होड़ है। भारतीय संस्कृति, कृषि संस्कृति रही है जिसे हमेशा श्रम संस्कृति भी कहा जाता रहा है, जिसकी बुनियाद सामूहिकता, सहिष्णुता, सहकार और सहअस्तित्व की भावना रही है। आज वैश्वीकरण के दौर में यह सब कुछ विखंडन का शिकार हो चुका है। भूमंडलीकरण और बुद्धू बक्से ने समाज को इस तरह बदला कि सामूहिकता की भावना समाप्त हो गई और हम आज अपने घर परिवार की खोल में सिमट कर रह गए हैं। जाहिर है कि इस सारे बदलाव को हिंदी कहानी के नए और पुराने दोनों ही कथाकार बारीकी के साथ दर्ज कर रहे हैं। शुरू से ही हिंदी कहानी में शहरी मध्यवर्ग और ग्रामीण चेतना की धारा साथ-साथ चलती रही है। कहानी में गांव केंद्रित कहानियां और प्रतिरोध के स्वर इन दिनों कुछ काफी हद तक मद्धम हैं लेकिन एकदम सिरे से गायब हों ऐसा नहीं लगता। मुझे कहानी विशेषांक का संपादन करते हुए यह जरूर लगा कि इन दिनों गांव की पृष्ठभूमि और सामाजिक चेतना से लैस अपेक्षाकृत कम कहानीकार आ रहे हैं। महानगरीय चकाचौंध और गांव से पलायन इसका महत्वपूर्ण कारण कहा जा सकता है।

हरेक संपादक का स्वप्न होता है कि उसके संपादन में ऐसी रचनाएं प्रकाशित हों जो रचनात्मक उत्कृष्टता की मिसाल बनकर रह जाएं लेकिन यह एक ऐसा सपना है, जिस तक पहुंचना कई बार असंभव बनकर रह जाता है। विशेषांक का नामकरण 'कहानी का दूसरा समय' क्यों रखा उस पर मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि कहानी का पहला समय अगर वर्ष 2000 तक है तो इससे आगे का समय वर्ष 2001 से निश्चित रूप से दूसरे समय के रूप में दर्ज हो रहा है इसीलिए अंक के केंद्र में 'कहानी का दूसरा समय' है। प्रस्तुत कहानी विशेषांक में पच्चीस कहानियां हैं। अंक में युवतर पीढ़ी के साथ-साथ पुराने प्रतिष्ठित कथाकार भी हैं। दूसरी ओर आज के कहानी लेखन की पड़ताल के क्रम में पांच प्रमुख आलोचकों के लेख हैं। एक और प्रसन्नता का विषय है कि दुनिया की आधी आबादी कहानी विशेषांक में अपने पूरे संख्या बल के साथ उपस्थित है। इसी क्रम में हिंदी कहानी की अध्येता अर्चना वर्मा से कथाकार अशोक गुप्ता द्वारा की गई महत्वपूर्ण बातचीत दी जा रही है। बहुवचन द्वारा आयोजित एक परिचर्चा भी है जिसके लिए मनोज मोहन ने काफी श्रमपूर्वक हिंदी कहानी पर कहानी से जुड़े संपादकों और अध्येताओं से विचार एकत्रित किए हैं। अंक में सुभद्रा कुमारी चौहान की एक दुर्लभ कहानी 'सुधि आई रे...' बंधु कुशावर्ती की टिप्पणी के साथ दी जा रही है। हमने अपने स्तर पर कोशिश की है कि विशेषांक में हर तरह की रचनात्मकता और कहानीकारों को स्थान मिले । अंक के लिए स्वीकृत की गई कुछ कहानियां हमें रोकनी पड़ रही हैं और कई रचनाकारों ने अंतिम समय में शामिल होने की इच्छा भी जताई, उनसे सिर्फ इतना कि यह मौका फिर कभी....। बहरहाल जो भी, जैसा भी बन पड़ा बहुवचन का कहानी विशेषांक पाठकों के आस्वाद के लिए प्रस्तुत है। यह अंक कैसा लगा आप हमें मेल कर या चिट्ठी भेजकर या एसएमएस कर जरूर बताएं ।

अशोक मिश्र

कहानी का दूसरा समय

फिल्म-विशेषांक

लेखक बंधुओं से 'हिंदी सिनेमा के सौ साल' विषय पर केंद्रित बहुवचन के फिल्म विशेषांक के लिए हिंदी सिनेमा से संबंधित विषयों पर केंद्रित मौलिक/ अप्रकाशित/ अप्रसारित लेख और फिल्म निर्देशकों से बातचीत 15 जून 2013 तक आमंत्रित है। विशेष जानकारी संपादक को फोन कर भी प्राप्त की जा सकती है। लेख के लिए अधिकतम शब्द संख्या तीन हजार है।

आप लेख व अन्य सामग्री amishrafaiz@gmail.com, या amitbishwas2004@ gmail. com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट -हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005(महाराष्ट्र)

मो. नं. 09422386554

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।

- लेख के अंत में अपना नाम, पूरा पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।

- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड / मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।

- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में: लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।

- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।

- लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/ स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

संपादक

बहुवचन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, पोस्ट -हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005(महाराष्ट्र)

मो. नं. 09422386554

कहानी

बल्लू चाचा उवाच

अरविंद कुमार सिंह

बलदेव सिंह को पूरा गांव बल्लू चाचा कहकर पुकारता। वे साठ की उम्र पार कर चुके थे। निरा गपोड़ी और सनकी मानने पर भी लोग उन्हें हल्के में नहीं लेते थे। अकसर देखा जाता, उनकी गप्पों और सनक भरी हरकतों में देश की ज्वलंत समस्याओं के प्रति गहरी चिंता और तिलमिलाहट छिपी होती, जो कई बार पढ़े-लिखे, समझदार और बुद्धिजीवी माने जाने वाले लोगों में भी नहीं दिखती। इसके अलावा भी उनमें कुछ खास था-मसलन, लोगों के बीच सबसे अलग दिखाई देने और अपनी बात को प्रभावशाली बनाने के लिए वे हँसी-मजाक को अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करते, इसीलिए गांव उनके कहे को फोटका-टिपोरी या नाटक मानते हुए मजे लेता। आदमी की दुर्बलता और जीवन को बदरंग बनाने वाली जिन घटनाओं से उन्हें चिढ़ होती, वे उसका भी मजाक बनाते। हालांकि उनका मकसद किसी का दिल दुखाना नहीं, बल्कि हँसी का माहौल बनाना भर होता, जिसके बरक्स लोगों को अपना जमीर और जमीन खुद दिखाई देने लगते। लोग मानते कि उनके पास कभी खत्म न होने वाली बातों का भरपूर खजाना है, जिसे उन्होंने लोगों के बीच बैठकर या फिर टीवी-रेडियो की खबरों, किताबों, पत्र-पत्रिकाओं और अखबारों से हासिल किया है। उसे दिलचस्प बनाकर सुनाने के फन में तो खैर वे माहिर थे ही।

खाली समय घर पर काट पाना बल्लू चाचा के लिए हमेशा मुश्किल होता। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि शहर में उम्रदराज और काम से रिटायर्ड लोगों के लिए यह बड़ी परेशानी है, लेकिन गांव के आदमी के लिए आज भी नहीं। खुद बल्लू चाचा अपनी दिनचर्या को एक निश्चित सांचे में ढाल चुके थे। सुबह उठकर पहले दिशा-मैदान से फारिग होते। फिर घर के जरूरी काम निपटाते, जो हर दिन होते भी नहीं थे। फिर नहाने-धोने और नाश्ता करने के बाद दिन भर के लिए फ्री। जमीन उन्होंने बटाई पर दे रखी थी। खेती-किसानी में न कभी रुचि रही, न ही उसे व्यापार-मुनाफे का जरिया बनाया। गुजारे भर का अनाज मिल जाता था, उसी से संतोष कर लेते। इकलौता बेटा पत्नी और बच्चों के साथ परदेश में रहने लगा तो घर का बोझ और हल्का हो गया। कभी-कभी थोड़ी-बहुत आर्थिक मदद वह भी कर देता। हालांकि बल्लू चाचा को उसकी मदद की जरुरत नहीं होती-खर्चे सीमित थे। कपड़े खुद धो लेते। पत्नी खाना बना देती। मदद के लिए

एक बर्तन मांजने वाली को रखा हुआ था।

बल्लू चाचा के देखते ही देखते समय तेजी से बदला था। बैलों की जगह ट्रैक्टर-थ्रेसर आ जाने से खेत-खलिहानों में चलने वाली बैठकी का दौर लगभग खत्म हो चुका था। देशी आम के बागों में इधर लगातार कई सालों से फल न आने से गर्मी के दिनों में वहां की हलचल-रौनक भी जाती रही। लोगों की बढ़ती व्यस्तता के चलते, साथ ही, गैर जरूरी और फिजूलखर्ची मानते हुए शादी-ब्याह में बारात के ठहराने का चलन अब नहीं रह गया था। शहर जैसा रिवाज गांव में भी चल पड़ा था-झट शादी, पट बिदाई। इससे लोगों के पास गप्प मारने, एक दूसरे का दुख-दर्द बांटने और आपस में हँसी-मजाक कर लेने के लिए वक्त ही नहीं रह गया था। यही वह समय था जब गांव-देहात के बाजारों और कस्बों में कुकुरमुत्ते की तरह उग आई चाय और पान की छोटी-छोटी दुकानें लोगों की बैठकी का अड्डा बनने लगीं। ग्राहकों को आकर्षित करने और उन्हें स्थाई बना लेने के लिए दुकानदारों में होड़ लगी रहती। वे अखबार मंगाते, रेडियो-टेप हमेशा ऑन रखते।

अशोक चाय वाले की दुकान बल्लू चाचा के बैठने का स्थाई अड्डा था। बिना नागा सुबह-शाम तय समय पर वे वहां पहुंच जाते। गांव में खाली-निठल्ले लोगों की कमी नहीं होती, चार-छह लोगों का जमावड़ा वहां हमेशा बना रहता, जिनके बीच बैठते हुए बल्लू चाचा गांव-देश ही नहीं पूरी दुनिया का जायजा लेते। टीवी, रेडियो की हर महत्वपूर्ण खबर लोगों को सुनाते, जैसा कि उनका स्वभाव बन चुका था- लोगों के बीच मन को बहलाने वाली हँसी पैदा करने के लिए कई बार वे खुद भी खबरें बना देते।

भादों का उमस भरा रविवार था। अशोक की दुकान पर जमे हुए लोगों में सांपों पर बात चल रही थी, जो इन दिनों की तीखी चटख धूप और गहरी तपिश से फनफनाए हुए खुली जगह में कहीं भी दिखाई दे जाते। सांपों की प्रजातियों और उनके सबसे ज्यादा जहरीले माने जाने वालों के बारे में अच्छी-खासी जानकारी रखने वाले एक आदमी को सभी बड़ी उत्सुकता से सुन रहे थे। इसी बीच बल्लू चाचा आ पहुंचे। थोड़ी देर बाद उन्होंने अचानक रहस्योद्घाटन किया, कल रात को मुझे सांप ने काट लिया था। जिस सहजता से सांप काटने की घटना का जिक्र उन्होंने किया, एकबारगी उस पर किसी को विश्वास नहीं हो पाया। फिर भी, कब?...कहां?...कैसे? लोग वाक्य का सिरा पकड़ते ही पूरा किस्सा जानने को उतावले हो गए।

रात को मैदान से लौट रहा था। अंधेरे में पैर के नीचे जैसे कुछ चुभा। सरपत चीरने जैसा। मोबाइल के उजाले में देखता क्या हूं कि एकदम करिया भुजंग-फेटार! बिल्कुल सामने।

बल्लू चाचा के स्वभाव के कारण कई बार सच्ची घटना और नाटक के बीच घाल-मेल हो जाने का खतरा बन जाता। सही या झूठ लोग तय नहीं कर पाते। यही कारण था कि सांप के डसे हुए आदमी के प्रति दिखलाई देने वाली सहानुभूति और चिंता वहां किसी के चेहरे पर नहीं उभर सकी। हालांकि इसका कारण यह भी हो सकता था कि सांप काटने का जो समय बल्लू चाचा बता रहे थे, तब से लगभग पंद्रह घंटे होने को थे और दिन के उजाले में वे सबके सामने बिल्कुल भले चंगे थे।

तब? लोग फिर भी उनसे जानना चाहते थे।

सुबह उस जगह दुबारा गया, जहां सांप ने काटा था। विश्वास नहीं करोगे, दस फीट की दूरी पर वही सांप मरा हुआ पड़ा था। लोगों की गहरी एकाग्रता पर मन ही मन मुदित बल्लू चाचा ने खामोशी ओढ़ ली।

अरे... मगर सांप मरा कैसे? लोगों ने विस्मय से पूछा। सच तो यह था कि लोगों को बल्लू चाचा की गप्प सुनने में टाइमपास होने के साथ-साथ रस भी मिल रहा था।

जीवन में कभी भी कोई नशा न करने वाले आदमी में सांप से भी ज्यादा जहर बन जाता है, जैसे गरीब और ईमानदार आदमी के भीतर किसी धनी और बेईमान से ज्यादा गुस्सा भरा होता है... फिर तो सांप को मरना ही था। बल्लू चाचा में बस यही खास था, उन्हें सनकी मानने वाले भी उनके कायल हो जाते।

ऐसा अक्सर होता जब हँसी-मजाक के दौरान सूत्र वाक्य की तरह कोई सत्य वे उद्घाटित कर जाते। उस वक्त उनका स्वर ऊंचा और आवेग भरा दिखाई देता। यह अलग बात थी कि उनके साथ रोजाना उठने-बैठने वाले संगी-साथी ही उनकी गंभीर बात को भी हँसी-मजाक में हल्का कर देते। हालांकि, खुद बल्लू चाचा भी ऐसा ही चाहते। लोगों से मजे लेने के लिए ही उन्होंने कहा था कि कोई नशा न करने की वजह से उनके अंदर जहर है। इस अवसर को साथ बैठे हुए लोग भला कैसे छोड़ते, जबकि गप्प हांकने और सुनने में ही उनके दिन गुजरते थे। सांप पर चलने वाली चर्चा पीछे छूट गई। बल्लू चाचा को छेड़ने और उकसाने का दौर शुरू हो गया, जिसका मुकाबला वे प्रसन्नतापूर्वक करते जा रहे थे।

लेकिन बल्लू चाचा अचानक हैरत में पड़ गए, जब उन्हीं को धिक्कारता हुआ पीठ पीछे से तीव्र विरोध का स्वर सुनाई दिया, बाबू तोहरे भीतर अगर एतना जहर भरा अहइ तो आवा हमहूं के डसि ला। (बाबू तुम्हारे अंदर अगर इतना जहर भरा हुआ है तो आओ हमें भी काट लो)

सभी ने देखा, कमर से झुकी हुई, गरीबी की लगातार मार से अभिशप्त-फटेहाल, गांव की गुलबा धरिकारिन बल्लू चाचा को चुनौती देते हुए सामने आ खड़ी हुई। उसके झुर्रियों भरे चेहरे पर घृणा की गहरी लकीरें उभर आई थीं। वह कब आकर, लोगों के साथ चुप-चाप उन्हें सुनती रही थी, इस पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। लोगों ने पहले उसे गुस्सा ठंडा रखने को कहा, साथ ही यह जानने का प्रयास किया कि माजरा क्या है? उसकी उखड़ी-बेतरतीब बातों से एक गहरी नाराजगी के सिवाय कुछ साफ नहीं हो पा रहा था। लोगों ने बल्लू चाचा से जानना चाहा, उन्होंने गर्दन हिलाते हुए अनभिज्ञता जताई, लेकिन खुद उनका कौतुक बढ़ गया था। वे ज्यादा बेचैन दिखाई दिए। उन्होंने सख्ती से पूछा, तू कहना क्या चाहती है?

बुढ़ापा, कमजोरी और तीव्र रोष के आवेग में गुलबा की सांस उखड़ गई थी। कंकाल हुआ बदन बुरी तरह हांफने लगा। खड़े रहने में परेशानी महसूस हुई। वहीं, अपनी जगह पर बैठ गई। ऊपर चढ़ रही सांस को सामान्य होने दिया। दुकान में बैठे हुए लोगों की सहानुभूति उसके साथ थी और वह सभी की उत्सुकता का केंद्र बन गई थी।

बल्लू चाचा के सवाल पर वह फिर उखड़ गई। गुस्सा उसकी नाक पर जमा था। बोलने की

ताकत उसमें दुबारा लौट आई। कंगाली ने उसका सुख-चैन जरूर छीना था लेकिन मृत्यु के करीब पहुंचने तक वह बिल्कुल निडर बन गई थी, हे बाबू जान के अनजान जिन बना। तोहरे घर के बगले पट्टा पे मिली जमीन पे घर काउ बनाय लीन उ तोहरे आंखीं में हमेशा बदे करकत बा। अपने महल के बगले हमारी झोपड़ी तोहका नाय सुहात बा। जबकि, खून-पसीना के कमाई तीन हजार रुपिया परधान की जेबी में घुसेड़ के बाद उस बित्ता भर का काकर-पाथर मिला। हमार उहां बसब न देखा जाए तो आवा हमहूं के डसि ला। तोहरे भीतर तो ओइसे जहर भरा बा। (हे बाबू, जान कर अनजान मत बनो। तुम्हारे घर के बगल में पट्टा पर मिली जमीन पर घर क्या बना लिया वह तुम्हारी आंखों में हमेशा के लिए चुभ रहा है। अपने महल के बगल हमारी झोपड़ी तुम्हें नहीं अच्छी लग रही है। जबकि, खून-पसीना की कमाई तीन हजार रुपया प्रधान की जेब में डालने के बाद बित्ता भर का कंकड़-पत्थर मिला। हमारा वहां बसना नहीं देखा जाता है तो आओ हमें भी डस लो। तुम्हारे भीतर तो वैसे भी जहर भरा हुआ है।)

मामला अब साफ नजर आने लगा।

बावजूद हमदर्दी के किसी ने खुलकर गुलबा का साथ नहीं दिया। नंगे, दबंग और सामाजिक रुतबा रखने वालों के खिलाफ बोलने से हर कोई परहेज करता है। फिर भी, हँसी-मजाक के मूड में ही, जिससे बल्लू चाचा को भी बुरा न लगे, एक दो लोगों ने उन्हें अनीति से बचने की सलाह दे डाली। हँसी-हँसी में इतना तक कह दिया कि भाई, बेचारी इस गरीब की आह क्यों लेते हो। क्या बिगाड़ा है इसने? पीठ पीछे बुराई करने की इन्हीं मंशाओं को भांपते हुए बल्लू चाचा ने गुलबा को सफाई दी, तू मूरख और पागल है। तेरे पट्टे से मुझे क्या लेना-देना। तूने वहां झोपड़ी डाल ली मैंने कभी रोका था। तेरे आने से वहां एक दिया और जलने लगा, मुझे भी अच्छा लगता है- चलो इस वीरान में एक से दो भले।

गुलबा का गुस्सा थोड़ा कम हुआ पर नाराजगी तब भी बनी रही, बाबू हमरे एक्के बेटवा बा, उहू के रोग लाग बा। का चाहा था उ मरि जाय, हमारा निपात होए जाए चार पंच के सामने आज साफ-साफ बतावा रोज उठ बेनसारे रास्ता जात हमरे घरे के अगवा वाले अदुआ के पेड़ में पानी काहे डाला था। (बाबू हमारे एक ही बेटा है। उसे भी रोग लगा है। क्या चाहते हो वह मर जाए, हमारा वंश खत्म हो जाए। चार पंच के सामने आज साफ-साफ बताओ रोज उठकर सुबह की बेला में रास्ता जाते हुए हमारे घर के आगे वाले अदुआ के पेड़ में पानी क्यों डालते हो।)

गुलबा के इस नए रहस्योद्घाटन से बल्लू चाचा की परेशानी और बढ़ गई। लोगों की नजर में वे संदिग्ध बन गए। उनकी हरकत एक नया किस्सा बयां कर रही थी। अब गुलबा को नजरअंदाज करने वाले भी बल्लू चाचा से सवाल करने के मूड में आ गए, आप ऐसा क्यों कर रहे हैं?

बल्लू चाचा फंसते दिखाई दिए या फंसने के लिए ही वे यह खेल, खेल रहे थे-इस आशंका से भी इंकार नहीं किया जा सकता था।

लेकिन पहले अदुआ का वह पेड़-जिसे बल्लू चाचा रोज जल दे रहे थे और गुलबा को यह नागवार लगना ही था। उसे डर था कि इससे उसके बीमार बेटे की मौत हो सकती है।

यहां आदमी की चेतना पर बचपन से ही डर और अंधविश्वास की अनेक लकीरें खींच दी जाती हैं। मां की उंगली पकड़ते ही बच्चा जानने लगता है कि घर के सामने नीम के पेड़ में मां शीतला देवी के लिए जल देती है। रक्षा-धागों से बंधे पीपल के पेड़ में शंकर भगवान की पूजा होती है। नागपंचमी के दिन गांव के जिस भीटे पर दूध-लावा चढ़ते हुए वह बचपन से देखता चला आ रहा है वहां गांव के नाग देवता रहते हैं। वटवृक्ष पर भगवान विष्णु का वास है। किस्से-किंवदंतियों में चली आ रही अनेक प्रचलित कथाएं हैं, जिन पर सभी तो विश्वास नहीं करते। इसके बावजूद, लोगों के दिमाग में बसकर वे अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित हो जाती हैं। अदुआ के पेड़ के साथ भी एक दिलचस्प किस्सा है। झाड़-झंखाड़, ऊसर-बंजर में स्वत: ही उग आने वाला यह पेड़ विरले ही दिखाई देता है। इसकी लकड़ियां किसी काम की नहीं होती। शाखाएं इतनी कमजोर कि हल्की हवा चलने से भी आवाज आती है। अंधेरी रातों में ये आवाजें डर पैदा करती हैं चर्र-चर्र...कर्र-कर्र...रि...पर्र...पर्र...। इसके बड़े हो चुके पेड़ को काटने से हर कोई बचता है क्योंकि लोगों की धारणा है कि अदुआ के पेड़ में जिन्न का वास होता है, जिसे रात की आखिरी बेला में लगातार जल देते रहने से वह कभी भी प्रकट होकर मुंह-मांगा वरदान दे सकता है। ऐसा भी कहा जाता है कि जिन्न की साधना करने से पड़ोसी की हानि होती है लेकिन पड़ोस से तमाम बैर के बावजूद लोग जिन्न की शरण में जाने से डरते हैं। पहले जिन्न साधक की कठिन परीक्षा लेता है। उसे दुख, बीमारी, गृहकलह, लड़ाई-झगड़े, गरीबी-दरिद्रता, मुकदमेबाजी, पशुहानि, जनहानि पहुंचाकर अनेक तरह से उसकी साधना में विघ्न डालता है।

आखिर, सब कुछ जानते हुए भी बल्लू चाचा आग से क्यों खेल रहे हैं? इन्हें क्या कमी है। इस उम्र में अब और क्या चाहिए? जिन्न के बारे में प्रचलित धारणा पर विश्वास न करने वालों के मन में भी यह सवाल उठा रहा था। सबकी जिद के आगे बल्लू चाचा को मजबूर होकर खुलना पड़ा। हालांकि उन्हें यह स्वीकार करने में झिझक नहीं हुई कि वे पिछले दो महीने से अदुआ के पेड़ में लगातार जल डालते चले आ रहे हैं। ऐसा वे किस लिए कर रहे हैं? इस सवाल पर बड़ी साफगोई के साथ उनका उत्तर था, इधर कई महीने से टीवी, अखबार में रोज-रोज आने वाली कदाचार, दुराचार और भ्रष्टाचार की खबरें देख-देख कर मन दुखी हो जाता है। उस पर शासन की लीपा-पोती और लोगों के ठंडेपन से मेरी उलझन बढ़ जाती है-गहरी निराशा होती है। इस कलयुग में देवी-देवता और भगवान भी मुझे शक्तिविहीन लगे। एक दिन जब मन विचलित और दिमाग बहुत परेशान था, तभी मैंने फैसला कर लिया था कि अब जिन्न को जगाना होगा। लोहा काटने के लिए हमेशा लोहे की जरूरत पड़ती है। पैर में चुभे कांटे को निकालने के लिए कांटा ही ढूंढना होता है। इन शैतानों से जिन्न ही लड़ सकेगा।

बल्लू चाचा की हरकत को गलत मानने वालों ने भी उत्साह से उनकी बात का समर्थन किया, लेकिन सवाल अब भी बना हुआ था कि वे परिवार को मुसीबत में डाल रहे हैं। इससे खुद की भी जान जा सकती है।

क्या फर्क पड़ता है! आजादी भी सेंत में नहीं थी। उनकी मुस्कराहट से मजमे की उम्मीद बढ़

गई। अब दूसरा सवाल था कि जिन्न खुश हो गया तो वरदान क्या मांगोगे?

हां बताओ, क्या मांगोगे? कई लोग एक साथ पूछने लगे।

सरोकार बड़ा होने का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि अभी बताने का समय नहीं है। और टालमटोल करने लगे। लेकिन गांव उनकी कमजोरी से परिचित था, लोगों की उत्सुकता को बढ़ा देने के बाद, खुद को रोक पाना उनके लिए भी कठिन था। उन्हें घेरने और उकसाने का सिलसिला बढ़ता ही गया। सबकी बेसब्री देख अपने उत्साह को दबाते हुए बल्लू चाचा ने खींचने का नाटक किया। ऊंचे स्वर में बोले, तुम लोग जानना ही चाहते हो तो सुन लो, जिन्न अगर प्रसन्न हुआ तो मैं उससे तीन वर मांगूंगा।

तीन? हल्के विस्मय के साथ लोगों की आंखों में चमक आ गई।

मेरा पहला वर....सब ध्यान से सुनो। आगे बिना कोई लाग लपेट के या कहना होगा कि बगैर किसी भूमिका के वे मांगे जाने वाले वर के बारे में बताने को तैयार दिखाई दिए। उनके सनसनी पैदा करने वाले समाचार वाचक जैसी मुद्रा में आते ही अशोक चाय की दुकान की हलचल बिना किसी हिदायत-हस्तक्षेप के शांत हो गई। बाहर खड़े लोग भी अंदर जाने लगे। बल्लू चाचा का जादू कौतूहल बनकर गुलबा के साथ-साथ वहां मौजूद सबकी आंखों में झांकने लगा।

मैं जिन्न से प्रार्थना करुंगा-जो किसी लड़की या औरत को उसकी मर्जी के बगैर छेड़ते हैं, उससे रेप करते हैं, उसकी तंगहाली और मजबूरी पर लालच-लोभ का झांसा देकर उसकी इज्जत से खेलते हैं, ऐसे लोगों को दुष्कर्म से ठीक पहले जीवन भर के लिए नपुंसक बना दो। एक अर्थपूर्ण नजर सब पर डाले हुए बल्लू चाचा खामोश हो गए। दुकान हँसी-हुल्लड़ के शोर से भर उठी।

सजा लोगों को वाजिब और मजेदार लग रही थी।

सामने बैठे भुल्लन पहलवान से रहा नहीं गया। मुंहफट मजाकिया किस्म के आदमी। अच्छे बुरे की परवाह किए बिना बोल जाने की आदत। कोने की तरफ तनी उंगली के इशारे से उनका सवाल था, बल्लू भाई तिरबेनी पांडे के लिए कोई रियायत नहीं करोगे?

हँसी के ज्वार के साथ लोगों की निगाहें बरबस तिरबेनी पांडे पर जा ठहरीं।

औरतों पर बुरी नजर रखने के लिए तिरबेनी पांडे बदनाम थे। जिसके चलते गांव ने उनके लिए कुपंथी, बेजाही और छिनरा जैसे कई विशेषण दे रखे थे। पर अपनी आदत से वे बाज नहीं आते। एक तेलिन ने हरामी, कुत्ते की औलाद कहते हुए उनको बीच बाजार में पीट दिया था। चोरी-छिपे शहर के कोठे पर जाते हुए भी वे देखे गए थे। लोगों की हँसी से आज वे एकदम उखड़ गए। भुल्लन पहलवान को अच्छी-खासी नसीहत दे डाली, हम तो इस उमर में नपुंसक होंगे पर तुम तो लंगोट बांधकर भरी जवानी नपुंसक ही रहे।

मेरे बारे में तुम्हें कैसे पता, पांडे? पहलवान ने मसखरी की। तिरबेनी पांडे आगे जवाब देने के मूड में नहीं दिखे। उठ खड़े हुए। पहलवान के रुकने का आग्रह और पीछे से आती उनकी ऊंची पुकार को नजरअंदाज करते हुए वे वहां से चलते बने।

दूसरा वर भी बताओ? फरमाइश कहिए या आग्रह, बल्लू चाचा पर दबाव फिर बढ़ गया। एक

बार शुरू हो जाने के बाद बल्लू चाचा भी अपनी लय तोड़ना नहीं चाहते थे।

तो दूसरा भी सुनो। लोगों की गहरी उत्सुकता को देखकर बल्लू चाचा का उत्साह बढ़ गया। मैं जिन्न से कहूंगा, जो गरीब और कमजोर को सताए, निर्दोष, भले और ईमानदार आदमी को मारे-पीटे, अपने फायदे या रंजिश के चले खून-कत्ल और हिंसा करे- ऐसे लोगों को मौकाए वारदात से पहले ही जीवन भर के लिए अंधा कर दो।

ऐसा कठिन इम्तिहान जनता का मत लो बल्लू भाई। क्या तुम चाहते हो हमारे गांव में भी दस-बीस लोग सूरदास बनकर हाथ में कटोरा लिए हुए गली-गली घूमें। भुल्लन पहलवान की एकदम ऊंची आवाज से लोगों की हँसी उनके अंदर ही फंस गई। सभी अचकचाए हुए पहलवान को घूरने लगे। नाटक के बीच नाटक। सिर को दोनों हाथों में थामे-जमीन की ओर ताकते हुए-चिंताकुल जैसी मुद्रा बना लेने के बाद भी उनके अंदर की प्रसन्नता छुप नहीं रही थी। उनके अभिनय से लोगों के भीतर अटकी हँसी ठहाके बनकर फूट पड़ी।

अब हमारे विधायक जी का क्या होगा? सिर ऊपर करते हुए गमगीन आवाज में उन्होंने बल्लू चाचा से पूछा। मजे लेने का यह उनका तरीका था, जिस पर सभी रस ले रहे थे। इसी दौरान गब्बर वाले अंदाज में उन्होंने डायलॉग कसा, अब तेरा क्या होगा रे अर्जुनवा...?

सामने बैठे अर्जुन को पहलवान का यह अंदाज नागवार लगा। उसने महसूस किया कि पहलवान के निशाने पर वह खुद है। उसे इस बात पर भी गुस्सा आया कि पहलवान उसे कभी गंभीरता से नहीं लेते, जबकि, दो-चार अपराध के बाद ही पूरा एरिया उसे नामी बदमाश मानने लगा था। उसकी गिनती खतरनाक शार्पशूटरों में होती। अपने इसी हुनर के चलते वह विधायक के नजदीक हुआ। उनके लिए हर खतरा उठाते हुए उनका भरोसा जीत सका। विधायक ने भी उसकी हमेशा मदद की। पुलिस और कानून के हाथ से बचाना तो उनका फर्ज बनता था, लेकिन जिले के सरकारी कामों में ठेकेदारी दिलवाकर, रंगदारी वसूली का जिम्मा सौंपकर कमाई का रास्ता उन्होंने ही खोला। जिसकी बदौलत गांव में उसने संपन्नता और दबंगई का नया रुतबा हासिल किया, जो पहलवान और बल्लू चाचा जैसे लोगों को कभी हजम नहीं हो सकता। अर्जुन जिस सोच और सपने से भरा था, वे उसे विधायक की सफलता की सीढ़ी की ओर ले जाते, जो कम समय में ही अच्छी खासी दौलत का मालिक बन गया था। उसके बारे में चर्चित था कि वह कभी साइकिल से कैरियर पर डिब्बा बांधकर दूध बेचा करता था। छोटी-मोटी चोरी, लड़ाई-झगड़े, मार-पीट के चलते वह दूध के धंधे में कामयाब तो नहीं हुआ, लेकिन जेल की हवा जरूर खानी पड़ी।

जेल में उसकी जान-पहचान शातिर और खूंखार बदमाशों से बढ़ी। फिर तो लड़ाई-झगड़े की जमीन को हड़पने, कब्जा दिलाने और छुड़ाने, सुपारी लेकर किसी को ठिकाने लगा देने के लिए वह चर्चित होता गया। जिले में होने वाली नीलामी और सरकारी ठेकों पर उसकी आंखें गड़ जातीं। अपने आतंक और कुटिल चाल के बल पर हर किसी को मात देता हुआ वह एक दिन आस-पास के तीन-चार जिलों तक शराब के धंधे का बेताज बादशाह बन गया। आज उसके पास बैंक-बैलेंस, कई कंपनियों के शेयर, महंगी कारें, बड़े शहरों में मकान, पेट्रोल पंप, गैस एजेंसी, मॉल, होटल,

कई स्कूल और कालेज थे। साथ ही वह अपनी खुद की कंसट्रक्शन कंपनी का चेयरमैन भी था। आगे बढ़ने का रास्ता किधर है- यह सवाल अर्जुन के लिए अब अबूझ पहेली नहीं रह गया था। मेहनत और ईमानदारी पर कोई भी उपदेश उसे बकवास लगता। वह आकाश में उड़ते हुए उस गुब्बारे में तब्दील हो चुका था, जिसके सामने इंद्रधनुष की मोहक रंगीन छटाएं हों और फूटकर नष्ट हो जाने का खतरा भी। वहां धुआं बनकर सुलगते रहने के बजाय आग की तरह जल उठने को आमादा था। गांव के और उम्र में बड़े होने के नाते अर्जुन, भुल्लन पहलवान से पंगा नहीं लेना चाहता था लेकिन कोई उसके सामने विधायक का अपमान करे यह भी उसे बर्दाश्त नहीं था। पहलवान की हेकड़ी और उनकी ईमानदारी पर तमाचा जड़ देने का उसे आज अच्छा अवसर दिखाई दिया। अपने मिजाज की गर्मी दिखाते हुए वह बोला, पहलवान, कहो तो अभी चलकर तुम्हारे सामने ही अदुआ के पेड़ पर मूत दूं। अगर जिन्न प्रकट हुआ तो दो मिनट में ही पेड़ के साथ उसे भी धुआं कर दूंगा।

अर्जुन की उद्दंडता पर पहलवान को हैरत नहीं हुई। वे उसका स्वभाव जानते थे। लेकिन गांव-घर के लोगों के बीच हंसी-मजाक पर अपनी ताकत दिखलाना वहां बैठे किसी को भी अच्छा नहीं लगा। पहलवान को भी ताव आना ही था-इस नौजवान को कौन समझाए कि तुम जैसों के कारण ही मेहनत, ईमानदारी और शराफत का जमाना नहीं रह गया। दरअसल, अर्जुन जैसे लोगों को सह पाना पहलवान के लिए कठिन था।

बेटा जवानी का जोश है। ज्यादा मत उछलो। जिन्न का कोप हुआ तो मुसीबत आने में देर नहीं लगती। हालांकि पहलवान ने एक-एक शब्द संभलकर बोला।

अर्जुन को उनका समझाना भी बुरा लगा।

दोनों के बीच शुरू हुआ वाक्युद्ध धीरे-धीरे गरमाने लगा। मजे लेने वालों को उन दोनों का वाद-विवाद भी रुचिकर था लेकिन बल्लू चाचा ने ताड़ लिया कि बात बढ़कर गोली चलने तक पहुंच सकती है। पहलवान ठहरे मुंहफट, नैतिक चरित्र और बल का गरूर, वे यह भूल रहे हैं कि अर्जुन को बस ट्रिगर दबाने-भर की देर है। उन्होंने हस्तक्षेप करते हुए धमकी देने वाले अंदाज में कहा, तीसरा वर कल जान लेना और उठ खड़े हुए। इसके बाद लोग खुद बीच-बचाव के लिए आगे आ गए और अर्जुन को समझाते हुए अलग ले गए कि कल तुम्हें भी नेतागिरी करनी है- चुनाव लड़ना है- सहनशील बनो। भन्नाया हुआ अर्जुन फिर एक पल भी नहीं रुका। उसके जाने से पहलवान ने उसांस ली, खिन्नता में हँसे, जिन्न ने वरदान दे दिया तो यह ससुरा भी अंधा ही हो जाएगा।

अर्जुन के सामने अभी तक जिन लोगों ने अपनी जुबान पर संयम बरत रखा था, खुलकर बोले, अच्छा ही होगा।

पहलवान ने बल्लू चाचा से तीसरे वर के लिए आग्रह किया, साथ बैठे और लोगों ने भी पहलवान का समर्थन किया।

बल्लू चाचा की लय टूट चुकी थी, जाहिर था कि उनका ध्यान बंटा हुआ था। वे थोड़ा अनमने

होते दिखाई दिए–गहरी निराशा में सोचते हुए। उनके मन में यह सवाल अचानक उठा था कि जो वर मुझे जिन्न से मांगना पड़ रहा है वैसा कुछ सरकारी कानून भी तो बन सकता है। लेकिन आगे कठिन प्रश्न था कि उसे बनाएगा कौन? और उससे भी जटिल सवाल था कि अगर बन भी गया तो उसे लागू कौन करेगा? इस देश में भला कानून की कमी है। टीवी, अखबारों में परेशान करने वाली खबरों से क्षुब्ध हुआ उनका मन और उद्विग्न हो गया।

तीसरा वर भी जान ही लो, चेहरे पर हाथ फेरते हुए उन्होंने गहरी सांस ली।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि मेरा मकसद बड़ा है। आदमी की टुच्ची–मुच्ची हरकत के लिए मैं आहुति नहीं देने वाला और मेरा यह आखिरी वर होगा। बल्लू चाचा ने उन लोगों को आश्वस्त किया, जिन्हें तीसरा वर जानने की जल्दबाजी थी। दुकान के अंदर–बाहर फिर शांति छा गई।

अशोक चायवाला भी केतली को भट्टी पर रखकर उन्हें सुनने के लिए बेचैन दिखाई दिया। बल्लू चाचा अपने अगले वर के बारे में सोचते हुए कुछ क्षण हल्के–हल्के मुस्कुराते रहे। उनकी भाव–भंगिमा से लोगों की उत्सुकता और बढ़ गई।

मैं जिन्न से हाथ जोड़कर प्रार्थना करूंगा, फिर भी अगर उसने तीसरा वर देने में आनाकानी की तो मैं उसका पैर भी पकड़ लूंगा... मेरा वर होगा, जो चोरी करें, डाका डालें, जमाखोरी, कालाबाजारी और हेरा–फेरी करें, घूस और कमीशन लें, देश का पैसा विदेशी बैंकों में छिपाएं–ऐसे लोगों को हे मेरे जिन्न, कड़ी सजा दो। उनके शरीर में कोढ़ फैला दो और सिर पर यमराज की तरह सदा के लिए दो सींग लगा दो। मन के उबाल से मुक्त होते हुए बल्लू चाचा ने जैसे अपनी जिम्मेदारी झाड़ ली। उनकी निगाहें लोगों की प्रतिक्रिया पर गड़ गई। दुकान में उठने वाली हंसी–ठहाकों पर पहलवान का जोश भारी पड़ता दिखाई दिया, वे जोर–जोर से ललकार उठे, वाह बल्लू भाई वाह...वाह...

जरा सोचो, हमारे जिले के बड़े–बड़े हाकिम हुक्मरान और व्यापारी तब कैसे लगेंगे। हल्ला गुल्ला थोड़ा कम होते ही बाहर से आवाज आई।

अरे, इन सबकी छोड़ो। कहो तो मैं स्टांप पेपर पर लिखकर देने को तैयार हूं कि हमारी असेंबली और संसद के बहुतेरे नेता कोढ़ी और सींग वाले होंगे। इनमें कई साथ–साथ नपुंसक और अंधे भी होंगे।

आक्रोश में भरा हुआ एक आदमी सबको सुनाने के लिए ऊंचे स्वर में बोल पड़ा। उसकी बात पर लोगों ने जोरदार तालियां बजाई, जिनके हाथों में चाय का गिलास था उन्होंने शोर करते हुए साथ दिया।

क्या गजब का सीन होगा उस दिन हमारे देश का। पहलवान इसे बड़ी और चमत्कारिक घटना मानते हुए विश्वास जता रहे थे कि इससे समाज में गलत काम रुकेगा, क्योंकि लोगों में भय पैदा होगा।

गुनहगारों के प्रति बल्लू चाचा के मन में जो घृणा थी और उनके लिए जैसा दंड–विधान वे चाहते थे, चलचित्र की तरह उसका ट्रेलर सबकी आंखों के सामने घूम गया। यहां हर आदमी के

पास खलनायकों की एक लंबी लिस्ट थी, जिसमें उसके गांव के प्रधान और लेखपाल से लेकर देश दुनिया की नामचीन हस्तियों तक के नाम शामिल थे। अपनी बहसों में जिनकी वे निंदा किया करते, अब उन्हें सजा देने के लिए वहां बैठे लोग अपनी लिस्ट से कोई एक नाम पुकारते। फिर उसकी विकलांगता पर चटखारे के साथ भरपूर रस लेते हुए हँस-हँसकर दोहरे होने लगे। हँसी मजाक से बना पूरा माहौल एक जश्न में बदल चुका था। आखिर बल्लू चाचा बिना किसी खून खराबे के क्रांति करने जा रहे थे।

अब तक लोगों को चुपचाप सुनती रही गुलबा के आशंकित मन को पूर्ण तसल्ली मिल गई थी। उसकी नाक पर जमा गुस्सा घुल चुका था और चेहरे पर प्रसन्नता की ताजी लकीरें उभर आई थीं। वह उठकर जाने लगी तो बल्लू चाचा ने आवाज देते हुए कहा, गुलबा तुझे जिन्न से डर लगता है तो बोल, कल ही मजदूर बुलवाकर अदुआ का पेड़ कटवा देता हूं।

गर्दन घुमाते हुए गुलबा हँस पड़ी। बुढ़ापे की कमजोर आवाज में गजब का जोश आता दिखाई दिया, न बाबू ओका जिन कटावा। हम तो कहब ओका अब पूरा गांव जल दा जहिया जिन्न जल्दी से परकट होइ औ जेतना कुकर्मी-बेईमान, हत्यारन हयन ओनकर निपात होई जाए (न बाबू उसको अब मत कटवाओ। हम तो कहेंगे उसे अब पूरा गांव जल दे, जिससे जिन्न जल्दी से प्रकट हो और जितने कुकर्मी, बेईमान, हत्यारे हैं उनका सर्वनाश हो जाए)।

हँसी-हुल्लड़ का सबसे जोरदार धमाका अब हुआ, जिसकी गूंज बाजार के आखिरी छोर तक सुनाई दी। महफिल शाम तक के लिए मुल्तवी हो गई। दोपहर के खाने का वक्त हो चुका था।

***

कहानी

इस तरह से आती है मौत

अभिज्ञात

दरवाजे से प्रवेश करते समय पहले राधेश्याम अग्रवाल की तोंद प्रवेश करती है फिर वह दिखाई देता है। उसका एक कारण तो यही समझ में आता है कि वह खाता है तो फिर खाता है। पूरे इतमीनान के साथ। यह इतमीनान सिर्फ घर में खाते वक्त ही नहीं होता बल्कि कार्यालय में भी। अपने परिचितों के बीच वह उन लोगों में गिना जाता है जो जीने के लिए नहीं खाते बल्कि खाने के लिए जीते हैं। घर से वह टिफिन लेकर आता है बाकायदा चार डिब्बे वाला। चावल, सब्जी, अचार, दाल, रोटी, पापड़, मिठाई। सलाद और फल भी। वह फोल्ड किया हुआ चाकू निकालता है और पहले सलाद काटता है फिर खाना शुरू करता है। उस वक्त उसका पूरा ध्यान खाने पर ही होता है। इधर-उधर क्या हो जा रहा है इसकी उसे परवाह नहीं होती। थोड़ी देर बाद वह मौसम के अनुसार सेब, आम या अमरूद चाकू से काटता है..अपनी टेबल पर उसे सजा देता है फिर एक- एक टुकड़े इतमीनान से खाता है। उसे इसकी तनिक भी परवाह नहीं रहती कि लोग-बाग उसे खाते हुए देख रहे हैं और उनकी अजीबो-गरीब प्रतिक्रियाएं हो रही हैं।

कोई स्वादिष्ट चीज बनी हो तो वह एक ही बार में नहीं खाता। छह घंटे की ड्यूटी में वह दो बार में खाता है। अक्सर तो वह अखबार के दफ्तर में प्रवेश के थोड़ी ही देर बाद टिफिन खोल लेता है, जिसके कारण उसे कई बार प्रबंधन की डांट भी सुननी पड़ी है मगर वह भोजन के प्रति अपने लोभ को नहीं रोक पाता..। कुछ लोगों का यह भी दावा है कि सदैव भूखा लगने वाला व्यक्ति दरअसल उतना भूखा नहीं होता। उसके कुछ दूसरे कारण हैं। वह यह कि वह ड्यूटी आने के कई घंटे पहले ही घर से निकल जाता है। महानगर कोलकाता में कई ऐसे ठेके हैं जहां वह जाता है। उसी में से किसी से लौटकर वह दफ्तर आता है और स्वाभाविक है कि उसे भूख लग जाती है। इसलिए वह

दफ्तर में प्रवेश करता है.. दीवार पर लगी गणेशजी तस्वीर को प्रणाम करता है... कंप्यूटर खोलकर लॉग-इन करता है और ड्यूटी शुरू। इसके तत्काल बाद टिफिन खोल देगा। जिस दिन आते ही टिफिन नहीं खोलेगा लोगों का अनुमान है कि जिसके यहां गया है उसने संभवत: दिव्य नाश्ता कराया होगा। तो वह टिफिन खोलने के बदले उसी दिन का अखबार खोल लेगा और अजीबो-गरीब सी खबरें पढ़ेगा। कुछ सालों तक तो वह सबसे पहले यह खोजता था कि किसी चादर की दुकान का विज्ञापन या चादर के संबंध में समाचार तो नहीं छपा है। यदि चादर से जुड़ा विज्ञापन दिख गया तो उसका चेहरा खिल उठता। वह अपनी डायरी निकालता और उसमें चादर के तमाम डिटेल्स नोट करता। कई बार वह चादर विक्रेताओं के यहां भी पहुंच जाता था और उनसे चादरों को लेकर तरह-तरह के सवाल पूछता था। अखबार से जुड़ा होने के कारण वह विक्रेता को समझा देता कि वह अखबार के लिए लाइफ- स्टाइल पर एक विशेष लेख लिख रहा है इसलिए उसे कुछ जानकारियां चाहिए। विक्रेता उत्साह के साथ उसके सवालों के जवाब देते मगर वे लेख कभी प्रकाशित नहीं हुए।

पिछले 6 साल से उसका चादर प्रेम कुख्यात था। चादरों के प्रति उसका रुझान देखकर लोग तरह- तरह की बातें करते और उसके कुछ करीबी उसे 'साइको' कहने लगे थे। राधेश्याम अपने किसी सहकर्मी के घर भी गया तो उसके बेडरूम तक पहुंचे बिना नहीं टला। लोगों को अजीब लगता था जब वह उनके घर पहुंचने पर बाकी बातों के अलावा चादर से जुड़े सवाल न पूछ ले। कहां से लिए, कितने में लिए। रंग उतरता है कि नहीं, धुलाई कितने दिन में करते है आदि- आदि। यह बात तमाम सहकर्मियों में फैल चुकी थी और लोग राधेश्याम को अपने घर बुलाने से कतराते थे क्योंकि उन्हें यकीन था कि वह घर की तमाम चादरों का परिदर्शन किए बिना नहीं मानेगा और उनसे जुड़े तमाम सवाल पूछेगा। घर के अन्य लोगों से भी वह हालचाल आदि सिर्फ इसलिए पूछता था ताकि उनसे भी चादरों पर कुछ सवाल पूछ सके।

कुछ लोगों का अनुमान था कि राधेश्याम की अतृप्त वासना का यह विकृत रूप है। यह किसी यौन-ग्रंथि से जुड़ा मनोरोग है और उसका जवाब फ्रायड को समझने वाले मनोवैज्ञानिक दे सकते हैं। कुछ ने यहां तक जोड़ा कि राधेश्याम का शरीर जितना बेडौल हो चुका है जरूर उसकी पत्नी ने उससे दूरी बना ली है। उसके यौन-संबंधों की कुछ यादें चादरों से जुड़ी हैं और वह चादरों से जुड़े तरह-तरह के सवालों के जवाबों को लेकर दिवास्वप्न देखता है। उसके मनोविकार का स्वरूप जटिल है।... जो भी हो मगर सुना यह गया कि कि कई बार उसने महानगर के कई प्रतिष्ठित लोगों से महज इसलिए संपर्क बनाए कि वह उनके बिस्तरों तक पहुंच सके और उनकी चादरें देख सके। कुछेक दफे तो उसने किसी सरकारी महकमे के गेस्ट हाउस, होटल या किसी आदमी के बंगले में बिछी चादरें देखने के लिए चपरासी, दरबान या नौकरों पर थोड़ा बहुत खर्च भी किया है या कोई बहाना बनाकर देखा है। कई बार तो चादर दिखाने के एवज में उनका कहीं किसी अफसर के यहां अटका काम तक करा दिया।

हालांकि राधेश्याम पहले इतने रहस्यमय चरित्र का नहीं था। वह जरूरत से ज्यादा हिसाबी जरूर

लगता था और हर चीज का हिसाब करने का उसे फितूर सा था। उसका स्वाभाविक कारण यह था कि वह जिस समुदाय का था वहां लोग कारोबारी थे और हिसाबी होना मनोवृत्ति है। मगर कारोबारी न होने के कारण राधेश्याम का केस अलग लगता है। कई लोग उसके इस तरह के फितूर से वाकिफ हैं और हरेक के पास लगभग अलग तरह के उदाहरण उसके हिसाबी होने के हैं। मसलन उसे कोई फोन करे या वह किसी को फोन करे तो सामने वाले का नाम, बातचीत की तिथि और बातचीत की कुल अवधि व समय अपनी डायरी में दर्ज करता था। एक ब्लेड से कितनी बार दाढ़ी बनाई यह ब्लेड की पुर्जी पर ही लिखता जाता था और उसे बदलते वक्त जोड़ना नहीं भूलता था कि बारह बार शेव किया या या पंद्रह बार। कार्यालय में यदि किसी को बिस्कुट आफर करता था तो उसका नाम भी डायरी में दर्ज हो जाता था। कौन कितने दिन, कितने मिनट लेट आया यह उस समय पता चला जब उसे लेट आने पर प्रबंधन ने नोटिस पकड़ा दी थी और उसने जवाब में पिछले पांच साल का ब्यौरा लिखित दिया था।

लोगों से परिचय करने को भी उसके फितूर में शामिल किया जा सकता है और अखबार में चाहे जिस काम से और चाहे जिससे मिलने कोई आए, यदि वह जरा भी रसूखदार लगा तो राधेश्याम उसकी बातचीत और हरकतों पर निगाह गड़ाए रखता और उसके कमरे से बाहर निकलते ही अपनी सीट से उठ जाता और इससे पहले कि आगंतुक सीढ़ियों से नीचे उतर पाए वह उसे रोक लेता। उससे परिचय करता और उसका विजिटिंग कार्ड ले लेता। उसके बाद वह फोन से उससे संपर्क बनाता। उसके कार्यालय या घर भी हो आता। अगली बार जब कभी वह आगंतुक फिर अखबार के कार्यालय में आता तो वह राधेश्याम का पुराना परिचित होता अन्य लोगों की तुलना में। हद तो तब ही गई जब यह पाया गया कि किसी बड़े पुलिस या प्रशासकीय अधिकारी का निजी फोन नंबर कोई व्यक्ति दूसरे को फोन पर दे रहा होता और वह चुपके से वह नंबर और नाम नोट करता पाया गया।

कुछ लोगों का यह कहना था कि पूंजीपतियों के बीच उठने-बैठने के लिए यह सब तैयारियां वह करता था। उनके बीच वह बड़े अधिकारियों से अपने संपर्कों का हवाला देकर अपने रसूख की धौंस दे पाता था और कई बार उनके काम भी निकलवा देता बदले में दान- दक्षिणा खुद ब खुद चलकर उस तक आ जाती। पूंजीपति जानते थे कि एक सामान्य उप-संपादक क्या कमा लेता होगा। ऐसे में उसकी खिदमत करते रहो तो उसके संपर्कों का लाभ उठाया जा सकता है।

चूंकि राधेश्याम वणिक समुदाय से था और लोग उसे चिढ़ाते कि उसने एक भोजपुरिया का हक मार रखा है। उसे तो कोई व्यवसाय करके खाना चाहिए था। नौकरी उसे शोभा नहीं देती। यदि वह अखबार में पत्रकार बनने के बदले खुद अपना अखबार निकालता तो उस तबके के कुछ और लोगों को नौकरी देता जो अच्छा नौकर बनने का सपना खुद भी देखते हैं और और अपनी औलाद को अपने से बेहतर नौकर बनाना चाहते हैं। यदि वह अपना अखबार निकालता तो उसने इस अखबार में जो जगह ले रखी है किसी ऐसे व्यक्ति को मिलती जो नौकर ही बनना चाहता है।

लोगों की टिप्पणियों के जवाब में राधेश्याम कहता-''बस कुछ दिन और। वक्त-वक्त की

बात है.. मेरी बारी भी आएगी। फिर न मुझे नौकरी करनी पड़ेगी न मेरी औलादों को।'' लोगों को कई बार लगता हो न हो इस पट्ठे ने कुछ सोच रखा है और कहीं बड़ा हाथ मारने के फेर में है। लेकिन इधर जब से चादर प्रकरण शुरू हुआ है लोगों को लगने लगा कि वह डिरेल्ड हो गया है। अब तो लोग इस बात का इंतजार कर रहे थे कि वह कहीं से पिट-पिटाकर न आ जाए। रोग यदि बढ़ा तो पता नहीं क्या रूप ले ले।

सबकी आशंकाओं को राधेश्याम ने झुठला दिया। सचमुच उसकी दीनदशा में एकाएक सुधार आ गया। उसने कोलकाता में एक आलीशान फ्लैट ले लिया। उसे छोड़ने के लिए अक्सर एक कार आती और कई बार घर ले जाने भी। उसका कहना था कि बेटा नौकरी में प्रमोशन पा गया है एक बड़ी कंपनी में काम कर रहा है। जबकि कुछ और लोगों का कहना था राधेश्याम ने कहीं बड़ा हाथ मारा है काफी नोट हाथ आए हैं। वह रकम तीस से पचास लाख तक हो सकती है। उसके कपड़े, उसका खान-पान, उसका खर्च करने का अंदाज बदल गया है। कहते हैं कि पैसा बोलता है., और राधेश्याम के मामले में भी यह सच था। दूसरा सच यह भी था कि पैसा आने के बाद से राधेश्याम का मनोरोग भी जाता रहा। अब वह भूले से भी चादरों की बात नहीं करता था। ना ही उससे जुड़े आंकड़े जुटाता था।

उसके सहकर्मियों ने महसूस किया कि वह कुछ-कुछ आध्यात्मिक सा होता जा रहा है। वह जीवन की नहीं मृत्यु की बातें अधिक करता है। लोगों का कहना था कि ऐसा गरीब आदमी, जिसे अमीर बनने की कत्तई आस न हो अमीर बन जाता है तो वह आध्यात्मिक हो ही जाता है लेकिन यह बातें अधिक दिन नहीं टिक सकीं।

राधेश्याम में एक नया मनोरोग उभरने लगा। अब वह मौत के आंकड़े जुटाने लगा था। अखबार खोलते ही वह मौत से जुड़ी खबरें और मौत से संबंधित विज्ञापनों को रस ले लेकर पढ़ता और उसके आंकड़े अपनी डायरी में दर्ज करता था। मौत की खबरें पढ़कर वह उदास नहीं होता था उसके चेहरे पर मुस्कुराहट फैल जाती थी। कई बार तो वह खुले आम कहता-''भाईजी आप मानिए या न मानिए मगर हम मौत की कमाई पर जी रहे हैं जितना उठावने और बरसी के विज्ञापन आते हैं उतने और किसी के नहीं आते। आज भी तीस परसेंट विज्ञापन सिर्फ मौत के हैं। मौत के विज्ञापन पर कोई मोलभाव नहीं करता। लोग देर रात तक सिफारिश करते रहते हैं कि किसी तरह इसे आज ही लगवा दो। हमारे रिश्तेदार की मौत की खबर हम चाहते हैं कि लोगों को कल के ही अखबार से पता चल जाए। इन विज्ञापनों में वारिसनामे से जुड़े कई मसले भी होते हैं और जिन पर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष तौर पर हक जताना होता है। शोकाकुल लोग अपनी तमाम कंपनियों का नाम भी देना नहीं भूलते ताकि लगे हाथ कंपनी की पब्लिसिटी भी हो जाए। बराबरी के लोगों पर रौब भी गालिब हो जाए कि हम छोटे मोटे लोग नहीं हैं। देखा कितना बड़ा विज्ञापन छापा है हमने अपने पिता की मौत का। संस्कृत के श्लोक, कोई अच्छी सी कविता की पंक्ति और अपने प्रिय के बिछुड़ जाने का शोक-संतप्त संदेश के साथ मरने वाले की मुस्कुराती तस्वीर एक गजब का कंट्रास्ट रचती है।''

कुछ खुराफाती समझे जाने वाले पत्रकारों का कहना था कि राधेश्याम मृत लोगों को परिजनों के

पते व कंपनियों के नाम व फोन नंबर ही नहीं दर्ज करता था बल्कि वह मौत से जुड़ी रस्मों में भी जाता था। मृतक के रिश्तेदारों से यह बताना नहीं भूलता था कि मरने वाले से उसके गहरे ताल्लुक व मेल मुलाकात थी, भले वह कभी न रही हो। अब मरने वाला तो यह स्पष्ट करने से रहा कि वह सरासर झूठ बोल रहा है। अलबत्ता उसके परिजनों से इसी बहाने संबंध जरूर बना लेता था और मृतक से अपने संबंधों का हवाला देकर अपने कई काम साध लेता था।

एक दिन उसने सबको चौंका दिया। उसने अखबार में वीआरएस के लिए आवेदन कर दिया। प्रबंधन ने इस संबंध में प्रस्ताव आमंत्रित जरूर किए थे किंतु किसी को उम्मीद नहीं थी कि वह भी आवेदन कर सकता है। एक ढंग से वह काम के प्रति संजीदा कतई नहीं था। उसका रवैया किसी भी काम के प्रति इतना रूखा और टालमटोल वाला था कि उसे संपादित करने के लिए बहुत ही कम महत्व की और कम से कम खबरें दी जाती थीं। लोगों का कहना था कि जो वेतन वह ले रहा है वह लगभग मुफ्त का है। वह आखिर करता है ही क्या है, बाल की खाल निकालने के अलावा। यह सही है कि इस रवैए के कारण उसका प्रमोशन नहीं हुआ फिर भी लंबे अरसे तक काम करने के कारण साधारण इक्रीमेंट से भी उसका वेतन काफी हो गया था। उसके कम वेतन पर होनहार लड़के काम कर रहे थे और महत्वपूर्ण जिम्मेदारियां भी उठा रहे थे।

सबने समझाया–''राधेश्याम जी, क्या बेमतलब वीआरएस ले रहे हैं। सात–आठ साल और रह गए हैं फिर तो अपने आप रिटायर हो ही जाएंगे। आराम की जिंदगी कट रही है। कटने देते।''

पर उसने एक न सुनी। कोई साफ कारण भी नहीं बताया।

कुछ ने कहा–''बेटे की कमाई पर ऐश करने का विचार है।''

दूसरे कुछ का कहना था– ''कहीं लंबा हाथ मारा है। पैसा धीरे–धीरे दिखाई देगा।''

जितने मुंह उतनी बातें..... पर राधेश्याम ने रिटायरमेंट ले लिया।

लगभग एक साल बाद एक दिन अखबार में राधेश्याम कार्ड बांटने आया। यह उसके बेटे की शादी का कार्ड नहीं था। यह उसकी किताब के लोकार्पण के न्योते का कार्ड था। लोकार्पण कोलकाता प्रेस क्लब में होना था। किताब को एक अंग्रेजी के एक विख्यात प्रकाशक ने प्रकाशित किया था, जिसने हाल ही में हिंदी में भी किताबें प्रकाशित करनी शुरू की थी। किताब हिंदी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं में थी जिसे हिंदी मूल में राधेश्याम ने लिखी थी और अंग्रेजी अनुवाद किसी एनआरआई महिला ने किया था।

किताब मौत के बारे में थी। प्रेस क्लब में जब राधेश्याम ने पत्रकारों को संबोधित किया और पुस्तक की मूल स्थापनाओं की चर्चा की की तो मीडिया मौत के संबंध में उसके विशद अध्ययन और शोध का लोहा मान गया। राधेश्याम ने तथ्यों का हवाला देते हुए यह स्थापित किया था कि एक मौत का दूसरी मौत से गहरा ताल्लुक होता है। किसी की शवयात्रा में जाने से मौत के खतरे रहते हैं। जाते वक्त या लौटते वक्त सड़क दुर्घटनाओं में मौत होती है। इसी प्रकार लोगों की नींद और मौत के बीच गहरा ताल्लुक है सामूहिक निद्रा मौत को आमंत्रित करती है। चूंकि सबसे गाढ़ी नींद तड़के होती है इसलिए उस समय लोगों की दुर्घटना में मौत की संभावना सबसे ज्यादा होती है।

धार्मिक क्रियाकलापों का भी मौत से गहरा ताल्लुक होता है और तीर्थयात्राएं लोगों की मौत की यात्रा में कभी भी तब्दील हो सकती है क्योंकि तीर्थयात्री परलोक के बारे में सामूहिक तौर पर सोचते हैं इसलिए परलोक से उनके तार जुड़ जाते हैं जो मौत का कारण बनते हैं और सड़क दुर्घटनाएं या भगदड़ आदि की घटनाएं मौत का बहाना बनती हैं। उसने यह भी अध्ययन प्रस्तुत किया कि किसी घर में एक मौत कैसे कई और लोगों की मौत का आह्वान करती है। किन खास परिस्थितियों में किस उम्र के व्यक्ति की अकाल मौत होती है। किसी को मौत का पूर्वाभास किस-किस रूप में होता है। कौन सा मौसम, कौन सा दिन, कौन सा समय मौत के लिए तय होता है। मौत से जुड़े संकेतों की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या उसने की थी। जिंदगी को निरुद्देश्य मानने वाले या किसी एक चीज या व्यक्ति को सर्वोपरि मानने वाले व्यक्तियों में तुलनात्मक रूप से हत्या या आत्महत्या करने की गुंजाइश अधिक होती है। आत्महत्या के लिए मौसम भी जिम्मेदार होता है और हल्की बारिश ऐसे लोगों का अकेलापन बढ़ाती है और आत्महत्या के लिए प्रेरित करता है।

मौत आदि से जुड़े कार्यों से शोहरत बहुत मिलती है बशर्ते वह उससे विपरीत कार्यों में निवेश किया जाए। उसका एक बड़ा उदाहरण नोबेल शांति पुरस्कार के अधिष्ठाता एल्फ्रेड नोबेल हैं, जिन्हें लोग मौत का सौदागर भी कहते थे और जो शांति दूत कहलाना चाहते थे। लॉर्ड डाइनामाइट कहलाने वाले नोबेल एल्फ्रेड ने विस्फोटकों से खूब कमाया और उस संपत्ति को भौतिकी, रसायन, चिकित्सा, साहित्य और शांति के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य करनेवाले व्यक्तियों को पुरस्कार में देने की वसीयत की।

सच तो यह है कि मृत्यु को नियंत्रित करने के खतरनाक नतीजे सामने आएंगे और यह युवा दुनिया बूढ़ी दुनिया में तब्दील हो जाएगी। मृत्यु के मामले में विज्ञान के हस्तक्षेप के कारण जन्म दर का अनुपात मृत्यु दर के अनुपात से अधिक है। जिसके कारण आने वाले समय में जो जिंदा लोग हैं तमाम परेशानियां झेलते हुए अधिक दिन तक जिंदा रहेंगे। युवाओं की संख्या कम हो जाएगी। ये बुजुर्ग युवाओं की जिंमेदारियों का बोझ बढ़ाएंगे। इस तरह एक बूढ़ी दुनिया का निर्माण होने जा रहा है। सब कुछ बूढ़ों की सुविधा के लिए होगा। सारी कंपनियां बूढ़ों को ध्यान में रखकर उत्पाद बनाएंगी जिससे विकास की गति रुकेगी। बूढ़े बहुत दिनों तक जिंदा रहेंगे लेकिन मौत के बारे में सोचते हुए। मौत के बारे में लगातार सोचना अस्वस्थ मानसिकता का परिचायक है। बुजुर्गों की संख्या बढ़ने से एक अस्वस्थ समाज जन्म लेगा जिसमें विज्ञान नहीं आध्यात्म केंद्रीय तत्व होगा। इसलिए भविष्य का निवेश आध्यात्म पर भी होगा, जो विकास की दशा को पीछे की ओर मोड़ देगा। युवा की सबसे बड़ी पहचान उसका जोखिम उठाने का माद्दा है। जो जोखिम नहीं उठा सकता वह कुछ भी नहीं रच सकता। बुजुर्गों की तुलना में स्वाभाविक तौर पर युवाओं की जीवन रेखा लंबी होती है किंतु वे अपनी जान पर खेल जाते हैं।

एक बीमार दुनिया से बचना हो तो मौत पर नियंत्रण बंद करो, इससे जनसंख्या में वृद्धि होती है। यदि बेहतर जीवन चाहिए तो लोगों को स्वाभाविक मौत मरने दो। वरना किलकारियां कम गूंजेंगी और कराहें ज्यादा। जन्म देना रोक नहीं सकते और मरना रोक दिया तो गड़बड़ हो जाएगी।

मृत्यु पर विजय को मनुष्य कभी न कभी पा ही लेगा लेकिन वह दिन कयामत का दिन होगा। इसलिए ज्यादातर धर्म ग्रंथ सिखाते हैं मृत्यु तय है। पुराने शरीर को विदा करो। पुराने मन को विदा करो। धर्मग्रंथ मृत्यु से डरना नहीं सिखाते। मृत्यु से डर गए तो जीने की कोशिश करोगे और जीते ही रहे जो दुनिया किसी के भी जाने लायक नहीं रह जाएगी। धर्मग्रंथ दरअसल लोगों को मृत्यु के लिए तैयार करने का ही काम करते हैं। वे मौत के सौदागर हैं। यदि इंसान ठान ले कि नहीं उसे नहीं मरना है तो अमरत्व पा ही लेगा लेकिन धर्म सिखाता है इससे भी बेहतर एक दुनिया और है। यह दुनिया गई तो कोई बात नहीं इससे बेहतर दुनिया में भेजने का इंतजाम किए देते हैं। इससे खराब दुनिया भी है। बुरे कर्म करोगे तो वहां जाना पड़ेगा। मगर यहां टिके रहने का मत सोचो। उसका कोई उपाय नहीं है। धर्म ग्रंथ न होते तो शायद मनुष्य अब तक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चुका होता। मृत्यु का यह सिद्धांत विज्ञान की गति की दिशा को चुनौती था और विज्ञान की इकहरी समझ उसके विनाश का कारण बनने जा रही है और आध्यात्म का विकास होगा। और आध्यात्म ने मौत की अवधारणा को स्वीकार्य बनाकर पहले ही विज्ञान को कमजोर किया है।

चूंकि मौत ऐसा विषय था जिसका संबंध तमाम धर्मग्रंथों से था तमाम स्वास्थ्य चिंताओं के केंद्र में था। दुनिया के हर व्यक्ति की दिलचस्पी का यह विषय था इसलिए इस किताब को हाथोंहाथ लिया गया।

राधेश्याम अब स्टार लेखक था। उसकी मौत पर लिखी किताब ने बिक्री के नए कीर्तिमान स्थापित किए।

इसके साथ ही विवादों ने भी सिर उठाया। उसकी स्थापनाओं को धर्म से जुड़े विद्वानों ने चुनौती दी क्योंकि यह मृत्यु संबंधी शास्त्रों की कई मान्यताओं को ठेस पहुंचा रहा था। मनोविज्ञान व चिकित्सा से जुड़े विद्वान भी उसकी स्थापनाओं से असहमत थे और पुस्तक स्थापनाओं को कोरी गप करार दे रहे थे और मौत के संबंध में अंधविश्वासों को बढ़ावा देने का आरोप लगा रहे थे। धार्मिक उत्सवों मेलों से जुड़े पुरोहितों की अपनी असहमतियां थीं क्योंकि यह पुस्तक लोगों को धार्मिक समारोहों में जाने से रोक रही थी। पुस्तक पर रोक के लिए कई स्तरों पर प्रदर्शन होने लगे, उसकी प्रतियां जलाई जाने लगीं और उस पर प्रतिबंध की मांग उठने लगी। जिसका नतीजा किताबों की बिक्री को और बढ़ाता गया। किसी को अंदाजा नहीं था कि भारत में इस पुस्तक पर भले तीखी आलोचना हो रही हो पश्चिम इस किताब को तूल नहीं देगा लेकिन उल्टा हुआ। जिस देश में भी यह किताब गई वहां किसी न किसी स्तर पर चुनौती बन गई। कई देशों में उस पर प्रतिबंध लगे। राधेश्याम इसके कारण सबसे बीच एक चर्चित हस्ती बन गया था। किताब की रायल्टी से ही वह नहीं कमा रहा था बल्कि विदेशों में भी तमाम समारोहों में अपनी किताब की मौत संबंधी स्थापनाओं पर वक्तव्य देने के लिए बुलाया जाने लगा। कई लोग उसे अपना गुरु मानने लगे थे और अपने प्रियजनों की मौत या उसके बाद उनके संबंध में उससे अपनी शंकाओं का समाधान चाहते थे।

अब उसकी जायदाद करोड़ों में थी और उसका शुमार संतों और दार्शनिकों के बीच किया जाने

लगा था। हालांकि मीडिया में ऐसी खबरें भी आईं कि उसने उपभोक्ता वस्तुओं के उपयोग के संबंध में शोध किए थे और उन्हें उत्पादकों को बेचकर काफी पैसा बनाया था जिसमें चादरों के संबंध में किया गया अध्ययन भी शामिल था। उपभोक्ताओं द्वारा चादरों के उपयोग के संबंध में उसने जो अध्ययन प्रस्तुत किया था उसके बाद चादरों के रंग, उस पर छपी डिजाइनें, उसके कपड़ों आदि में काफी बदलाव लाया गया। उसके अध्ययन का ही कमाल था कि विक्रेता उपभोक्ता से बात कर पहले ही ताड़ जाता था कि वह क्या पसंद करने वाला है और उसे सामान्य से ऊंची दर पर बेचकर मुनाफा कमाने में कामयाब रहा।

चीन ने पुस्तक पर इसलिए प्रतिबंध लगा दिया क्योंकि उसे खतरा था कि वहां सरकार की नीतियों के खिलाफ आम जनता बगावत कर देगी। चीन के पतन और इस्लाम के वर्चस्वपूर्ण स्थिति में आने की भविष्यवाणियों के कारण पुस्तक सनसनीखेज बन गई। कुछ विश्लेषकों का यह भी मत था कि भारत चीन के मनोबल को तोड़ने के लिए कुप्रचार व प्राक्सी वार में लगा हुआ है क्योंकि सर्वशक्तिमान राष्ट्र बनने की दौड़ में चीन ही भारत को मात दे सकता है।

कुछ अन्य विश्लेषकों का मानना था कि यह तेल के कुओं का प्रताप है और इस ग्रंथ से इस्लाम का प्रचार प्रसार बढ़ाने की योजना को अंजाम दिया जा रहा है। यह उस धर्म के वर्चस्व की होड़ का औजार है जो ईसाईयत और इस्लाम के बीच जारी है। विवाद के बढ़ने के बाद इस्लाम को मानने वालों के बीच यह किताब खूब बिकी और उसे सम्मान की निगाह से देखा जाने लगा और इन्हीं कारणों से अमरीका व कुछ अन्य देशों में इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

***

कहानी

उनके पर जानें और ये आसमां जाने

आशुतोष

जब रात आधी ढल चुकी थी,और चंद्रमा जाने कहां था वैसे में उनका दिल बेतहाशा धड़क रहा था। सामने मेज पर कालेज प्रबंधन की ओर से जारी कारण बताओ नोटिस रह रह कर फड़फड़ा रहा था। तनिक भी कहीं कोई आहट होती तो उन्हें लगता कि दरवाजे पर कोई है। बहुत सारे सवाल थे बहुत सारी स्मृतियां थीं जिनके जबाब उनके पास नहीं थे।

वो एक कस्बे का बदहवास समय था। कस्बे के कालेज में विकास सर की नई-नई नौकरी लगी थी। कालेज और कस्बे का चरित्र एक सा था। दोनों अनमने थे, दोनों जैसे आधे नींद में रहते थे हर वक्त। उन्हें मुद्दों से बड़ा लगाव था, पर नया मुद्दा मिलते ही वे दोनों पिछला भूल-भालकर नए के साथ खुद को इंगेज कर लेते थे। दोनों की याददाश्त कमजोर पर महत्वाकांक्षा प्रबल थी। कालेज ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय तो कस्बा जितना जल्दी हो सके जिला बनना चाहता था। इन दोनों के अरमानों को इस कदर हवा देने में भांति-भांति के राजनीतिक दल और उनके नेताओं का अविस्मरणीय योगदान था।

कस्बे और कालेज के मुहब्बत का आलम यह था कि नगरपालिका के चुनाव में पूरा कालेज नगर में होता और छात्रसंघ के चुनाव के समय पूरा कस्बा कालेज में उमड़ आता। दोनों के नेता भी एक से थे। कालेज वाले नेता कालेज छोड़ देने के बाद नगर पालिका में हाथ आजमाने लगते थे और वहीं से कालेज के चुनाव का भी नियंत्रण करते थे।

कालेज का पचास कमरे वाला हॉस्टल कालेज का 'कंट्रोल रूम' था। हॉस्टल के नीचे वाले हिस्से में जो उधर सड़क की ओर खुलता था, कालेज प्रशासन ने अपने व्यापारिक प्रबंधकीय कौशल से दुकानें बनवा लिया था। सो वे दुकानें और उनके दुकानदार भी कालेज के ही हिस्से जैसे हो गए थे। हॉस्टल का आवंटन तो मेरिट के आधार पर होता था पर वो मेरिट लिस्ट उस कस्बे में बनती

थी। कस्बे में कहां ? इसका निर्धारण छात्रसंघ और कस्बे की राजनीतिक समीकरणों के आधार पर होता था। कालेज में ब्राह्मण ठाकुर वर्चस्व का स्पष्ट विभाजन था। हॉस्टल चाहने वालों को पता रहता था कि इस बार कोटा किसके पास है, इसलिए वे सीधे वहीं आवेदन करते थे।

ऐसे ही समय में उस कस्बे के इकलौते कालेज में विकास सर ने इतिहास के प्राध्यापक के रूप में ज्वाइन किया था। कालेज के सबसे कम उम्र का यह शिक्षक विद्यार्थियों के लिए आकर्षण का केंद्र था। वरना कालेज के तमाम शिक्षक पान, खैनी खाते, बात बेबात पर हो हो कर हंसते, लड़कियों को देख कर गिल गिल की अबूझ आवाज निकालते हुए किसी मियादी बुखार से लगते थे। ऐसे दमघोंटू माहौल में विकास सर 'एअर फ्रेशनर' बन कर आए थे। कालेज के एक दैनिक वेतनभोगी चपरासी खैरू से उनकी दोस्ती हुई। खैरू ने कालेज के पीछे के बरसों से खाली पड़े खंडहरनुमा ढांचे के एक हिस्से को साफ-सफाई कर अपना रिहाइश बना रखा था। उस रिहाइश के बारे में कालेज में आम राय थी कि खैरू दिन के समय कालेज के जोड़ों को किराए पर उपलब्ध कराता था। बावजूद इसके विकास सर कुछ अपनी इच्छा और कुछ खैरू के आग्रह पर खंडहर के दूसरे हिस्से का रंग रोगन करा कर उसी में रहने लगे। इससे खैरू का साथ भी बना रहा और भोजन आदि की समस्या का भी समाधान हो गया।

विकास सर ने गर्मियों की छुट्टी में कालेज ज्वाइन किया था। जुलाई आते ही नए परिंदों के साथ नया सत्र शुरू हुआ। साथ ही शुरू हुईं छात्रसंघ की हलचलें। कालेज की दीवारें, प्ले ग्राउंड, आस पास की दुकानें, घर आदि नए पुराने छात्र नेताओं के अभिवादन, शुभकामनाओं आदि के बैनर पोस्टर से भरने लगी थीं।

एमए अंतिम वर्ष के विद्यार्थियों की अपनी क्लास में विकास सर ने संवाद स्थापित करने की गरज से पूछा ''भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा सम्राट आप किसको मानते हैं ?'' थोड़ी देर के सन्नाटे के बाद एक आवाज गूंजी ''अकबर है सर .... अकबर महान, हिंदू मुस्लिम एकता और भारत की अखंडता के लिए अकबर ने बहुत काम किया। भारत में एक स्थिर व्यवस्था देने के जुनून में जब अकबर लगा हुआ था उसी समय उसकी जिंदगी में जोधा बाई आईं.....।'' तब तक क्लास रूम के दरवाजे पर थोड़ी सी हलचल हुई और एक कोमल स्वर गूंजा ''मे आई कम इन सर।'' सभी की नजरें उस आवाज से टकराईं। वह एक दुबली पतली उजली सी लड़की थी। पीछे बैठे एक लड़के ने धीरे से टिप्पणी की ''आ गई जोधा बाई ...।'' पूरी क्लास ठहाकों से भर गई। विकास सर ने सबको चुप कराते हुए लड़की को परमिट किया ''एस कम इन।'' लड़की सामने से दूसरी डेस्क पर जाकर बैठ गई। विकास सर के पूछने पर उसने अपना नाम वैशाली राजपूत बताया। सर को जैसे ही लड़के का ध्यान आया उन्होंने उसको बैठने को कहा और नाम पूछा। लड़के के जी में आया कि अपना नाम अकबर बता दे, पर वह 'अभिजीत' बताकर बैठ गया। थोड़ी सी और बातों के साथ उस दिन की क्लास खत्म तो हुई पर एक किस्से की शुरुआत हो गई थी।

छात्रसंघ चुनाव का माहौल जोर पकड़ता जा रहा था। आसपास के सैकड़ों गांवों के लिए वह अकेला कालेज था। छात्रों की भीड़ कालेज की क्षमता से ज्यादा थी। कालेज के बगल में छोटी लाइन

का रेलवे स्टेशन था। कालेज के सैकड़ों विद्यार्थी ट्रेन से आते थे। इसलिए कालेज रेलवे की समय सारणी से चलता था। दस बजिया ट्रेन जब आउटर पर हार्न देती थी तो कालेज का चपरासी दौड़ कर घंटी बजा देता, साढ़े दस तक पूरे कालेज में गहमा गहमी बढ़ जाती थी और साढ़े तीन की पैसेंजर के गुजरते ही कालेज लगभग खाली हो जाता। कालेज का पूरा सत्र दो भागों में बंटा हुआ था। जुलाई से लेकर दिसंबर तक छात्रसंघ चुनाव और जनवरी से जुलाई तक परीक्षा, रिजल्ट और एडमिशन। यानी उसमें पढ़ाई के लिए अलग से कोई व्यवस्था ही नहीं थी। जब नहीं थी तब होती भी नहीं थी। ये विकास सर ही थे जिनके इतिहास की क्लास की वजह से कालेज का इतिहास बदल रहा था।

अभिजीत की विकास सर से खूब बनने लगी थी। पर वह चाहता था कि वैशाली राजपूत से कुछ बात बन जाए। लड़कों के अनुसार वैशाली इतनी नकचढ़ी और बदतमीज थी कि .....। अभिजीत का एक मझोले व्यापारिक परिवार से ताल्लुक था। इतनी सी व्यापारिक बुद्धि तो उसके पास थी ही कि वह अपने लाभ की पूर्वपीठिका तैयार कर सके। कालेज में वर्चस्व का समीकरण ब्राह्मणों और राजपूतों के बीच अक्सर उलझा रहता था। इसमें किसी अन्य के लिए कोई खास जगह होती नहीं थी। अभिजीत धीरे-धीरे समझ गया था कि सुरक्षित रहना है तो किसी एक पक्ष को चुनना होगा। काफी सोच समझ कर उसने ब्राह्मण लॉबी ज्वाइन कर लिया। उसने दूर की सोची थी कि कभी जरूरत पड़ने पर वैशाली प्रकरण में राजपूतों के प्रति ब्राह्मणों के स्वाभाविक आक्रोश से मदद मिल सकती है।

ब्राह्मण लॉबी और राजपूत लॉबी दोनों में चिकने-चुपड़े स्मार्ट लड़कों की जगह हमेशा बनी रहती। ये लड़के कालेज की लड़कियों को अपने प्रेमपाश में बांधकर अपने नेताओं के लिए वोट बटोरते थे। छात्रसंघ के चुनाव में अध्यक्ष, उपाध्यक्ष और महामंत्री के पद पर कब्जा बहुत कुछ इन पेशेवर प्रेमियों की कर्तव्यनिष्ठा पर निर्भर रहता था। अभिजीत कालेज के दस्तूर के हिसाब से बतौर प्रेमी ब्राह्मण लॉबी में फिट हो गया। उसे हर नई लड़की का नाम पता पार्टी कार्यालय से मिल जाता था और फिर अभिजीत का काम शुरू हो जाता। इस कार्य के लिए तो जैसे अभिजीत अपार प्रतिभा लेकर पैदा हुआ था। उसका काम चल निकला था। उसकी नियोक्ता पार्टी उस पर मेहरबान थी। पर अभिजीत जहां सफल होना चाहता था उसके आसार दूर दूर तक नजर नहीं आ रहे थे। बावजूद इसके कालेज परिसर में अभिजीत की धूम मची हुई थी। हर जगह वही दिखता। गेम में, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में, समारोहों में सब जगह। डेढ़ महीने के अंदर वह सोलह लड़कियों के और चार बार खुद का जन्मदिन मना चुका था। वोट मांगने जब नेताजी लोग किसी लड़की के घर जाते तो उनके अभिभावकों से बातचीत का मोर्चा यही प्रेमी संभालते थे। वरना उनके नेता इतने झबरैले होते कि .....। बातचीत के इस तरीके में अभिजीत सिद्ध हो चुका था। दरवाजा खुलते ही एक सुदर्शन व्यक्तित्व को अपने पैरों पर गिरते देख लड़कियों के मां-बाप बाग-बाग हो जाते थे, और अभिजीत नपी तुली भाषा में मुखातिब होता ''नमस्कार अंकलजी, हम लोग कालेज से आए हैं। राजनीति की प्राथमिक पाठशाला छात्रसंघ चुनाव की पहली पंक्ति पूरी करने के लिए हमें आपका सहयोग चाहिए।'' कहीं इस भाषा में कि ''नमो नमः ! अकादमिक जड़ता और संस्कारहीनता के

इस परिवेश की शुद्धि के लिए चल रहे हमारे इस कर्म यज्ञ में आपका आशीर्वाद चाहिए।'' या फिर ''सलाम वालेकुम चाचू ! हम लोग आपकी बेटी के मदरसे से आए हैं, मदरसे में इल्म, अदब और जम्हूरियत की खुशगवार बहाली के लिए हम जंग लड़ रहे हैं, इसमें यकीनी तौर पर आपकी दुआ चाहिए।''

पर यही अभिजीत कालेज में, कस्बे में कहीं भी जब वैशाली को देखता तो उसकी आवाज गायब हो जाती। बस आंखें बोलती रहतीं .... ''मरहबा...मरहबा ...मरहबा।''

इधर विकास सर की स्थिति थोड़ी असहज होती जा रही थी। कारण यह कि वे ठाकुरों – ब्राह्मणों की उस इजारेदारी में अनफिट थे। उनका पढ़ाना-लिखाना तो वैसे ही चलता रहा पर अभिजीत से नजदीकी ने उन्हें राजपूतों की नजर में ला दिया। राजपूत लॉबी ने उन पर आरोप लगा दिया कि वे अभिजीत के माध्यम से ब्राह्मण लॉबी को प्रश्रय दे रहे हैं। शाम के समय वे इसी उधेड़बुन में बैठे थे, खैरू चाय बना रहा था कि अभिजीत उनसे मिलने आया। सब कुछ समझते हुए अभिजीत ने उन्हें बताया कि ''सर आप ठाकुर लॉबी के लड़कों को भी अपने केबिन में बैठाया कीजिए।'' विकास सर ने झुंझलाते हुए कहा ''अरे मैंने किसी को अपने पास आने से रोका है क्या? वैसे भी मैंने अपने छात्रों को कभी ठाकुर या ब्राह्मण के रूप में नहीं देखा है।'' ''आप भले यह न मानतें हों, फिर भी सर रणनीति के रूप में ही सही आपको यह करना चाहिए।'' विकास सर थोड़े खीझ भरे स्वर में बोले ''तो फिर मैं कहां राजपूत छात्र खोजता फिरूं ?'' अभिजीत ने उन्हें उपाय बताया ''खोजना कहीं नहीं है सर, आप तो बस वैशाली राजपूत को अपने केबिन में बैठाया कीजिए। कुछ ही दिन में सब ठीक हो जाएगा, और राजपूत आपको भी अपना आदमी समझने लगेंगे।'' विकास सर भड़क गए ''आदमी .... पर मैं किसी का आदमी नही हूं और ना होना चाहता हूं।'' अभिजीत किसी अनुभवी की तरह उन्हें समझा रहा था ''मैं समझता हूं सर, पर इस कालेज की यही नियति है। आप हम ना ठाकुर हैं और ना ब्राह्मण, पर यह समाज इन्हीं की बपौती है। हमारी ही जाति को देखिए हमारे पुरखे राजस्थान से एक लोटा और नमक लेकर आए थे, पर कितनों के लोटे आज हमारे यहां गिरवी हैं। फिर भी हम कहीं के नहीं हैं।.....सब करना पड़ता है सर। इन लोगों के साथ रहने के लिए इतनी समझदारी तो हमें आनी चाहिए।'' विकास सर बहुत ध्यान से अभिजीत की बात सुन रहे थे। आज अभिजीत उन्हें सचमुच का अकबर जैसा लग रहा था और जोधा ....., उसका ख्याल आते ही विकास सर के होठों पर हँसी की एक छोटी सी किरण दौड़ गई।

इस बातचीत के तीसरे दिन से वैशाली सचमुच विकास सर के केबिन में आने लगी थी....।

इस खबर से अभिजीत खुशी से भर गया। इसके दो स्वाभाविक परिणाम आने ही थे, एक विकास सर के प्रति राजपूतों की कटुता दूर होगी और दूसरा यह कि विकास सर के माध्यम से वैशाली अभिजीत के बारे में कोई अच्छी सी राय बना सकेगी।

इसी खुशी में अभिजीत ने अपने दोस्तों को हॉस्टल में एक छोटी सी पार्टी दी। पर कारण किसी को नहीं बताया। सारे दोस्त अटकल लगाते रहे। देर रात तक चलने वाली उस पार्टी में जब बियर

के दो कैरेट खत्म हो गए तब अभिजीत बहक गया। उसने बातों ही बातों में वैशाली का नाम ले लिया। उसी पार्टी में शोले फिल्म का हरीराम नाई भी बैठा था। वैसे उसका नाम दीना सिंह था। वह कालेज का सूचना प्रसारण संयंत्र था। इधर की बात उधर करने के कारण ही उसका नाम हरीराम नाई पड़ गया था। वह आज इस निषिद्ध प्रेम के बारे में जान गया था। अभिजीत को हरीराम पर पूरा यकीन था, वैसे भी उस पर अभिजीत के कई एहसान थे। अभी पिछले साल ही तो अभिजीत ने हरीराम को एक संकट से उबारा था। कस्बे के एक बड़े व्यवसायी की बेटी गोलू जायसवाल, जो कालेज में एमएससी कर रही थी, से हरीराम को एकतरफा प्यार हो गया था। हरीराम के बड़बोलेपन, सिंगिल चेसिस की देह और कौड़ी भर के दिल में गोलू जायसवाल का वो प्यार छुपाए छुपता नहीं था। लड़कों ने भी इस प्यार को खूब हवा दिया। उन दिनों हरीराम उड़ता रहता। बस। इन सबमें एक खास बात यह थी कि अंत तक गोलू जायसवाल को हरीराम की इस दीवानगी के बारे में पता नहीं चल पाया। एक दिन कालेज में खबर आई कि गोलू जायसवाल की शादी कहीं और तय हो गई। हरीराम रस्मी तौर पर ही सही उदास हो गया। उधर शादी की रस्में होती रहीं और इधर हरीराम दारू पीकर हॉस्टल में पड़ा रहा। शादी के दिन कुछ लड़कों ने हरीराम के प्रेमी को जगा दिया। बस क्या था हरीराम नहा-धोकर तैयार हुआ। सैलून में जाकर पंद्रह रुपए की सेविंग और पैंतीस रुपए का मसाज कराया। आधा लक्स, दो पाउच शैंपू, आधा शीशी इत्र और मैकडावेल का एक खंभा उसकी तैयारी में कुर्बान हो गए। हरीराम जब गोलू जायसवाल के मुहल्ले में पहुंचा तब तक बारात द्वारपूजा के लिए निकल चुकी थी। हरीराम का माथा घूम रहा था। उसे जोर-जोर से रोने का मन कर रहा था। अचानक वह बैंड के ठेले पर चढ़ गाना गाने लगा ''आज मेरे जान की शादी है ...आज मेरे जान की शादी है, लगता है कि सारे संसार की बरबादी है..,आज मेरे....'' गाते हुए ही उसका सब्र टूटा और वह फूट-फूटकर रोने लगा। बाराती अवाक्। सबने उसे कोई पागल समझा। थोड़े देर के लिए हो-हल्ले का व्यवधान आया और फिर बारात आगे बढ़ गई, पीछे छूट गया था लहूलुहान बेहोश हरीराम। हॉस्टल में पहले इसकी खबर आई और बाद में अभिजीत हरीराम को उठाकर लाया। तब से हरीराम भी अभिजीत की काफी कद्र करता था पर वैशाली राजपूत का जिक्र आने से उसका सोया हुआ गौरव जाग गया। वैसे वह पहले कुछ लोगों को बता चुका था कि वैशाली उसकी रिश्तेदार है, पर लड़कों की यह आम राय थी कि हरीराम मन ही मन वैशाली को चाहता है। अब चाहे जातिगत प्रश्न हो या दिल दा मामला हरीराम के दिमाग में खुजली शुरू हो चुकी थी।

एक दिन विकास सर ने वैशाली को सबकुछ सच-सच बता दिया ''तुम तो जानती हो कि मैं जाति-वाति नहीं मानता, पर राजपूत छात्र नेताओं ने मुझ पर ब्राह्मणों के फेवर में काम करने का आरोप लगाया है ....'', वैशाली उनकी बात काटते हुए बोली ''अरे सर ! वे सबके सब लफंगे और मवाली हैं, आप उनकी बातों को कहां लेकर बैठ गए ?'' ''मैं जानता हूं वैशाली, और मुझे इससे कोई फर्क भी नहीं पड़ता, पर मैं डरता हूं कि कहीं इससे कालेज का माहौल खराब ना हो जाए .... इसलिए वैशाली मुझे तुम्हारी मदद चाहिए।'' वैशाली हैरानी के साथ बोली ''इसमें मैं क्या कर

सकती हूं ?'' विकास सर ने उसको समझाया ''थोड़ा कूल दिमाग से सोचो वैशाली, यदि तुम यहां उठने बैठने लगोगी तो राजपूत छात्र नेताओं को लगेगा कि मेरे लिए सब बराबर हैं।'' इस बात पर वैशाली को हँसी आ गई ''वो तो ठीक है, पर ये बचकाना उपाय आपको बताया किसने ?'' विकास सर हड़बड़ा गए ''अभिजीत ने।'' वैशाली के मुंह का जायका बदल गया ''उस फ्लर्ट अभिजीत ने?..... अरे सर ! वो एक नंबर का बदमाश है, वो कहीं आपको किसी मुश्किल में ना डाल दे ?'' विकास सर ने उसे टोका ''नहीं वैशाली, अभिजीत अच्छा लड़का है'', ''कोई अच्छा वच्छा नहीं हैं। वह अपने को लड़कियों का डॉन कहता है .....,पता है सर वह खुद को अकबर और मुझे ....., छोड़िए सर मैं वैसे आदमी की बात कर अपना मूड खराब नहीं करना चाहती।'' विकास सर ने स्थिर स्वर में कहा ''अभिजीत के बारे में तुम कोई भी राय बनाने के लिए स्वतंत्र हो, पर इस कैंपस में उसके बारे में जिस तरह की राय है वह बिल्कुल वैसा नहीं है। एक बात याद रखना वैशाली कि बहुमत हमेशा सही नहीं होता और अकेला आदमी हमेशा गलत नहीं होता।'' विकास सर की आवाज में एक अजीब किस्म की दृढ़ता थी कि वैशाली कोई प्रतिवाद नहीं कर सकी, चुपचाप उन्हें सुनती रही।

कॉमन रूम के एकांत में बैठी वैशाली विकास सर की बातों में उलझ गई थी। कालेज में उसकी बात बस दो एक लड़कियों से ही होती थी, जो उस दिन आईं नहीं थीं शायद। हमेशा जगजीत सिंह की गजलों में खोई रहने वाली वैशाली के सबसे अच्छे दोस्त उसके पापा सूर्य प्रताप सिंह थे। पेशे से शिक्षक उसके पापा सबसे पहले दमकते हुए सूर्य थे, बाद में प्रताप और बहुत बाद में सिंह। अपने खानदानी रवायत से भिन्न ज्ञान, विज्ञान, खेल, संगीत और पेंटिंग ही उनकी दुनिया थी। उसी दुनिया के रंगों और रोशनी से उन्होंने अपनी बिटिया वैशाली को रचा था। वही वैशाली कालेज के अपने पुराने दिनों को याद कर रही थी पर उसमें हर जगह अभिजीत के लिए नफरत और गुस्सा ही भरा हुआ था। पर उसे यह भी ध्यान आ रहा था कि अभिजीत ने कभी उसके प्रति कुछ ऐसा नहीं किया है जिससे कि उस पर इस कदर गुस्सा हुआ जा सके। उसे विकास सर की बात समझ में आ रही थी कि उसने अभिजीत के बारे में अपनी राय बहुमत के हिसाब से बना लिया है, अलग से अभिजीत के बारे में कभी सोचा ही नहीं है। अभिजीत के बारे में कभी अलग से नहीं सोचा, यह ख्याल आते ही वैशाली के भीतर कहीं कुछ पिघलने लगा था और उसी के अंत में वह लजा भी गई। भीतर जैसे कोई था जो हौले-हौले हँस रहा था। उसी पल यह सोच कर कि वह अकारण ही किसी से इतनी नफरत करती रही है, उसका मन भर आया। पता नहीं क्यों अभी इसी वक्त किसी से लिपटकर उसका रोने का मन हो रहा था। उसे पापा की बेतहाशा याद आ रही थी।

उधर कालेज की हवाओं में छात्रसंघ चुनाव की सरगर्मी बढ़ती जा रही थी। राजपूत लॉबी से भैरो उर्फ माउजर शाही और ब्राह्मण लॉबी से भोला उर्फ टीका बाबा अध्यक्ष पद के उम्मीदवार घोषित किए जा चुके थे। माउजर कस्बे के पीडब्लूडी के सबसे बड़े ठेकेदार गुड्डू सिंह का तो टीका बाबा जिले के पहुंचे हुए आध्यात्मिक माफिया जग्गू तिवारी का आदमी था। एक तरह से यह लड़ाई इन्हीं दोनों तथाकथित नेताओं के बीच में थी। छात्रसंघ के चुनाव में कब्जे से ये लोग प्रदेश की राजनीति

और इलाके में अपने वर्चस्व को पुनर्नवा करते थे। चुनाव जीतने के लिए दोनों ओर से दांव-पेंच आजमाए जा रहे थे। इन दिनों अभिजीत की जिम्मेदारी भी बढ़ गई थी। वह टीका बाबा के लिए खुद को पूरी तरह से लगा चुका था। वोट के लिए वह टीका बाबा के साथ पचास-पचास मील दूर के गांवों तक की यात्रा कर रहा था। अपनी तमाम राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ ही टीका बाबा अभिजीत को बहुत मानता था। साथ रहते हुए वे एक दूसरे को खूब समझने लगे थे। टीका बाबा अपने लिए अभिजीत की मेहनत देखकर अक्सर कहता ''मैं कभी न कभी तुम्हारा यह कर्ज उतारूंगा।'' फिर दोनों सिगरेट पीते हुए बात करते रहते, देर तक।

थका देने वाले इन चुनावी दौरों से अभिजीत देर रात लौटता और दस ग्यारह बजे तक कालेज में हाजिर हो जाता। एक दिन प्राचार्य ऑफिस की सीढ़ियां उतरते समय अभिजीत का सामना वैशाली से हो गया। एकदम से बदले हुए अंदाज में वैशाली अभिजीत को देखकर मुस्कुराई, अगर बहुत सारे काम का दबाव नहीं होता तो शायद अभिजीत उस मुस्कुराहट पर बेहोश हो गया होता। खैर ! वह होश में ही था पर उसके शब्द हर बार की तरह दगा दे गए थे .....कानों में कोई रुनझुन सी आहट थी। सब तरफ गूंज रहा था..... मरहबा ...मरहबा.....मरहबा।

इस घटना के कोई दो तीन दिन बाद विकास सर की केबिन में अभिजीत और वैशाली की फिर से भेंट हो गई। इस आकस्मिक मुलाकात पर दोनों इतने घबड़ा गए कि एक दूसरे को हेलो हाय भी न बोल सके। विकास सर इधर उधर की बातें करते रहे फिर यह कहकर चले गए कि ''तुम लोग बात करो, मैं क्लास लेकर आता हूं''। अभिजीत और वैशाली वहीं उसी मुद्रा में बैठे रहे। वैशाली मेज पर पड़े पेपरवेट को उलट-पुलट रही थी। चारों तरफ एक गुदगुदाती सी खामोशी पसरी हुई थी और उसी खामोशी में सिमट रहे थे दोनों। पंखे की हवा से दीवार पर लटका कैलेंडर फड़फड़ा रहा था, अभिजीत ने देखा कैलेंडर में अभी भी नवंबर का पन्ना लगा हुआ था। वह धीरे से उठा और कैलेंडर को पलटकर दिसंबर का पन्ना ऊपर कर दिया। इसी के साथ उसे ख्याल आया कि वह पहली बार वैशाली से इस तरह मिला है तो आज कौन सी तारीख होगी। उसने अपनी कलाई घड़ी में तारीख देखी और एक विस्मित कर देने वाले एहसास से भर गया कि आज तो बीस दिसंबर है। उसने मुस्कुराते हुए कैलेंडर के बीस दिसंबर पर एक निशान लगाया और अपनी जगह पर आकर बैठ गया। वह लगातार उस निशान बीस दिसंबर को देखे जा रहा था। देखते देखते भीतर कुछ उमड़ने लगा, उसे हल्की सी खांसी आई। बिना कुछ बोले वैशाली ने अपने बैग से पानी की बोतल निकालकर उसके सामने रख दिया। अभिजीत ने सकुचाते हुए पानी के दो छोटे-छोटे घूंट लिए और बोतल को वैशाली के सामने रख दिया। तब तक विकास सर क्लास खत्म कर वापस आए। विकास सर के आने के साथ ही उन दोनों को यह ख्याल भी आया कि पेपरवेट को उलटने पुलटने, कैलेंडर को ठीक करने, थोड़ा खांसने और थोड़ा पानी पीने में उन दोनों ने पचास मिनट लगा दिया। अपने चेयर पर बैठते हुए विकास सर ने कहा ''सॉरी मैन, मुझे थोड़ी देर हो गई।'' वैशाली हँसते हुए बोली ''थोड़ी देर नहीं सर ! बहुत देर हो गई, जब आप गए थे तब नवंबर था अब देखिए दिसंबर आ गया है।'' विकास सर ने कैलेंडर देखा और हँसते हुए बोले ''अरे वाह, तो तुम लोगों

ने इस कालेज का समय ठीक कर दिया।'' फिर उनका ध्यान निशान लगे बीस दिसंबर पर गया तो वे चौंक गए ''सॉरी यार अभिजीत, मैं तो भूल ही गया था'' खड़े होकर उन्होंने अभिजीत को गले लगाया और आशीर्वाद देते हुए कहा ''खूब प्रसन्न रहो, उन्नति करो.. हैप्पी बर्थ डे।''

अब चौंकने की बारी वैशाली की थी। आज अभिजीत का जन्मदिन है उसे विश्वास नहीं हो रहा था। क्योंकि वह अलग अलग लड़कियों के साथ इसी सत्र में कई बार अपना जन्मदिन मना चुका था। वैशाली के चेहरे पर कई तरह के भाव आ-जा रहे थे। विकास सर ने उसकी हैरानी को पकड़ते हुए कहा ''क्या सोचने लगी वैशाली ?''

''नो सर.....एस.... सर '' विकास सर ने हँसते हुए कहा ''इसके जिन जन्मदिनों के बारे में तुम जानती हो वह सब इसकी मजबूरी है, इसके काम का हिस्सा है, सच यह है कि इसका जन्म दिन बीस दिसंबर को है जो सिर्फ मैं जानता था और आज तुम जान गईं। वैशाली यह सब सुनकर कुछ हैरानी से और कुछ खुशी से भरती जा रही थी। उसे लग रहा था कि यहां अभी विकास सर नहीं होते तो वह जी भर कर अभिजीत को देखती। विकास सर ने अपने बैग से चाय का थर्मस और बिस्किट निकाला फिर तीनों ने अभिजीत का जन्मदिन सेलिब्रेट किया। चलते समय वैशाली ने धीरे से अभिजीत से कहा ''हैप्पी बर्थ डे'' अभिजीत हड़बड़ा गया, वह आनन फानन में बोल गया ''सेम टू यू'' वैशाली ने उसकी इस प्रतिक्रिया पर नाक सिकोड़ कर प्रश्नवाचक मुद्रा में पूछा ''सॉरी ?'' अभिजीत और घबड़ा गया, उसकी आवाज कांप रही थी, वह कुछ कुछ बोले जा रहा था '' सॉरी...., नो सॉरी, वेलकम...सॉरी ...थैंक्यू।'' उसकी घबराहट देख कर वैशाली को हँसी आ गई, फिर तो वह देर तक हँसती रही। दूसरे दिन जब वह कालेज आई तो उसके होंठों पर वही कल वाली हँसी के छोटे छोटे बच्चे खेल रहे थे। अभिजीत ने सोचा कि 'रात भर हँसती रही होगी शायद।'

चुनाव की गहमागहमी के बीच अभिजीत और वैशाली अब रोज ही मिलने लगे थे। कभी लाइब्रेरी में तो कभी विकास सर के रिहाइश वाले हिस्से में। खैरू के हाथ की बनी चाय और दिसंबर की गुनगुनी धूप के साथ वहीं पर दोनों बैठे थे कि वैशाली ने पूछा ''विकास सर को खंडहरों से बड़ा लगाव है, है ना ?''

''क्यों ?'' यह अभिजीत था।

''इसीलिए तो सारा कस्बा छोड़ कर विकास सर यहां खंडहर में रहते हैं।''

''हां, सच कह रही हो। वैसे विकास सर अक्सर निर्मल वर्मा को कोट करते हुए कहते हैं कि खंडहर और कुछ नहीं शहर की स्मृतियां हैं।''

वैशाली को ये सुनकर अच्छा लगा, उसने चहकते हुए पूछा ''तुम्हें कैसे लगते हैं खंडहर ?'' अभिजीत ने कहा ''पहले तो कुछ खास नहीं लगते थे पर जब से यहां तुमसे भेंट होने लगी है तब से इनमें मेरी भी स्मृतियां शामिल हो गई हैं।'' यह सुन कर वैशाली थोड़ी सी लजा गई। बात बदलते हुए और थोड़े गंभीर स्वर में कहा ''क्या सोचा है तुमने अभिजीत ?''

''किस बारे में ?'' अभिजीत ने मुस्कुराते हुए कहा।

वैशाली बनावटी गुस्से में बोली ''अपने सिर के बारे में'' और फिर दोनों देर तक छोटी-छोटी बातों पर लड़ते हँसते रहे।

घर आने के बाद वैशाली सबसे पहले अपने पापा के कमरे में गई। पापा कोई पत्रिका उलट पुलट रहे थे। रिकार्ड पर शोभा गुर्टू की आवाज बज रही थी। वैशाली को देखते ही कहा ''आओ बेटी, कैसा रहा आज का दिन ?''

''हां जैसे रोज होता है .....कुछ खास नहीं'' यह कहते हुए वैशाली खुद ही अपने झूठ पर चौंक गई। बात बदलते हुए उसने आपने पापा से पूछा ''आप क्या पढ़ रहे हैं, कुछ खास है क्या ?''

''कुछ खास नहीं होता वैशाली .... सब हमारे मानने पर है, हमारे सोचने और देखने के तरीके पर निर्भर करता है व्यक्ति या बात का खास होना।'' वैशाली ने पापा की समझ को सराहा ''गुड'' पापा ने मुस्कुराते हुए कहा ''थैंक्यू'' वैशाली ने हंसते हुए कहा ''वेलकम।'' वैशाली ने हँसते हुए पूछा ''अच्छा पापा ये बताइए किसी चीज को पाने के लिए हमें क्या करना चाहिए।'' तब तक नीचे से वैशाली की मां की आवाज आई, वे वैशाली को नाश्ते के लिए बुला रहीं थीं। वैशाली ने जाते-जाते पापा से मनुहार किया ''बताइए न पापा ?'' ''कुछ नहीं .....हमें बस उस चीज को शिद्दत से चाहना चाहिए'' पापा चुप हो गए। इबारत पूरी हो गई थी। रिकार्ड पर शोभा गुर्टू की ठुमरी गूंज रही थी ''हमरे अटरिया पर आजा रे सांवरिया.....देखा देखी तनिक होइ जाए....., हमरे अटरिया पर.....।''

कालेज का समय अब तेजी से बदल रहा था। लड़के, लड़कियों के पहनावे,भाषा आदि में बड़े बदलाव आ रहे थे। कुछ ही दिन में कालेज की चार लड़कियां हीरो पुच बाइक से आने लगी थीं। लड़कियों की इस रफ्तार को कालेज के साथ पूरे कस्बे ने महसूस किया। लड़के-लड़कियां अब बिंदास ढंग से च्युंगम चबाते हुए एक दूसरे से बोलने बतियाने लगे थे। अध्यापकों के अभिवादन में 'पैर छूने','प्रणाम गुरुजी' जैसे हरकतों की जगह 'गुड मार्निंग','गुड आफ्टरनून' जैसे शब्द लेने लगे थे। लड़कियां फूल कढ़े रूमाल की जगह अब नैपकिन का इस्तेमाल करने लगी थी। इससे हुआ यह कि रूमाल गिरने और उठाकर देने जैसे रोमांटिक लम्हे कालेज से चुपचाप गायब होते गए। कालेज में पाठ्यक्रम के अलावा सब कुछ बदल रहा था। ऐसे समय में वैशाली और अभिजीत प्यार कर रहे थे। अपनी तरह का, अपने पसंद का प्यार। वैसे भी वे 'उसने कहा था' स्टाइल के आखिरी प्रेमी थे।

छात्रसंघ का ताजा रुझान ब्राह्मण लॉबी के पक्ष में चल रहा था। राजपूत लॉबी किसी नए दांव की फिराक में थी कि हरीराम नाई की वैशाली अभिजीत वाली सूचना एक उम्मीद बनकर आई। यह राजपूत कन्या से बनिया लड़के के वर्जित प्रेम का मामला था। तुरंत ही गुड्डू सिंह के घर पर आपात बैठक बुलाई गई। सभी पहलुओं पर चर्चा हुई। अभिजीत को मारने-पीटने से मामला बिगड़ सकता था क्योंकि चोटिल अभिजीत के प्रति छात्र-छात्राओं की सहानुभूति टीका बाबा के वोट में बदल सकती थी। इसलिए तय किया गया कि अभिजीत से अपने फेवर में काम करने को कहा जाए।

गुड्डू सिंह की सूचना पाते ही अभिजीत कालेज से सीधे उनकी हवेली पर पहुंचा। गुड्डू सिंह ने पहले तो राजपूत लड़की से प्रेम करने पर उसे काफी हड़काया, और फिर रास्ता बताते हुए कहा

''सुनो, तुम अपनी सलामती चाहते हो तो उस टीम में रहते हुए हमारे लिए काम करो, लड़कियों के सारे वोट माउजर को पड़ने चाहिए।''

अभिजीत ने काफी हिम्मत करके कहा ''दादा मैं भोला से गद्दारी नहीं कर सकता, वह मेरा दोस्त है।''

खैर ! अभिजीत किसी तरह वहां से निकल आया। गुड्डू सिंह के आदमी उसे इतनी आसानी से छोड़ने के पक्ष में नहीं थे पर गुड्डू सिंह ने चुनाव के पहले कुछ भी करने से मना कर दिया।

उधर अभिजीत को गुड्डू सिंह के घर से निकलते जग्गू तिवारी के लोगों ने देख लिया। चुनाव के इन दिनों में अभिजीत का गुड्डू सिंह के घर जाना जग्गू तिवारी के लिए चिंता का विषय था। दूसरे दिन से ही माउजर शाही अभिजीत को राजपूतों की इज्जत पर डाका डालने वाला बताकर खुले आम नकारात्मक प्रचार करने लगा। अगले कुछ दिनों में यह पूरा मामला राजपूतों की आन बान का बन गया। अभिजीत टीका बाबा के ग्रुप में था इसलिए अब इसका असर टीका बाबा के चुनाव पर पड़ने लगा।

जब टीका बाबा की लॉबी मुश्किल में पड़ने लगी तो अभिजीत की पेशी जग्गू तिवारी के दरबार में हुई। अभिजीत पर दो आरोप थे, पहला कि वह गुड्डू सिंह से क्यों मिलने गया था और दूसरा यह कि वह वैशाली से प्यार क्यों करता है ? पहले के जवाब में उसने सब कुछ सच-सच बता दिया, पर उसका यकीन किसी ने नहीं किया। दूसरे आरोप पर उसने स्वीकार कर लिया कि वह वैशाली से प्यार करता है। जग्गू तिवारी ने सवाल किया कि ''तुमको प्यार करने का हक किसने दिया ?'' अभिजीत ने निर्भय होकर कहा ''प्यार करने का हक कौन देता है बाबा साहेब, ये तो बस हो जाता है।'' जग्गू तिवारी क्रोध से बिलबिला उठे ''जबान मत लड़ा साले.... जबान मत लड़ा। अगर टीका चुनाव हार गया तो मेरा विधायकी का टिकट भी कट जाएगा, अगर ऐसा हुआ तो... मैं तुम्हें काट डालूंगा..., समझे आशिक की औलाद।'' अभिजीत को अब डर लगने लगा था। उसने अपनी आवाज को पर्याप्त विनम्र बनाकर कहा ''बाबा साहेब ! मेरे प्यार और भोला के चुनाव में कोई संबंध नहीं है।'' ''कैसे संबंध नहीं है ? तुमको लगाया गया था कि सारी लड़कियों के साथ प्रेम का भ्रम रचो जिससे कि वे तुम्हारे पीछे टीका तक खिंची आएं, पर वैशाली वाली बात से नाराज होकर लड़कियां माउजर के पक्ष में वोट करेंगी, और ऐसा मैं होने नहीं दूंगा।'' अभिजीत को यह तर्क कम कुतर्क ज्यादा लग रहा था, पर वह बाबा साहेब से कह भी क्या सकता है। किसी तरह वह माफी मांगकर वहां से निकला।

जग्गू तिवारी के घर से निकलकर अभिजीत सीधे विकास सर के कमरे पर पहुंचा। सब कुछ सुनकर विकास सर चिंता में पड़ गए। किसी को कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। विकास सर समझ नहीं पा रहे थे कि प्यार और राजनीति का यह कैसा रिश्ता है।

उधर वैशाली के घर में कोहराम मचा हुआ था। हमेशा से अपने में सिमटी वैशाली रिश्ते-नाते, मुहल्ले और कस्बे में चर्चा का विषय बन गई थी। उसकी मम्मी सदमें में थीं। मौसियों, मामियों के फोन घनघनाने लगे थे। वैशाली अकेली पड़ती जा रही थी। वह तो उन्हीं दिनों इस अपमान से मर

ही गई होती अगर उसके पापा ने संभाला नहीं होता। हफ्ते भर का मौन और धैर्य पापा के कंधे पर छूट गया। वह फूट फूट कर रो रही थी। पापा ने हर कदम पर उसका साथ देने का वादा किया, वैशाली कुछ संयत हुई। पापा कई बार अभिजीत से मिल चुके थे। उन्हें इस रिश्ते से कोई आपत्ति नहीं थी। बल्कि उन्हें अभिजीत और अच्छा लगने लगा था।

माउजर ने अपने चुनावी भाषणों में अभिजीत के सभी मददगारों को भी लपेटे में ले लिया। वह लगातार टीका बाबा, विकास सर के खिलाफ जहर उगल रहा था। चुनाव जीतने के लिए उसे एक मजबूत मुद्दा मिल गया था। वह अभिजीत को बक्सर युद्ध के गद्दार रतन सेठ और दौलत चंद के खानदान का बता रहा था। उसका दावा था कि यदि टीका बाबा चुनाव जीत गया तो अभिजीत जैसे छिछोरे लड़के दिन दहाड़े इज्जतदार घरों की लड़कियों पर हमला बोल देंगे। समाज खतरे में पड़ जाएगा, आदि बातों को उसने इस तरह फैला दिया कि टीका बाबा का पक्ष कमजोर होने लगा।

विकास सर उसकी बातों को सुनकर कहते ''इतिहास का प्रोफेसर मैं हूं, और ये ससुरे इतिहास की व्याख्या कर रहे हैं।'' खैरू उन्हें समझाता ''आप इस राजनीति में ना पड़ें साहेब ! यह वैशाली और अभिजीत भैया का मामिला नाही है और नाही माउजर शाही, टीका बाबा का मामिला है, यह कालेज और कस्बा गुड्डू सिंह और जग्गू तिवारी की बपौती है और दोनों में बांट-बखरे का झगड़ा है।''

अंततः वही हुआ जिसकी पृष्ठभूमि इतने दिनों से बन रही थी। वोट पड़े। माउजर शाही बड़े अंतर से टीका बाबा को हराकर छात्रसंघ का अध्यक्ष बन गया। चुनाव परिणाम आते ही भारी हंगामा हुआ। टीका बाबा के लड़कों और रणनीतिकारों ने इस पराजय का जिम्मेदार वणिक पुत्र अभिजीत को ठहराया। फिर क्या था अगले तीन दिन व्यापारियों की दुकानों में तोड़-फोड़ में बीते। दोनों पक्षों में झड़पें भी होती रहीं। नए अध्यक्ष माउजर शाही और उसके आका गुड्डू सिंह के दबाव में जिला प्रशासन ने टीका बाबा के लड़कों पर तोड़-फोड़, आगजनी और शांति भंग के दर्जनों मुकदमें दर्ज किए। कुछ गिरफ्तारियां भी हुईं। अभिजीत गायब था। दोनों पक्ष उसे खोज रहे थे। सबके अपने अपने हिसाब थे। विकास सर भी बहुत परेशान थे। वैशाली के पापा पर क्षत्रिय समाज ने दबाव बना दिया था, इसलिए वे भी कुछ नहीं कर पा रहे थे। वैशाली बिन पानी की मछली की तरह तड़फड़ा रही थी। घर से निकलना मुश्किल हो गया था। माउजर पहले भी विकास सर से खफा रहता था, उसने मौका मिलते ही उनको भी आरोपी बना दिया। विकास सर का प्रोबेशन अभी खत्म नहीं हुआ था। इस प्रेम प्रसंग को हवा देने, कालेज में अपसंस्कृति फैलाने का आरोप विकास सर पर आ गया।

जग्गू तिवारी के इशारे पर अभिजीत उनके फार्म हाउस पर कैद था। अभिजीत के लिए ये तीन चार दिन बहुत भारी थे। उसे कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। वह एक बार वैशाली से, विकास सर से, खैरू से और अपने मम्मी-पापा से मिलना चाहता था। उसके पापा पास के कस्बे के एक छोटे से व्यापारी थे। उनकी छोटी-छोटी खुशियां थीं, छोटे-छोटे सपने थे। पर इस घटना ने उन्हें बदहवास कर दिया था। कई दिनों से उनको बेटे की कोई खबर नहीं थी।

कस्बे में शांति व्यवस्था बहाल करने के लिए जिला प्रशासन का दबाव कालेज पर भी बढ़ रहा

था। कालेज अब माउजर और टीका का कुछ बिगाड़ तो पाता नहीं फलत: कालेज प्रशासन ने विकास सर को कारण बताओ नोटिस जारी कर व्यक्तिगत रूप से कालेज प्रबंधन के समक्ष हाजिर होकर जवाब देने को कह दिया। उधर माउजर ने घोषणा कर दिया कि ''उसी कमेटी के समक्ष अभिजीत वैशाली से राखी बंधवा कर उसे अपनी बहन स्वीकार करे।''

उधर जब पुलिस बाबा साहेब की कोठी तक पहुंच गई तो अपनी गर्दन फंसते देख बाबा साहेब ने बहुत खतरनाक निर्णय ले लिया। उन्होंने यह तय कर लिया कि अभिजीत को मार कर उसकी हत्या का इल्जाम माउजर और गुड्डू सिंह पर लगा दिया जाए। इससे कालेज में मिली पराजय का बदला भी पूरा हो जाएगा और इधर के दिनों में गुड्डू सिंह का बढ़ा हुआ राजनीतिक कद भी खत्म हो जाएगा। यह सब उसी रात में होना था, इसलिए सब कुछ समझाकर टीका बाबा को अभिजीत को लाने भेज दिया गया।

हुक्म पाते ही टीका बाबा अभिजीत को लाने चल दिया। रास्ते भर उसे अभिजीत की तमाम बातें, मजाक याद आते रहे। उसे अभिजीत पर गुस्सा आ रहा था कि इतने बुरे समय में इतना अच्छा बनने की क्या जरूरत थी। उसे खुद पर भी गुस्सा आ रहा था कि आखिरकार वह भी इस शतरंज का एक प्यादा ही निकला। जिसकी अपनी ना कोई हैसियत है ना कोई निर्णय। और अभिजीत....।

टीका बाबा का चेहरा सख्त हो गया , वह किसी निर्णय पर पहुंच चुका था। बहुत बात करने का समय नहीं था। इसलिए टीका बाबा फार्म हाउस से अभिजीत को लेकर चुपचाप कस्बे की ओर चल दिया। आधी रात को टीका बाबा की बुलेट वैशाली के दरवाजे पर रुकी। हैरान-परेशान अभिजीत ने टीका से कुछ पूछना चाहा तो टीका ने उसे बुरी तरह डपट दिया ''चुप्प!....चुप्प रह साले ....अपने मन की बहुत कर चुके हो....., अब एकदम से चुप रहो।'' थोड़ी देर में वैशाली के पापा ने दरवाजा खोला। दोनों हड़बड़ाते हुए घर में दाखिल हुए। वैशाली के घर वालों के सामने टीका बाबा ने बाबा साहेब की पूरी योजना बताई। अपना अंजाम सुनकर अभिजीत सिर पकड़कर बैठ गया। वैशाली की मम्मी को तो दौरे पड़ने लगे थे। वैशाली का रो-रोकर बुरा हाल था। वैशाली के पापा ने टीका बाबा से पूछा ''अब आगे क्या करना है?'' टीका ने गंभीर स्वर में कहा ''वैशाली को अभिजीत के साथ जाने दीजिए, अब यही एक रास्ता है, वरना कल पूरा कस्बा एक नई आग में जलेगा।'' पापा ने भरे हुए गले से कहा ''मैं नहीं जानता कि तुम क्या करने वाले हो....., पर ले जाओ इन दोनों को, जहां भी ले जाना चाहते हो .....।'' यह कहते हुए पापा भहराकर सोफे पर गिर गए। वैशाली चीख पड़ी। टीका ने वैशाली से कहा ''जल्दी करो वैशाली ....अब समय नहीं है ..।''

ज्यों-ज्यों रात बीत रही थी विकास सर उलझते जा रहे थे। कल ही नोटिस का जवाब देना है। वे जानते थे कि यदि नोटिस का जवाब माउजर और गुड्डू सिंह के अनुकूल नहीं होगा तो प्रोबेशन अवधि में ही उनकी नौकरी खत्म हो जाएगी। पर विकास सर नहीं चाहते थे कि वैशाली अभिजीत को राखी बांधे, नौकरी बचने की शर्त पर भी नहीं। उनका दिमाग बुरी तरह से उलझ गया था। शाम से ही कई बार वे उस नोटिस को पढ़ चुके थे। खैरू उनका खाना मेज पर रख कर सोने चला गया

था। इसी सोच-विचार के बीच में दरवाजे पर दस्तक हुई। विकास सर चौंक गए , इतनी रात गए कौन हो सकता है ? दूसरी दस्तक के साथ ही उन्होंने दरवाजा खोला, सामने टीका बाबा, अभिजीत और वैशाली खड़े थे। विकास सर भौंचक थे। सारी बातों को जितना संक्षेप में टीका बाबा बता सकता था उसने विकास सर को बताया। अंत में उसने बहुत ही उम्मीद के साथ विकास सर से कहा ''मुझे यहीं तक का रास्ता पता था, मैं जितना चल सकता था उतना चलकर आ गया हूं, इस साले अभिजीत की मुहब्बत ने मुझे आज गद्दार बना दिया सर !..... अभिजीत की गद्दारी से तो चुनाव हार ही गया हूं , अब देखता हूं कि मेरी गद्दारी मुझे कहां ले जाती है ,.....आप अब तक हिस्ट्री पढ़ाते रहे हैं ...आज वैशाली और अभिजीत के रूप में इस कस्बे का फ्यूचर बना दीजिए।'' यह कहकर टीका बाबा वापस चल दिया। विकास सर ने उसे रोका ''जानते हो टीका ! तुम चुनाव क्यों हार गए?'' टीका बिना कुछ बोले खड़ा रहा। विकास सर ने वाक्य पूरा किया ''क्योंकि तुम अच्छे आदमी हो।'' टीका झेंपते हुए हँसा और चलते-चलते अभिजीत से कहा ''अब गले मिल ले साले ..., चुनाव का तो पूरा कबाड़ा कर दिया तूने...।'' अभिजीत लपककर टीका से लिपट गया ''सॉरी....यार'' टीका ने उसे अपने से अलग करते हुए कहा ''चल बे हट..., मैं भी चलता हूं, नहीं तो मेरा भी माथा खराब हो जाएगा।''

टीका के जाने के बाद विकास सर ने अब तक खामोश खड़ी वैशाली से पूछा ''अब आगे क्या सोचा है जोधा बाई ?'' वैशाली सिसकने लगी। विकास सर ने उसे समझाते हुए कहा ''यह समय भावुक होने का नहीं हौसले से काम लेने का है।'' अभिजीत ने पूछा ''आप ही बताइए क्या करना है ?'' विकास सर कुछ देर सोचते रहे फिर बोले ''तुम लोग जिला प्रशासन के नाम एक चिट्ठी लिखो, लिखो कि तुम लोग बालिग हो, तुम अपनी पसंद और मां-बाप की सहमति से शादी कर रहे हो, कस्बे के इन दिनों के हालात का तुम्हारे इस संबंध से कोई लेना-देना नहीं है। और तुम लोग अपनी मर्जी से यह कस्बा छोड़कर जा रहे हो, मैं दस बजे तक चिट्ठी वहां रिसीव करा दूंगा'' अभिजीत चौंका ''शहर छोड़कर जा रहे हैं, मगर कहां ?'', विकास सर ने लापरवाही से कहा ''यह तुम जानो, पर बेहतर यही है कि तुम दोनों यहां से निकल लो।'' वैशाली रुआंसी हो कर बोली ''लेकिन सर ! आप उस नोटिस का क्या करेंगे ?'' ''अब जो होगा देखा जाएगा..... बहुत होगा तो यह नौकरी चली जाएगी, या फिर कुछ भी नहीं होगा'' विकास सर ने कहा। अभिजीत ने संशय प्रकट किया ''लेकिन सर ?'' ''लेकिन-वेकिन कुछ नहीं, तुम लोग तैयार हो जाओ, अभी रात के ढाई बजे हैं, तीन बजे वाली ट्रेन से तुम्हें निकलना है।''

अभिजीत और वैशाली चुपचाप बैठे थे। विकास सर ने उनके लिए चाय बनाई। चाय खत्म होने के बाद विकास सर ने उन्हें ट्रेन पर बैठा दिया। ट्रेन चलने से पहले विकास सर ने अभिजीत को कुछ रुपए दिए और कहा ''आराम से खर्च करना, और जहां भी पहुंचना अपने घर वालों को खबर करते रहना, उन्हें अच्छा लगेगा।'' वैशाली ने भरे गले से पूछा ''और आपको सर ?'' ''मेरा क्या है यार, पता नहीं मैं कहां रहूंगा'' यह कहते हुए विकास सर का भी गला भर आया था। वैशाली उनका हाथ पकड़कर जोर-जोर से रोने लगी थी।

वह दिसंबर के आखिरी दिनों की अपनी ही ठंड से सिमटी हुई सुबह थी। विकास सर बाहर चबूतरे पर बैठे अखबार पढ़ते हुए हौल- हौले मुस्कुरा रहे थे, आज की मुख्य खबर थी ''मुख्यमंत्री ने कस्बे को सूबे का नया जिला बनाने का ऐलान किया'' और नगर वाले पेज पर छपा था ''पिछले वर्ष हुए सामूहिक नकल के कारण कालेज अब नहीं बनेगा परीक्षा केंद्र।''

खैरू ने चाय का प्याला विकास सर को देते हुए पूछा ''कल बड़ी रात गए कौन आया था साहेब?'' विकास सर ने मुस्कुराते हुए कहा ''परिंदे थे'' खैरू आश्चर्य में पड़ गया ''परिंदे.....!, पर गए कहां ? दिख तो नहीं रहे हैं'' विकास सर ने जेब से नोटिस निकाला और टुकड़े-टुकड़े कर हवा में उड़ा दिया ''परिंदे उड़ गए....खैरू'' खैरू ने आश्चर्यमिश्रित खुशी में भर कर फिर पूछा ''उड़ गए, कहां ?'' विकास सर ने पूरे नाज के साथ कहा ''ये तो उनके पर जानें और ये आसमां जाने ''।

* * *

कहानी

दुकान वाली मौसी

आकांक्षा पारे काशिव

बांग्ला उपन्यास के किसी पात्र सी वह हमेशा सफेद सूती साड़ी में लिपटी रहती थीं। उनके बाल रंगरूट की तरह थे। छोटे और तीखे सिरों वाले। उस उम्र में भी उनके बालों पर न अनुभव की सफेदी थी न धूप की। बस कहीं-कहीं बालों की पट्टी ऐसी लगती थी जैसे चूने की पुताई के वक्त कूची में थोड़ा सा चूना रह जाए और कोई फूहड़ पुतैया बेतरतीबी से उसी सूखी कूची को दीवार पर फिराता रहे। उनकी तीखी नाक और भूरी आंखों में पता नहीं क्या आकर्षण था कि उनके दबे हुए रंग पर ध्यान लगभग जाता ही नहीं था। साड़ी वह इतनी ऊंची बांधती थीं कि उनके टखने हमेशा झांकते रहते थे। नंगे पैर रहने के बावजूद उनकी एड़ियां बच्चों की तरह मासूम थीं। मेरी याददाश्त में नाटे कद की वह झुकी सी आकृति इतनी ताजा है जैसे कल ही की बात हो। हम पांच भाई-बहनों के अलावा मेरे मेमेरे छह भाई-बहनों को वह अलग-अलग कारणों से पसंद थीं। पसंद के दस कारण और हो सकते थे मगर एक कारण पर हम बारह भाई-बहनों की सहमति थी। और वह थी बिना नागा हर शाम उनका नानी के घर आना। जब वह घर आतीं तो उनके हाथ में एक बड़ी पोटली हुआ करती थी। पीले रंग की उस पोटली के खुलने में जितनी देर होती हम बच्चों की बेसब्री उतनी ही बढ़ने लगती थी। कभी-कभी झुंझलाहट भी होती कि खेलने का पूरा समय उस पोटली को निहारने में बीत जाता है। पता नहीं कब वह पोटली खोल दें और हम चूक जाएं। इसलिए हम में से कोई यह खतरा मोल लेना नहीं चाहता था। घर के सदस्यों को खास कर मेरे मंझले मामा को यह पता नहीं चलना चाहिए कि हम सिर्फ पोटली खुलने के इंतजार में ही वहां मंडरा रहे हैं। हम में से कोई कभी पानी पीने जाता तो कभी पेशाब के बहाने तो कभी जरा सा घुटना छिल जाने पर नारियल तेल

लगाने के बहाने। पर वह भी ऐसी भुलक्कड़ थीं कि रोज आती और बातों में लग जातीं। कोई घंटा भर बाद अपनी छोटी सी हथेली को माथे पर हल्के से छुआतीं और कहतीं, 'ए बिन्नो, हमरी तो मति मारी जात है, तुमई सों जरा याद करा देंती। बच्चों के लाने खाबें की चीज लाएं हैं और जे जहीं धरी हैं। मोड़ा-मोड़िन को बुलैये जरा।' नानी जानती थीं कि किसी को बुलाने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। जो भी बच्चा वहां पोटली की रखवाली में खड़ा रहता नानी के कुछ कहने से पहले ही बोल पड़ता, 'मैं सबको बुला लाता हूं' और चंद सेकंड में वहां हम ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों का जमघट लग जाता। इंतजार खत्म होने की खुशी हमारे चेहरे से टपकती थी। उनके पोटली खोलते ही शाम को ठीक से न खेल पाने की पीड़ा एक बार में ही काफूर हो जाती। जब वह जादुई पोटली खुलती तो उसमें से कभी आलू बड़े, कभी बेसन के लड्डू, कभी पोहे का चूड़ा निकलता। बारह अखबार के चौकोर टुकड़े किए जाते और हर टुकड़े पर नानी बराबर से हिस्सा करतीं और हर बार एक ही बात कहती, 'केसर, काय लाने इतना परेशान होती हो?' हर बार उनका भी एक जवाब होता, 'तुमाय लाने लाएं तब मना करियो बिन्नों। महीना भर मोड़ा-मोड़ी रेत हैं फिर तो जे घर ऐसे ही भूत का डेरा लागे है।' इस तरह नानी की सबसे अच्छी सहेली केसरबाई और हम लोगों के लिए दुकान वाली मौसी का इंतजार तब से शुरू हो जाता था जब हम सुबह सोकर उठते थे।

जबलपुर के छोटे से मुहल्लेनुमा गली के कोने में बड़े से बरगद के पेड़ की ओट में छोटी सी मढ़िया (मंदिर) के एक कोने में मौसी की चना, चिरौंजी, नारियल और फूलों की दुकान थी। नीले दरवाजे वाली इस दुकान पर गर्मियों की छुट्टियों में चूरण की गोली, गटागट, शक्कर वाली बिस्किट, लेमन चूस और टॉफियां अतिरिक्त रूप से मिलती थीं। गर्मियों में उस गली का लगभग हर घर ससुराल से बच्चों सहित आने वाली बेटियों और बाहर नौकरी करने वाले बेटों की बहुएं और उनके बच्चों से गुलजार रहता था। अखंड रामायण पाठ, सुंदरकांड का पारायण, सत्यनारायण की कथा, दुर-दुरैया की सुहागिनें। बस पूरी गर्मियां यही सब होता रहता था। इसमें अतिरिक्त रूप से एक ही बात हमें अच्छी लगती थी, आलू की सूखी सब्जी, पूरी और कैरी का अचार लेकर नर्मदा नहाने जाने का कार्यक्रम। किसी के यहां कुछ भी हो दुकान वाली मौसी हर जगह हाजिर। उनका अपना परिवार नहीं था शायद इसलिए पूरा मुहल्ला उन्हें अपना परिवार लगता था। हर जगह उनकी रिश्तेदारी थी। बुआ, मामी, मौसी, अम्मा जिसे जैसी सहूलियत होती वह अपने हिसाब से संबोधन चुन लेता। केसर बाई यानी दुकान वाली मौसी हमारी कोई नहीं थीं। न सगी रिश्तेदार न खून का कोई दूर-दराज का रिश्ता। फिर भी मेरी मां और मामा उन्हें मौसी न सिर्फ कहते थे बल्कि उतना सम्मान भी देते थे। मेरी नानी जब ब्याह कर आई थीं तब वह नानी के बगल वाले घर में रहती थीं। बस तब से नानी के साथ उनका बहनापे का ऐसा रिश्ता जुड़ा कि वह मेरी मां और तीनों मामाओं के लिए मौसी हो गईं।

दुकान वाले मौसाजी उन्हें जब दुनिया में अकेले छोड़ गए तब मढ़िया वाले गुरूजी अकेले ऐसे शख्स थे, जिन्होंने मौसी को सहारा दिया। बरगद के पेड़ के तले कच्ची ईंटों, पक्की लकड़ियों से मिलाकर एक दुकाननुमा घर या घरनुमा दुकान तैयार हुई। उसी में उनका खाना बनता, उसी में वह

रहतीं और उसी दुकान से गुजर-बसर करतीं। मौसाजी के बाद जब वह अपना घर छोड़ने को तैयार नहीं हुईं तो मढ़िया वाले गुरूजी ने ही सख्त लहजे में उनसे कहा था, 'तें अकेले न रह पाएगी केसर। केकरे भरोसे जिनगी काटेगी। हाथ-पैर चलाएगी तो दो जून का आटा भी जुटेगा।' उनकी बात का यह असर हुआ कि हाथ भर घूंघट निकालने वाली केसरबाई माथा ढके दुकान पर बैठने लगीं। दिन भर मढ़िया में आने-जाने वाले लोगों से घिरे रहना, उनके सुख-दुख में बतियाना और शाम ढले हमारी नानी के घर आना और देर रात तक यहां-वहां की बातें करना। बस उनकी यही दिनचर्या थी।

मौसी की दुकान और मढ़िया से सटकर पीछे की ओर हर शुक्रवार बहुत भीड़ होती। लोबान की खुशबू, गुलाब से महकती रेवड़ियां और हरे झंडों से पूरा माहौल रंगीन हो जाता था। सारे बच्चे जुटते देर रात तक कव्वाली होती। किसी के यहां कोई मुसीबत हो तो मढ़िया का फूल आने के साथ-साथ मोरपंख की स्नेहिल थपकार लेना भी बहुत जरूरी समझा जाता था। हम बच्चे इंतजार करते थे कि कब शुक्रवार का दिन आए और सफेद नुकीली दाढ़ी वाले, ऊंचा सा पाजामा पहने अब्बाजी आएं और सब बच्चों के सिर पर मोरपंख के गुच्छे से हल्की मार मारें। वह कुछ कहते और आजू-बाजू में फूंक देते। मौसी श्रद्धा से सिर पर आंचल रख हमें ले जातीं और गुलाब के फूल वहां रख आंख मूंद लेतीं। हमारी गर्मी की दो महीने की लंबी छुट्टियां मंगल को मिलने वाली बिलकुल सोने के दाने जैसी बूंदी और शुक्रवार को रेवड़ी और शर्बत के सहारे ही कटती थीं। अब्बाजी सुबह जब अपना दालान बुहारते तो मढ़िया का आहाता भी उसमें शामिल होता। गुरूजी जब शाम पानी का छिड़काव करते तो सफेद चूने पुती दीवार से घिरी उस हिस्से पर भी पानी की बौछारें वैसी ही पड़ती। अब्बा जी अपनी गोल टोपी लगाए बाहर बैठे रहते और हम बच्चों को पहाड़ा रटवाया करते।

मंगल और शुक्र के सिवाय पूरा मुहल्ला जैसे एक जैसी दिनचर्या में बंधा रहता था। वहां बहुत धीमे सुबह होती, बहुत धीरे-धीरे चूल्हा जलता, लोग आराम से घंटे भर तक दांतों पर काला मंजन मलते। बिलकुल किसी स्लो मोशन की फिल्म की तरह। मंगल और शुक्र को दूर-दूर से लोग आते थे यह धीमा सा मुहल्ला शाम से गुलजार हो जाता और देर तक जागता। सड़क की बगल में जमीन के तिरछे से टुकड़े पर बेतरतीब ईंटों और सस्ती लकड़ी के दरवाजों से बने उन दोनों ढांचों पर केसरिया और हरा झंडा शाम की हवा में बच्चों की तरह फरफराते, कभी तेज झोंके से आपस में गले मिलते और फिर रात को थक कर सो जाते।

एक निस्तब्ध दोपहर को जब न मंगल था न शुक्र एक हलचल ने उस सुस्त मुहल्ले की शांति भंग कर दी। धूप मरियल सी हो आई थी। सफेद सी फीकी धूप में सड़क नापी जा रही थी। चूने की सफेद लकीर खींच दी गई थी। सड़क कुछ घरों के आंगन का हिस्सा थी। दुकानों और सड़क में दोस्ताना था। दुकानें सड़क पर थीं या सड़क दुकान के भीतर चली गई थी पता नहीं चलता था। लेकिन इससे किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता था। बिजली खराब होने पर खंभा जिसके आहते में होता था वह खुशी-खुशी लाइनमैन को अंदर आने देता था। पर अब यह सब सुधरेगा जैसी गूंज सुनाई पड़ रही थी। पूरा मुहल्ला इकट्ठा था। श्याम चाचा हमेशा की तरह बनियान और तौलिए में थे।

रहमत चाचा तहमत को कसते हुए बाहर आए और स्थिति का मुआयना करने लगे। केसर चाची, कौशल्या बुआ आंचल पर दुपट्टा और पल्ला संभाले हुए समझने की कोशिश कर रही थीं कि आखिर हो क्या रहा है। बहुएं घर के दरवाजों की ओट में थीं और हम बच्चे उस हुजूम की बात सुन रहे थे जो लोगों को सख्ती से बता रहे थे कि उन्हें तीन-चार दिन में क्या-क्या हटा लेना है।

सबसे बड़ी समस्या उस तिकोने टुकड़े की थी, जिस पर नीले दरवाजे और सफेद चूने से पुती बेतरतीब दीवारें थीं। यह सब सुनकर सुनहरे मनके सी बूंदी के रंग की पताका और हरियाली रंग का झंडा थोड़ा उदास हो गया। यहां न रहें तो कहां? सब हटेंगे तो घर को छोटा कर लेंगे। दोनों झंडे तो वैसे ही छोटी सी जगह में हैं हटेंगे तो कहीं के नहीं रहेंगे। तय हुआ बड़े साहब लोगों से इस बाबत बात की जाए। सब मिलकर कहें कि सड़क को यहां से थोड़ा सा घुमा लिया जाए और दोनों झंडे वहीं रह जाएं सबके बीच। अगले दिन बात होना तय हुआ लेकिन साहब सड़क की तरह सीधा नहीं था। था वह उस आड़ी-तिरछी बिखरी सड़क की ही तरह। मान-मनौव्वल सब बेकार।

सोमवार का दिन आ पहुंचा। छुट्टी के बाद का दिन वैसे ही अस्त-व्यस्त सा रहता है। लोहे के दांतों वाला एक बड़ा शिकंजा अलसाते हुए रेंगने लगा। भूकंप की आवाज जैसी गड़गड़ाहट ने सभी का ध्यान खींच लिया।

धुएं का गुबार हल्का पड़ गया था। दिनभर उड़ी धूल धीरे-धीरे जहां वह रहती है वहां लौट रही थी जमीन पर। पक्षियों का एक बड़ा झुंड मटमैले आसमान में तेजी से गुजर गया। तीन दिन अजीब से डर में गुजरे। खिड़की बंद, दरवाजे बंद। बाहर सायरन बजाती पुलिस की गाड़ियां। आंगन में खड़े होकर देखें तो पूरा आसमान काले धुएं में लिपटा हुआ। अखबारों में खूब फोटो छप रही थी। जले घर, जले इंसान। हम बाहर खेलने क्यों नहीं जा सकते इसका जवाब किसी के पास नहीं था। तीन शामें आकर गुजर गईं। दुकान वाली मौसी की पीली पोटली नहीं आई। हमारी गर्मियों की छुट्टियों का पहला साल जब तीन शाम बीत जाने पर हमने दुकान वाली मौसी के यहां का कुछ खाया नहीं था। मामा ने नानी के कान में आकर कुछ फुसफुसाया था। नानी वहीं देहरी पर बैठ गई थीं। उनके मुंह से बस हल्की सिसकारी निकली। शायद 'केसर'। चौथे दिन सुबह मामा ने बताया 'कर्फ्यू' खुल गया है। उनकी आवाज में दुख था या संतोष यह ठीक-ठीक याद नहीं। हम बच्चे दौड़कर आंगन में आ गए। सबसे पहले तो दुकान वाली मौसी के यहां जाना है। सब मिलकर लड़ेंगे, तीन दिन क्यों नहीं आईं जबकि हम खेलने बाहर भी नहीं जा पा रहे थे। नानी पुकारती उससे पहले हम सड़क पार कर चुके थे। बहुत बाद में जब स्कूल में इतिहास के पाठ में मुअनजोदड़ो के बारे में पढ़ाया जा रहा था मुझे पता नहीं क्यों बचपन का वह दृश्य कौंध गया था। मुझे लगा मुअनजोदड़ो बिलकुल वैसी हालत में ही मिला होगा जैसे उस दिन दुकान वाली मौसी का घर था। हम सकते में आ गए। किसी को कुछ नहीं सूझा। बरसाती हवा चलने लगी थी। तेज हवा का झोंका आया जली हुई खिड़की का पल्ला चूं-चूं की आवाज के साथ झूल गया। केसरिया रंग से पुता एक लंबा पत्थर अकेला था। बिना किसी छत या दरवाजे के। दीवार न होने से एक नजर पर देखने से हमेशा हरे रंग से ढका रहने वाला वह चौकोर टुकड़ा पास-पास नजर आ रहे थे।

***

कहानी यथार्थ के आईने में जीवन का प्रतिबिंबन भर नहीं होती...

हिंदी कहानी के क्षेत्र में डा. अर्चना वर्मा की उपस्थिति बतौर कथाकार तो है ही, साथ ही कथा पत्रिका 'हंस' और 'कथादेश' को इनका सक्रिय संपादन सहयोग मिला है। अर्चनाजी यह विनम्रतापूर्वक स्वीकार करती हैं कि इन दोनों ही पत्रिकाओं के संपादकों ने उन्हें भरपूर कार्य स्वातंत्र्य दिया और दे रहे हैं। अर्चना वर्मा का रचनात्मक लेखन कहानी, कविता, संस्मरण, किशोर साहित्य तथा आलोचना के क्षेत्र में भरपूर है। दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस कॉलेज में चालीस वर्ष तक हिंदी पढ़ाई है। इस नाते उनकी पकड़ युवा मानसिकता और रचनात्मकता पर गहरी है और उनके पास इन चालीस वर्षों में हिंदी कहानी की दिशा और दशा में जो परिवर्तन हुए हैं उसका भी प्रामाणिक लेखा-जोखा है। सुपरिचित कथाकार ***अशोक गुप्ता*** *द्वारा 'बहुवचन' कहानी विशेषांक के लिए अर्चना वर्मा से विशेष रूप से हिंदी कहानी को लेकर की गई बातचीत यहां प्रस्तुत है :*

अर्चनाजी, हिंदी कहानी से आपका परिचय बहुत पुराना है। 'हंस' तथा 'कथादेश' के रचना चयन के दौरान आपने कहानी के बदलते मिजाज को बारीकी से समझा है। पहले तो यह जानना चाहूंगा कि कहानी वह है, जो 'कही जाय'। किस्सा जीवन के घटनाक्रम का वृत्तांत है किंतु कहानी एक रचनात्मक विधा है, तो इसकी रचनात्मकता की कसौटी क्या है ?

'बहुवचन' एक महत्वपूर्ण पत्रिका है और यह बहुत अच्छी बात है कि इस पत्रिका का कहानी विशेषांक आ रहा है। 'जो कही जाय' की हद में आज हमारे समय में अपने आपके गहनतम से लेकर बाहर की दीन दुनिया का सारा लंबा चौड़ा वितान समाया हुआ समझा जाता है, कल्पना, विचार सभी कुछ। बोध और प्रत्यय का हर सिरा 'कही जाय' का ही नमूना है चाहे सोच समझ के स्तर पर हम उसे अपने आप से कहें या फिर अभिव्यक्ति के स्तर पर दूसरे से कहना तय करें। बात सदियों पुरानी और मूलत: भारतीय भाषाशास्त्र से ही उठाई गई है कि चेतना भाषा का कर्म है लेकिन आज सॉस्यूर से शुरू करके दरीदा तक तरह-तरह से अपने सैद्धांतीकरणों में इसे दोहराता है, बिना 'ऐकनॉलेज' किए। कहानी तो फिर नाम से ही कथनी, कहनी, कहा-नी है। किस्सा और कहानी में यह फर्क आप अगर चाहें तो कर लें कि किस्सा घटनाक्रम का वृत्तांत है और कहानी एक रचनात्मक

विधा है। रचनात्मक गद्य मूलत: वृत्तांत की कोटि में ही आता है क्योंकि वृत्तांत का मतलब ऐसा गद्य जिसके भीतर एक कार्य-कारण संबंध हो चाहे जीवन के घटनाक्रम का बना बनाया, चाहे रचनाकार द्वारा आविष्कृत या कहें कि आरोपित। घटनाक्रम की वास्तविकता से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह भी कहानी ही है। कहानी की रचनात्मकता की कोई एक कसौटी नहीं तय की जा सकती। मूल बात भाषा का रचनात्मक व्यवहार है जो किसी न किसी विधा का आसरा लेता है और उस विधा की अपेक्षाओं को पूरा करने की वजह से उसका नमूना कहलाता है। कहानी की विधा की मूल अपेक्षा चरित्र, घटनाक्रम और उनका घात-प्रतिघात है, अनुभव का एक टुकड़ा। विचार या विश्लेषण कहानी में भीतर या पीछे होते हैं या शायद अनुपस्थित भी होते या हो सकते हैं। मूल बात अनुभव का बयान है जो उसे कहानी बनाता है, बाकी बातें अस्तर की तरह अंदर हैं, उसका गिलाफ अनुभव या घटनाक्रम का ही है।

यानी किसी भी क्षेत्र के पाठक वर्ग को बड़े विस्तृत संसार के जीवन का स्पंदन देना और पाठक वर्ग को जानकारी और अनुभूति के स्तर पर शेष संसार से जोड़ पाने की सामर्थ्य को कहानी की रचनात्मकता कहा जा सकता है।

शायद हां... लेकिन व्यावहारिक स्तर पर इसे भी रचनात्मकता की कुल परिभाषा नहीं मान सकते। कितनी ही बार, बल्कि बाद में चलकर महत्त्वपूर्ण साबित होने वाली रचनाओं में तो शायद हर बार दिखेगा कि अपने समय के पाठकों से वह जुड़ नहीं पाई क्योंकि अपने समय के आगे की रचना थी। बड़ा रचनाकार अपने युग से बड़ा होता है और युग को उसकी सीमाओं से आगे ले जाने का आकांक्षी भी और विश्वासी भी। युग अपनी सीमाओं के भीतर अड़े रहकर उसको अस्वीकार करता है। ऐसे रचनाकार तो सदियों में एकाध हुआ करते हैं जो अपने समय के भी होते हैं और समयोपरांत भी।

भवभूति ने कहा था काल निरवधि है, पृथ्वी विपुल। कोई समानधर्मा कभी तो होगा। ग़ालिब ने पुरानी शराब की तरह अपनी कविता के भी पुरानी होने पर मूल्यवान होने की बात कही थी। छायावादियों में निराला सबके बाद में पहचाने गए लेकिन हां, कहानी की रचना-प्रक्रिया के धरातल पर यह बात सही है कि व्यक्तिगत अनुभव का साधारणीकरण किया जाता है, निजी अवबोध या प्रत्यय को सार्वजनीन बनाया जाता है।

कहानी को गल्प भी कहते हैं, जहां मिथ्या में सत्याभास की अवधारणा है। इस अवधारणा का निमित्त क्या है, क्या इसे भी रचनात्मकता से जोड़कर देखा जा सकता है ?

सत्य क्या है, यह एक जटिल प्रश्न है। सत्याभास का मतलब अगर 'वर्चुअल रियलिटी' है तो हम सत्याभास के समय में ही रहते हैं। उसे मिथ्या नहीं कहते। बल्कि मिथ्या को भी सत्य का छद्मवेश कहते हैं। सत्य सिर्फ प्रकृति में होता है मनुष्यरचित जो भी है, समूची संस्कृति और उसके निशान, उन्हें चाहे गल्प कहें, या मिथ्या, या तथ्य कह लें हद से हद, सत्य से तो उसको अलग करना पड़ेगा ही। हमारी परंपरा में तो प्रकृति का भी दूसरा नाम माया है। दरअसल आजकल की सत्याभास की अवधारणा को पढ़ते सुनते मुझे माया का मतलब भी कुछ अलग तरह से समझ में आने लगा है।

कहा गया है कि माया के जगत में माया ही सत्य है। दो तरह के सत्य बताए गए थे, संपूर्ण सत्य और सापेक्षिक सत्य। माया के जगत् का सत्य सापेक्षिक है और जगत क्योंकि है ही माया का इसलिए सबकुछ यहां सापेक्षिक ही है। संपूर्ण सत्य जगत् के बाहर है और हम शरीरबद्ध ऐंद्रिय प्राणी अपनी अपनी क्षमता के हिसाब से माया के जगत् के भीतर से उसे अपनी अपनी ताकत भर 'रियलाइज' करने की कोशिश करते और तथाकथित सत्य और मिथ्या को एक दूसरे से छानते रहते हैं। इसे जरा आधुनिक शब्दावली में अनूदित करके देखिए जहां सारा मामला बोध और प्रत्यय का बन चुका है। सत्य अज्ञेय है, ज्ञान की सीमाओं में सत्य का आभास ही पकड़ा जा सकता है।

क्या सत्य संदिग्ध है और सत्याभास केवल एक अवधारणा, कृपया स्पष्ट करें ?

यही तो किस्सा है कि अंतिम सत्य जैसा कोई सत्य नहीं है और हर पाया गया सत्य असल में सत्याभास ही है क्योंकि रियलाइजेशन के क्षण में बदल जाता है। जहां तक कहानी की विषयवस्तु के यथार्थ का संबंध है, वह तथ्यात्मक न हो तो हमें अपनी आदत के कारण यथार्थ सा नहीं लगता लेकिन यथार्थ की वह केवल एक सूरत है। और कहानी यथार्थ के इस आईने में जीवन का प्रतिबिंबन भर नहीं होती...।

हां, यह तो है। फैंटेसी...

फैंटेसी भी है, अगर यथार्थ बहुत बीहड़ होता है तो उसे यथार्थ जैसा जताने के लिए भी यथार्थ के दायरे के बाहर निकलना पड़ता है। फ्लैट नैरेटिव में वह पकड़ाई/समाई नहीं देता। उसके बीहड़पन का अंदाजा नहीं मिलता। फैंटेसी ही वहां ज्यादा कारगर तौर से काम आती है। शर्त यह है कि पाठक को उसमें रमने का अंतराल मिलना चाहिए, और यह तभी हो पाएगा जब प्रस्तुति सत्याभास का निर्वाह करेगी।

कहानी में यह विलक्षण गुण कैसे आता है..?

रचना का मतलब ही दरअसल रूप की रचना है वरना विषय-सामग्री तो जीवन है और जीवन किसी की जागीर नहीं। सभी अपनी अपनी तरह से हिस्सेदार होते हैं, सभी के पास अनुभव होता है और मौलिकता का दावा हर एक का झूठा ही है, अगर रूप की रचना में ही मौलिकता न हो तो। बल्कि अब तो मौलिकता का मतलब भी भाषा के प्रयोग की विधि की, वाक्य-रचना की मौलिकता है जो हम में से प्रत्येक के पास होती है। कथ्य उस भाषा से अलग कोई चीज नहीं जिसमें उसे कहा जाता है। अगर किसी और भाषा में वह कहा गया तो वह कोई और रचना होगी, वही नहीं जिसे पहले वाली भाषा में हमने पढ़ा था।

परिवेश, पात्र और भाषा आदि, इनको एक संज्ञा से बताया जा सकता है, वह है शिल्प। इनके बीच कहानी में कथ्य अपनी जगह कैसे बनाता है ?

कथ्य अलग से रह कहां गया? वह पाठक के देखने की बात है कि कहानी में मौजूद व्यक्ति-घटनाक्रम-अनुभव में से कथ्य के नाम पर वह क्या निकालता है। और कुछ न कुछ वह निकाल ही लेता है, चाहे वह उसमें हो या न हो।

यानी कि नई पीढ़ी की कहानी में आप कथ्य के मेरुदंड का लोप होता देख रही हैं...?

जल्दबाजी में शॉर्ट कट से नतीजे मत निकालिए। पहली बात तो यह है कि नई पीढ़ी जिस समय का सामना कर रही है वह हमसे काफी अलग है। हमसे मेरा मतलब हमारे अपने समय के साथ हमारा सामना से नहीं बल्कि इसी समय में रहते हुए भी इसका सामना जैसे हम कर रहे हैं उनका सामना उससे काफी अलग। इसका एक मतलब तो यह हुआ कि यह हमारा अपना समय नहीं, हमारे लिए एक पराया शहर है और हमारे पास पहले के अर्जित औजार हैं। नैतिकता कहें, मूल्य कहें। वे एक कवच का काम करते हैं हमारे लिए। थोड़ा सपाट तरीके से कहूं तो लेखक की हैसियत से इस यथार्थ के लिए हम दर्शक-दीर्घा में हैं और वे मैदान में। उनके कथा सृजन में कथ्य के मेरुदंड का लोप कहने का कुल मतलब मेरे लिए यह हो सकता है कि हमारी सीमा है, एक तरह की असमर्थता या फैसला सुनाने की जल्दी, कि हम उनके कथ्य तक पहुंच नहीं पा रहे हैं अन्यथा अगर कोई बात अर्थवती भाषा में कही गई है तो कथ्य तो उसमें कुछ न कुछ होगा ही। और निरर्थक भाषा का अर्थ मात्र ध्वनि समुच्चय होता है, व्याकरण सम्मत शब्द संयोजन में अर्थ और कथ्य से छुटकारा संभव ही नहीं है।

मतलब, शिल्प का आवेग और जैसा कहा जा रहा है, शब्दों और छवि का आडंबर, आज की युवा कहानी में इतना मुखर है कि कथ्य गौण हो गया है ?

मैं इसे अपनी असमर्थता की तरह ही देखना चाहूंगी कि वहां तक मैं पहुंच नहीं पाई। कथ्य के नाम पर किसी पूर्वनिर्मित यथार्थ की धारणा का आग्रह हो तो बात अलग है। कमजोर कहानियों की बात नहीं कहती वरना जैसा आभासी संसार हमारा यथार्थ है उसके चलते कल्पनाशीलता और भाषा में अतिक्रमण करने की क्षमता बहुत विस्तृत हुई है। शायद इसे कोई शब्दाडंबर कहे या कहीं-कहीं वह शब्दाडंबर हो भी, लेकिन इस तथाकथित शब्दाडंबर ने अभिव्यक्ति के नए आयाम भी खोले हैं। खासा बड़ा ऐसा कथा संसार हम अब देख पा रहे हैं जो अद्भुत है और विस्मित करता है। एकाध उदाहरण का नाम लूं तो उदय प्रकाश की कहानी 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' और 'मैंगोसिल'। मैंगोसिल एक काल्पनिक रोग है और उदय ने ऐसे रचा है कि वाकई आप मेडिकल जर्नल्स में उसके लक्षण खोजने चल दें। जिस बीहड़ सांघातिक समसामयिक यथार्थ की बात पहले मैं कह आई हूं, उसका ऐसा संप्रेषणीय संवाद किसी यथार्थवादी वृत्तांत से संभव ही न हुआ होता। ऐसे ही 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' में इतिहास की कुछ सूचनाओं और एकाध तस्वीरों के डिकंस्ट्रक्शन का रचनात्मक इस्तेमाल।

इसे नई पीढ़ी का अन्वेषण कहा जा सकता है ?

उदय को सर्वथा नई पीढ़ी तो नहीं कह सकते लेकिन नई पीढ़ी में वरिष्ठ की जगह पर रख सकते हैं। यह सारी तोड़फोड़ उनकी और उनकी पीढ़ी के ही कुछ लोगों की शुरू की हुई है इसलिए नई पीढ़ी से जोड़कर देखना उचित ही लगता है। और वैसे भी, अन्वेषण नहीं इसे पुनर्संधान कहें। देवकी नंदन खत्री की चंद्रकांता, सिंदबाद और अलीबाबा की कहानियां, गुलिवर की यात्राएं यह सब कहानी की दुनिया में बहुत पहले से हैं। बल्कि मैं तो पुराण कथाएं भी इसी कोटि में रखना चाहूंगी जहां से उदय ने वॉरेन हेस्टिंग्स का सांड नमूदार किया है। सेकुलर के नशे में, और अपनी आधुनिकता के

सबूत में अपने इस खजाने की हमने खासी बरबादी की है।

तो फिर आज की युवा पीढ़ी और उसके कथाशिल्पी किस मायने में अपने पूर्ववर्तियों से फर्क हैं ?

एक तो, उत्तराधिकार को जैसे का तैसा दोहराया नहीं जाता, इस्तेमाल किया जाता है और हर इस्तेमाल दूसरे से अलग होता है। दूसरे, हर इस्तेमाल अपने समय के अनुसार पिछले समय के किसी इस्तेमाल से अलग ही होता है। इस पीढ़ी की नए वक्त में छलांग बहुत लंबी है।

कारण ?

सूचनाक्रांति का यह दौर उन देशों में भी एक लंबी छलांग है जहां वह पैदा हुई। 'कैटापुल्टेड' ऐसा कहते हैं, गुलेल से मारी हुई सी दुनिया कई गुना अधिक कालगति से किसी दूसरे कालखंड में जा फिंकी है और अस्तव्यस्त का आलम चलता जा रहा है। टेक्नॉलॉजी आदमी की सेविका होने की बजाय उसकी स्वामिनी हुई बैठी है। संचार-क्रांति माने जानकारी का विस्फोट भी और उत्पादन की नई व्यवस्था भी। सब कुछ वैश्विक पैमाने पर और लगभग रोशनी की गति से भी तीव्र। सनातन की छोड़ें, थोड़े बहुत स्थायित्त्व की भी संभावना खत्म है, जिन कोनों और जगहों में चाहिए, उनमें भी नहीं। मूल्यों में नहीं, संबंधों में नहीं, आश्वासनों में नहीं, विश्वासों में नहीं -कहीं नहीं। स्थायित्त्व के फेर में पड़े तो पड़े रह जाओगे। वैश्वीकरण के साथ निजीकरण, उदारीकरण वगैरह का लवाजमा। बाजार ही नियामक हो गया है हर चीज का। जहां इस पैमाने पर बाजार आता है वहां हर चीज बिकाऊ बना ही दी जाती है, कीमत लगाने भर की बात रहती है। वेल्फेयर स्टेट की संभावना को बाहर के दरवाजे दिखा दिए गए हैं या दिखाए जाने वाले है। शिक्षा, स्वास्थ्य, उपचार, हवा, पानी, धूप, खाद, सभी कुछ के लिए इकॉनॉमिक वायबिलिटी का राग अलापा जा रहा है। उपभोक्तावाद के जरिए बाजार ही स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग को क्वालिटी ऑफ लाइफ का पर्याय बना चुका है।

आभासी संसार ने नई पीढ़ी को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का सहज-उपलब्ध मंच दे दिया है। फेसबुक, ट्वीटर ऐसी कितनी ही सोशल साइट्स हैं। उनका बहुत सकारात्मक सा योगदान भी है सामाजिक सरोकार और मोबिलाइजेशन में। तरह तरह की सूचनाएं विषय सामग्री के बारे में, भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक वगैरह। दुनिया भर के जीवन और साहित्य से संपर्क की आसानी -निश्चित रूप से आज की पीढ़ी के पास अपनी कठिनाइयों को जीतने के संदर्भ में संभावनाओं का अपार भंडार है और वह उनके कथा सृजन में भी उजागर होता है। जैसा कि मैंने पहले भी कहा है, नई पीढ़ी की सामाजिक समस्याएं और उनके द्वंद्व भी हमारे समय से सापेक्षत: भिन्न हैं, ऐसे में जब समस्याएं और कठिनाइयां भी फर्क हों और उनके संभावित हल की दिशा भी, तो स्वभाव में आमूल अंतर तो होगा ही। यह सच आज की पीढ़ी की कहानियों में मूल कथ्य की तरह मौजूद है, और उसको व्यक्त करने के लिये उनके पास अपना शिल्प और भाषा भी है।

तो फिर नई पीढ़ी की समस्याओं और उनके द्वंद्व पर ही कुछ बातें हो जाएं। इसका जिक्र आपने कई बार किया है।

नई पीढ़ी के साथ जितना कुछ भी मेरा संपर्क है उसके हिसाब से पहली बात तो अभी जिस

छलांग का जिक्र मैंने किया, उसके बाद धरती पर पांव टिकाने की लड़खड़ाहट को कहा जा सकता है। कुछ की छलांग अभी हवा में ही है। एक दुनिया को वे छोड़ चुके हैं, दूसरी दुनिया की तलाश की फुरसत नहीं है। सच यह है कि हिंदी कहानी की हमारी नई लेखक पीढ़ी इस दुनिया के समर्थन में नहीं खड़ी है इसलिए बड़े आलोचकों की असहमति और नकार-मुद्रा बहुत समझ में नहीं आती। अपरिचित शिल्प शायद है, लेकिन रचना के मौलिक धर्म के निर्वाह में वह इस यथार्थ जगत् का सामना यथासंभव विरोध में और आलोचनात्मक विवेक के साथ ही करती दिखाई देती है। वर्चस्व के विरोध में, दुर्बल की पक्षधरता में, पाखंड पर आक्रमण में, तथाकथित 'पवित्र' और 'उचित' का पर्दाफाश करते हुए।

लेकिन इसमें कहीं कन्फ्यूजन भी है।

स्वाभाविक भी है। नए और अपरिचित यथार्थ के सामने, पुराने मूल्यों और विचारों के भोथरे पड़ गए हथियारों के विसर्जन की जरूरत, मजबूरी, अनिवार्यता के साथ, नए हथियारों को बरतने के बारे में अनिश्चय के साथ कन्फ्यूजन होगा ही। जीवन की ठोस स्थितियां, सांस्कृतिक जड़ें, फैसले के क्षण, रिश्तों और उनके निर्वाह की पद्धतियां सब स्थानीय और वैयक्तिक होती हैं और आपका सत्याभासी संसार निरंतर एक ग्लोबल संस्कृति के नमूने उगल रहा है। किसी भी सोच समझ वाले को कन्फ्यूजन तो होगा। 'कथादेश' को युवा लेखकों ने स्वयं अपनी पत्रिका जैसा मान लिया है। पिछले चार पांच वर्षों में ऐसी बहुत सी रचनाओं से मेरा सामना हुआ है जिनमें यह कन्फ्यूजन भी कथ्य की तरह सामने आया है। इसलिए यह भी देखने की जरूरत है कि कन्फ्यूजन कथ्य के निर्वाह की कठिनाई है या वह कथ्य का मूल विषय है।

क्या नई पीढ़ी का कथा लेखन अपनी पूर्ववर्ती कथाकारों के कथा संसार को खारिज कर रहा है ? यह मेरा मानना नहीं है लेकिन ऐसी लहर तो है...।

यह सवाल बेमानी है। खारिज वह किया जाता है, या कहें कि स्वत: हो जाता है, जो न प्रासंगिक होता है न तार्किक। ऐसा लेखन चाहे युवा पीढ़ी का हो या किसी वरिष्ठ पीढ़ी का। इससे अलग, अपने समय से सकारात्मक प्रश्नाकुलता से सामना करता हुआ लेखन कभी निरस्त नहीं होता, चाहे वह किसी भी लेखक की कलम से निकला हो। उदयप्रकाश, गिरिराज किशोर, अखिलेश ऐसे कितने ही नाम हैं जो अभी भी मुख्य धारा के वरिष्ठ कथा प्रतिनिधि हैं। आप अपनी ही कहानियां लीजिए 'हरे रंग का खरगोश', 'तिलचट्टे का मुखौटा' और 'एक बूंद सहसा उछली' युवा मानसिकता के समकक्ष ठहरने वाली कहानियां हैं। बहुत स्पष्ट कहूं तो वह खुली मानसिकता और प्रगतिशील मूल्यबोध है जो युवा लक्षण कहा जा सकता है। ठहरा और बंधा हुआ सोच, चाहे वह युवा उम्र के लेखक का हो, अल्पायु होता है। युवा-लक्षण चलता ही चला जा रहा है। पीढ़ियों का अंतर उस तरह दर्ज भी नहीं हो पा रहा है कि दृष्टियों, परिप्रेक्ष्यों वगैरह को अगड़े-पिछड़े की तरह अलग अलग परिभाषित किया जा सके। पिछले जन जिस आराम से आधुनिक हुए थे उसी सहजता से उत्तर-आधुनिक भी हो बैठे हैं। असहमति और नकार अगर है, तो अधिकतर प्रतिबद्ध राजनीति और विचारधारात्मक कट्टरता की वजह से है और 'वस्तुगत सत्य' का नकार है वरना तो वहां भी एक

स्वागतयोग्य खुलापन और समावेशिता आती दिख रही है। इस स्थिति का एक पक्ष और भी है, योजनाबद्ध तरीके से चर्चा चलाना, किसी को ढहाना, किसी को उछालना, गुट बना कर हमला करना, अपनी ब्रांड-वैल्यू इस्टैब्लिश करने के हथकंडे। संचार-माध्यम और उसके इस्तेमाल की पकड़ इस सिलसिले में बहुत कारगर भी है। कई पत्रिकाओं, अखबारों का यह फ़ुल-टाइम धंधा भी है लेकिन ये शायद इस वक्त की जरूरी रणनीतियां हैं। कई बार अनीतियां भी। जिस पर हमला किया जाता है, मैं कई बार उसके बारे में सोचती हूं, एकांत में उसका क्या हाल होगा। बहुत सोशल नहीं हूं, कई बार वस्तुस्थिति से परिचित भी नहीं होती लेकिन ऐसा पब्लिक-ह्यूमिलिएशन जो कई बार अकारण और अनजस्टिफाइड सा प्रतीत होता है, बिना सबूत और निराधार भी, उससे परेशानी होती है।

यह बताएं कि युवा पीढ़ी के कहानी संसार में ऐसा क्या है जिसे नया कहा जा सके। क्या युवा कहानीकारों का सरोकार आज की कठिन समस्याओं, जैसे दलित संघर्ष, अल्पसंख्यकों की पीड़ा और किसानों की आत्महत्या से जुड़ता नज़र आता है, या उनके सरोकार कहीं और हैं?

आपने किसानों का नाम लिया। हमारे दिमाग में अभी भी प्रेमचंद का गांव, महाजन और कर्ज के बोझ से मरता हुआ किसान मौजूद है लेकिन आज के गांव का यथार्थ अपनी दारुण नियति में खासा बदल चुका है। गांव की कहानी का मतलब अनिवार्यत: किसान की कहानी नहीं है। एक तो उसके यथार्थ का बंटवारा तरह तरह के विमर्शों में हो चुका है - दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक वगैरह, दूसरे गांव की विषयवस्तु अब अक्सर विस्थापन की विषयवस्तु बन चुकी है। विकास के नाम पर विस्थापन। उद्योग और शहरीकरण जैसी अमानवीय विकास-प्रक्रियाओं का चमकीला चौंधा एक तरफ उपभोग और लालसा का सुरसा-मुख दूसरी तरफ। जिससे बचने की संभावना नगण्य सी ही है। आपने किसान की आत्महत्याओं की बात कही है। कुछ समय पहले कथादेश का विशेषांक सुभाष कुशवाहा के विशेष संपादन में निकला था, शायद आपकी नजर से गुजरा हो। उसमें इस विषय पर कई आलेख थे। उनसे एक सूचना यह मिली कि आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या हिंदीभाषी प्रदेशों में और गरीबी की रेखा के नीचे रहने वालों में न्यूनतम, शायद शून्य थी। कहानियों के चरित्र लेखक को अपने परिवेश या आस-पास की दुनिया में मिलते हैं, आत्महत्या का प्रदेश उनका परिवेश नहीं है, हालांकि यह कोई डिफेंस नहीं लेकिन संभाव्य कारण हो सकता है। मरने वालों में मंझोले और अपनी हालत को बेहतर करने का सपना देखने वाले किसानों की संख्या ज्यादा थी। वे बीज और खाद वगैरह की खरीद-बेच को लेकर ऐसी नासमझ और क्रूर सरकारी नीतियों का शिकार हो रहे थे, जिनके सामने प्रेमचंद के महाजन ज्यादा मानवीय और ममतालु नज़र आएंगे। विकास की निर्बीज खेती जो आत्मविनाश के लिए अभिशप्त है। ऐसे कुछ कथानक मेरी याद में झलक तो मार रहे हैं, लेकिन कथाकार या कहानी का नाम याद नहीं आ रहा है। गांव का एक व्यक्ति धोखे से फंसा लिया जाता है कि ऐसे बीज खरीदने के लिये किसानों को मनाए और अंत में वही अकेला निहत्था अपराधी की तरह सारे मामले का सामना करने को बाकी बचा रह जाता है। उस विशेषांक में और भी कहानियां थीं, हालांकि सच है कि कहानियों की अपेक्षा विचार-पक्ष प्रबल था।

यथार्थ के बदलाव की प्रक्रिया में गांव की वस्तु में भी गुरुत्त्व किन्हीं और विषयों का हो चला है, किसानों की बजाय। बाकी जहां तक सवाल दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, आदिवासियों की पीड़ा का है, नाम गिनाने की जरूरत नहीं, ढेरों हैं। 'लू' है, मोहम्मद आरिफ़ की, बाकी दलित-विमर्श की तरह देखें तो कैलाश वानखेड़े, टेकचंद, अजय नावरिया, रजनी दिसोदिया - कई नाम हैं। अल्पसंख्यकों की पीड़ा, सांप्रदयिकता न कहना चाहें तो, मनोज पांडे की 'खाल' सोनाली सिंह की 'पिनकोड' 'समथिंग' सत्यकेतु की 'कर्फ्यू' वगैरह और भी बहुत से।

और कहानियों का नाम न गिनवाएं तो, अब पचीस तीस बरस से 'हंस' और 'कथादेश' से जुड़कर सैकडों कहानियां पढ़ते हुए मुझे याद भी नहीं रहते, मैं युवा कथाकारों की थोड़ी असावधान, अधूरी, अपर्याप्त और शायद गैर जिम्मेदार सूची में गीत चतुर्वेदी, गौरव सोलंकी, चंदन पांडे, नीलाक्षी सिंह, पंखुरी राय और प्रत्यक्षा का नाम रखना चाहूंगी

बहुत ठीक कहा आपने, अब आगे... कथा विधा का विस्तार लघुकथा, कहानी, लंबी कहानी, उपन्यासिका तक फैला दिख रहा है। कहानी के इस विविध प्रारूपण की सामर्थ्य पर अपनी टिप्पणी दें।

हर विधा की अपनी अपेक्षा होती है, उसके भीतर निहित। लघुकथा ने एक स्वतंत्र विधा के रूप में अपना स्थान बनाया है। लेकिन अभी उसकी वजह यही लगती है कि पत्रिकाओं में फिलर के तौर पर सामग्री की जरूरत होती है। विधा के तौर पर लघुकथा की जो अपेक्षा होती है, कथा का बीज रूप घनत्त्व जो अपने घनत्त्व में संभावनामय है, जैसा खलील जिब्रान ने कभी कर दिखाया था, जैसा रघुवीर सहाय या उदयप्रकाश जैसे कवि कथाकारों में कभी-कभी दिखता है, वैसा हर समय पत्रिकाओं में छपती रहनेवाली लघुकथाओं में अक्सर नहीं दिखता। इसके बरक्स, गीत चतुर्वेदी की बहुत लंबी कहानियां भी देखी जा सकती हैं, जिनके कथ्य की अनिवार्यता दीर्घ आकार मांगती है। अगर पृष्ठ-संख्या इतनी हो जाए कि एक स्वतंत्र पुस्तक के आकार में छापी जा सके तो लंबी कहानी को उपन्यासिका कहा जा सकता है। एक अनुच्छेद से लेकर एक दुबली-पतली स्वतंत्र पुस्तक तक कहानी के आकार को सिकोड़ा या फैलाया हुआ देखा जा सकता है। पहले एक ज्यादा सीधी सपाट परिभाषा थी कि कहानी में इकहरा कथासूत्र और एकाग्र, एकोन्मुखी विषयसामग्री या कथ्य होता है। जटिल कथानक का संबंध उपन्यास के साथ जोड़ा जाता था लेकिन आज के यथार्थ की प्रकृति ने कहानी का ढांचा बदल दिया है। वस्तु और कथासूत्र के नजरिये से जटिल कहानी भी पृष्ठ संख्या की दृष्टि से स्वतंत्र पुस्तक जैसी नहीं बनती क्योंकि रचना को शाब्दिक फिजूलखर्ची की अपेक्षा नहीं होती। तो लंबी कहानी या उपन्यासिका बीच का रास्ता है। दुनिया भर की भाषाओं में इस समय नॉवेल्ला या नॉवलेट एक लोकप्रिय विधा है। इसका एक बेहद व्यावहारिक, बाजारवादी कारण भी है कि कुछ घंटों की रेल-यात्रा या हवाई यात्रा में कुछ घंटों के एकांत के लिये साथी का काम करना है। जैसे कभी पत्रिकाओं में उपलब्ध स्थान की सीमा ने कहानी का वांछित आकार तय किया था वैसे ही इस आकार का सीमा निर्धारण भी किसी और जरूरत के आधार या कारण से हुआ। अब यह लेखक का कौशल है कि कैसे वह उसे अपने कथ्य की अनिवार्यता में ढाल ले।

इसे क्या यूं कहें कि दरअसल, कहानी उपन्यास लिखना एक तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है। एक तरफ नामवर सरीखे प्रखर आलोचकों का मानना है कि कथा प्रसंग में बुने हुए महीन बारीक ब्यौरे रचना की प्रामाणिकता, विश्वसनीयता और कथ्य की ग्राह्यता को उत्कर्ष देते हैं, दूसरी तरफ यह आशंका भी दामन नहीं छोड़ती कि कहीं पाठक कहानी से उकताकर बीच में ही परे न हो जाएं। उपन्यास जीवन क्रम को विविध सिरों से पकड़ने और व्यक्त करने की विधा है, जिसमें विस्तार जरूरी है। इसके बावजूद उपन्यासिका जैसी रचनाएं भी सामने आती हैं और पाठकों, आलोचकों से बिना अधूरेपन का उलाहना पाए सराही जाती हैं। कथा संसार में महा-आख्यानों की भी दस्तक होती रहती है। सुरेंद्र वर्मा की कृति 'काटना शमी का वृक्ष' इसका एक साक्षात् उदहारण है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि मिथकीय है, बेहद लंबा विस्तार फिर भी पाठक को बांधे रखता है। कहानी जिस किसी भी प्रारूप में हो, कितनी भी छोटी या लंबी हो, यदि वह जन केंद्रित जीवन दृष्टि से ओत-प्रोत है और कहानी है, तो काफी है। अर्चनाजी, इसी क्रम में कहानी के क्षेत्र में हो रहे विविध प्रयोगों का जिक्र भी किया जा सकता है। वह केवल गिमिक्स हैं या कहानी को कहीं ले भी जाते हैं।

आपने कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण बातें कहीं और नामवरजी की बात तो मैं गुरुमंत्र की तरह गांठ बांधकर रखती हूं। प्रयोगों की अधिकता के पीछे इस बात की छटपटाहट है और आकुलता है जो कहना है वह किसी सहज सामान्य परिपाटी से पकड़ नहीं आ रहा है। कभी-कभी अतिशय और असंतुलित भले हो जाए और गिमिक्स जैसे लगें, बुनियादी तौर पर यह सकारात्मक लक्षण है। गीत चतुर्वेदी की कहानियों का जिक्र मैंने किया था। उनकी कहानी में कविता की बुनावट है, उनकी कहानी 'सिमसिम' में कई कई लेखकों-विचारकों के उद्धरणों की प्रस्तुति है, जहां से कहानी एक नए सिरे से गति पकड़ती है। वहां खलील जिब्रान के साथ यूआर कृष्णमूर्ति भी हैं। उनकी एक कहानी के पात्र दूसरी कहानियों में भी आवाजाही करते हैं। यह सब प्रयोगों की बानगी है। भुवनेश्वर की कहानी; इसे पहली नई कहानी भी कहा जाता है कई बार; 'भेडिये'; वह भी तो एक प्रयोगधर्मा कहानी ही है। इंटरनेट और डिस्कवरी जैसे विविध चैनल भी ऐसे प्रयोगों की संभावना का द्वार कहे जा सकते हैं क्योंकि बाकी विश्व की बड़ी दुनिया में घुस जाना सरल हो गया है। कल्पना की संभावनाओं के विस्तार का युग है।

उपन्यास कहानियों में सूचनात्मक जानकारी और उससे संबंधित आंकड़े देने की प्रवृत्ति भी देखी गई है। महुआ माजी के ताजे उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' को देखें, उसके पहले तस्लीमा नसरीन का उपन्यास 'लज्जा' भी आंकड़ों से भरपूर सामने आया था।

आंकड़े भी तथ्य हैं, बशर्ते वह कथ्य का अभिन्न हिस्सा बन पाने भर समर्थ हों। अभी फिर से निकली पत्रिका 'पहल' में चंदन की कहानी देखी जो खर्च के हिसाब की बही की तरह एक ही तारीख के खर्चों के आंकड़े देती है। कहानी का मजा तो नहीं आया, महज आंकड़े, लेकिन प्रयोग तो है और किसी जासूसी कहानी का हिस्सा होता तो बता सकता था कि आंकड़ों के भीतर कैसे कोई कहानी छिपी हो सकती और कैसे उजागर की जा सकती है।

लेकिन महुआ माजी और तस्लीमा, दोनों के ही उपन्यासों की केंद्रीय विषय वस्तु ऐसी नहीं थी जिसके बारे में पाठकों की जानकारी पर्याप्त हो। इसलिए ये उपन्यास पाठकों के साथ न्याय तभी कर सकते थे जब वह पाठकों को मूल कथावस्तु की पूरी जमीन, प्रामाणिकता से सौंपें। फिर भी यह शिल्प एक आलोचकीय मुद्दा हो सकता है। इसके साथ यह सवाल भी जोड़ा जा सकता है कि हिंदी कथा आलोचना का प्रकाश, जमीनी कथाकारों तक कितना पहुंच रहा है। क्या आलोचकों और रचनाकारों के बीच समुचित संवाद की अनुकूल स्थिति है ?

होता अंततः यही है कि रचना की हर पीढ़ी के साथ आलोचना की भी नई पीढ़ी आती और रचना की व्याख्या, विश्लेषण और स्थापना करती है। नहीं तो रचनाकार को खुद यह काम करना होता है। छायावादियों ने किया था। नई कहानी वालों, नई कविता वालों ने भी किया था। बाकी यह भी अपनी जगह पर सच है कि लेखक और आलोचक के बीच समुचित संवाद का रिश्ता अक्सर नहीं बनता। कोई न कोई उठापटक चलती ही रहती है।

यह एक जोखिम भरा सवाल है, और हिंदी साहित्य की दुखती रग भी। आलोचना धर्म भी कथा सृजन की तरह रचनात्मक धर्म है। जितनी विश्वसनीयता पाठकों के बीच एक कथाकार को अर्जित करनी होती है उतनी ही आलोचक के लिए भी जरूरी है। आलोचक को कथाकार के साथ, उसकी रचना के स्वर में समांतर रूप से चलना होता है। आलोचक किसी रचना की आलोचना तभी सार्थक रूप से कर सकता है जब उसके भीतर भी रचना उतनी ही तीव्रता से स्पंदित होती हो और वह अपने भीतर उतरी हुई उस रचना को निर्मम होकर देख सकता हो। इस क्रम में यह जरूरी है कि आलोचक की वैचारिक त्वरा समकालीन लेखन की संपूर्णता से एकरस हो। लेकिन यहां तो स्थिति दूसरी ही दिखती है। आलोचक खेमों में बंटे हुए हैं और उनमें निरपेक्षता का अभाव है। आज की आलोचना में निंदा और प्रशंसा के साथ साथ उपेक्षा का भाव भी दिखता है और उसकी यह सारी प्रतिक्रियाएं साहित्येतर प्रतीत होती है। इसके अलावा मेरा भी यह मानना है कि अगर आज की युवा पीढ़ी की समस्याएं, उनके द्वंद्व, उनकी वरीयताएं और अपने समय को देखने की उनकी दृष्टि पूर्ववर्ती रचनाकारों से एकदम अलग है तो फिर उनके आलोचक प्रतिनिधि भी उसी जमात से क्यों नहीं होने चाहिए लेकिन आज के परिदृश्य में युवतर सोच के आलोचक कहां हैं ? जिन युवाओं में आलोचना की प्रवृत्ति भी विकसित हुई है उन्हें भी पूर्ववर्तियों की परिपाटी में ढलना पड़ रहा है। बताइए कहां हैं युवतर प्रवृत्तियों के आलोचक ? आलोचना की स्थिति तो सचमुच आमूल धारा परिवर्तन की मांग करती है। खैर छोडिए, कहानी के संसार में महिला कथाकारों की स्थिति पर आप क्या कहना चाहेंगी...

अपनी तरफ से मैं किसी लेखिका का परिचय यूं देना पसंद करूंगी कि इनसे मिलिए, हिंदी की लेखक हैं, और संयोगवश महिला भी हैं। जब मैं 'हंस' में थी, राजेंद्रजी से इन सवालों पर बहस चला करती थी, अक्सर वे धमका कर इस स्वर में पूछते थे, तुम पहले स्त्री हो या लेखिका? और उनका फैसला था कि पहले मैं स्त्री हूं। क्या कहूं, ऐसा शिजोफ्रीनिया या विभक्त व्यक्तित्व जिसे पहले-पीछे के क्रम में काल-विभाजित किया जा सकता हो, मैने तो कभी महसूस किया ही नहीं।

फैसलों में प्राथमिकताओं की बात अलग है, लेकिन वे प्राथमिकताएं तो हर व्यक्ति को तय करनी ही पड़ती हैं। खाने के वक्त खाना, जरूरी हो तो बनाना, बच्चे को डॉक्टर के पास ले जाना – क्या ये प्राथमिकताएं स्त्री को पहले स्त्री और बाद में लेखिका बनाती हैं? क्या पुरुष को ऐसी प्राथमिकताएं पुरुष को तय नहीं करनी पड़तीं? अगर वह बच्चे को डॉक्टर के पास ले जाने के वक्त लेखक बने रहना पसंद करे तो यह उसका पहले लेखक होना साबित करेगा या एक क्रूर, हृदयहीन, गैरजिम्मेदार व्यक्ति होना? पर खैर, वह एक अवांतर बहस है, मैं उसे स्त्री विमर्श का हिस्सा नहीं समझती। हमारे समय में सामाजिक न्याय की अवधारणा और परिभाषा ने लोकतंत्र की संरचना बदल दी है। शायद उसके मौजूदा रूप को अप्रासंगिक भी कर दिया है लेकिन दूसरा कोई रूप जब तक उभरता नहीं तब तक विकल्प के बारे में सोचना संभव नहीं लगता लेकिन लोकतंत्र को जान लेने के बाद वह लोकतंत्र का ही दूसरा रूप होगा। मैं यह तो नहीं कहती कि स्त्री के बारे में केवल स्त्री ही लिख सकती है, अब तो दलित भी ऐसा नहीं कहते, लेकिन इतना जरूर हैं कि स्त्री–अनुभव के ऐसे भी कुछ आयाम हैं जिन्हें सिर्फ स्त्री ही जानती है। लेकिन वह विषय–वस्तु या सामग्री की बात है। इससे वह लेखक की अलग एक कोटि नहीं बन जाती। किसी भी कोटि में बंधने का मतलब खुद को किन्हीं परिभाषाओं और सीमाओं में बांधना है और वह इन सीमाओं को तोड़ने, परिभाषाओं को फैलाने के लिए खड़ी है। विमर्श और उसके साथ जुड़ा साहित्य सामाजिक न्याय और सरोकार का साहित्यिक अनुषंग है। मैं उसके भीतर बंध तो नहीं पाती लेकिन उसके मतलब को समझती हूं। उसे साहित्यिक मूल्यांकन का आधार नहीं बनाती लेकिन ऐसी अभिव्यक्तियों को कीमती जरूर मानती हूं जो किसी समुदाय के जीवन के ऐसे पक्ष को सामने लाते हैं जिनकी वजह से बदलाव को जरूरी और न्यायोचित महसूस किया जा सकता है। साहित्य के रूप में वह शायद बड़ा न भी हो लेकिन जिन सवालों से जुड़ा है वे निश्चय ही मात्र साहित्यिक नहीं हैं और ये साहित्य से बड़े हैं।

बिल्कुल ठीक। आज हम अपनी बातचीत को यहीं विराम दे सकते हैं। कथा प्रसंग पर तो कभी विराम लगाया ही नहीं जा सकता। यह अनंत चर्चा का प्रसंग है। मैं 'बहुवचन' की ओर से एक बार फिर आपको धन्यवाद देता हूं।

* * *

आलेख

सृजन की नई चुनौतियों की सदी

भरत प्रसाद

'मनोविज्ञान' शब्द सुनते ही चित्त में मनुष्य का अक्स चमकने लगता है। मानो हमने मान लिया हो कि यह विज्ञान सिर्फ मनुष्य के लिए, मनुष्य के कारण बना है, जबकि दर हकीकत इससे कहीं अलग और व्यापक है। सृष्टि की सजीव सत्ता में ऐसे लाखों प्राणी हैं, जो मनोमय हैं, जिनमें एहसास है, सजगता है, दुख-सुख की चेतना है जो विकट परिस्थितियों में अपनी सुरक्षा की शक्ति रखते हैं। हरे पेड़ों, वनस्पतियों और पौधों को हम 'जड़' की उपाधि दे डालते हैं, परंतु भूलिए नहीं - वे संगीत सुनकर खुश होते हैं और तेजी से विकास करते हैं। सच्चाई बिल्कुल स्पष्ट है - मनुष्य मन की श्रेष्ठतम सत्ता है, अंतिम नहीं। वह मन की केंद्रीय पहचान है, किंतु उसके अतिरिक्त जानवर, पक्षी, जीव इत्यादि में मन की सत्ता का राज है।

समकालीन मानव मन की संरचना

हिंदी कहानी में मानव-मन की दुनिया का अन्वेषण, विश्लेषण और विस्तार अवश्य हुआ, किंतु शेष सजीव सत्ता के मन का ? उत्तर है नहीं। प्रेमचंद ने जानवरों के मन की मार्मिक खोज एवं उसका मूल्यांकन करने का साहस अवश्य दिखाया, किंतु वह प्रारंभिक प्रयास मात्र था। उनके बाद जैनेंद्र, यशपाल, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु जैसे कई कथा-शिल्पी कथाकार प्रकट हुए, किंतु पशुओं, पक्षियों, जीवों के मन के गुमनाम, रहस्यमय स्तरों को खोलने की ओर कदम न बढ़ा सके। उनके सामने बहुरूपिया मनुष्य के चतुर मन की ही जटिलताएं उतार-चढ़ाव और चालाकियां इतनी ज्यादा थीं कि ताउम्र उसी का पर्दाफाश करने में उलझे रहे। इसमें क्या शक कि दिन-ब-दिन मानव मन का रंग बदल रहा है, नित नई अबूझ प्रवृत्तियों से लैस हो रहा है, नए अंदाज, नई चाल, नई कला, नए मायाजाल से संपन्न हो उठना मानव-मन का स्वभाव बनता जा रहा है। आज का समूचा साहित्य जगत इस बहुआयामी मानव-मन की गुत्थियों, गहराइयों और अदृश्य हकीकतों को सामने लाने में मन से जुटा हुआ है, किंतु कमाल है कि अकेला यह मानव-मन ही ढंग से पकड़ में नहीं आ रहा, छूट-छूट जाता है, शेष रह जाता है, दुष्कर चुनौती बन जाता है। मन वह परिवर्तनशील आदिम सत्ता है, जो युग, परिस्थिति, वातावरण और व्यवस्था के अनुसार बदलता रहता है। मन में यह परिवर्तन सकारात्मक और नकारात्मक दोनों होता है। बल्कि मन की प्रकृति ग्राफ पर तेजी से

चढ़ती-उतरती, विद्युत गति से आगे दौड़ती रेखाओं की तरह होती है। दैनिक जीवन की एक-एक घटना, दबाव, तनाव, चिंता, समस्या, संघर्ष का असर अंतर्मन पर अनिवार्यत: पड़ता है। इतना ही नहीं - मन एक ही वक्त में वर्तमान, भूत, भविष्य तीनों कालों में सक्रिय रहता है। एक साथ सैकड़ों दिशाओं, घटनाओं, स्मृतियों और योजनाओं में सावधानीपूर्वक संबद्ध रहने की क्षमता मन के सिवा और किसमें है ? सिग्मंड, फ्रायड, युंग और एडलर मनोविज्ञान की त्रिमूर्ति माने जाते हैं किंतु मन के साम्राज्य का संपूर्ण इतिहास लिखा ही नहीं जा सकता है। इतने स्तर, इतने रूप, इतने रंग, इतने रहस्य, इतनी क्षमता, इतनी दिशाएं और इतनी जटिलता का कोश है मन कि सैकड़ों व्याख्याएं मिलकर मन का संपूर्ण आकलन नहीं कर सकतीं। यह मन जो कि बुद्धि और हृदय के रहस्यपूर्ण मिश्रण से तैयार होता है - मानव व्यक्तित्व की सबसे अबूझ और गूढ़ पहेली है। पारिवारिक व्यवस्था, व्यक्ति-व्यक्ति का व्यवहार, चरित्र की संरचना और सोचने की दिशा मन के संस्कारों से तय होती है।

समकालीन हिंदी कहानी में झालरदार भाषा है, मनोहारी वर्णन है, मायावी चित्रण और बात से बात निकालने की कला है किंतु वह विवेक जो अत्याधुनिक मानव-चित्त की परतों को खोल सके, तयपूर्वक दिशाशून्य हुए मानव की निर्मम मानसिकता का रहस्य जान सके और पतन, शोषण, भ्रष्टाचार के जटिल तंत्र में रमे हुए घातक मन की असलियत को दक्षतापूर्वक तार-तार कर सके ऐसा मौजूदा कहानी में कहां हो रहा है ? आज मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का मात्र 1/3 बाहर है, शेष 2/3 भीतर। इसी तरह मन का एक चौथाई कर्म, विचार, व्यवहार और संस्कार के रूप में प्रकट होता है- शेष तीन चौथाई आत्मा की असीम गहराइयों में स्थाई रूप से डूबा रहता है।

कहानी की वर्तमान युवा पीढ़ी परिदृश्य में लगातार एक आकर्षक चमक भर रही है। कभी अलहदा शैली के बूते, कभी रबड़नुमा भाषा के बूते तो कभी लुभावनी संरचना के बूते। गीत चतुर्वेदी, चंदन पांडेय और कुणाल सिंह फिलहाल इन्हीं रूपवादी प्रयोगों के अगुवा नजर आ रहे हैं। विषय की अंत: संरचना में उतरने, उसकी परतों को उधेड़ने और उसके अर्थों का रेशा-रेशा उद्घाटन करने की दक्षता इनमें लगभग नदारद है। एक तरह से विषय से खेलते हैं ये चंद कहानीकार, क्योंकि इनकी फिलासफी यथार्थ का खेल खेलना है - उसके मर्म का शब्दश: उद्घाटन करना नहीं। इसीलिए ऐसे खेलवादी कहानीकारों की कहानियां निगाहें तो रोकती हैं, मन को भी रमाती हैं - किंतु दृष्टि की क्षमता का विस्तार नहीं करतीं, न ही विषय की सत्ता को अविस्मरणीय बनाती हैं। आखिर कारण क्या है कि श्रेष्ठ कथाकार संजीव और शिवमूर्ति से लेकर काशीनाथ सिंह और ओमप्रकाश बाल्मीकि तक इस खेल भक्त युवा पीढ़ी की प्रसिद्धि को गंभीरता से नहीं लेते और अपने साक्षात्कारों में इनकी ताकत का समर्थन करने के बजाय खुले शब्दों में इनकी निर्भ्रांत आलोचना करते हैं। देखिए संजीव का यह निष्कर्ष युवा कहानीकारों पर -'यह जो नए कथाकारों का उभार आया है उनमें अधिसंख्य या तो ऐसे आंदोलनों से अलग हैं या उनकी जड़ें उस मिट्टी में नहीं हैं। इस व्यक्तिवादी दौर में इनके उपजीव्य जुदा हैं। इनका लक्ष्य कैरियर है, छपना है, साहित्य में स्थापित होकर नई बुलंदियां (नाम, यश, पैसा) छूना है। इनमें पूर्ववर्ती पीढ़ी से ज्यादा स्कोप है,

मगर इनकी प्रतिभा कला की कशीदाकारी में जाया हो रही है।' (हंस, अगस्त - 06, पृ. 215)

कहना जरूरी है कि इस पीढ़ी में प्रामाणिक और दस्तावेजी मनोवैज्ञानिक कहानियों का अकाल है। ऐसी मनोवैज्ञानिक कहानियों का अकाल जो हमारे समय के चरित्रों का उदाहरण हों, जो प्रेमचंद शरतबाबू और रेणु की कहानियों के चरित्रों की तरह हमारे बीच जीते-जागते, चहल कदमी करते दिखाई दें। अकूत मनोवैज्ञानिक दक्षता के बिना यादगार चरित्रों को खड़ा ही नहीं किया जा सकता।

कहानी की मौजूदा युवा पीढ़ी में सृजन की अनेक दिशाएं विकासशील दिखाई देती हैं। एक दिशा उन कहानीकारों की है, जो गांव, जवार, जनपद और अंचल से उठे हैं और वहीं की आबोहवा में रची-बसी-धंसी कहानियों का लगातार सृजन कर रहे हैं। इनके लिए अपने जिला-जवार, बस्ती का संघर्ष, हलचल, उठा-पटक और अपमान-पराजय अधिक चिंता का मुद्दा है। ये अंचलधर्मी कहानीकार अतीतजीवी नहीं हैं, बल्कि ग्रामीण-संस्कृति के सचेत विश्लेषक हैं। उन्हें एहसास है कि इन दिनों भारत या हिंदी क्षेत्र के गांव प्रेमचंद, रेणु या नागार्जुन युग के गांव नहीं हैं। नई सदी ने अनिवार्यत: गांवों की बाहरी और भीतरी संरचना को चुनौती की हद तक बदला है। बदल चुका है पारिवारिक संबंधों का ताना-बाना, जटिल से जटिल हो उठी है सामाजिक ढांचे की संरचना, अत्यधिक अमूर्त और सूक्ष्म हो चली है ग्रामीण हिंदुस्तानी की दिग्भ्रमित मानसिकता। ऐसे चुनौतीपूर्ण ग्रामीण यथार्थ का दबाव और तनाव आज का युवा कहानीकार सफलतापूर्वक महसूस कर रहा है और उस यथार्थ को आमूल-चूल उठाकर कहानी में धर देने का पुरजोर प्रयत्न भी कर रहा है, किंतु अत्याधुनिक सदी के ऐसे ग्रामीण भारत की शत-प्रतिशत प्रतिसृष्टि रचने वाली प्रेमचंदी कला उसके पास अभी नहीं है। यथार्थ की कालजयी प्रतिसृष्टि रचने के लिए जिस उद्दाम चेतना, सृष्टिदर्शी कल्पनाशीलता, बल खाती भावाकुलता और अपराजेय संकल्पधर्मिता की जरूरत होती है - वह कहां है हमारे युवा कहानीकारों में ? पंकज मित्र, सुभाषचंद कुशवाहा, अरुण कुमार असफल, सत्यनारायण पटेल, रणीराम गढ़वाली, कैलाश बनवासी, अशोक मिश्र जैसे गिने चुने युवा कहानीकार हैं, जिन्होंने आज के बदलते गांवों की रंग-बदरंग तस्वीर को अपनी कहानियों में सजीव किया है। यह तस्वीर हूबहू प्रतिसृष्टि भले ही न कहलाए किंतु चित्रित किए गए उस कड़वे-सच्चे यथार्थ पर यकीन तो किया ही जा सकता है। आज की युवा कहानी में पुनर्जागरण काल है नई सदी के ग्रामीण भारत का।

पंकज मित्र (हुड़कलुल्लु, क्विज मास्टर तथा अन्य कहानियां) बिहार के दर ठेठ गंवईपन के कारीगर हैं। दृश्य, घटना, प्रवृत्ति या परिस्थिति के सीधे-सपाट शब्दकार नहीं हैं - पंकज मित्र, बल्कि वे चरित्र के तत्कालीन या स्थाई व्यवहार या प्रतिक्रिया के पीछे छिपे मानस को समझने एवं कलात्मक भंगिमा में पकड़ने की सफल कोशिश करते हैं। उनकी यह कोशिश कई बार मार्मिक स्तर को छू लेती है और कभी-कभी खालिस भाषाबाजी का जाल बनकर जाती है। व्यंग्य, कौतूहल, खिलंदड़ापन का अतिरिक्त मोह कई बार कहानी की स्तरीयता को क्षति पहुंचाता है। इस बारीकियत की निर्भ्रांत समझ होनी ही चाहिए कि कब, किस मौके पर, किस चरित्र के साथ, कितना व्यंग्य खेलना है और कहां तक खेलकर खुद को निर्ममतापूर्वक रोक लेना है। चरित्र, घटना या विषय की

प्रकृति, स्वभाव और आचरण के अनुसार दार्शनिक, भावुक, व्यंग्यात्मक, मित्रतापूर्ण शैली का प्रयोग पारंगत कहानीकार की शर्त की तरह है। पंकज मित्र की कलम में भाषाई खिंचाव लाने का हुनर है जरूर, किंतु कई गंभीर मौकों पर कौतुकी चित्रण का मोह न त्याग पाना फिलहाल उनकी अनिवार्य कमजोरी जैसा है।

पंकज मित्र के ही लगभग समानांतर अपनी सशक्त यात्रा का आरंभ करने वाले सुभाष चंद्र कुशवाहा (होशियारी खटक रही है) गंवई दुनिया की भदेस मनुष्यता को स्थापित करने वाले प्रामाणिक कथाकार हैं। अभी हाल में प्रकाशित कहानी – 'भटकुइयां इनार का सपना' ग्रामीण आधुनिकता के उपेक्षित सत्य पर लिखी गई विशिष्ट कहानी है। कुशवाहा के कहानीकार की अमिट ताकत है अनुरक्ति, आसक्ति और आत्मसमर्पण। अनुरक्ति घाव खाए निर्दोष ग्रामीण चेहरों के प्रति, आसक्ति – खून-पसीने से सींची गई तरल गंवई आत्मा के प्रति, आत्मसमर्पण- धूसर, बेरंग, वीरान किंतु असीम इंसानियत से लबरेज आंचलिक सभ्यता के प्रति। कुशवाहा की लगभग सपाट कहानी 'फांस' अपनी अंतर्वेदना में सपाट नहीं है। चतुर सवर्णों के शालीन मायाजाल में उलझ-पुलझकर मरते बेनाम चेहरे की मृत्यु कथा है 'फांस' कहानी। यदि कुशवाहा की कलम दर्शन पैदा करना सीख जाए, बेलीक और मौलिक वर्णन की जीवंत कला साध ले और समय के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष चरित्र को दक्षतापूर्वक उद्घाटित करने की काबिलियत हासिल कर ले, तो हिंदी कहानी में एक और प्रतिनिधि ग्राम-शिल्पी का जन्म हो सकता है।

पिछले चंद वर्षों के भीतर जिन युवा कहानीकारों ने अपनी छाप छोड़ने वाली उपस्थिति कायम की है, उनमें सत्यनारायण पटेल का नाम आगे है। 'भेम का भेरू मांगता कुल्हाड़ी ईमान' फिलहाल उनका कहानी संग्रह है। 'परिकथा' के युवा कहानी विशेषांक में प्रकाशित 'गम्मत' कहानी ने सत्यनारायण की मजी हुई कला पर मुहर लगा दी। मध्यप्रदेश के जंगलात आदिवासी जीवन, उनकी दर्दगाथा, गूंगी निराशा और दहकते-सुलगते खांटी आक्रोश को अपनी कहानियों में अर्थबद्ध किया है। वर्णन की बनी-बनाई चिरपरिचित लीक से हटकर निजी अनुभूतियों की मौलिक भाषा में कहानी रचना सत्यनारायण के भीतर बैठे कहानीकार की उपलब्धि है। यह अवश्य है कि वर्णन के अतिशय चुंबकत्व से आकर्षित कहानीकार जीवन दृष्टि और अमृतदर्शन पैदा करने से चूकने लगता है – जैसा कि रेणु, शिवमूर्ति और संजीव के साथ भी हुआ। सत्यनारायण पटेल सामान्य आंचलिक गंध, रस, ध्वनि और रंग के ऐसे जमीनी शब्दकार हैं- जिनके प्रस्तुत चित्रों और चरित्रों की प्रामाणिकता पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

सिर्फ, सिर्फ और सिर्फ उत्तराखंड की पहाड़ी ग्रामीण दुनिया को अपनी जीवंत कहानियों में साकार करने वाले रणीराम गढ़वाली (शिखरों के बीच) उल्लेखनीय ग्राम-शिल्पी हैं। परिकथा ज्ञानोदय जैसी पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी पठनीय कहानियां ग्रामीण-संघर्ष को समर्पित हैं। 'ग्यारह जूते' न सिर्फ लाचार स्त्री की चोट खाई पराजय बल्कि उसके बेबस आक्रोश का भी उदाहरण है। गढ़वाली दृश्य के, व्यवहार के, घटना, गतिविधि और प्रतिक्रिया के चित्रकार हैं वे बिंबों के प्रेमी हैं। पहाड़ का ठेठ, ग्राम जीवन दिखने में जैसा है उसे बिना किसी काट-छांट के,

घुमाव-फिराव के सीधे-सीधे धर देना रणीराम की प्रकृति है। चरित्रों की मानसिकता में गहरे घुसपैठ कर जाना या विचलित करने वाली घटनाओं की अदृश्य तहों में उतर जाने की दृष्टिमय दक्षता फिलहाल गढ़वाली में नहीं दिखाई देती। इसीलिए प्रामाणिक जीवन दृश्य रचने में परिपक्व होने के बावजूद गढ़वाली संपूर्ण कहानीकार बनने से चूक जा रहे हैं।

जड़-काया प्रवेश की कला

मनुष्य के व्यक्तित्व और चरित्र में अटूट अंधकार के अन्वेषक मुक्तिबोध ने अपने तत्वपूर्ण चिंतन के क्रम में 'व्यक्तित्वांतरण' शब्द का प्रयोग किया है। शब्द नया है अवश्य, किंतु यह कला नई नहीं है। दूसरे शब्दों में इसे ही परकाया प्रवेश कहा गया है। यह मनुष्य ही वह चमत्कार है जो न सिर्फ किसी दूसरे मानव को अपने भीतर धारण कर सकता है, बल्कि नदी, वन, पर्वत, आकाश, वृक्ष, प्रात:काल, संध्या, रात्रि, वर्षा, आंधी जैसे न जाने जड़ अस्तित्वों को अपनी तेजस्क्रिय आत्मा में पुनर्स्थापित कर सकता है। उत्कट मोह और दीवानगीपूर्ण मनन के बूते किसी भी जड़सत्ता को अपने व्यक्तित्व में साधा जा सकता है। अथक और असीम एकाग्रता के साथ किसी को बारंबार याद करते रहने से यह दुर्लभ चमत्कार घटित होता है। यहां तक कि वह जड़ सत्ता आपकी आत्मा से, चित्त से संवाद करने लगती है, बेजुबान होकर भी संवाद करती है प्रकृति आप से। वह सदियों से दबे-छिपे-अज्ञात अर्थों की परतें खोलती है, अपनी गुमनामी की पीड़ा सुनाती है और अपने कठिन रहस्यों से पर्दा उठाती है। रवींद्रनाथ टैगोर, खलील जिब्रान और पाब्लो नेरूदा जैसे पैमाना- कवियों की कृतियों में बोलती-बतियाती, मूल्य समझाती प्रकृति इसी व्यक्तित्वांतरण की नायाब कला के कारण इन कवियों में साकार हुई। कहानीकार अक्सर चरित्रों को जीते हैं, विषयों पर मंथन करते हैं, घटनाओं के रहस्य में प्रवेश करते हैं, किंतु जड़ सत्ता की साधना नहीं करते। 'जड़ काया प्रवेश', मानव-काया प्रवेश से चार कदम आगे की उपलब्धि है। फणीश्वरनाथ रेणु प्रकृति को उसकी जुबान देने वाले अमर संगीतज्ञ बन गए तो इसका मूल कारण जड़काया प्रवेश की तत्वदर्शी कल्पनाशीलता है। जिस अंचल से हमारा रात-दिन का साहचर्य है, जो आकाश हमें सुबह देता है, बारिश उड़ेलता है और अपनी ऊंचाइयां आत्मा में भर देता है उसके प्रति क्या सम्मानपूर्ण अनुराग नहीं जागेगा ? जो दिशाएं हमारी कल्पना को धार देती हैं, जो क्षितिज हमारे रहस्यप्रेमी हृदय को प्रेरित करता है, जो पृथ्वी हमारी मां से लाखों गुना कीमती नजर आती है - क्या उसके प्रति कृतज्ञता की अतिशयता में आंखें नम नहीं होने लगतीं ? जड़ काया प्रवेश के लिए चाहिए उत्कट दीवानगी, असाधारण ईमानदारी और दृष्टिपूर्ण आत्मसमर्पण। मनुष्य हो या जड़ प्रकृति उसे जैसे ही आप अपना बनाते हैं आपसी संवाद शुरू हो जाता है - अर्थपूर्ण, तत्व उद्घाटक और दार्शनिक संवाद। जड़ काया प्रवेश की अव्वल क्षमता के बगैर कोई दार्शनिक या कवि सृष्टि के मूल्य, मर्म और रहस्य की प्रामाणिक व्याख्या कर ही नहीं सकता। यूरोप के रोमांटिक कवियों एवं छायावादी काव्य-स्तंभों में यह जो प्रकृति की अभूतपूर्ण महानता प्रकट हुई उनकी इसी भावप्रवण क्षमता के कारण। प्रकृति का मानवीकरण भी इसी शक्ति के कारण संभव होता है। सर्जक की यह शक्ति जड़ प्रकृति को व्यक्तित्व देती है हूबहू कद्दावर मनुष्य की तरह। कई बार तो मनुष्य से भी बड़ा, ऊंचा और चिरस्थाई। यह

प्रकृति शताब्दियों से मनुष्य के व्यक्तित्व, आत्मप्रज्ञा और संस्कार का विश्वविद्यालय रही है और रहेगी।

इक्कीसवीं सदी के युवा कहानीकारों को यह बहुमूल्य शक्ति अनिवार्यत: अर्जित करनी है। गांव, पुरवा-पट्टी, अंचल-जनपद-सीवान, अमराई, पगडंडी, चौहद्दी, कत्थई क्षितिज, पशु, पक्षी, पोखर, धूल भरे रास्तों के मोह में अथाह कृतज्ञतावश आत्मा में आंसू गिराने वाले आज कितने युवा कहानीकार हैं ? पूंजी, बाजार, विज्ञान और उद्योग की आंधी ने प्रकृति के करोड़ों वर्ष पुराने विकल्पहीन मूल्य को समाप्त किया ही है, कवियों, कलाकारों और कथाकारों की आत्मा से उसकी चिंता, सुरक्षा और प्यार का संकल्प भी छीन लिया है। युवा कहानीकारों की कहानियों में अत्याधुनिक चरित्र हैं, कारनामें हैं, चालाकियां हैं, वर्णन-चमत्कार हैं, किंतु नदारत है तो जीवनभर छाया देने वाली प्रकृति, जिसके बगैर एक सेकेंड के लिए सांस लेना मुहाल हो जाए

इसी युवा सदी में कई कहानीकार ऐसे हैं जो तयपूर्वक ग्राम-संसार से नहीं बंधे हैं, बल्कि अपने समय की जमीनी सच्चाइयों की यथासंभव प्रस्तुति करते हैं और कहानी में खांटी फैशन को नहीं, बल्कि जीवन को जीते हैं। ऐसे विकासमान कहानीकारों में उर्मिला शिरीष, सलिल सुधाकर, कविता, उमाशंकर चौधरी, विमलचंद्र पांडेय, विवेक मिश्र, दिनेश कर्नाटक, अनुज, राकेश बिहारी का नाम विश्वासपूर्वक लिया जा सकता है। प्रत्यक्ष देखे गए विकट यथार्थ और आश्चर्यपूर्ण घटनाओं को आकंठ संवेदना के साथ प्रस्तुति करने वाली उर्मिला शिरीष ने वर्तमान पीढ़ी में अपनी स्पष्ट पहचान कायम की है। उनकी कहानियां ऐसी हैं, जो कि चरित्रों से दर्शक का रिश्ता नहीं, बल्कि सगेपन का संबंध स्थापित करती हैं। चरित्रों को चटक चित्र की शैली में खींचती चली जातीं उनकी कहानियों में भाषाई गुब्बारा फुलाने का तनिक मोह नहीं। भरपूर शिद्दत, तत्परता और मजबूत पक्षधरता के साथ विषयों को प्राणवान शब्दों में जीना उर्मिला शिरीष की गहरी ताकत मानी जा सकती है। सलिल सुधाकर इस दौर के ऐसे सशक्त जीवनवादी कहानीकार हैं, जिन्होंने बहुचर्चित होने की बीमारी से बचते हुए कई स्मरणीय कहानियां दी हैं। चर्चित का भजन गाना, प्रशंसित की माला जपना, स्थापित को अमर घोषित करना और पुरस्कृतों को श्रेष्ठता का प्रमाण पत्र बांटना आज हिंदी साहित्य का महारोग बन चुका है। जो आज कहानी का घोषित स्टार नहीं है, वह क्या लिखता होगा कहानी-वहानी ? जिस कवि के इर्दगिर्द नामचीन प्रकाशक नहीं विराजमान हैं, वह क्या खाक कविता लिखेगा ? अब कहानी की गुणवत्ता उसकी प्रखर मार्मिकता से नहीं, मार्केट-ग्लैमर से तय होती है। चूंकि सलिल सुधाकर जैसे कहानीकार अपनी कहानियों की, बिजनेसमैननुमा मार्केटिंग नहीं कर सकते इसलिए वे कहानियां अपनी गहरी सार्थकता के बावजूद अचर्चित हैं। 'शैतान बुश के कुनबे की औरत', 'एक अकेली इस जंगल में', 'बिरादर', 'खाड़ी में गांव की कश्तियां', 'पानी की आग', और 'सपने' जैसी कहानियां समसामयिक आम मनुष्य की पराजय, पीड़ा, चोट, आँसू और बदहाली का बारीक ताना-बाना बुनती कहानियां हैं। 'पाखी' के मार्च 13 अंक में प्रकाशित उनकी कहानी 'अजनबी कोहरे के उस पार' सरहद पर जानी दुश्मनों से पल-पल जूझते भारतीय फौजियों की तकलीफ की विचलित कर देने वाली दास्तां है जो साहसी फौजी सही मायने में देशवासियों का

जीवन तमाम विनाशक संकटों से महफूज रखते हैं, उन फौजियों के जीवन को लेकर हमारे भीतर सड़ी हुई उदासीनता एक बड़ा मुद्दा है। उनसे हम चट्टानी योद्धापन की तो उम्मीद करते हैं, किंतु अपने अंदर उनके प्रति कृतज्ञता का ?

तकरीबन एक दशक से कहानी के मैदान में खुद को सफलतापूर्वक टिकाए रहने वाले कहानीकार दिनेश कर्नाटक विषयों के खुले-छिपे सत्य को शिद्दत और जज्ब् के साथ जीने वाले कहानीकार हैं। उठाए गए विषयों के मर्म से लुका-छिपी का खेल न खेलना और भाषा की मनमानी पैंतरेबाजी न दिखाना उन्हें एक जिम्मेदार प्रहरी सिद्ध करता है। उमाशंकर चौधरी, अनुज और राकेश बिहारी बेलीक विश्लेषण के कहानीकार हैं। एक तो इनके विषयों का चुनाव ही अलग ढर्रे का होता है, जैसे उमाशंकर की कहानी - 'कट टू दिल्ली कहानी में प्रधानमंत्री का प्रवेश' और राकेश बिहारी की 'बिसात'। उमाशंकर चौधरी विषय की वास्तविकता को काटते-छांटते हैं और अपनी कल्पनाप्रवण सूझ-बूझ से बदल डालते हैं। उनकी कलम की जद में आकर स्थूल सत्य, अनकहे तथ्य में परिवर्तित हो जाता है। उनका सपाट, सीधा सा दिखता हुआ चित्रमय वर्णन हमारी आंखों से ओझल रहने वाले अंत:यथार्थ का एहसास कराता चलता है। राकेश बिहारी सत्य की चित्रात्मकता में नहीं, उसके प्रति मौलिक अनुभूति के प्रकाशन में विश्वास रखते हैं इसीलिए उनकी कहानियां पाठक के एहसासों में तरंग पैदा करतीं या भावनाओं को नएपन का झोंका देती सी दिखाई देती हैं। इन दोनों युवा विषय-विश्लेषकों से अलग अनुज की राह जाने-पहचाने यथार्थ की असरदार प्रस्तुति की ओर जाती है। उमाशंकर चौधरी की तरह विषयों में नए-नए मोड़ पैदा करना अनुज के कहानीकार का स्वभाव नहीं है। हमारे जीवन अनुभवों के आस-पास ठहरती अनुज की कहानियां 'सामयिक यथार्थ का पुनर्जागरण कही जा सकती हैं।

एक साथ इतने संभावनापूर्ण कहानीकारों की विकासधर्मी फसल के बावजूद कोई खालीपन कचोट रहा है, कोई महामर्म छूट रहा है, कुछ तो है जो बेशकीमती होने के बावजूद पकड़ में नहीं आ रहा। वह क्या है ? उद्दाम अंतर्दृष्टि ? क्रांतिकारी कल्पनाशीलता ? दिशा सर्जक संकल्प ? दार्शनिकता की जिद ? क्या है वह रहस्य ? नीचे की पंक्तियों में खोजिए, नीचे के लोगों को ऊपर उठाने की ऊंची चिंता, जो कि समय के प्रति, जवाबदेह युवा कहानीकार के लिए शर्त की तरह है - 'गांव-शहर-महानगर और बाजार-भूमंडलीकरण के बीच बहुत कुछ छूट रहा है, जो सांप्रदायिकता, जातिवाद, आतंक, छद्म राष्ट्रवाद के मुखौटे पहनकर सबके सामने चुनौती बनकर खड़ा है, जिससे सीधे-सीधे टकराने की जरूरत है, जो भाषाई चमत्कार, शिल्प और बारीक विवरणों में कहीं खो जाता है, जिसे तलाशना जरूरी है।' (हंस, सितंबर - 2009, पृ.सं. - 41)

अप्रत्याशित चुनौतियां : युवा कहानी का मोर्चा

साहित्य में सफलता, प्रसिद्धि, स्थापना और दिगंतव्यापी स्वीकृति का तब तक कोई अर्थ नहीं है, जब तक समय की चाल बदल देने वाली, जनमानस को स्थाई रूप से उद्वेलित करने वाली और भावनाओं को दीर्घकाल के लिए उच्च बना देने वाली रचना प्रकट नहीं हो जाती। बाजार का प्राणघाती मायाजाल गांव-गांव में, गली-गली में, नगर-नगर में नंगा नाच रहा है और हम कालजयी

लेखक बनने के सपने गढ़ रहे हैं। अपराध, भ्रष्टाचार, कत्ल, हिंसा और फ्राड का तंत्र दिन-ब-दिन चट्टानवत होता जा रहा है और हम साहित्य में अपनी स्थापना पाने के लिए बेतरह फिसलते-गिरते चले जा रहे हैं। युवा कहानीकारों में कहां है वह गुमनामी में ज्योति जलाने का विवेक ? कहां है जीवन के एक-एक पक्ष को आकंठ ललक से निहारने की दीवानगी ? कहां है मामूली से मामूली दृश्यों में भरी असाधारण विचारधारा खोज निकालने की प्रज्ज्वलित अंतर्दृष्टि ? अब का युवा कहानीकार विषय के प्रत्यक्ष सत्यों पर तैरता रहने वाला सुंदर सा तैराक है, भीतर उतर जाने वाला दुस्साहसी गोताखोर नहीं। कठोर, निर्मम, क्रूर और घातक यथार्थ के उद्घाटन का रिस्क उठाना युवा कहानीकार भूलता जा रहा है। अब वह कहानी किसी को जागरूक करने, उपेक्षित समाज को संबोधित करने अथवा उस विधा में नए क्षितिज का विस्तार करने के लिए नहीं लिखता, बल्कि आंखों को चट्ट से खींच लेने वाले रसदार विषयों का नजारा पेश करने, जोड़-घटाना, गुणा-भाग की वैशाखी पर अपने नाम का झंडा फहरा देने तथा देखते ही देखते सर्वत्र अपने समर्थन में डंका बजवा लेने के लिए कहानी लिखने का कष्ट उठाता है। यह हिंदी साहित्य के अहस्तक्षेकारी व्यक्तित्व का युग है। यदि अंधा, खौफनाक, विकृत और वहशी युग हम पर अनुचित दबाब बना सकता है तो हम उसकी शक्ति के दरखिलाफ उचित हस्तक्षेप क्यों नहीं कर सकते ? चिंता की जमीन बदलनी होगी, खिलाफत का अजेय मोर्चा खोलना होगा और सृजन के बहाने अपना नहीं, बल्कि अपने बहाने सृजन का सम्मान स्थापित करना होगा। साहित्य वह परमदृष्टि है जो मानव सत्ता तो क्या समग्र सृष्टि को अधिकारी निगाहों से देख सकती है, समाज, संस्कृति, प्रकृति, दृश्य, अदृश्य, यथार्थ, रहस्य, व्यक्त, अव्यक्त ऐसी कौन सी नाम-बेनाम सत्ता है जो साहित्य की परिधि में नहीं आ सकती ? कहानी, कथा का पर्याय नहीं है, वह वर्णन, चित्रण, विश्लेषण मात्र भी नहीं है। कहानी अर्थात मौलिक मर्म की खोज, आत्मा के उत्प्रेरक तत्वों का अन्वेषण, जीवन के समसामयिक मूल्यों की घोषणा, जनमानस की अंतरात्मा का उद्घोष, प्रकृति की मौन महानता का गान और दूरदर्शी चेतना रूपी अंगों का प्रत्यारोपण।

युवा कहानी के पास मंच हैं, दरबार हैं, पृष्ठभूमि है, आकाश, दिशा और खुले अवसर हैं, किंतु नदारत है तो जमीन, वह ठेठ खुरदुरी, सांवली काया-छाया वाली जमीन जिस पर वह चलता है, बचपन से मृत्यु तक खेलता है, जिसकी एक-एक सांस मिट्टी की ममता से लहलहाती फसलों और वृक्षों की ऋणी है। वह जमीन जिस पर पगडंडियां चलने वाले जनसमूह की बस्तियां खड़ी हैं, वह जमीन जिसके अनमोल व्यक्तित्व का आज कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। युवा कहानीकार को न सिर्फ अपने पांव जमीन पर टिकाने हैं, बल्कि अपनी दोनों आंखें, दोनों हाथ, हृदय, सीना और मस्तक भी उसे समर्पित करना है। जिसकी कलम से माटी की महक नहीं उठती, जमीन की पीड़ा नहीं सुनाई देती, धरती का असली रंग दमक नहीं उठता, वह कितना भी विलक्षण कथाकार क्यों न हो, साहित्य में उसकी लंबी आयु संदिग्ध है। सदी की अप्रत्याशित, अकल्पनीय चुनौतियां अटल मुद्रा में खड़ी हैं - मनुष्य के समक्ष। और यह मानव है कि इन पसरी, धंसी, छाई, घुसी और मन-बुद्धि पर आसीन चुनौतियों के सामने खड़े होने को कौन कहे, उनके समक्ष घुटने टेक चुका है, गर्दन

झुका चुका है। परिवार में विश्वास का संकट, व्यक्ति-व्यक्ति में चरम होशियारी की मनोवृत्ति, सामाजिकता का लोप, अपनी दुष्प्रवृत्तियों की गुलामी बजाने का फैशन आज की भयावह चुनौतियों में से एक है। कहना जरूरी है कि इन चुनौतियों पर सिर्फ लिखकर योग्य कहानीकार नहीं बना जा सकता, बल्कि इनकी ताकत को निर्णायक रूप से कमजोर करके ही सफल कहानीकार कहलाया जा सकता है।

* * *

कहानी

वो जो अव्यक्त है

ज्ञान प्रकाश विवेक

पतली सी सड़क है शांत और अकेली पहाड़ों के बीच पतली सी यह सड़क, अपनी जगह बनाती हुई- अपनी दुनिया को रचती हुई प्रतीत होती है। यह सड़क, दूर पहाड़ों से उतरती हुई, सेनीटोरियम तक, कुछ इस तरह चली आती है जैसे कि डाक्टर को ढूंढने आई हो। यह सड़क खुद किसी नर्स की तरह लगती है, एक ऐसी नर्स, जिसके पास औषधियों के बदले, यात्राओं की नि:शब्द कथाएं हैं।

शेखर इसी सड़क को देखता रहता है। शेखर पूरा नाम शेखर दत्त। शेखर दत्त इसी सड़क को देखता हुआ, खुद किसी अधूरे रास्ते की तरह लगता है।

अधूरे रास्ते और मुकम्मल दर्द! शेखर ने मन ही मन कहा है। जैसे तेजाब की कुछ बूंदें अपने ऊपर छिड़क दी हों उसने। एक तड़प-सी पैदा हुई है। कोई बर्क जैसी उसके नशेमन पर आ गिरी हो।

पहाड़ों में धंसा यह सेनीटोरियम। पुराने जमाने की इमारत। पीली दीवारें और उदास-खामोश मंजर।

पांच तारा अस्पतालों की दुनिया से दूर यह सेनीटोरियम-जहां पुराने जमाने की गंध किसी चरित्र की तरह मौजूद है और तपेदिक की बीमारी किसी क्लैसिक की तरह। और मरीज-जिंदगी की उदास किताब की व्यथित सी इबारतें।

शेखर दत्त। आबनूसी रंगत की कुर्सी पर बैठा, शीशे की खिड़की के बाहर आसमान, पहाड़, दरख्त, घास, गाड़ियां और उस सड़क को देखता रहता है जो अक्सर खाली, खामोश और वीरान रहती है। कभी कभार कोई पहाड़ी औरत, बच्चा, मर्द या नौजवान उतरता हुआ नजर आता है। तब, यह अकेली, वीरान सड़क नदी की तरह लगने लगती है और सड़क पर चलते लोग कश्ती का एहसास कराते हैं। कश्तियों को गर्व होता है कि वे लहरों पर चल रही हैं। लहरों को गर्व होता है कि उनमें रवानी है। और मछली? मछली को इस बात का गर्व कि वह जल की रानी है।

मछली अक्सर अपनी मासूमियत के कारण मारी जाती है। वह समझती है पानी में सिर्फ पानी है। सरल स्वभाव की मछलियां नहीं समझ पाती कि पानी में जाल भी होता है।

जाल में सिर्फ मछलियां ही नहीं फंसतीं सीधे-सरल लोग भी फंस जाते हैं। जैसे कि शेखर। तब फंसना और भी लाजमी हो जाता है जब जाल फैंकने वाले बहुत करीबी हों और जाल...जाल इतना अदृश्य कि वह होने के बावजूद दिखाई न देता हो।

शेखर खड़ा हो गया है। वह बैठता है खड़ा हो जाता है फिर बैठता है। फिर खिड़की के पास। बाहर की खुशगवार दुनिया। कितना नीला आसमान। पहाड़ों पर धूप निकले तो आसमान ज्यादा नीला, पहाड़ ज्यादा हरे, पानी ज्यादा मीठा, हवा ज्यादा अपनी। धूप ज्यादा चमकीली। किसी चमकती हुई याद जैसी।

पता नहीं कितने लोग खिड़की के पास खड़े होकर दिन गुजारते हों। पता नहीं। शेखर के रोजनामचे का एक हिस्सा है खिड़की के पास खड़े होना। दूर कहीं अनंत को देखना, जैसे अपनी गुम हुई पतंग को ढूंढ़ रहा हो या फिर अकेले खड़े किसी दरख्त से, उसके अकेलेपन की वजह पूछ रहा हो।

सिगरेट पीना मना है। लेकिन शेखर सिगरेट पीता है। सिगरेट पीना अस्पताल के मैनुअल में किसी गुनाह की तरह है। शेखर सिगरेट पीते वक्त उस धुएं को भी देखता रहता है जो खिड़की के रास्ते बाहर न जाकर, कमरे की छत की तरफ जाने लगता है। धुएं की आंखें होतीं तो वह यूं न भटकता लेकिन धुआं नाबीना है- जैसे शेखर की उम्मीदें।

उम्मीद भी किसी सूरज की तरह है। उगती है और शाम को निढाल होकर गिर पड़ती है। दिन का खाली कटोरा लुढ़क जाता है।

घर से कोई भी नहीं आता। लेकिन शेखर खिड़की के पास खड़े होकर उस सड़क को भी देख लेता है जहां से लारियां और कारें गुजरती हैं। न कारें रुकती हैं न कोई उतरता है। चिराग जल उठते.. हैं। उम्मीद बुझ जाती हैं।

नर्स आई है। कमरे का दरवाजा पूरी तरह बंद नहीं था। बेआवाज खुलता चला गया। शेखर इसी तरह दरवाजा बंद करता है।

सिगरेट पीना मना है लेकिन शेखर सिगरेट पी रहा है। बहुत सारे लेकिनों के बीच, जिंदगी भी एक लेकिन की तरह ही तो होती है या फिर किसी गुमशुदा संबोधन जैसी।

टेम्परेचर। नर्स की हल्की-सी आवाज उभरी है। शेखर ने पलटकर देखा है। और ठंडी-सी आवाज में उसने कहा है नाइंटी नाइन एंड हॉफ।

टेम्परेचर। नर्स ने शेखर की डोलची से थर्मामीटर उठाकर ट्रे में रखे सेवलान तरल से कपास को डुबोकर, थर्मामीटर को साफ कर, थर्मामीटर शेखर की तरफ बढ़ा दिया है।

ग्रेट मोमेंटस। नर्स ने मुस्कराते हुए, थोड़ा तंज के साथ कहा है ''एक हाथ में थर्मामीटर और पेशेंट के दूसरे हाथ में...।''

''आई एम सॉरी।'' सिगरेट को फर्श पर पटककर, चप्पल से मसलते हुए कहा है।

''सॉरी?... सॉरी किससे?... सिगरेट से?''

''आपसे।'' गंभीर सी आवाज। शेखर की। नर्स को देखते हुए। चेहरा ऐसा जैसे कोई रेत का

टीला उड़ता हुआ सा।

थर्मामीटर को जीभ के नीचे रखकर नर्स को थोड़ा-सा देखते हुए। फिर कहीं और। फिर, करीब एक मिनट बाद थर्मामीटर मुंह से निकालकर, नर्स को देखते हुए। सेम टेम्परेचर। नर्स ने कहा है। यानी वही जो कल था। जो परसों। जो रात को। और वह टेम्परेचर जो खुद शेखर ने बताया था अभी, बिना थर्मामीटर लगाए।

थोड़ी देर के लिए खामोशी जमी रही है। नर्स ने रजिस्टर में और पेशेंट की टेम्परेचर शीट में फीवर नोट किया है। अब वह डोलची का दराज खोलकर दवाइयों के स्ट्रिप तलाश कर रही है। थंबरौल, आरसी नेक्स, बी-सिक्स...। रेस्पीरेशन के लिए डेरीफाइलिन रिटार्ड।

शेखर बिस्तर पर बैठ गया है। पानी का गिलास एक हाथ में। दूसरे हाथ में.. गोलियां। हथेली पर गोलियां। नर्स की हथेली पर। नर्स ने अपनी हथेली से शेखर की हथेली पर गोलियों को लुढ़काते हुए, शेखर को देखा है। अपनी हथेली को छू जाने दिया है। फिर पानी का गिलास देते वक्त-एक हाथ ने दूसरे हाथ की उंगलियों को छू लिया है। सिरहन-सी हुई है शेखर को, एक नदी चली गई हो जैसे जिस्म के बीच-जिस्म के अनजाने रास्तों पर।

हुआ तो सिमरन को भी है कुछ। कुछ से थोड़ा ज्यादा। क्या हुआ है उसे, पता नहीं। लेकिन हुआ है जरूर एक मासूम-सी घटना। देह अगर वीणा है तो किसी ने उंगली रख दी है उस पर।

अमूमन नर्सों को ऐसी छुअन से कुछ नहीं होता। मर्दों के वार्ड में अक्सर हाथ छू जाते हैं। कई बार माथा, चेहरा, छाती-नर्सों के हाथ, अनायास कहां-कहां छू जाते हैं। सब रूटीन होता है। जैसे मरीज की नब्ज देखना। कलाई को पकड़ना। छोड़ देना। बस! लेकिन शेखर के हाथ पर गोलियां रखते हुए जो स्पर्श का अनुभव हुआ वह किसी मरीज के हाथ को छूकर, छोड़ देने जैसा नहीं।

सिमरन नाम है नर्स का। सातवीं बार आई है। नर्सों की ड्यूटी रोटेशन में होती है। बदलती रहती है। कोई फर्क नहीं पड़ता। नर्स उसी वार्ड में रहती है। जब कंप्लेंट होती है तो वार्ड बदल जाता है। कई बार कंप्लेंट नहीं होती। विजिलैंस सक्रिय रहता है। नर्स किसी के प्रति जरा-सी इमोशनल हुई कि वार्ड से बदली।

सिमरन इस सच से वाकिफ है। वाकिफ है लेकिन वह अपनी इस वाकफियत को पांव के नीचे मसल देना चाहती है।

सिमरन चली गई है और एक बुत की तरह खड़ा है शेखर। किसी शख्स की संवेदना भरपूर उपस्थिति, कितना विभ्रम पैदा करती है जब वह अनुपस्थिति में बदल जाए।

सिमरन जा चुकी है। लेकिन उसका होना अब भी है। उसका न होना, किसी होने जैसा। उसकी देहगंध जैसे अपनी हो कहीं, आसपास।

पहले-पहले जब वह आई थी- याद नहीं कितने दिन पहले। पहले दिन ही वह अपने होने का एहसास करा गई थी। सिर्फ अहसास? नहीं, अहसास नहीं... होने का उल्लास भी।

शेखर खिड़की के पास खड़ा था। दरवाजे की तरफ पीठ-हमेशा की तरह। बाहर के दृश्य को देखता हुआ- हमेशा की तरह। और सिगरेट पीता हुआ हमेशा की तरह।

दरवाजा थोड़ा-सा खुला था। और कोई नर्स होती तो दरवाजे को उंगली से खटखटाती। उंगली से या फिर पेंसिल, पेन-किसी भी चीज से। सिमरन ने दरवाजा नॉक नहीं किया था। और वह बहुत आहिस्ता से कमरे में प्रविष्ट हुई थी। शेखर से कुछ दूर खड़ी थी वह। ट्रे हाथ में थी। वहीं, खड़े-खड़े उसने कहा था। जेंटलमेन। फ्रेंडशिप विद विंडो... गुड आइडिया।

चौंक-सा गया था शेखर। पलटकर देखा। सिमरन खड़ी थी। नई नर्स। शानदार। सुंदर। मुस्कराती हुई।

''खिड़की मेरे लिए तहरीर की तरह है और किताब की तरह भी।''

''आप पढ़ते रहते हैं।''

''येस...ऑफकोर्स... किसी डॉयलाग की तरह।''

''फेंटेस्टिक।'' सिमरन ने कहा। थर्मामीटर कॉटन से साफ करते हुए, शेखर को देते हुए वह बोली।

कुछ पल या आधा मिनट खामोशी में गुजरे। थर्मामीटर निकालकर टेम्परेचर देखा। देखती रही। ''हंडरेड... वन फीवर। फीवर तो अब तक कंट्रोल हो जाना चाहिए था।''

''आप स्मोक करते हैं।''

''जी।'' सर हिलाकर कहा था शेखर ने।

''आप ऐश ट्रे के बदले सिगरेट को खिड़की में रख आए हैं।'' सिमरन ने कहा था। एक मखौल-सा छुपा था।

तत्काल सिगरेट उठाई। उसके जलते हुए सिरे को वहीं दबाया। धुआं निकला। फिर धुआं निकलना बंद हो गया।

''सिगरेट लाइफ की तरह होती है।'' सिमरन सिगरेट को देखते हुए बोली। फिर कहा ''चिता का आखरी धुआं, उसका आखिरी धुआं होता है।''

शेखर विचलित-सा नजर आया।

''मेरी मंशा आपको हर्ट करने की नहीं थी।''

''जी।''

''आप सिगरेट पीते रहें। कोई प्राब्लम नहीं।''

देखता रहा शेखर।

''प्राब्लम।'' शेखर बोला।

''हम चर्च में या मंदिर में जब प्रार्थना करने जाते हैं तो हमारे साथ सिर्फ प्रार्थनाएं होती हैं।''

''तो?''

''तो... हास्पीटल, पेशेंट के लिए प्रार्थनाघर की तरह होता है। सिगरेट अगर हम बाहर रखकर आएं तो हमारी प्रार्थनाएं सफल होती हैं।''

शेखर हैरानकुन नजरों से देखता रहा सिमरन को। आंखें नम हो गई थीं उसकी। उसका मन हुआ सिमरन के हाथ में अपना हाथ पकड़कर कहे-आज के बाद सिगरेट बंद। प्रामिस! लेकिन कह

नहीं पाया था वह कुछ भी। हाथ जरा-सा उसने आगे बढ़ाया था जरूर लेकिन हाथ वापिस लौट आया।

''आपका नाम?''

''शेखर।''

''पूरा नाम?''

''अधूरे लोगों के पूरे नाम नहीं हुआ करते नर्स।'' शेखर ने थोड़ा रुखेपन से कहा।

''कौन अधूरा?''

''मैं... मैं अधूरा... मैं।'' आवेश में आ गया शेखर।

''ओह। सिर्फ आप?'' सिमरन ने कहा। कुछ देर चुप रही। जैसे शेखर के किसी जवाब का इंतजार कर रही हो। फिर बोली ''सिर्फ आप नहीं। हम सब अधूरे हैं। संपूर्ण कोई भी नहीं। हमारा अधूरापन ही हमारी विशेषता होती है। मोर ओवर.. हम अपने अधूरेपन में कई सारी वजहें छुपाए रखते हैं।'' उसने कहा। स्टील की ट्रे उठाई, मुस्कराने की कोशिश की। मुड़ी। मुड़ते-मुड़ते रुकी। कहा, ''प्रतीक्षा भी एक खूबसूरत शब्द है।''

चौंक-सा गया शेखर।

सिमरन जा चुकी थी।

उस वार्ड का नाम डेथ वार्ड रख दिया था। शेखर वहां जा खड़ा हो जाता-चुपचाप! जहां कोई वार्ड ब्वाय भी जाने से कतराता था। किसी मरीज की मौत होती तो बड़ी फुर्ती के साथ, उस मरीज के बेड को उस डेथ वार्ड में शिफ्ट कर दिया जाता। दो बातें थीं। एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव। जो मरीजों को ज्यादा डरा देता। इसलिए मरीज की डेड बॉडी तुरंत शिफ्ट कर दी जाती। दूसरी बात.. संक्रमण की थी।

शेखर डेथ वार्ड के खाली फर्श पर बहुत देर तक खड़ा पता नहीं क्या सोचता रहता। वहां कुछ नहीं था। अजीब सी गंध थी। शायद मृत्यु गंध। जिंदगी की गंध को पहचान लिया जाता है। वह जहां होती है। उसके होने की गंध भी होती है।

ये शुरुआती दिन थे। शेखर तब वहां शायद इसलिए चला जाता था कि उसे लगता था कि वह मर जाएगा या फिर मर जाना उसे ज्यादा अच्छा लगता था और वह मौत की कल्पना करते हुए, मौत का चेहरा देखने चला आता था। वह जानता था मौत का चेहरा नहीं होता। लेकिन मौत का शून्य तो होता है। कितनी तल्ख हकीकत थी। मौत एक सिफर का नाम था और जिंदगी, प्लस-माइनस।

जिंदगी सचमुच प्लस-माइनस का सवाल थी। तभी तो शेखर के दोनों बड़े भाई (तीसरे भाई ने इस साजिश में शामिल होने से मना कर दिया था) शेखर को इस सेनीटोरियम में दाखिल करा गए थे। चार लाख की बड़ी रकम एडवांस में जमा करा दी थी। और एक मरीज (जो उस वक्त खून थूकता था। सांस लेने में दुश्वारी, चलना मुहाल।)

संगीता हाथ मिलाते हुए कतरा रही थी फिर भी उसने शेखर से हाथ मिलाया। मुस्कुराना उसे अच्छा नहीं लग रहा था फिर भी वह मुस्कराई। चाय पीना तो बिलकुल भी ठीक नहीं था। क्या

पता शेखर चाय पीते-पीते, बीच में चाय के कपों की अदला-बदली कर दे। संगीता ने रिस्क उठाया और आखिरी बार शेखर के साथ चाय भी पी। सब कुछ आखिरी बार।

अलग होते वक्त उसने कहा, शेखर, अपना ट्रीटमेंट कराओ... पूरा ट्रीटमेंट! मेरी बेस्ट विशेज। अर्ली रिकवरी के लिए। डोंटवरी। बिलकुल ठीक हो जाओगे शेखर।

इसके बाद संगीता शेखर से नहीं मिली थी। प्रेम और उसका अंत! यवनिका पात!

शेखर थोड़ा संभला। सेहत थोड़ी सुधरी। वह बैठने लायक, थोड़ा चलने लायक, थोड़ा खड़े होने लायक हो गया था। वह कमरे की खिड़की के सामने खड़ा रहता। वह दृश्यों को देखता। सड़क को देखता। इन क्षणों को देखते हुए वह प्रतीक्षा ही तो कर रहा होता था।

लेकिन किसकी प्रतीक्षा? भाइयों की? ... जो उसे सेनीटोरियम में छोड़कर चले गए थे। यह भी एक डील थी चार लाख सेनीटोरियम में डिपाजिट कराके... भाई को यहां रोक, गुड़गांव की एक प्रापर्टी सेल करनी थी- तीन करोड़ में। तीन भाई- तीन करोड़। चौथा भाई दिल्ली से चार सौ मील दूर एक सेनीटोरियम में। बड़े भाई की तरकीब कितनी शानदार थी। हमदर्दी के तलघर में चालाकी के रेंगते कीड़े।

लेकिन तीसरे भाई ने बगावत कर दी थी। इस नामुराद, नामाकूल और नाकर्दा समय में दयानतदारी अब भी जिंदा थी। भाई ने कहा कि सेल डील के तीन नहीं, चार हिस्से होंगे। बड़े भाई के सामने इस तरह की खरी-खरी और तुर्श बात कोई नहीं करता था। शेखर करता था तो वह खामियाजा भुगत रहा था। भाई प्रापर्टी पर चर्चा करते थे। वे भूल जाते थे कि एक भाई सेनीटोरियम में भी है जो खिड़की के पास खड़ा होकर, इन्हीं भाइयों की प्रतीक्षा कर रहा है जो अपना वक्त- पपलू, फ्लैश, ड्रिंक्स में गुजारते हैं। गोया जिंदगी भी एक कैसीनो हो।

दूसरी बार जब सिमरन आई थी तो सिमरन ने खुले हुए दरवाजे पर दस्तक दी थी। ताज्जुब। शेखर चौंक गया था। उसने दस्तक को पहचान लिया था। दस्तक को नहीं। दस्तक देने वाले की उंगलियों को। शेखर ने पलटकर देखा था। सिमरन खड़ी थी। उसे अच्छा लगा था।

सिमरन ने ट्रे को मेज पर रखा। बेडिंग की। फिर खिड़की के पर्दे को सरकाया। फिर डोंगी को साफ किया। थर्मामीटर को साफ किया। शेखर ने थर्मामीटर लगाया। वही निन्यानवे। नाइंटी नाइन।

थर्मामीटर की रीडिंग चार्ट में लिखते हुए उसने कहा, ''डोंट वरी! आप ठीक हो रहे हैं। यू नो? स्पूटम-ए एफबी स्पूटम कल्चर नार्मल आए हैं... आपका एच बी इंक्रीज हुआ है। आपने वेट भी गेन किया है।''

''थैंक्स!'' सिमरन का धन्यवाद किया शेखर ने। बाकी नर्सें और रेजीडेंट डॉक्टर इस तरह शेखर से बात नहीं करते थे। वे पेशेंट की केस फाइल में लिखते। और बस। सिमरन ने बताया था। जैसे कोई अपना, किसी अपने को बताता है।

''शेखर बाबू!'' सिमरन बोली। और चुप हो गई। बहुत अच्छा लगा शेखर को यह संबोधन। शेखर बाबू बिलकुल नया संबोधन था और इस संबोधन को सिमरन ने क्रिएट किया था।

''जी।'' उसने बड़े सहजभाव से कहा था। मन ही मन वह खुश हो रहा था कि वह मिस्टर

शेखर से शेखर बाबू हो गया था।

''सरजी। कोई न कोई खिड़की जरूर खुली रहनी चाहिए लेकिन अभी हवा ज्यादा सर्द है। आप दोपहर को खिड़की खोल सकते हैं।'' खिड़की के पल्ले बंद करते हुए सिमरन ने कहा। हल्की सी खट की आवाज उभरी।

इस बार सिमरन ने संबोधन बदल दिया था। उसने शेखर को सरजी कहा। लहजा नटखट था और दोस्ताना भी।

सिमरन दिन में एक बार आती। अन्य नर्सें कई-कई बार आतीं। कोई डाइट को पूछने तो कोई यूरिन का कलर पूछने। कोई नर्स बेड शीट चेंज करने आती तो कोई...।

लेकिन सिमरन का आना जैसे हयात का आना हो। जैसे सिमरन का आना बहार का आना हो। जैसे सिमरन का आना, अच्छे दिन की शुरुआत हो। जैसे उल्लास हो। शेखर सुबह से सिमरन की प्रतीक्षा करने लगता। सिमरन न आती तो वह बेचैन होने लगता। वह आती तो मन को चैन मिलता।

सिमरन कभी-कभी उसकी नब्ज देखती। एक मिनट दो मिनट तीन मिनट.. पांच मिनट। वह शेखर की कलई पकड़े रहती- कुछ इस अंदाज से कि चार उंगलियां नब्ज को थामे रहतीं बाकी हाथ शेखर की कलई को। इस बीच वह कई बार शेखर को देख लेती। और शेखर वह तो पहले से सिमरन को देख रहा होता।

सिमरन नब्ज छोड़ती तो शेखर के माथे पर अपनी हथेली रखती। कितना सुकून मिलता। माथे पर सिमरन का हाथ-दुआओं का हाथ प्रतीत होता। किसी प्रेमिका के हाथ जैसा हाथ। शेखर को लगता कि अब वह बहुत जल्दी ठीक हो जाएगा।

एक दिन सिमरन ने डांटते हुए कहा था, ''शेखर बाबू बिस्तर पर पड़े रहे तो यहीं दम तोड़ दोगे।... उठो। लोगों से मिलो। प्राइवेट वार्ड खाली है तो कोई बात नहीं। जनरल वार्ड में जाओ। मिलो। लोगों से इंटरेक्शन जरूरी है... अंडर स्टैंड।''

वह चली गई थी। शेखर सोच में डूब गया था। कितने सारे दोस्त थे उसके। कितने लोगों से मिलता था वह। दोस्त छिटकते गए। लोगों से मिलना कम होता गया। भाइयों ने इतना तनाव दिया कि वह कहीं का न रहा। वे रट लगाए रहते कि काम करो। शेखर उनकी फैक्ट्रियों में काम के लिए जाता तो उसे कार में बिठाकर वापस घर भेज दिया जाता। भरोसा किसी और ने नहीं, भाइयों ने तोड़ा । शेखर बाहर जाता तो आवारागर्दी के आरोप लगते। घर में रहता तो निठल्लेपन की तोहमत।

यहीं से... यहीं से शेखर में तब्दीली आने लगी। वह दो फाड़ हो गया। उसके मन के दो हिस्से हमेशा कशमकश में रहते। वह निरंतर लड़ाई लड़ता। अपने साथ। शानदार बातें करने वाला शेखर, चुप रहने लगा। इतना चुप जैसे कोई स्मारक। जैसे कोई ग्लेशियर।

सिमरन ने मिलने-जुलने की बात की थी। कितने अरसे बाद किसी ने उसकी व्याकुलता को समझा था। खुद को तोड़ना जरूरी था। चुप केवल चुप नहीं थी। वह एक रोग की तरह था।

शेखर पहली बार जनरल वार्ड से गुजरा था। दो तरफ लोहे के बिस्तर थे। बीच में खाली जगह किसी गली की तरह। बड़ा-सा हाल...हाल नंबर एक, दो...तीन। बेड पर लेटे मरीजों ने उसे

अजनबी नजरों से देखा। कईयों ने उसे देखा। देखने के बाद वे अपनी थकी हुई, उदास और वीरान दुनिया में लौट गए। इसके बावजूद वे हंस पड़े। दूसरे या तीसरे साथी से बोलने लगते। वे बीमारी से पस्त और गरीबी से त्रस्त थे। फिर भी उन्होंने अपने लिए और अपनी बकाया जिंदगी के लिए कोई न कोई बहाना ढूंढ लिया था- जिंदा रहने का बहाना...। थूकते-खांसते-हांफते फिर बेदम होकर बिस्तर पर लुढ़क जाते। अपने आसपास की नीम रोशनी का खैरमकदम करते ये लोग... जनरल वार्ड के ये मरीज... किसी आधा कप चाय, किसी एक ब्रेड स्लाइस पर फिदा हो जाते। कोई नर्स दो अच्छे बोल बोल जाती तो ये लोग निहाल हो जाते। कोई डाक्टर इनकी पीठ थपथपाता तो ये लोग उल्लास से भर जाते। मौत से लड़ने के लिए इनके पास थोड़े से, भोथरे हथियार बचे थे। यह क्या कम था कि हथियार बचे तो थे।

वार्ड नंबर तीन आखिर में था। शेखर वहां तक चला गया था। बेवजह! बेमकसद! वापस आते वक्त बड़ा अटपटा लग रहा था उसे। ऐसे घूम रहा है जैसे डाक्टर राउंड पर होते हैं।

अचानक एक बेड से आवाज आई, ''बरखुरदार, किसी तलाश में नजर आते हो?'' बेड पर बैठे एक बूढ़े ने शेखर को आवाज दी थी।

शेखर ठिठक गया। उसने बूढ़े की तरफ देखा, उसे कुछ न सूझा कि क्या कहे। बस इतना ही कह पाया ''जी मैं यूं ही... कुछ तलाश...।''

''कोई बात नहीं।'' बूढ़ा अपनी रौ में बोलता चला जा रहा था, ''तलाश भी अजीब शै का नाम है बरखुरदार! परिंदे को देखो। आसमान में होता है और आसमान की तलाश में भटकता है। हम सब जिंदगी में ही तो होते हैं और जिंदगी की तलाश करते रहते हैं।''

शेखर जनरल वार्ड की खाली जगह पर खड़ा था और औचक नजरों से बूढ़े को देख रहा था।

''ये जो स्टूल है बैठने के लिए है। आप आइए। तशरीफ रखिए।'' बूढ़े ने खास अंदाज में कहा।

शेखर पशोपेश में था, बैठे या न बैठे। बूढ़े ने फिर कहा, ''फुरसत किसी जश्न की तरह होती है। आइए थोड़ी देर के लिए फुरसत का जश्न हो जाए।''

बूढ़ा इस अंदाज में बोला कि शेखर खिंचता चला गया। स्टूल पर बैठ चुकने के बाद शेखर को समझ नहीं आ रहा था कि वह क्या बोले। वैसे हकीकत यह थी कि बूढ़ा बातूनी था। शेखर क्या बोले- यह संकट तो पैदा ही नहीं हुआ था। शेखर बैठा। बूढ़े ने राहत की सांस ली। फिर शेखर की तरफ देखते हुए बोला, ''शुक्रिया, तुमने मेरी बात मान ली।''

''कोई बात नहीं। यहां बैठना... माई प्लैजर।''

''बेशक मेरे लिए भी यह शानदार समय है। एक बात तो है। जब हम समय की बात करते हैं तो वह क्या है? उसी समय में, जो दिखाई नहीं देता... उसी में हम हैं। उसी में... गौर से देखो... उसी में ये जिंदगी... यह संसार, हमारा अपनापन... हमारी ख्वाहिशें... हमारे तजुर्बे... हमारा तसव्वुर... हमारा प्रेम और यादें.. इसी समय में।... मैं जब इस दुनिया से जाऊंगा तो सब कुछ छोड़ जाऊंगा... बट अपना समय साथ ले जाऊंगा।''

''फैंटेस्टिक, सर आप बहुत अच्छा बोलते हैं।'' शेखर ने कहा।

''ये संसार... पता है क्या है? ... क्लास रूम है। हम सब पीरियडों में बंटे हुए हैं। यह छोटा सा पीरिएड... आपका पीरिएड, मेरे नाम।''

''थैंक्यू सर! सो नाइस ऑफ यू सर।''

''लिसन बरखुरदार! बीमार होना कोई जुर्म नहीं लेकिन इलाज न कराना जुर्म हैं।'' बूढ़े ने वजनदार बात कही। शेखर ने सिर हिलाकर नाईस की।

बूढ़े को लगा बातें ज्यादा संजीदा होने लगी हैं। बात करते-करते वह रुका। बोला ''बरखुरदार! तुमने बहुत सारे बरतनों में चाय पी होगी... कुकर में चाय?... नहीं न! बेवकूफी का अपना मजा है जनाब। .... ठहाके दानिशमंद नहीं लगाते। बेवकूफ लगाते हैं। मैं जब अकेला था। शहर में पढ़ाई करता, नौकरी करता। और तजुर्बे करता। कुकर में चाय बनाता। पहली सीटी। वह चाय लाजवाब होती। दूध, पत्ती, पानी, चीनी और भाप... और एक शै। कुकर की सीटी भी तो चाय में होती। चाय पीते हुए... हर घूंट में मुझे सीटी की आवाज आती। दिल खुश हो जाता।''

बूढ़ा पुराने दिनों को याद करके हँस रहा था। उसकी छाती घरघरा रही थी। वह हँसने और हांफने की स्थिति में था। शेखर हैरान! बूढ़ा बोल रहा था। ''सागरे-जाम से गिरा जामे सिफाल अच्छा है।'' फिर उसका भाव समझाते हुए बोला, ''लोगों के शानदार जिस्म... शानदार सेहत। सब ठीक! .... मेरा मिट्टी का प्याला... मुझे अजीज है।'' अपने सीने पर हाथ रखते हुए बोला, ''बरखुदार! यह जिस्म मेरा मिट्टी के प्याले जैसा जिस्म के शिकस्ता हो तो अजीजतर। मैं जितना ज्यादा बीमार होता गया। मुझे अपने आप से उतना ही ज्यादा प्यार होने लगा।''

शेखर चुपचाप बूढ़े की बातें सुनता रहा। बूढ़ा बातूनी था। लेकिन बातें दिलचस्प करता था।

उसने बात का रुख बदलते हुए पूछा, ''साहबजादे! सेनीटोरियम में आने से पहले क्या करते थे?''

''कुछ भी नहीं करता था।'' शेखर ने कहा।

''कुछ भी नहीं?'' हैरान होकर फिर पूछा बूढ़े ने।

''जी... कुछ भी नहीं।''

''तो आप माता-पिता पर निर्भर थे।'' बूढ़ा बोला।

''माता-पिता पर नहीं... भाइयों पर।'' शेखर ने निरपेक्ष भाव से कहा।

''तो तुम्हारी बीमारी का राज मैंने जान लिया।'' बूढ़ा साफगोई पर उतर आया।

''जी?''

''निर्भरता बुरी शै होती है साहबजादे।'' बूढ़ा दृढ़ता से बोला।

शेखर चुप रहा।

''अपने पैरों पर खड़े होना... जिंदगी का जश्न होता है और जिंदगी का जलसा भी।''

''जी।'' शेखर बस इतना कह पाया।

''चींटी..जरा-सी चींटी। मकसद के साथ जीती है। अपने पैरों पर खड़े होने की तालीम उससे

सीखो, जो अपने जिस्म के वजह से अस्सी गुना ज्यादा वजन लेकर निकल पड़ती है।''

''जी।'' शेखर ने कहा।

''बरखुरदार! तीन-पांच, सात या बीस हजार की नौकरी कर रहे होते तो तुम्हारे अंदर का तुम्हारा आत्मविश्वास किसी भी बैक्टीरिया से लड़ाई लड़ता।... लेकिन जब हम दूसरों पर निर्भर होते हैं तो हताश भी होते हैं। और जनाब हताशा खुद एक बैक्टीरिया की तरह होती है।''

''आई अंडरस्टेंड सर!'' शेखर ने कहा।

बूढ़े ने शेखर को देखा। थोड़ा सरका। कंधा थपकाते हुए बोला, ''अपनी दुनिया आप पैदा कर अगर जिंदों में हैं।''

शेखर मुस्कराया।

''तो?'' बूढ़े ने पूछा।

''मैं जब यहां से जाऊंगा तो नौकरी की तलाश करूंगा... दो हजार, चार हजार, दस हजार कोई भी नौकरी।''

''मुझे उम्मीद है तुम्हें शानदार नौकरी मिलेगी।'' बूढ़े ने कहा। खुशगवार लहजे में कहा।

''वह कैसे सर?''

''वह ऐसे कि तुम खुद शानदार नौजवान हो।''

बूढ़ा मुस्कराया। शेखर हँस पड़ा। बूढ़े ने भी हँसने की कोशिश की। लेकिन उसकी खांसी छूट पड़ी। वह खांसता चला जा रहा था। शेखर उठा। डोलची पर रखे पानी के गिलास को उठाया। बूढ़े के मुंह से लगाया। कुछ घूंट पानी पी चुकने के बाद खांसी थमी। हांफना कम हुआ।

बूढ़ा शेखर को देखकर मुस्कराया। बोला, ''जिस हाल में जीना मुश्किल है... उस हाल में जीना लाजिम है।''

शेखर उठा तो बूढ़े ने अपना हाथ आगे बढ़ाया। कांपता हुआ हाथ-उमंग और दोस्ताना तपास से भरा हुआ।

शेखर बूढ़े से हाथ मिलाकर अपने कमरे में लौट आया। अनुभव अच्छा रहा। अनुभव अच्छा तो मन अच्छा। वह खुश था। बूढ़ा दिलचस्प था और जिंदादिल भी। हांफने-खांसने और निढाल हो जाने के बावजूद वह कह रहा था जिस हाल में जीना मुश्किल है... उस हाल में जीना लाजिम है।

शेखर ने मन ही मन सिमरन का आभार व्यक्त किया। उसने ही तो कहा था कि लोगों से मिलो। उसने वही किया। नतीजा। वह अपने कशमकश के संसार से निकला। कितने बड़े अनुभव से गुजरा। एक बूढ़े से मिला। जो उससे ज्यादा जवान लगता था।

आज वह बहुत देर से सिमरन का इंतजार कर रहा था। सिमरन कल भी नहीं आई थी। आज तो उसे जरूर आना चाहिए। वह अब तक नहीं आई थी। वह नहीं आई थी और शेखर बेचैन था। बार-बार दरवाजे की तरफ देखता। खिड़की की तरफ, मुंह करके खड़ा होने वाला शेखर, अब दरवाजे की तरफ टकटकी लगाए रहता। आज वह हर आहट पर चौंक जाता। उसने खुद से भी कई बार सवाल किया कि वह इतना व्याकुल क्यों है? इसका जवाब तो वह नहीं दे पाया, अलबत्ता,

व्याकुल वह कुछ ज्यादा ही हो गया।

अचानक दरवाजा पूरी तरह से खुला। डॉ. राय, तीन जूनियर डॉक्टर, एक और डॉक्टर उनके सहयोगी डॉ. बैजल, तीन नर्सें... तीन नर्सों में एक नर्स- सिमरन! सिमरन ने एक बार शेखर को देखा। पता नहीं किस भाव से। वह डॉक्टरों के पीछे खड़ी रही।

डॉ. राय अस्पताल के बड़े डॉक्टर थे। उनका रुतबा था। उनकी विशिष्टता थी। वे एमडी, डीटीसीडी, एनबी जैसी चिकित्सा डिग्रियां हासिल किए हुए चेस्ट विशेषज्ञ थे। एचओडी थे। उनके एक-एक शब्द को गौर से सुना जाता। लिखा जाता। उन्होंने शेखर के लेटेस्ट एक्सरे देखे। कहा, शेडो रिमूव हो गई है। एक छोटा-सा पैच है। उसका कंसर्न नहीं। टेंपरेचर चार्ट देखकर बोले... टेंपरेचर नाइंटी नाइन थोड़ी परेशानी पैदा करता है। फिर पता नहीं क्या सोचते हुए बोले, ''नर्स! जरा थर्मामीटर लगाओ।'' आसपास खड़ी नर्सें हरकत में आई। सिमरन बड़ी तत्परता से आगे आई। डोलची से थर्मामीटर निकाला। काटन से साफ किया। थोड़ा झटका। सिमरन ने थर्मामीटर कुछ ऐसे झटका कि थर्मामीटर हाथ से फिसला, फर्श पर गिरा, टूट गया।

सब स्तब्ध रह गए।

सिमरन सिहर उठी।

कुछ पल बाद कमरे की हर शै हरकत में आई। जब डॉक्टर सर थोड़ा सा हँसे। सिमरन के कंधों को थपथपाते हुए बोले, ''सिमरन क्या हो गया है तुम्हें।''

''सॉरी सर... रियली सॉरी! हाथ से स्लिप हो गया।'' सिमरन की आवाज में घबराहट थी।

''कोई बात नहीं।'' डाक्टर राय ने कहा।

इस बीच किसी जूनियर डॉक्टर ने अपने सफेद कोट की जेब में हाथ डाला। स्टेथोस्कोप का एक हिस्सा लटक रहा था। जेब के बिलकुल नीचे थर्मामीटर रखा था। जूनियर डॉक्टर ने थर्मामीटर निकालकर, सिमरन को देते हुए कहा, ''नर्स थर्मामीटर।''

''थैंक्यू डॉक्टर!'' सिमरन ने कहा। थर्मामीटर साफ किया। शेखर को देते हुए कहा ''टेंपरेचर।''

आधा मिनट तक सब चुप रहे। आधा मिनट बाद शेखर के मुंह से थर्मामीटर निकालकर, थर्मामीटर को देखकर सिमरन बोली, ''सर हंडरेड...।''

''हंडरेड।'' डॉक्टर राय ने दोहराया। फिर फाइल देखते कुछ खोजते रहे। बोले, ''देखते हैं।'' फिर बोले, ''हंडरेड...।'' टेंपरेचर फाइल देखी, रखी। शेखर के कंधे पर हाथ रखा। ''अभी कुछ दिन और रखेंगे आपको।'' फिर जूनियर डॉक्टर से बोले ''इनका ब्लड टेस्ट, टीएलसी देखते हैं।''

सब चले गए। सिमरन थर्मामीटर रखकर डॉक्टर राय के साथ चली गई थी।

कमरे में फिर वही शेखर। फिर वही सन्नाटा। फिर वही एकांत।

अचानक... पता नहीं क्या सोचते हुए या फिर यूं ही, बेवजह, शेखर ने थर्मामीटर उठाया। देखा- नाइंटी ऐट प्वाइंट फोर। ... नार्मल! बुखार नहीं था और सिमरन ने बताया था हंडरेड।

मन ही मन हँसा शेखर! सारी बात समझ आ गई थी। सिमरन टेंपरेचर नाइंटी एट प्वाइंट फोर

बताती तो डॉक्टर राय शेखर को डिस्चार्ज कर देते। वे बेवजह किसी को सेनीटोरियम में नहीं रहने देते थे।

डॉक्टर राय का राउंड खत्म हो गया था। सिमरन फिर आई थी। टीएलसी और ईएसआर के लिए ब्लड लेने- एट रेंडम।

उसने देखा शेखर टूटे हुए थर्मामीटर के टुकड़े एक छोटे-से लिफाफे में भर रहा था।

''ये क्या कर रहे हैं?'' सिमरन ने पूछा।

''कुछ काम हम नहीं करते। हमारा मन करता है और मन जो करता है हमारी समझ से परे की बात होती है।'' शेखर ने कहा।

हैरान होकर देखा सिमरन ने। फिर बोली, ''डॉक्टर राय ने कहा है कि अभी आप कुछ दिन और सेनीटोरियम में रहेंगे।''

''क्योंकि अभी टेंपरेचर हंडरेड है।'' शेखर ने कहा। फिर बड़ी अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा सिमरन को।

''बेशक। अभी आपका टेंपरेचर हंडरेड है।'' सिमरन बोली। वह संजीदा थी। उसने शेखर के हाथ पर अपना हाथ रखा था। कुछ झूठ ऐसे होते हैं जो सच से ज्यादा भव्य और सच से ज्यादा सच्चे होते हैं। शेखर ने कहा। सिमरन के हाथ को उसने अपनी उंगलियों में उलझा-सा दिया।

कुछ देर। कुछ देर यूं ही। न थर्मामीटर। न ब्लड। न इंजेक्शन। न कैप्सूल। ... दो हाथ। हाथों की उंगलियां। एक दूसरे में उलझीं। कुछ कहती-सी। न समझ आने वाली भाषा।

सिमरन ने अपना हाथ अलग किया। दोनों के हाथों में कंपन था। जैसे दो चिराग हवा की जद में हों।

''यू आर डीसेंट।'' शेखर ने कहा।

सिमरन मुस्कराई। बोली, ''और आप पेशेंट नहीं हैं।''

''तो क्या हूं?'' शेखर तत्काल बोला। उसकी आवाज में बेचैनी थी। जैसे बहुत ऊंचाई से शब्द लुढ़कते चले आए।

''पता नहीं।'' सिमरन ने कहा। उसके होंठ फड़फड़ाए। जैसे वह कुछ कहना चाहती हो। कहना चाहती हो कि कुछ बातें मन की होती हैं, जिन्हें हम नहीं समझ पाते।

वह शेखर का ब्लड लेकर चली गई। और कुछ छोड़ गई, पता नहीं क्या?

शेखर पुलकित था। खुश। सुखी। आनंदित। उल्लास- एक ऐसा उल्लास जिसकी वह व्याख्या नहीं कर सकता था।

सिमरन लाल पैंसिल भूल गई थी। और शेखर कभी पैंसिल को उठाता तो कभी टूटे हुए थर्मामीटर को। जिसका पारा फर्श पर कहीं लुढ़क गया था।

सिमरन अगले दिन नहीं आई थी। रोटेशन में उसकी ड्यूटी थी दो से दस लेकिन वह नहीं आई थी। दूसरे दिन भी नहीं। तीसरे दिन... चौथे दिन। चौथे दिन उसने कमरे के बाहर, दरवाजे के पास सिमरन को देखा। सिमरन थी या कोई और नर्स ? ... उसे लगा सिमरन है। वह बहुत जल्दी

बिस्तर से उतरा। चप्पल पहनकर बाहर निकला। दूर एक नर्स जाती नजर आई। वह सिमरन तो नहीं थी।

बेमन-सा वह खड़ा रहा कुछ देर। सोचता हुआ। कुछ न सोचता हुआ। भ्रमित। हताश। व्याकुल। शिथिल।

वापस मुड़ा फिर कमरे में जाने के लिए। लेकिन कमरे में जाना उसे अच्छा नहीं लगा रहा था। जनरल वार्ड की तरफ निकल आया। वार्ड नंबर एक का बड़ा-सा हॉल वह पार कर चुका था। जनरल वार्ड के हाल नंबर दो में वह धीरे-धीरे चल रहा था। ड्यूटी रूम। नर्सें, स्टाफ नर्स, वार्ड ब्वाय। मेडीसन ट्राली-वह सबसे आगे निकल चुका था।

वह बेड नंबर सत्ताईस के सामने रुका। बूढ़े का बेड नंबर सत्ताईस था। यही बेड। जिसके सामने वह खड़ा था। बेड खाली था। बूढ़े का यहां होना चाहिए था। लेकिन वह नहीं था। उसने साथ वाले मरीज से पूछा, ''क्या बूढ़े की छुट्टी हो गई?''

''हमेशा के लिए छुट्टी हो गई।'' साथ वाले मरीज ने जवाब दिया।

''क्या?'' शेखर ने चौंककर पूछा।

''वह मर गया साब। ऐसा जिंदादिल आदमी मौत को हराता रहा। फिर खुद हार गया।'' साथ वाले मरीज ने कहा।

शेखर उदास हो गया। वह खाली बिस्तर को देखता रहा। शेखर ने सोचा था किसी दिन फिर बूढ़े के पास आएगा। उसकी बातें सुनने। मजेदार बातें। दिलफरेब... दिलकश। बेतकल्लुफ बातें। उसके साथ बैठना किसी अनुभव की तरह होगा।

यह दूसरा अनुभव था। बूढ़े का खाली बिस्तर और शेखर। खालीपन की अपनी भूमिका होती है। जिंदगी की तमाम व्यस्तताओं के बावजूद, खालीपन सामने आ खड़ा होता है कभी रफीक तो कभी रकीब बनकर।

चौथे दिन के बाद पांचवां... छठा... सातवां दिन... फिर शनि.. इतवार... फिर सोमवार। आज फिर डॉक्टर राउंड पर थे। डॉ. राय और उनकी टीम। चार जूनियर डॉक्टर... एक सीनियर डॉक्टर। तीन नर्सें। लेकिन सिमरन नहीं थी। सिमरन। वह तो दस दिन से नहीं आई थी। सिमरन आती तो कितना अच्छा लगता उसे। चहक उठता मन ही मन। लेकिन अब बुझा-बुझा सा वह। डॉक्टरों से हैलो कहता।

डॉक्टर राय... इन दो महीनों में सातवीं या आठवीं बार आए थे। बाकी डॉक्टर आते रहते। मरीज की स्टेटस रिपोर्ट लिखते रहते। डॉक्टर राय ने पूछा-टीएलसी जवाब था, एट थाउजेंड फाइव हंडरेड। गुड। डॉ. राय ने कहा। फिर पूछा, इएसआर? थर्टी फाइव। फाइन। टी.वी. में इतना इएसआर... सोच सकते हैं। फिर उन्होंने ताजा एक्सरे देखा। पैच थोड़ा-सा, बहुत थोड़ा रह गया था चेस्ट में।

एक्सरे रखकर उन्होंने मुस्कुराते हुए शेखर से हाथ मिलाया, ''हम आपको डिस्चार्ज कर रहे हैं। बट मेडिसन पूरे नौ महीने तक... ओके।''

अचकचा गया शेखर। वह कहना चाहता था। अभी कुछ दिन और इसी सेनीटोरियम में...। अभी तो सिमरन को ढूंढना है। उससे मिलना है। अभी तो अनेक बातें। अभी तो जी भरकर देखना है उसे... अभी तो।

गहरी सांस ली शेखर ने। टूटे हुए थर्मामीटर को देखा। फिर दूसरे थर्मामीटर को जिसकी रीडिंग 98.4 की सिमरन ने हंडरेड बताई थी। वह होती तो उसे रोकने की कोई और तरकीब ढूंढती।

शेखर उठा। ड्यूटी रूम तक आया। नर्स ने उसे देखा। मुस्कराई बोली, ''सर आपकी डिस्चार्ज समरी बना रहे हैं।

''आप बता सकती हैं सिमरन कहां होगी?'' शेखर ने पूछा।

''सिमरन?'' उसने सवालिया नजर से शेखर को देखा। फिर बोली, ''नहीं मैं नहीं जानती।''

शेखर ने स्टाफ नर्स से पूछा तो स्टाफ नर्स ने उल्टा शेखर को ताड़ते हुए पूछा, ''सिमरन से किसलिए मिलना चाहते हैं आप?''

''मैं.. किसलिए मिलना चाहता हूं..।'' फिकरा अधूरा रह गया। उसने बताया नहीं या उससे बताया नहीं गया कि वह सिमरन से क्यों मिलना चाहता था–वह खुद भी नहीं जानता था। लेकिन वह इतना तो जानता था कि सिमरन के होने का कुछ अर्थ था, जो उसकी निजता से ताल्लुक रखता था।

कॉरीडोर में आकर वह खड़ा हो गया। उसने स्टाफ नर्स का सवाल मन ही मन दोहराया– सिमरन से मैं किसलिए मिलना चाहता हूं? इसलिए कि उसने मुझे जिंदा रहने के मकसद बताए। इसलिए कि वह खुद एक मकसद थी।

कॉरीडोर में वह बैंच पर बैठने लगा। बैठा नहीं गया। वह इतने इत्मीनान में नहीं था कि बैंच पर बैठे। वह बेचैनी की उन किरचों का क्या करता जो न बैठने देती थी। न सोचने।

जूनियर नर्स ने कॉरीडोर में खड़े शेखर को आकर बताया कि उसकी डिस्चार्ज समरी और बाकी पेपर तैयार हो गए हैं।

सेनीटोरियम से यह मुक्ति की सूचना थी। ऐसी सूचना पर मरीज खुश हो जाया करते थे। शेखर परेशान हो गया था। उसने अपने आपसे कहा– यह बात अगर सिमरन आकर कहती तो मन कितना भारी हो जाता। उसके होंठ थरथराते। लेकिन उसके सारे शब्द पत्थर के हो जाते। वह सिमरन के सामने खड़ा होता और एक भी लफ्ज न बोल पाता। सिमरन भी खड़ी होती–स्तब्ध और अवाक्।

एक आखिरी कोशिश–उसने अपने आपसे कहा। एक्सरे, लैब, डाक्टर्स रूम, वार्ड... सारे के सारे वार्ड, ओटी, आईसीयू यहां तक कि लांड्री तक देख आया, सिमरन कहीं नहीं थी।

टूटा हुआ–सा बहुत थमा हुआ–सा शेखर अपने रूम में लौट आया। कपड़े। अटैची... पीठ बैग। सब तैयार। अलमारी में रखे दोनों थर्मामीटर उसने बड़ी एहतियात से बैग में रखे। वही टूटा हुआ थर्मामीटर, जो सिमरन के हाथ से छिटक गया था। और दूसरा थर्मामीटर, जिस पर अब टेंपरेचर 98.4 डिग्री था और सिमरन ने 100 बताया था। कितना मासूम झूठ था। सच्चे मन से बोला गया झूठ कि शेखर कुछ दिन और रहे इसी सेनीटोरियम में। हंडरेड टेंपरेचर सिमरन की

सद्भावनाएं थीं। प्रेम ऐसी ही किसी अनजान और संकरी गली से होकर तो आता है।

बिल की अडजस्टमेंट। डिस्चार्ज समरी। मेडिसन का पैकेट और कुछ नर्सों की बेस्ट विशेज आखिरी मूमेंट्स।

शेखर अटैची केस और बैग उठाकर, धीरे-धीरे कॉरीडोर से सीढ़ियों की तरफ जा रहा है। दो महीने पहले वह जिस्म से टूटा फूटा था... आज मन से टूटा हुआ वह सीढ़ियां उतरकर पार्किंग के पास रुका है। सेनीटोरियम की पीली इमारत-उदासी, दु:ख, खामोशी और आवाजें। कुछ आवाजें उसके साथ हैं। इन आवाजों में सिमरन की आवाज भी हैं- यंग मैन। फ्रेंडशिप विद विंडो। गुड। खिड़कियों से फ्रेंडशिप वह करते हैं, आसमान से जिनकी दोस्ती होती है और जिनकी आसमान से दोस्ती होती है वह आसमान जैसे होते हैं... मुझे आसमान अच्छा लगता है शेखर क्योंकि वह आपके अंदर है।

बहुत कम बोलती थी सिमरन। लेकिन जब बोलती तो कितना गहरा... कितना शांत, कितना आत्मीय।

सेनीटोरियम के लकड़ी के फाटक के पास शेखर ठिठक गया है। आखिरी बार सेनीटोरियम की पीली इमारत को देख रहा है। दूसरी मंजिल पर एक नर्स खड़ी है। उसने हल्के से हाथ उठाया है। शेखर एकटक उसकी तरफ देख रहा है। उसने भी उठाया है-कुछ पल के लिए। क्या पता वह सिमरन हो? क्या पता वह सिमरन न हो? क्या पता?

बस इतनी देर का विदा गीत।

अब वह नर्स दिखाई नहीं दे रही। गहरी सांस ली है शेखर ने।

बस अड्डा पास ही है। पत्थर की बेंच पर सामान रखकर वह बस का इंतजार करने लगा है। इंतजार के दौरान वह सिगरेट जला लिया करता था। उसने जेब से सिगरेट-लाइटर निकाला है। सिगरेट उंगलियों के बीच धंसी है। सिमरन का बेतकल्लुफ फिकरा अचानक याद आ गया है उसे... सिगरेट पीते वक्त आप जरा भी अच्छे नहीं लगते मुझे... शेखर। ... शेखर। आपके साथ जिंदगी की प्रार्थनाएं हो तो हो... मरी हुई सिगरेट का लावारिस धुआं?

सिमरन उसे बहुत याद आई है। उसने सिगरेट के पैकेट को फेंक दिया है और लाइटर एक कुली को दे दिया है।

पहाड़ों से जब बस गुजरती है तो शोर यात्रियों का नहीं होता। शोर खामोश पहाड़ों का होता है। ये उनके विदा गीत होते हैं। चीड़, देवदार के दरख्त उनकी अजीब-सी, खुशनुमा गंध।.... पहाड़, खेत, झाड़ियां, पंगडंडियां... और ढलान। एक शोर शेखर के मन में है, अनुपस्थिति का शोर। सिमरन। उसने मन ही मन कहा है। गहरी सांस ली है।

***

कहानी

अनुत्तरित

गोविंद उपाध्याय

वह खामोशी से स्मिता को देख रहा था। वह सिक्स बाई सिक्स के डबल बेड पर गोल तकिए के सहारे बैठी थी। उसने नीले फूलों वाली सफेद रंग की मैक्सी पहन रखी थी। मैक्सी गंदी हो चुकी थी। उस पर जगह-जगह तेल के धब्बे दिखाई दे रहे थे। हो सकता है वह किसी और चीज के धब्बे हों। स्मिता धीरे-धीरे बोल रही थी.. ठहर-ठहर कर..। उसके चेहरे पर बढ़ती उम्र के निशान कुछ ज्यादा ही गहरे हो चले थे। उसका दूधिया चमकदार रंग अब फीका हो चुका था। झुर्रियों की आड़ी तिरछी रेखाओं ने उसके शरीर पर समय से पहले अपना निशान बनाना शुरू कर दिया था। जहां तक उसे याद है -स्मिता अभी पचास तक नहीं पहुंची थी। कमरे में उमस थी हालांकि पलंग के ठीक बगल में ही कूलर चल रहा था। अब उसे बातों का सिलसिला जारी रखना मुश्किल हो रहा था। धीरे-धीरे कमरे में सन्नाटा पसरने लगा। स्मिता इस समय अपना नाखून कुतर रही थी। वह कमरे की दीवार पर नजरें घुमाने लगा। गुलाबी रंग का डिस्टेंपर बहुत पुराना नहीं था। दाईं दीवार पर खिड़की के ठीक ऊपर एक बड़ा-सा पोस्टर लगा था, जिसमें दो घोड़े एक मैदान में घास चर रहे थे। उसके पास ही एक बड़ी-सी छिपकली चिपकी हुई थी। वह वहां से नजरें घुमाकर फिर से स्मिता की तरफ देखने लगा। नजरें मिलने पर वह मुस्कराई, पर वह चाहकर भी नहीं मुस्करा सका। फिर चलने के उपक्रम के साथ ही औपचारिकता के कुछ शब्द उछाल दिए-''तो अब चला जाए, काफी देर हो गई है। अपना ख्याल रखो। सब ठीक ही होगा।''

वह झटके से खड़ा हो गया। स्मिता भी उठना चाहती थी। उसने मना कर दिया-''अरे क्या कर रही हो आराम करो। मैं मिलता रहूंगा। मुझे नहीं मालूम था कि तुम्हारे साथ इतना बड़ा हादसा हो चुका है।''

स्मिता ने शरीर को पलंग पर ढीला छोड़ दिया। वह अब मकान के बाहर था। सड़क पर खड़ी मोटरसाइकिल की सीट पर किसी कौवे ने बीट कर दिया था। उसने रुमाल निकालकर उसे साफ किया। दो किक के बाद उसकी खटारा मोटरसाइकिल चिल्लाते हुए स्टार्ट हो गई। उसने गियर बदला और दो गलियों को पार करके मुख्य सड़क पर आ गया। उसने एक गहरी सांस ली। ढेर सारी हवा को फेफड़ों में भरा और फिर उसी रफ्तार से बाहर फेंक दिया -'ओह! स्मिता के कमरे में

कितनी दुर्गंध थी। उसे उलझन होने लगी थी। वह कुछ देर और बैठता तो अंदर का खाया-पिया सब बाहर आ जाता।'

कितनी जल्दी से सब बदल गया। नहीं, बदलाव बहुत धीरे-धीरे होता है। हम ही नहीं पहचान पाते उस बदलाव को ..। वह कितने समय बाद मिल रहा था स्मिता से..? वह मन ही मन गणना करने लगा। पूरे पांच वर्ष या शायद उससे भी ज्यादा समय हो चुका है।

स्मिता की मां आसाम की थी और पिता उत्तर प्रदेश के। वह सेना में थे और उनकी पोस्टिंग आसाम में थी। वहीं उन दोनों की मुलाकात हुई थी। स्मिता अपनी मां के समान दूध की तरह सफेद थी, पर नाक-नक्श पिता जैसे थे। वह सुंदरता की ऐसी कृति थी कि जो उसे देखता तो बस देखता रह जाता।

स्मिता से उसकी पहली मुलाकात एक ड्रामा प्रतियोगिता में हुई थी। वह जिस ग्रुप के साथ आई थी उसका मुखिया बहुत खुर्राट था। वह अधेड़ उम्र का एक बंगाली था। धोती कुर्ता पहनता था और दिन भर पान चबाता था। वह नाटक का निर्देशक था और स्मिता उस नाटक की नायिका। वह अभी भी स्मिता के काम से संतुष्ट नहीं था और चाहता था कि जो भी समय बचा है वह उसमें रिहर्सल करे। जबकि वह चाहती थी कि शिमला की वादियों में घूमे। दोनों में टकराव की स्थिति आ गई थी। स्मिता अशोक के पेड़ों के झुरमुट में पड़ी बेंच पर बैठी सिसक रही थी।

वह काफतान पहने थी। गाढ़े लाल रंग का मोटा ऊनी। वह बहुत ही खुशगवार शाम थी। उसने दो पेग पी लिए थे। हल्के नशे के खुमारी में वह लॉन में टहल रहा था। उसके हाथ में सिगरेट थी। जिसका कश लेना वह भूल गया था। दूधिया रोशनी में पूरा लॉन नहाया हुआ था। वह बोगेनबोलिया की झुरमुटों से होता हुआ स्मिता के बेंच तक जा पहुंचा था। उसने देखा था स्वर्ग से उतरी एक अप्सरा को। जो आंखों से मोतियों की बारिश कर रही थी। उसने अपने ओवरकोट से रुमाल निकालकर उसकी तरफ बढ़ा दिया था-''पता नहीं जीवन में कब ऐसा मोड़ आ जाए कि ये आंखें बगावत कर बैठें। तब ये आंसू अंदर के दर्द को पिघला कर बाहर निकालते हैं। अगर ऐसा कोई दर्द है तो मैं नहीं रोकूंगा। वरना इसे यूंही जाया न करो।''

उसने यह बात बड़े ही ड्रामेटिक अंदाज में कही थी। स्मिता ने उसका रुमाल पकड़ लिया। वह इजाजत लेकर उसके बगल में बैठ गया था। फिर स्मिता ने जो किस्सा बताया उसे सुनकर वह हँसे बिना न रह सका। स्मिता को नाटक में कोई खास रुचि नहीं थी। शिमला घूमने के लालच में ही इस प्ले में हिस्सा लिया था-''मैं तो शुरू से ही दादा को कह रही थी कि मुझे कोई छोटा-मोटा रोल दे दो। मैं हीरोइन का रोल नहीं कर पाऊंगी। पर दादा अपनी ही जिद्द पर अड़े रहे।'' स्मिता की आवाज में अभी भी भारीपन था।

वह खिलखिलाकर हँस दिया, ''बस इतनी सी बात ..। इसके लिए ही इतना हाय-तौबा मचा रही हो।''

उसे मेरी हँसी अच्छी नहीं लगी थी। ''प्लीज आप हँसिए नहीं। आप मेरी समस्या समझने की कोशिश करिए। वैसे भी आप भला क्या समझेंगे। सब नाटक-नौटंकी वाले एक जैसे होते हैं। पहले

यही दादा बोलते थे-तुमी खूब चालाक में। तूमी ऐटा कोरते पारबे। आमी तोमाके नायिका बनाबो। (तुम एक होशियार लड़की हो। तुम इसे कर सकती हो। मैं तुम्हें हीरोइन बनाऊंगा)। और अब बोलते हैं- तुमी बोका। कोथा थेके तुम्हीं आमार बिपद होए येले। (तुम मूर्ख हो मैं कहां से यह मुसीबत ले लिया)।''

वह फिर हँसने ही वाला था कि उसकी घूरती आंखों ने ब्रेक लगा दिया-''सुनो मुझे भी नाटक में कोई खास रुचि नहीं है। मैं अपने एक दोस्त के साथ यहां आ गया हूं। सिर्फ घूमने के लिए ..। कल उसका प्ले है। इसलिए वह अपने टीम के साथ व्यस्त है। मैं खाली था तो इधर।''

''अइसा क्याऽऽऽऽ?'' वह खिलखिलाकर हँस दी। उसने भी हँसने में उसका साथ दिया।

सबसे मजेदार बात यह थी कि वे दोनों एक ही शहर के थे। वह जिस कालेज में पढ़ाता था उससे बहुत दूर नहीं था उसका घर। उसके पिता सेना से रिटायर होने के बाद अब बैंक में नौकरी कर रहे थे। वह भी बैंक के जॉब की तैयारी कर रही थी।

दादा का नाटक पिट गया था। वह बहुत अपसेट था। उसने सारा दोष स्मिता के सिर मढ़ दिया था। उसके दोस्त को कई पुरस्कार मिले थे। हमने उसी अशोक के पेड़ के नीचे अपने शहर लौटने के बाद भी मिलने का वादा किया।

शहर लौटने के बाद उसके मित्र ने जीत को सेलिब्रेट करने का कार्यक्रम बनाया। स्मिता को उसने आमंत्रित किया था.. उसके घर जाकर। उसके परिवार से मिला। उसके मां-बाप और दोनों भाइयों से। उन्होंने भरपूर स्वागत किया और मिलने-जुलने का एक सिलसिला चल निकला। दोनों सप्ताहांत में कहीं भी मिलते। चिड़ियाघर में, पार्क में, या फिर किसी सिनेमाहॉल अथवा शहर में आए दिन आयोजित होने वाले मेलों में। स्मिता की सुंदरता ही नहीं, उसका बातचीत करने का अंदाज, उसका पहनावा, सब कुछ इतना अलग था कि जो भी उसे देखता तो बस देखता ही रह जाता। स्मिता भी इस बात को जानती थी -''औरत का सिक्थ सेंस बहुत मजबूत होता है। वह आदमी की आंखों से उसकी नीयत को पहचान लेती है।''

वह हँस दिया था। स्मिता तुनक गई थी -''तुम भी ना, कभी-कभी बेवकूफों की तरह हँसते हो। मैं तुमसे गंभीरता से बात कर रही हूं और तुम मेरा मजाक उड़ा रहे हो।''

उसकी हँसी मुस्कराहट में बदल गई। वह अक्टूबर की एक सुहानी शाम थी। जाड़ा नींद से जागने वाला था। वे शहर के बीचोबीच स्थित झील वाले पार्क में बैठे थे। झील के बिलकुल पास वाले बेंच पर। झील के नीले साफ पानी में बगुलों का एक जोड़ा खेल रहा था। स्मिता की निगाहें उन पक्षियों के खेल में उलझी हुई थीं। उसने उसके हाथ को छूना चाहा। उसने झटक दिया। स्मिता ने अपने हाथों को गोद में रख लिया था। वातावरण में थोड़ा-सा तनाव आ गया था। वह स्मिता को नाराज करना नहीं चाहता था। वह फिर हंसा। लेकिन उसे लगा कि उसकी हँसी बनावटी है। उसने बात को घुमाया -''अच्छा यह बताओ कि तुम्हें मेरी आंखों में क्या दिखाई देता है ?''

इस बार स्मिता घूमी। उसकी आंखें जल रही थीं -''तुम क्या दुनिया से अलग हो ? तुम्हारी आंखों में भी वही आदिम भूख है।''

वह अवाक् था। उसका मुंह खुला हुआ था। वह स्मिता से ऐसे शब्दों की अपेक्षा नहीं करता था। पर यह झूठ भी नहीं था। वह भी तो उसकी सुंदरता के कारण उस पर मोहित था लेकिन वह स्मिता की बात पचा नहीं पाया था। वह बेंच से उठ खड़ा हुआ। स्मिता के सामने खड़ा था –''सुनो यह सच है कि मैं तुम्हें पाना चाहता हूं। अपनी जीवनसंगिनी के रूप में मैंने जो भी कल्पना की थी तुम उस कल्पना से भी आगे हो। मैं तुम्हें प्यार करता हूं। बहुत ज्यादा ..शायद तुम वहां तक सोच भी न पाओ। मुझे नहीं मालूम कि तुम्हारे मन में मेरे लिए क्या है ? पर इतना जान लो जीवन के किसी भी मोड़ पर जब लगे कि तुम्हें मेरी जरूरत है। तुम्हारे एक इशारे पर सब कुछ छोड़कर तुम्हारे पास आ जाऊंगा।''

उसकी आवाज भर्रा गई थी और शायद आंखों में भी गीलापन उतर आया था। स्मिता ने उसका हाथ थाम लिया था –''बस करो मैंने तो बस यूंही कह दिया था। तुम्हारी इस बेवजह की हँसी के कारण ..।''

वह कई दिन तक नहीं मिले। उसका मन भारी-भारी सा बना रहा। कालेज में पढ़ाने में भी मन नहीं लगता। फिर एक दिन उसने मां से स्मिता के बारे में सब बता दिया। मां उसकी बातों को धैर्य से सुनती रही। वह स्मिता से मिलना चाहती थी। वह भी स्मिता को मां से मिलाना चाहता था। वह कालेज से छूटने के बाद उसके घर पहुंचा था। स्मिता मानो उसी का इंतजार कर रही थी ''चलो अच्छा हुआ तुम आ गए नहीं तो कल मैं तुम्हारे कालेज आने वाली थी। मुझे नौकरी मिल गई। मैं परसों जा रही हूं पापा के साथ। बहुत अच्छा शहर है। देहरादून। मुझे जमने दो, फिर हम मसूरी घूमने चलेंगे।''

स्मिता को बैंक में नौकरी मिल गई। पहली पोस्टिंग उसकी देहरादून में हुई थी। मेरे सामने ही वह इस शहर को छोड़कर चली गई, पर मैं मां की इच्छा उसे बता न सका। और जब बताया तब तक बहुत देर हो चुकी थी। स्मिता की शादी उसके पसंद से ही तय हुई थी। तनय नाम था उसका। तनय भी उसके पापा की तरह आर्मी में अधिकारी था। तनय के व्यक्तित्व के सामने वह कहीं भी नहीं ठहरता था। वह गोरा-चिट्टा छः फुट से ज्यादा लंबा आकर्षक नौजवान था। वह काफी हँसमुख था और बात-बात पर ठहाका लगाना उसकी आदत थी।

स्मिता तनय की हो गई। कुछ दिन उसको लगता रहा कि उसके सारे अंदरूनी अंग निकाल लिए गए हैं –गुर्दा, दिल, फेफड़े सब कुछ। वह हवा से भरा गुब्बारा बन गया है। पर ऐसा बहुत दिन तक नहीं चल सकता था। धीरे-धीरे स्मिता की स्मृतियों पर समय की धूल जमने लगी और वह 'और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा' के सच के साथ सामान्य हो गया।

मां ने उसकी शादी कर दी। नयना उसके जीवन में पत्नी बनकर आ गई। वह स्मिता नहीं थी, पर एक अच्छी जीवन-साथी थी। उसकी गृहस्थी की गाड़ी अपनी रफ्तार से चल रही थी कि अचानक एक दिन स्मिता टकरा गई।

शहर के नए खुले मॉल के मिनी सिनेमा हॉल में वह पिक्चर देखने गया था। नयना और उसकी दोनों बेटियां भी थीं। सिनेमा हॉल के बाहर बने रेस्टोरेंट में वे बैठे थे। तभी बगल वाली मेज पर बैठी

महिला को देखकर चौंक गया। वह लगातार उसे ही घूर रही थी। बाबकट बालों वाली दोहरे बदन की वह औरत स्मिता ही थी। बिलकुल बदल चुकी थी वह। स्मिता अपनी सीट से उठकर उसके पास चली आई–''क्यों पहचाना .. मुझे?''

वह अपनी सीट से उठ गया–''क्या बात करती हो। मैं भला तुम्हें कैसे भूल सकता हूं। तुम तो.....।''

उसने अपनी बात अधूरी छोड़ दी। इसके पहले कि भावुकता में कुछ और बोलता, उसे याद आ गया कि वह अपने परिवार के साथ है। उसकी दो जवान होती बेटियों की निगाहों में प्रश्नवाचक विस्मय उभर आया है। उसने स्वयं को संभाला और अपने परिवार को संबोधित करते हुए बोला–''ये स्मिता है।''

शायद स्मिता को भी लगा होगा कि उसे ऐसे मौके पर नहीं आना चाहिए था लेकिन उसने बात को संभाल लिया–''बच्चो मैं तुम्हारे पापा की बहुत पुरानी स्टूडेंट हूं ..।'' और अपनी बात पर खुद ही खिलखिलाकर हँस दी थी।

''पापा बीमार थे उन्हीं को देखने आई थी। अब ठीक हैं। दो–तीन दिन रुकूंगी और फिर चली जाऊंगी।''

वह एक झेंपी सी मुस्कराहट के साथ उसकी बात सुनता रहा और फिर वह जैसे आई थी, अपने साथियों के पास वापस चली गई। पर उसे तो आंदोलित कर ही दिया था। अचानक सोलह–सत्रह साल बाद उसका इस शहर में यूं प्रकट हो जाना। उसके दिल की धड़कन को एक बार फिर से बढ़ा गया था। दूसरे दिन वह स्मिता के पापा के घर गया था। वह एक उमस वाला दिन था, बरसात के पहले वाला..। वह नीले रंग का रेशमी गाउन पहने थी। वह अभी भी सुंदर थी। हां ! मोटापे के कारण उसकी आंखें अब बहुत छोटी लगने लगी थीं। छोटी–मोटी औपचारिकता के बाद उसने शहर घूमने का प्रस्ताव रखा। भला उसे क्या एतराज हो सकता था।

कैसी अजीब बात थी। स्मिता उसे उसी झील के किनारे ले आई। वह वर्षों से यहां नहीं आया था। झील में गंदा बरसाती पानी भरा हुआ था। जलकुंभियों से भरे झील से सड़ी हुई–सी गंध आ रही थी। वह उठना चाहता था, लेकिन पता नहीं स्मिता उस झील में क्या देख रही थी। अचानक उसने स्मिता की आंखों में गीलापन उतरते हुए देखा और उसके साथ ही वह पर्स से रुमाल निकालकर आंखों के कोरों को पोंछते हुए बोली–''अब ये आंखें बेवफा हो गई हैं। कहीं भी बगावत कर देती हैं।''

दोनों बहुत देर तक वहां बैठे रहे थे। स्मिता ने अपने जीवन के तमाम पन्ने खोल दिए थे –''तनय के साथ मैं दस साल रही। मैं उसे कोई संतान न दे सकी। तनय के पास पूर्वजों की बहुत बड़ी जायदाद थी। उसे उसका वारिस चाहिए था। मैं उसे इस तरह घुटते हुए नहीं देख सकती थी। मैंने उसे आजाद कर दिया। मैंने उसे तलाक दे दिया। शायद वह भी यही चाहता था ..या शायद नहीं, मैं कुछ भी नहीं कह सकती। उसने दूसरी शादी कर ली और उसे अब वारिस भी मिल गया। मेरे पास बैंक की नौकरी तो थी ही ..।''

स्मिता ने एक गहरी सांस ली और उठ गई। कुछ कदम बढ़ाए और थोड़ा सा लड़खड़ाई और जब तक वह हाथ बढ़ाता, संभल गई। वह मुस्कराई-''मुझे स्वयं को संभालने की आदत है शुक्रिया..।''

मैंने उसे अपना विजिटिंग कार्ड दिया था। उसने संभालकर उसे अपने पर्स में रख लिया। पांच साल बाद उसका फोन आया तो वह इस हालत में थी। उसे गर्भाशय का कैंसर था जिसे आपरेट करके निकाल दिया गया था। कैंसर की शुरुआत थी और अब वह खतरे से बाहर थी और अपनी लड़ाई लड़ते-लड़ते थक चुकी थी।

एक हफ्ते बाद उसका फिर फोन आया था-''क्या बात है..? तुम तो लगता है भूल ही गए।'' उसके जवाब में एक घंटे बाद ही वह उसके पास पहुंच गया था। मौसम में उतनी उमस नहीं थी। आज उसने एक साफ-सुथरी गुलाबी रंग की मैक्सी पहनी थी। उसने बाल भी करीने से काढ़ रखे थे। मुझे देख कर वह मुस्कराई। उसे अच्छा लगा। आज वह दयनीय नहीं लग रही थी। बातों का सिलसिला चला तो तमाम पुरानी यादें ताजा होने लगीं। कुछ खट्टी, कुछ मीठी..। अचानक वह हँसते हुए बोली -''याद है तुमने मुझसे एक बार कहा था कि किसी भी मोड़ पर जब लगे कि मुझे तुम्हारी जरूरत है। तुम मेरे एक इशारे पर सब कुछ छोड़कर मेरे पास आ जाओगे। तब तुम्हारी बात कितनी बचकानी लगी थी। आज सोचती हूं तो लगता है कि काश ऐसा हो सकता..।'' उसके चेहरे का रंग अचानक उड़ गया। उसे लगा कि छत धीरे-धीरे उसके सिर की तरफ खिसकने लगी है। उसने अपने चेहरे के भावों को छुपाने के लिए अपना मुंह दाई तरफ घुमा लिया। पोस्टर के घोड़े अभी-भी घास चर रहे थे। वह मोटी छिपकली भी थी। वह चरते घोड़े की पीठ पर चिपकी हुई थी। शायद उसे घूर रही थी। उसने अपना मुंह स्मिता की तरफ घुमा लिया। वह नाखून कुतर रही थी। वह स्मिता से कहना चाहता था -'जवानी के प्रवाह में कहे गए शब्दों की अब कोई अहमियत नहीं रह गई स्मिता। जिंदगी के रेत पर चलते-चलते मेरे पांवों में इतने छाले पड़ चुके हैं कि अब अपना ही बोझ संभालना मुश्किल हो रहा है।' पर वह कुछ नहीं बोल सका। उसे अपनी सांस घुटती हुई महसूस हुई ..। वह एक झटके से उठा -''अब मैं चलता हूं, बहुत देर हो गई। बच्चे इंतजार कर रहे होंगे।''

***

कहानी

एक रात जिंदगी

गीताश्री

वह धीरे धीरे खुल रही थी और मेरी आंखें धीरे धीरे मुंद रही थीं कि अचानक उसकी आवाज बिल्कुल पास से आती हुई सुनाई पड़ी। ''आई हैव आलसो ब्वायफ्रेंड...''

''हैं...।'' मेरी नींद झटके से गायब।

''यस..इसमें चौंकने की क्या बात है। आई एम नॉट सिंगल...क्या मेरा नहीं हो सकता...।'' उसने उलाहना दिया।

अब मैं क्या करती। उसने बात ही ऐसी कर दी थी कि मैं चौक पड़ी। मेरी नींद उड़ाने का सारा कसूर मैं उसे देने वाली थी कि उसे गंभीर देखा। मैं बेड पर अधलेटी सी थी, उठ बैठी। रात के तीन बज रहे थे। सारी रात इनके किस्से सुनते रहो, अंतहीन किस्से। मुझे इनसे मिलवाते हुए डिलाइला ने कहा था कि तुम्हें तोप के गोले से मिलवाना है। आज तक ऐसी दिलचस्प औरत नहीं देखी होगी। बस एक बार मिल ले, साथ छोड़ने का मन नहीं होगा। मेरी उत्सुकता जगी। चल मिल लेते हैं। जब जब पंजिम की शामें गर्म होती हैं, डिलाइला इसी तरह के कुछ किरदार ढूंढ लाती है, ताकि एसी में बैठकर कहानियां सुनें और सो जाएं। पता नहीं डिलाइला को नमूने मिल भी जाते हैं, कहां-कहां से। कभी-कभी तो मुझे लगता कि पूरा पंजिम रहस्यमयी औरतों से भरा पड़ा है। मुझ जैसी शुद्ध व्यावहारिक दुनिया में जीने वाली लड़कियां इस विचित्र लोक में विचरते हुए गड़बड़ा जाती हैं। फिर

मैं ऊबकर डिलाइला को हाथ जोड़ती..माफ कर दे बहन..इससे अच्छा तू दोना पाउला ले जाकर अच्छी-अच्छी फिश खिला दे..हकूना मटाटा रसियन रेस्टोरेंट में गाना सुनवा दे, फ्लोर पर थिरकवा दे..लेकिन ये किसिम-किसिम की पुरातात्विक महत्व की ऐतिहासिक औरतों से मिलवाना छोड़ दे। हर शहर में अकेली औरतों का एक झुंड होता है जो एक वृत्त बनाकर एक दूसरे के साथ जीती मरती हैं। उनके लोक में किसी के ब्यायफ्रेंड की घोषणा किसी धमाके से कम नहीं है। डिलाइला इस तरह की

खबर को ब्रेकिंग न्यूज कहती थी। आज अभी-अभी ब्रेकिंग न्यूज मिली कि इस वृत्त की एक स्त्री के पास कोई पुरुष मित्र भी है। ये खबर फैल जाएगी कल तक लेकिन फिलहाल मुझे इनकी पूरी कहानी सुनने के लिए रात खराब करनी होगी। डिलाइला को पता नहीं क्यों इतना मजा आता कि वह मुझे विचित्र किंतु सत्य की तरह इन सबसे मिलवाती चलती और मैं पक रही हूं, इस दिशा में इसने सोचना बंद कर दिया था।

मेरे सामने जो 55 साल की सांवली स्त्री बैठी है, इसको देखकर मुझे घोर अरुचि हुई। मैंने तय किया कि बेड पर पड़े-पड़े इनकी बातें सुनते हुए सो जाना बेहतर रहेगा। मुझे क्या पता था कि नींद से बाहर एक रहस्यलोक मेरा इंतजार कर रहा है और जो मेरी नींद उड़ा देगा।

डिलाइला भी चौंकी।

''रियली..।''

''इस उम्र में ?'' मेरे मुंह से निकला और उसने तत्काल मुझे घूरते हुए झाड़ दिया।

''व्हाट डू यू मीन माई डियर...इस उम्र से क्या मतलब...?''

''आई मीन...आपके बच्चे बड़े हो गए हैं, अभी आप उनके प्रेम किस्से सुना रही थीं...इसीलिए..'' मैं हकलाने लगी।

डिलाइला ने बात संभाली। ''अरे छोड़ो यार..ये नया क्या बवाल है..सुनाओ..।''

मेकअप की परतों में अपनी उम्र को छिपाकर रखने वाली ये स्त्री थोड़ी देर पहले अपने आईपैड में कुछ तस्वीरें दिखा रही थी। हसीन लड़के के साथ, हसीन लड़की थी। ये मेरा बेटा, ये उसकी गर्ल फ्रेंड...एक से एक फोटोज..दिखा-दिखाकर गदगद थी। कैसे बेटा इस लड़की से मिला, कैसे दोनों शादी से पहले साथ रहकर एक दूसरे को समझ रहे हैं...कैसे लड़की बिंदास है, बेटा मस्त है। ये मेरी बेटी है, ये उसका ब्वायफ्रेंड है, दोनों लिव-इन में हैं। शादी नहीं करेंगे, कहते हैं हम ऐसे ही अच्छे। मैंने गलती से पूछ लिया कि आपकी बेटी का ब्वायफ्रेंड है और आप उसे सबको दिखाती हैं..वाह..खुलकर बताती भी हैं लिव-इन के बारे में..।

उनका मूड अचानक बदला-''आई हैव आलसो...।''

माताजी तो दो कदम आगे निकलीं। मुझे पता नहीं क्यों, लगा कि वह अपने बारे में बताने का रास्ता तलाश रही थी इसलिए पहले बेटा बेटी से बात शुरू की और सीधा अपने ऊपर बात ले आई।

मेरे मुंह से आंटी निकलते निकलते रह गया। हमारे बीच आधी उम्र का फासला तो था ही। अच्छा हुआ, नहीं तो मैं बहुत बड़े रहस्योद्घाटन से वंचित रह जाती।

वे आईपैड में अपने ब्वायफ्रेंड का फोटो निकाल रही थीं हमें दिखाने के लिए। डिलाइला को ये बात पहली बार पता चली। चौंकने की बारी उसकी भी थी। मैंने चुप्पी का ताला जड़ लिया था। बाद में मुझे अहसास हुआ कि मेरा फैसला अच्छा और समयानुकूल था।

''ये हैं, मेरे साथ खड़े, हैंडसम गाई..मेरा ब्वाय फ्रेंड..''

डिलाइला ने झुककर फोटो देखा और जोर से चिंहुक पड़ी। मैंने उसके रिएक्शन पर ध्यान देते हुए फोटो देखा। खुले बालों वाली कमनीय स्त्री पैंट-शर्ट में थीं और साथ में गब्दू सा गंजे सिर वाला

बुजुर्ग सा आदमी। चेहरे मोहरे से संभ्रांत दिखने वाले। दोनों पास-पास खड़े थे लेकिन अंतरंग नहीं दिखे। ऐसा लगा जैसे दो पड़ोसी मुल्क, फोटोग्राफर को पोज देने के लिए साथ खड़े हों..। वह बोली-बहुत शर्मीले हैं, पब्लिक प्लेस में थोड़ा परहेज..उनकी अपनी फैमिली भी तो है। बच्चे, बहू, पत्नी, भरापूरा परिवार...।

मुझे तो कोई समस्या नहीं, बेटा और बेटी जानते हैं, दे सपोर्ट मी...ये देखो, डायमंड रिंग, मेरे ब्वायफ्रेंड ने दी है। मैं हमेशा पहने रहती हूं।

वह बोलते हुए दमक रही थी। उम्र का फासला कब का मिट चुका था। उनकी सूखी आंखें पनिया गई थीं। वह एक युवा स्त्री में बदल चुकी थी जो अपने प्रेम के किस्से सबको सुना-सुनाकर निहाल होना चाहती थी। लड़की जब भी प्रेम में होती है तो चुप नहीं रहना चाहती। वह चाहती है किसी को सबकुछ शेयर करे, बताए कि उसका प्रेमी उसे कितना चाहता है। तब उसे किसी बदनामी का भय नहीं होता। वह मादकता बौराए वाली स्थिति में पहुंच जाती है।

मैं पिछले पांच साल से इनके साथ रिलेशनशिप में हूं...हम बहुत प्यार करते हैं एक दूसरे से। मेरे दु:ख-सुख का भी खयाल रखते हैं। अक्सर घर आते हैं। जब भी फ्री होते हैं। मैं उनकी फैमिली के बारे में ज्यादा नहीं जानती। बस उनसे मिली और फौलिंग लव विद हिम...। ही इज वेरी रिचमैन। बहुत सपोर्ट है मुझे। इमोशनली एंड फाइनेंशियली, आई टोटली डिपेंड ऑन हिम। हम छुट्टियां बिताने बाहर भी जाते हैं....वह लगातार बता रही थीं। वह डिलाइला से ज्यादा मुझे सब कुछ बताने पर आमादा थीं। हमारी सारी बातचीत उनकी प्रेमकहानी के आसपास सिमट गई थी।

डिलाइला की आंखें फैली हुई थीं जैसे उसने कोई अनहोनी बात सुन ली हो। मैं उन्हें सुनना चाहती थी। बेड पर आराम से लेट गई। उन्होंने मेरी तरफ तकिया बढाया। उन्हें एक अच्छा श्रोता मिल गया था।

''मैं अपने हसबैंड के डेथ के बाद बेहद अकेली थी, सुधा..यू नो..बच्चे अपनी दुनिया में और मैं एक बड़ी हवेली में अकेली। कोई दोस्त भी नहीं..अकेली रेस्तरां में जाकर गाने गाती या चुपचाप बैठकर गाने सुनती। लोगों को देखती और आनंद लेती।''

''वे कहां मिले आपको ?''

मेरे सवाल से वे मुस्कुराईं। उनकी उंगलियां आईपैड के स्क्रीन पर लगातार थिरक रही थीं। शायद कुछ तलाश रही थीं।

''एक रेस्तरां में..जहां वे भी अक्सर अपने दोस्तों के साथ आते थे।''

''हम्म्म्म...क्या आपके रिश्तेदार नहीं हैं..यहां ..?''

''हैं भी, नहीं भी...कहने को हैं...मगर वे मुझे अपना नहीं मानते..मैं रिजेक्टेड माल हूं।''

''ऐसा क्यों...?''

''मैं उनकी ब्याहता नहीं थी। मैं उनकी सेक्रेटरी थी। मैं तब 19 साल की थी और वे 53 के। सोचो कितना अंतर रहा होगा उम्र का हमारे बीच। उन्होंने मुझे अपने पास रख लिया। जब मेरी मां ने आपत्ति की तो उनका मन रखने के लिए हमने शादी कर ली। हम कन्वर्ट हो गए थे। इस्लाम

कबूल कर लिया था। पहले मैं नताशा डायस थी, फिर मैं शाइस्ता ओबेराय बनी। मेरी मां कहा करती थी कि इस आदमी से शादी करने की उम्र तो मेरी है, तुम क्यों कर रही हो।''

डिलाइला पता नहीं कब उठकर पानी लाने चली गई थी। मैं उनकी कहानी में डूब रही थी। ये कहानी कहीं पहले भी सुनी थी। ये सारी बातें सुनी हुई सी क्यों लग रही हैं...मेरी स्मृतियों में कुछ सरगोशियां सी जमी हैं..वह उबलने लगीं। किसी की कहानी से मिलती-जुलती है, उनकी कहानी..शायद मेरे बहुत करीब के लोगों से..। शाइस्ता बोल रही थी, और मैं स्मृतियों की सघन यात्रा पर थी।

''जानती हो, शादी तो कर ली, पर वे हमारे साथ कभी नहीं रहे। जब वे मरे तो मुझे दूर से देखने की इजाजत भर दी गई। जायदाद में एक पाई भी नहीं मिली। दो छोटे बच्चो के सिवा कुछ छोड़ कर नहीं गए। जब तक रहे, मैं बहुत ऐश में रही...उसके बाद मैंने जो जिया, जो भोगा...वह अकल्पनीय है, किसी के लिए..।''

''कहां खो गई...''

''आं हां...नहीं कहीं नहीं...बस सोचने लगी थी...आपके बारे में..कितना सब आपने भोगा..जिया..कैसे इनका सामना किया होगा..''

डिलाइला थोड़ी गंभीर दिख रही थी और उसकी रुचि जैसे शाइस्ता की कहानी से खत्म सी हो गई थी। वह कसमसा सा रही थी। मानो वह अचानक शाइस्ता की मौजूदगी से उकता गई हो। शाइस्ता इस वक्त जिंदगी के पन्ने खोलने में व्यस्त थी। उसे किसी के रिएक्शन की परवाह नहीं थी। ना रात की फिक्र ना हमारी नींद की। उसकी आंखों में जैसे बीते कई दशक करवटें ले रहे थे।

वह 19 साल की युवा लड़की थी, जिंदगी से भरी हुई। जो अपने घरवालों की गरीबी दूर करने के लिए बीच में पढ़ाई छोड़ कर नौकरी की तलाश में ओबेराय हाउस पहुंच गई थी। मां की चिठ्ठी मिली, पढ़ाई-वढ़ाई छोड़ो, कमाने की सोचो। घर चलाना मुश्किल हो रहा है...छोटी सी जान, अचानक कॅलेज की पढ़ाई अधूरी छोड़कर निकल पड़ी रोजगार की तलाश में। उसके युवा स्वप्नों के मोहभंग का दौर शुरू हो चुका था। वह ठीक से जवान नहीं हुई थी, उसका इंतजार किसी और को था। सीने में अरमान दबाए, आंखों में उम्मीद लिए जब वह ओबेराय मेंशन पहुंची तो पहली बार जिंदगी की सच्चाई टकराई। वहां रिसेप्शन पर बैठे एक खड़ूस टाइप आदमी ने रोक दिया।

''कहां जा रही हो, इंटरव्यू का टाइम खत्म है।''

''सॉरी..मैं देर हो गई। बस देर से मिली। प्लीज..एक बार मिलवा दें...प्लीज..'' वह गिड़गिड़ा रही थी।

वह डांटने की मुद्रा में उसे टाल रहा था। पाश्चात्य परिधान वाली ये सांवली लड़की उसे अपने बॉस की सेक्रेटरी के लायक नहीं दिख रही थी। उसने सोचा होगा कि उसे तो नौकरी मिलेगी नहीं, टाल ही दो तो बेहतर।

नताशा कहां हार मानने वाली...प्लीज..पांच मिनट के लिए..क्या पता मुझे काम मिल जाए। नताशा वहां से बिना इंटरव्यू दिए जाने को तैयार नहीं थी। वह लगभग धरना देने के मूड में थी। उस

आदमी का बस चलता तो नताशा को धक्के मारकर बाहर कर देता। दोनों की नोंकझोंक के बीच रिसेप्शन पर फोन बजा और चमत्कार हो गया। उस खड़ूस आदमी की मुद्रा अचानक दयालु जैसी हो गई।

''जाइए मैडम जाइए...सर ने अंदर से आपको देख लिया है..जाइए..बुलाया है।'' नताशा को लगा वह आदमी दांत पीस रहा है। जब वह लौटी तो उसका जीवन बदल चुका था। वह आदमी रिसेप्शन से गायब था। शायद उसे पता लग गया था और वह नताशा का सामना नहीं करना चाहता था।

वाऊ....घबरा गया होगा स्साला...मैं हंसी जोर से। रोमांच हो रहा था। बेहद दिलचस्प और फिल्मी सिचुएशन थी। एक पल में जिंदगी बदल गई एक लड़की की।

''फिर क्या हुआ नताशा...।''

''अब मैं शाइस्ता हूं..'' वह मुस्कुराई।

''यस यस..आई नो..शाइस्ता जी..।''

''नो जी वी..कौल मी शाइस्ता..इतना जी वी ना बुलाओ..बड़ा भारी भरकम होने का बोध होता है यार..।''

''ओके.. फाइन.. शाइस्ता...।''

उस जिद्दी सी स्त्री ने मनवा लिया। डिलाइला ऊंघने लगी थी। उसका झबरू कुत्ता रह-रह कर कूं कूं कर रहा था। उसे अपनी उपेक्षा का अहसास हो रहा था। झबरू ने जोर से माथा झटका तो डिलाइला चैतन्य हुई।

''चल यार...बाकी बातें कल कर लेंगे..सुबह होने को है..कल का दिन खराब हो जाएगा। हमें कल पंजिम की खाक छनानी है। मैंने छुट्टी ले ली है..नहीं तो कल दिन भर सोते रह जाएंगे..।''

डिलाइला को बीच में ही रोका शाइस्ता ने..।

''नहीं, अभी बात पूरी हुई कहां..कल किसने देखा है डार्लिंग..हां अगर चैताली सोना चाहे तो कोई बात नहीं..।''

''अरे नहीं..डोंट वरी डिलाइला..कल मैनेज कर लेंगे..इतनी दिलचस्प रात से मैं क्यों वंचित रहूं...अभी अभी तो परी कथा शुरू हुई है।''

डिलाइला ने लेटे-लेटे हाथ बढाकर झबरू को सहलाया और मुझ पर रहम वाली नजर फिराई। उसे मेरी दिलचस्पी शायद फालतू की लग रही थी। या कहां फंस गई टाइप कुछ कुछ..। उन आंखों में भी कुछ था..बाहर आना चाहता था। शायद वह भी कुछ कहना चाहती हो..कभी कभी हमारी आंखें, जिंदगी का इनबॉक्स बन जाती हैं, जिसमें से कई-कई ईमेल झांकते रहते हैं जो अनरीड, अनपढ़े रहते है। जिन्हें पढ़ने का कई बार टाइम नहीं मिलता हमें..। शाइस्ता भी वैसा ही एक ईमेल थी, पढ़े जाने को लेकर बेचैन। वह पूरी दुनिया को पढ़वाने के लिए बेचैन है। क्यों सुनाना चाहती है सब कुछ। मेरे भीतर कई सवाल उठ रहे थे।

शाइस्ता ने अपने लंबे बालों को धीरे से समेटा।

''जानती हो चैताली..उसने मुझे बहुत चाहा। मेरी खातिर मुसलमान बना। मेरे परिवार को संभाला। मुझे दो प्यारे प्यारे बच्चे दिए..बस पारिवारिक जिंदगी में शामिल नहीं किया। मैंने राज किया है राज...रानी सरीखी थी मैं..खूब पैंपर किया जाता था मुझे। मेरी खातिर वह मुंबई का साम्राज्य छोड़कर गोवा में शिफ्ट हो गया..पर वह सब छलावा था। खैर..ये बाद में कभी। मैं गाने की शौकीन थी, पेंटिंग करती थी...हम साथ रहने लगे, और मैंने गाना और पेंटिंग दोनों शुरू किया। दुनियाभर में मेरे सोलो शोज हुए..बाद में मैं आर्ट कलेक्टर बन गई। आज मेरे पास देश के तमाम नामी कलाकारों की पेंटिग्स हैं। आई हैव गुड एन रेअर कलेक्शंस..।''

''अपने प्यार के किस्से तो सुनाइए...किसने किसको प्रपोज किया..?''

''अरे उसने...और किसने...?''

''अच्छा...!!!''

''और क्या..मैं अपनी सीट पर बैठी हमेशा गुनगुनाती रहती थी..कागजों पर कुछ भी पेंट कर दिया करती थी...वह सब उन्होंने देख लिया था। मेरे लंबे बाल तब भी थे चैताली..खुला रखती थी..उन्हें बहुत पसंद थे। एक बार बांध कर आ गई तो टोक दिया। मुझमें बचपना था और उनमें गजब का धैर्य और सूझ..पता नहीं किसने किसको संपन्न किया...लेकिन मुझे नहीं पता कि कब उनके जीवन में दाखिल हुई। यू नो...वी लव इच अदर मैडली..बहुत सारे रंग है इसमें..मेरी पेंटिग्स जितने..मेरे जीवन का कैनवस बहुत बड़ा है।''

''हां..लग रहा है...इसे देखने के लिए एक रात काफी नहीं है..।''

''अभी तुम कब तक हो गोवा में ?''

''दो दिन और..लेकिन हर शाम कहीं न कहीं बुक है..।''

''चैताली..तुम दिल्ली में रहती हो..सुना है, प्रभावशाली भी हो, कॉलेज में पढाती हो..तुम्हारी तो जान-पहचान बहुत होगी ना, बड़े बड़े प्रकाशकों से ? मेरी डील करा दो..मैं अपनी कहानी बेचना चाहती हूं।''

''मैं बात करके देखूंगी...पता नहीं प्रकाशकों की दिलचस्पी होगी या नहीं..।''

''होगी क्यों नहीं..जिस घराने ने एक जमाने में सरकार की नीतियां तक प्रभावित की, उन्हें अपने हक में बदलवाया, जहां षड्यंत्रों की अनगिन दास्तानें हैं..जब खुलेंगी तब दुनिया चौंकेगी। मैंने तो तुम्हें कुछ भी नहीं बताया..ये तो सिर्फ हाइलाइट्स हैं...मैं तो सबूत भी दूंगी।''

''किस बात के...?''

''ये तुम्हें नहीं..जो लिखेगा, जो खरीदेगा उसे बताऊंगी..मैं अपनी यातना के कुछ साल यूं ही गुमशुदा नहीं रहने दूंगी चैताली..मैं जवान तो हुई ही नहीं कभी..गरीब होना कितना बड़ा पाप है..मेरे परिवार को पैसों की जरूरत थी, उसे एक जवान देह की, जिसे वह अपनी मगरूर बीबी के सामने पेश कर सके..उसके सामने उस देह को भोग सके...ज्यादा ना पूछो..बस..सब उगलना है मुझे...।''

शाइस्ता के होंठ थरथरा रहे थे। वह कांप रही थी हौले-हौले, हवा के हल्के झोंके से कांपते पत्तों की तरह..। उसने अपने खुले बाल बांध लिए थे।

''आपके बच्चों को ये अच्छा लगेगा क्या...आपका इस तरह दुनिया के सामने..?'' मैंने आर्द्र स्वर में पूछा।

''अब मुझे किसी की परवाह नहीं...बच्चे कबके मेरी दुनिया से बाहर जा चुके..उन्होंने ओबेराय होने से इनकार कर दिया है..लेकिन मैं हूं.. ओबेराय..शाइस्ता ओबेराय...।''

उसकी आंखें हिंस्र हो रही थीं। गालों पर लुढ़के आंसुओं को पोंछा..''आएम सॉरी..मैं रोना नहीं चाहती..उम्र भर रोई हूं...अब मैं अकेली, अपने पास हूं..अब मेरे होने का वक्त है, रोने का नहीं..रोएंगे अब वे लोग..सड़क पर ला दूंगी उन्हें...कैदी नहीं हूं मैं अब किसी की..मैं आजाद हूं..आजाद..।''

''आपने पहले मुक्ति के बारे में क्यों नहीं सोचा...मैं होती तो कब की निकल जाती..।''

उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए मैंने हौले से कहा।

''उनके जीते जी संभव नहीं था..वह कभी नहीं छोड़ते मुझे..और ना मैं..मुझ पर पूरे परिवार का दायित्व था..एक एक कर मां समेत दोनों भाइयों को सेटल करने का..किया..और मेरी मां...कैसे बताऊं..वे उनके साथ थीं..। और मैंने मौत के लिए प्रार्थनाएं शुरू कीं...सफल रही..पहली आजादी मां की मौत ने दी, दूसरी उनकी...आखिरी आजादी मेरे बच्चों ने..आह...अब मैं आजाद हूं..।''

वह सुबक रही थी, रात के आखिरी पहर में..शायद सुबह होने को है। मैंने रोने दिया। चुप कराने की कोशिश नहीं की। उम्र भर की तकलीफ आंसुओं में धुलती कहां है फिर भी रो लेना, पीड़ा से बाहर निकलने का तात्कालिक समाधान तो है ही।

''आप खुद क्यों नहीं लिखतीं..अपनी आत्मकथा...।'' उसे शांत देखकर मैंने पूछा।

''नहीं..मुझे लिखना नहीं आता..मैं बस कहानी बेच सकती हूं..प्रकाशक लिखवा लें किसी से और मुझे पैसे दे दे..कितने में बिक जाएगा ?''

डिलाइला की नींद उड़ चुकी थी। झबरू चुपचाप सो चुका था। मैं निरुत्तर थी, पौ फट चुकी थी। हल्का उजाला बाहर फैला था। खिड़की के परदे से छनछन कर हल्का उजाला रूम में आ रहा था, जैसे पुरानी स्मृतियां जबरन घुसी चली आती हैं कई यादों की परतों को उधेड़ते हुए।

''ओबेराय ग्रुप के स्कूल में कुछ टाइम मैं पढ़ा चुकी थी। उस ग्रुप को तबाह होते देखा था। स्कूल प्रबंधन को दूसरे बड़े ग्रुप ने खरीद लिया था। सुना था, ओबेराय परिवार में जलजला आ गया है..कहीं से अचानक बड़े भाई का एक और परिवार निकल आया है जिसने जायदाद पर दावेदारी जता दी है...।''

''शाइस्ता...लिसन..ये जो तुम्हारे नए प्रेमी हैं...यू नो, हू इज ही...तुम ठीक से उनके फैमिली बैकग्राउंड के बारे में जानती हो ?'' डिलाइला ने बेचैनी से पूछा।

''नॉट मच...मुझे जानना भी नहीं है। मेरे लिए इतना काफी है कि ही इज जेनुइनली लव मी, सपोर्ट मी। हां, मुझे वक्त कम देता है...बट ही इज वेरी वेरी केयरिंग..।''

''ओह...ओके..बी केयरफुल..फिर उसी तकलीफ में ना पड़ जाना, जहां से मुक्ति पाई है।''

शाइस्ता उठी, बिना कोई जवाब दिए, हम दोनों के गले लगी और शाम को मिलने का वादा

लेकर लौट गई।

मुझ पर शाइस्ता की पीड़ा का गहरा असर था। मैं उनींदी सी बेड पर लुढक गई। एक स्त्री को एक रिश्ते से आजाद होने में इतना वक्त क्यों लगा..कितने सवाल और कितने जवाब...कमरे के वायुमंडल में तैर रहे हैं...कितने फैक्टर काम करते हैं एक स्त्री की आजादी में। कितने लोग मिलकर तय करते हैं उसकी कैद। क्या मौत ही आजादी का एकमात्र रास्ता होती है..ये तो क्रूर एप्रोच है, हम क्यों नहीं, साहस जुटाते..।

मैं कंपकंपा गई। अनगिन स्त्रियों के चेहरे तैरने लगे। कई आवाजें आने लगीं..नहीं यार, कैसे छोड़ दूं इस आदमी को, बाहर में सौ कमीने को झेलने से अच्छा है, घर में एक को झेलना..अरे यार..अब वह वैसा ही है..क्या करे, कहां जाएं..सारे रास्ते तो बंद हैं, अब उम्र भी नहीं रही..उसे तो किसी भी उम्र में लड़कियां मिल जाएंगी, हमारा क्या होगा..बच्चों को लेकर कहां जाऊं..बच्चों को उनकी जरूरत है..मैं नौकरी भी तो नहीं करती..ये जीवन तो गया..जाने दो..काट लेंगे जीवन..मैं उसके दायरे में रहकर तलाश रही हूं अपना लक्ष्य..मेरा नियंत्रण उनके हाथ में..पूछना पड़ेगा जी..नहीं तो घर में तांडव हो जाएगा..

आवाजों का कोलाज, उनका कोलाहल बढ़ता जा रहा था..मैं उठकर बैठ गई। घर के दरवाजे सलाखों में तब्दील हो गए थे।

डिलाइला कुछ कह रही थी–

''यू नो चैताली, शाइस्ता किसके चक्कर में है। वहां भी धोखा खाएगी, मरेगी, ही इज माई फादर इन लॉ..वे लोग बास्को में रहते हैं। मैं अपनी सास को बहुत प्यार और सम्मान करती हूं..वह अक्सर बीमार रहती हैं.चल फिर नहीं सकतीं। अब समझी वे बीमार क्यों रहती हैं..ओह...। मेरे पति से तलाक के बावजूद मैं उनके पास आती जाती रहती हूं...बिकॉज शी अंडरस्टैंड माई प्राब्लम एंड हमेशा मेरे पक्ष में लड़ीं। लेकिन मेरे ससुर और पति ने अब तक मुझे अपनी अपनी जायदाद से एक फूटी कौड़ी भी नहीं दिया। जो पुरुष अपनी पत्नी के नहीं होते, वे बाहरवालियों के क्या होंगे। ये बात औरतों को समझ में क्यों नहीं आती..क्यों वे शादीशुदा पुरुषों के चक्कर में..कब अक्ल आएगी..औह..।''

झबरू उधर से भौंकता हुआ आया और डिलाइला के पैरों के पास आकर कूं कूं करने लगा। मैं घबराई हुई उठी, कमरे की खिड़की के पास गई। परदा हटाया। समंदर की नमी हवा में थी। नारियल के पेड़ जोर–जोर से हिल रहे थे। एक फल टूट कर नीचे धप्प से गिरा। मैंने अपनी दोनों बाजुओं में ताकत जुटाई और भड़ाम से खिड़की के जंग खाए दोनों पल्ले खोल दिए। नींद पूरी तरह जा चुकी थी, ऐसा लगा मानों सदियों के बाद जागी हूं। मत खोल...तेज हवा है, सब उधिया जाएगा..रेत भर जाएगी अंदर.. डिलाइला चीखती हुई मेरे पास आई। उसने खिड़की के पल्लों की तरफ हाथ बढाया, मैं उससे लिपट गई। ये सिर्फ झबरू बता सकता है कि हवा का शोर तेज था या दो स्त्रियों का रुदन...।

***

कहानी

नर्गिस फिर नहीं आएगी

हुस्न तबस्सुम निहां

उनका अभी भी साबुन रगड़ना जारी था। बड़ी कसरत से वह साबुन से हाथ मले जा रही थीं। पानी बह रहा था। घर के लोग देख-देख उफ-उफ कर रहे थे। कोई मुस्करा देता, कोई झुंझलाता और कोई बड़बड़ाता। अगर इस बारे में नर्गिस से सवाल किया जाता तो फौरन प्रत्युत्तर में जवाब मिलाता-

''क्यूं भाई जान (या भाभी जान) हाथ तो धो रही हूं.....आपका क्या नुकसान.....पानी भी कहीं मोल मिलता है.....हां....?''

कोई क्या जवाब दे। खामोश रह जाते।

हसन साहब के वहां नर्गिस करीब चार महीने से रह रही थी। हसन साहब के ससुराल से होती हुई वह यहां, फैजाबाद आ धमकी थी। हसन साहब की साली के ससुराल से उसका कोई दूर का रिश्ता था। जबसे होश गुम हुए, वह पूरे जमाने में चक्कर लगाती फिरती थीं। क्या मजाल कि महीने, दो महीने से अधिक कहीं ठहरी रह जाएं। कभी-कभी वह होश में भी होतीं। तब इतनी भावुक कि बस्स..... -उन कुछ पलों में वह अपने व्यतीत खूबसूरत संसार का निहायत सुंदर चित्रण करतीं। उनका माजी सीना तान के सामने आ खड़ा होता। वह बताना शुरू करतीं-

''मेरे अब्बा जमींदार थे। निहायत खूबसूरत और मोतबर शख्सियत। 20 गांवों के मालिक। उनके आस-पास कहीं कोई नहीं टिकता था। मेरी मां जौनपुर के रजवाड़े घराने की। रानियों जैसी। घर में हाथी झूलते। खुशफहम मौसम चौबीसों घंटे मेहरबान। चार भाई और तन्हा मैं। दो बांदियां हर वक्त मेरे दाएं-बाएं तैनात रहतीं। अम्मा बड़े से दीवान पर गावतकिए के सहारे बैठी तीन-चार औरतों से गप्प-शप्प करने में मशगूल रहतीं। खादिमाएं घड़ी-घड़ी पान की गिलोरियां पेश करतीं। दुलार में मुझे स्कूल नहीं भेजा गया। मगर मेरे शौक सारे पूरे किए गए। जिस कपड़े पर उंगली रख देती, वो मेरा.....। जिस चीज पे नजर फेर देती वो मेरी। उस छोटी सी उम्र में भी मैं गहनों से सजी रहती। खादिमाएं पूरा एक घंटा लेतीं मेरी सज-धज करने में। पकवानों की भीनी-भीनी महक से कोठी सातों पहर गुलजार रहती। और तो और ग्यारहवीं शरीफ के दिन तो हमारी कोठी से वो लंगर जारी होता कि पूछो मत। रिंद-परिंद तक मेरे बावर्चीखाने का गोश्त चखने आते। वाह.....वा.....''

-कहती हुई वह कहीं खो जातीं। और फिर लौट आतीं.....-

''ओह.....हो.....काफी वक्त बीत गया, हसन भाई क्या जुहर पढ़ने गए भाभी....?'' -कहती हुई वह उठतीं और जा कर बंबे के नीचे बैठ जातीं। जो लोग बड़े मनोयोग से बैठे उनकी आत्मकथाएं सुन रहे होते उनका जी निचुड़ जाता। जैसे प्यास अधूरी ही रह गई हो फिर वे लाख कुरेदते मगर नर्गिस के मुंह से एक लफ्ज ना फूटता। अतीत का पर्दा पूरी तरह गिर चुका होता। अंततः वे इस ख्वाहिश के साथ स्वयं को संभाल लेते कि चलो नर्गिस बाजी की याददाश्त कभी फिर लौटेगी या वह माजी की तरफ कभी फिर लौटेंगी। कभी फिर वह अपने पुरनम दिनों की याद ताजा करेंगी और उन्हें किसी तिलस्मी शहर में घुमा लाएंगी।

-दस्तरख्वान पे खाने के डोंगे सज गए। हसन साहब की बेगम नाजनी कई दफा आवाज दे चुकी थीं-

''नर्गिस बाजी, बस कीजिए.....आइए खाना ठंडा हो जाएगा....''

-मगर नहीं। तभी हसन साहब जुहर पढ़कर लौटे। उन्हें देखते ही नर्गिस उठ लीं। बाथरूम में गईं। कपड़े बदले। पहले वाले खंगालकर फैलाए और बालों की लटों को जूड़े का आकार देती हुई डाइनिंग टेबिल पर आ गईं-

''हसन भाई, आज एक बट्टी साबुन लेते आना शाम को.....।''

''अरे...., नर्गिस परसों ही तो लेकर आया हूं, खत्म कर दिया?''

''लो सुन लो भाभी, एक बट्टी में होता क्या है.....।''

''बस रहने दो नर्गिस बाजी, दिन-रात नहा-नहा के सारी जान सफेद छाल्टीन कर ली है तुमने। सख्त बीमार पड़ जाओगी.....''

''ओह.....भाभी, बीमार पड़ें मेरे दुश्मन। तुम तो मुला मनाती ही रहती हो जैसे कि मैं पलंग लग जाऊं....।''

''अच्छा.....अच्छा.....मैं साबुन ला दूंगा.....तुम परेशान ना हो.....खाना खाओ आराम से.....''

नर्गिस की मेहमाननवाजी करते हसन परिवार को चौथा महीना हो रहा था। एक तरह से बहुएं और घर के बाकी लोग भी उनसे पस्त हो गए थे। घर का एक भी सामान-अपनी जगह नहीं मिलता आंगन का सामान सायबान में मिलता, सायबान का सामान आंगन में। तकिए कहीं पड़े हैं। कुशन कहीं पड़ा है। कंघा मिल ही नहीं रहा। नर्गिस हर वक्त इधर का उधर, उधर का इधर रखती उठाती रहतीं। घर की औरतें सामानों को तरतीब देते-देते परेशान.....। हसन साहब की छोटी बेटी बिलकीस उनसे खास कर चिढ़ी रहती। नर्गिस प्रायः बिल्कीस के कमरे से नोटबुक और कलम उड़ा लातीं फिर कोने में बैठ कुछ गोदती रहती। पूछने पर कहतीं-

''जहीर को खत लिख रही हूं.....।''

-जहीर, यानी उनका शौहर। ऐसे जाने कितने खत उनके वहां डस्टबिन में पड़े मिल जाते। बहुएं सब सहेजते-सहेजते हलकान। मगर नर्गिस की सेहत पे कोई असर नहीं। अक्सर रात को नींदों में खलल पड़ जाती। रात के एक-दो बज रहे हैं। सारा घर नींद में है, मगर इस गई रात को भी नर्गिस का हम्माम आबाद है। पानी का फव्वारा छूट रहा है। नर्गिस की छपक-छैया सुनाई पड़ रही है। खुदा

नाख्वास्ता किसी की आंख खुल गई तो दोबारा जल्दी नींद नहीं आती या फव्वारे का शोर-गुल सुनते सुनते फिर सो जाता। सुबह उठो तो देखो नर्गिस किसी कोने में बैठी ऊंघ रही होतीं। हालांकि रात-बिरात कोई बाहर निकल कर आता, देखता तो कहता-

''नर्गिस बाजी अब सो जाओ-'' - तो जवाब मिलता-''थमे रहो, थोड़ा सा रह गया.....''

कहने वाला फिर झुंझला के जाकर सो रहता। इस तरह वह नहाती-धोती जाने किस पहर जा के सोतीं। बहरहाल सुबह सोती या ऊंघती हुई ही मिलतीं।

- किसी दिन फिर वह माजी के सरोवर में डुबकी लगा गईं। दुपट्टे का कोना सीते-सीते बोलीं-

''और नहीं सुना भाभी, मेरे खानदान में लड़की की पैदाइश पर यूं सोग मनाया जाता जैसे किसी की मय्यत हो गई हो। और तो और बच्चियां पैदा होते ही कहीं झाड़ी-झंखाड़ी में जिंदा दफ्न कर दी जातीं। मेरी अम्मी इन कारगुजारियों से वाकिफ थीं। फिर भी उन्हें एक बेटी की ख्वाहिश थी। मेरे पैदा होते ही उन्होंने दाई से पूछा-

''क्या हुआ?''

''बेटी.....''- दाई ने कहा।

-तो अम्मी ने चिमटा लिया और सिसकने लगीं-

''नहीं, इस दफा कत्ल नहीं होने दूंगी अपनी बेटी का....नहीं बनना मुझे बेटों की मां...मैं एक बेटी की मां बन कर ही खुश रहूंगी। भले ही मुझे कोठी से निकाल दिया जाए....''

- अब्बा ने सुना तो कहा-

'' टेंटवा दबा दो....''

- मगर अम्मी ने अपनी हिम्मत के जोर पर ऐसा नहीं होने दिया। कुछ दिन काफी गर्मागर्मी रही मगर बाद में उन्हीं अब्बा का मुझे इतना लाड़-दुलार मिला कि पूछो ही मत। क्या मजाल उनकी निगाह से एक पल के लिए ओझल हो जाऊं। अम्मी ने सारे गुण-ढंग सिखा के मुकम्मल कर दिया मुझे। बस, पढ़ ना पाई। अब जवानी कल्ले फोड़ने लगी थी। जो देखता, देखता ही रह जाता। इतनी खुश-रंग चांदनी....?

- बड़े-बड़े खानदानी घरानों से निस्बत आने लगी। कोई लड़का इंजीनियर है, तो कोई डॉक्टर और कोई बैरिस्टर....। मगर अब्बा ने साफ मना कर दिया-

''ना भाई ना, नौकर तो नौकर है, चाहे सरकार का हो चाहे दरबार का....। हमें नौकरों से नहीं ब्याहना अपनी शाहजादी को। हमें जमीदार घर से दामाद चाहिए....बात साफ.....''

''और हुआ भी वही। हमारा ब्याह फखरपुर के राजघराने में हुआ। रियासत तो तब नहीं रह गई थी मगर जितना भी कुछ था खूब था....। शाहजादों सा मेरा शौहर। चेहरे पे गुलाबी रंग छिंटा हुआ। लंबे-लंबे घुंघराले गेसू मक्खन की शेरवानी और नागरा में वह क्या खूब लगता था।''

- कहते-कहते वह सुबकने लगीं। फिर बिल्कुल शांत हो गईं। और वहीं गुड़-मुड़ पड़ के आंखें बंद कर लीं। अपने माजी का जिक्र करते-करते वह प्रायः रो पड़तीं। फिर ऐसा ही होता। बिल्कीस ने झल्लाकर ताना मारा-

''उफ अच्छी-भली बोलते-बोलते टेसुए क्यूं बहाने लगती हो...हर दफा अधूरी कहानी....देखो कब पूरी होती है ये कहानी.....।''

''ये कहानी नहीं है, बरखुर्दार मेरी जिंदगी है...''

- और अचानक उठकर बावर्ची खाने में घुस गईं। वहां से चाकू उठा लाईं और गमले की मिट्टियां उलटने -पलटने लगीं। बिल्कीस फिर झल्ला गई-

''या अल्लाह....अब इसमें क्यूं घुस गईं....?''

नर्गिस क्या कम थीं। उलझ गईं-''तुम खामोश रहा करो....क्यूं मेरे पीछे लगी रहती हो....भाभी हुसैन भाई से कहो इसकी जल्दी से शादी करके इसे चलता करें.....हर वक्त चख-चख लगाए रहती है....''

''हां, फिर अपनी सारी दौलत तुम्हारे साबुन की बट्टियों पर लुटाते रहें....''

''ऐ...लड़की...साबुन का नाम मत लेना....''- और चाकू उसी की जानिब फेंक के बड़े ताव से अपने कोठरे में चली गईं। बिल्कीस बच गई वर्ना चाकू सीधे पेट में ही उतरता। नाजनी बेगम ने डांटा-

''क्या करती रहती हो बिल्कीस...वह अपने होश में नहीं है....क्यूं उससे झगड़ती रहती हो। कुछ भी कर सकती है वह गुस्से में आकर। उसे अक्ल थोड़े ही है सही-गलत में फर्क करने की....''

-बिल्कीस भी मुंह लटकाए अपने कमरे में चली गई।

- एक रोज वह नल पर बैठी साबुन हाथ पे रगड़ जा रही थीं। ठंडी तल्ख हवा चल रही थी। सर्दी का मौसम। बिल्कीस ने फिर छेड़ा-

''अब्बा, नर्गिस बाजी को साबुन की दुकान पर बैठा आइए, खूब शेर हो के साबुन रगड़ेंगी...''

''और अगर हमारा दामाद ही मिल जाए साबुन वाला तो क्या कहने.....फिर तुम्हारे ही यहां आकर रहूंगी...'' - नहले पे दहला। ''वल्लाह...!''- एक साथ ही कहा गया और फिर हँसी का ठहाका गूंजा। नाजनी बेगम बोलीं-

''नर्गिस बाजी ने क्या चुनकर जवाब दिया है। कौन कहेगा आप जेहनी-जवाजुन खो चुकी हैं....''- बिल्कीस झेंप के कमरे में घुस गई। नाजनी बेगम हँसी रोकती हुई बोलीं-

''वैसे नर्गिस बाजी, कुछ भी कहो, मेरे नन्दोई तुमसे इसीलिए खफा रहते होंगे जो तुम इतना नहाती धोती हो...बेचारे कहां तक साबुन ढोते....''

'' ....नहीं....रे....हमारे पीछे तो लोग लग गए। मैं हसीन थी ही। ससुराल में दुलारी भी थी। मेरी पांच जेठानियां। मुझसे बेहद हसद रखती थीं-''- कहती हुई वह हाथ धो के बंबे के पास साबुन डालकर इधर बढ़ आईं। घर के लोग भी उनकी तरफ लपक आए कि अब नर्गिस बाजी मूड में आने को हैं। वह आगे बोलीं-

''एक तो हमारी जेठानियां छोटे घराने की थीं, फिर ससुराल में समझी भी नहीं जाती थीं। इसीलिए मुझसे बारहा खार खाए रहती थीं । मेरे हर काम में कीड़े बीनती रहतीं। सास थीं नहीं। ससुर थे तो मुझ पर जान देते थे। मैं भी अपने जईफ ससुर का पूरा ख्याल रखती। जेठानियां आपसी पंचायत

में मस्त रहतीं। मैं घर के कामों से फारिंग होकर अपने ससुर के पास जा बैठती। यहां-वहां की गाती रहती जिससे उन्हें अपनी तन्हाई का एहसास भी नहीं होता, मेरा भी मन लग जाता। घर के सारे मर्द कारोबारी। सुबह निकलते तो शाम मगरिब के बाद तक लौटते और ईशा तक खा-पी कर अपनी-अपनी लुगाइयों के साथ अपने-अपने कमरों में बंद हो जाते। हम भी।..... बेचारे ससुर पूरी कोठी में तन्हा ठठाते रहते।

''एक दिन तो हद हो गई, हमारी मंझली जेठानी ने बड़ा भोंडा तंज कसा-बोलीं-

''छोटी दुल्हन के तो मजे हैं भई....दिन भर अब्बा के साथ मस्ती करती हैं, रात को देवर साहब के साथ मौज मनाती हैं....''

''-और पांचों ठठा के हँस पड़ीं...मैं सुलग के रह गई।....खैर...''

- इतना कह के वह बंबे की तरफ रेंग गईं और मुंह पे साबुन पोतने लगीं। नाजनी बेगम और बहुएं वगैरह हक से रह गईं

-कहीं नर्गिस बाजी हाल-ए-माजी से लौट ना आएं...। वे दिल थामे उनके दोबारा बोलने का इंतजार करने लगीं। नाजनी बेगम ने सबको उंगली के इशारे से खामोश रहने की ताकीद की, कहीं नर्गिस बाजी का जेहन फिर ना जाए। -आखिर वह मुंह पर से साबुन धोने के बाद बोलीं-

''....एक रोज क्या हुआ, कि रात का दूसरा पहर होगा। उल्लू बोल रहे थे। मैं बैतुल खलअ के लिए निकली कमरे से तो ठिठक गई। ससुर के कमरे से बड़ी सर्द कराहें रिस रही थीं। मैं फारिग होकर उनके कमरे में गई। कमरा बर्फ हो रहा था। कुवार का महीना। खैर करीब गई। पूछा। तो बोले-

''रीढ़ की हड्डी चिटखी जा रही है बिटिया, पसलियां बाहर निकल आएंगी लगता है...''- मैं फौरन बावर्चीखाने में गई। कटोरी में सरसों के तेल में लहसुन की कलियां डालकर खौलाईं फिर उनके कमरे में आकर कुर्ता पलट के सीने में मालिश करने गली। पीठ पर लगाया। उन्हें थोड़ा सुकून मिला। कराहना थम गया। सोचा बचा हुआ तेल उनके सिर मैं खपा दूं। सिर में मालिश करना शुरू ही किया था कि यक-ब-यक कमरे के दरवाजे पर मेरे शौहर की आवाज गूंजी...

''नर्गिस...''- बड़ी जोरदार आवाज। मेरे हाथ से तेल की कटोरी छूट के गनगनाती हुई दूर चली गई। पलटकर देखा-दरवाजे पर मेरे शौहर खड़े गुस्से से तप रहे थे जबकि मंझली जेठानी बगल में खड़ी मुस्कुरा रही थीं। वह बोलीं-

''मैं कह रही थी ना...अब तुम्हें यकीन आया....''- मैं सब समझ गई। दुपट्टा ठीक करती सब छोड़-छाड़ आगे बढ़ी तभी मेरे शौहर जहीर ने मेरे चेहरे पे कई थप्पड़ जड़ दिए। मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। कुछ देर बाद थोड़ी संभली तो अपने कमरे की तरफ भागी। जहीर आग का गोला बना बैठा था। मैं सहमी-सहमी सी उसके पास गई। बोली-

''मेरा यकीन मानो....अब्बा की तबियत बहुत खराब....'' - मैं बोलने में लड़बड़ा गई मगर मेरी पूरी बात सुने बिना ही जहीर ने अपना फैसला सुना दिया-

''तुम्हें अपने मरहूम वालिदैन की कसम है...सुबह अपना सामान समेटो और अपने घर का रास्ता लो...तुम मर गईं मेरे लिए...''

– मैं तड़पी–

''नहीं, मेरा घर तो यही है। मुझे यहां से मर के ही निकलना है–''

''तो मर के ही निकल जाओ...''

''नहीं....''

''याद रखो....ये घर मेरा है....मेरा....''

''ओह....!''

''मैं उसे देखती ही रह गई। उसने मुझे जोर का धक्का दिया। मैं बेड से टकराई। मत्था फूट गया। वह झल्लाकर मेहमानखाने में चला गया। रात यूं ही कट गई। सुबह एक दफा फिर उसके पास गई। मगर वह बुत बना बैठा रहा, जैसे मुझे जानता ही ना हो। जेठानियों से मदद मांगी तो उनका सीधा सा जवाब–

'' ...हम क्या कर सकते हैं, तुम्हारा मियां–बीबी का मामला...''

– कोठी में काम करने वाले बुजुर्ग नौकरों तक से मदद मांगी। मगर सब मजबूर थे। हालांकि सब जानते थे कि मैं बेकसूर हूं। सब तरफ से नाउम्मीद होकर मैंने एक बार फिर शौहर का मुंह ताका, जहीर का वही जवाब–

''तुम मेरे लिए मर गईं....''– मैं भी पठान का खून थी। कित्ता गिरती। भई, एक हद होती है। मैंने भी सीना ठोंक के कहा आखिर–

''ठीक है...अगर आपको यही मंजूर है...तो यकीन मानो नर्गिस फिर नहीं आएगी....''

– अंतिम वाक्य कहते–कहते वह सुबकने लगीं–फिर बोलीं–

''कोठी की बूढ़ी खादिमा मुझे चिपटाकर बहुत रोई। बोली –बेटी, तुम पर दाग ही ऐसा लगा है, जो कभी नहीं छूटेगा ....इसे धोने वाला पानी किसी नदी में नहीं....''

–और मैंने सख्ती से कहा–

''नहीं खाला बी....ये दाग मैं धोकर रहूंगी.....कैसे भी.....''

– और अचानक वह फिर आंतरिक–कोमा मैं चली गईं और बड़बड़ाने लगीं–

''इस दाग को तो धोकर रहूंगी...तब तक धोती रहूंगी जब तक सब साफ नहीं हो जाता....''– और बड़ी तेजी से साबुन की बट्टी हाथों पे रगड़ने लगीं।

रमजान का महीना। जून के तपते दिन। लंबे–लंबे दिन, घर के सभी लोग अलस्सुबह सहरी खा के सो रहते। उसके बाद कहीं दस–बारह बजे उठते। फिर घर के काम–काज, नमाज और तिलावतें शुरू होतीं। शाम को इफ्तार। नर्गिस रोजा नहीं रखती। अलबत्ता सहरी व अफ्तार में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेती और दिन भर बाल्टी भर–भर नहाती। भूख सताती तो किचन में जा कर बचा खुचा खा आतीं फिर इधर–उधर सो रहती। उठती तो फिर नहाना शुरू। हसन साहब की नन्हीं पोती जरूर फिक्रमंद रहती कि नर्गिस बाजी तो सारा नल का पानी ही खत्म कर डालेंगी। फिर खाना कैसे बनेगा....लोग क्या पिएंगे.....कभी–कभी नाजनी बेगम समझातीं–

''नर्गिस बाजी, हर दाग साबुन से नहीं धुलता। वैसे अब तुम पर कोई दाग नहीं रहा–बिल्कुल

साफ सुथरी हो गईं। अब ये नहाना-धोना खत्म कर दो-''

''वाह भाभी, अगर ऐसा होता तो क्या जहीर हमें लेने ना आ जाता....''

-नाजनी बेगम एक चुप-हजार चुप....।

-खैर एक रोज लू-तपती दोपहरी में वह बड़े मगन में बैठी गा रही थीं-

''इब्न-ए-मरियम हुआ करे कोई
मेरे दर्द की दवा करे कोई
बक रहा हूं जुनूं में क्या कुछ
कुछ ना समझे खुदा करे कोई''

बिल्कीस कंप्यूटर पर कुछ काम कर रही थी। सहसा उसके हाथ रुक गए। उसके कानों में ऐसी दर्दा मेज आवाज पड़ी तो वह कांप गई।...''याल्लाह....कित्ता दर्द...''!

- वह दौड़कर बाहर आई। नर्गिस बाजी दुपट्टे का फटा कोना सीने में मगन। नाजनी बेगम भी उठकर झांक आईं।

''या मौला...।''

- और कपड़े समेटने लगीं। वह खामोश हुईं तो बिल्कीस उनके करीब आई-

''सुबहानल्लाह....क्या गला पाया है बाजी.....। आपकी आवाज ने तो गालिब साहब की तख्लीक में जान डाल दी।''

- वह निहाल हो गईं।

''जानती हो बीबी....ये गजलें मेरे सबसे छोटे भाईजान, जावेद भाईजान गुनगुनाया करते थे। इश्क में टूटे हुए थे बेचारे। गले में दर्द था। जब गाने लगते, तितलियां उड़ना भूल जातीं। मुसाफिर रस्ता भूल जाते।....लड़की का बाप मिलिट्री में बड़ा अफसर था। बड़ी संगदिली से हमारे भाईजान की मोहब्बत को ठुकरा दिया। उस दिन जावेद भाईजान मेरे कमरे में आए और फूट-फूटकर रोए। उनकी हालत किसी भी तसल्ली से बाहर की बात थी। कुछ दिनों बाद मेरा ब्याह हो गया। वह और तन्हा हो गए। तब मेरी तीनों बड़ी भाभियों ने जिद करके उनकी शादी करवा दी। भाभी भी खूबसूरत थीं...मगर क्या है कि दिल का सौदागर एक दफा ही सौदा करता है। सो हो चुका था। और खो भी चुका था। छोटी भाभी किसी भी तरह उन्हें अपने पाए में बांध नहीं पाई।

-सुई से धागा तोड़ा फिर दूसरा कोना सीने लगीं। थोड़ा ठहरकर कपड़े की फटी हुई जगह को बैलेंस किया फिर सीती हुई गुनगुनाने लगीं। अब तक घर के दूसरे फर्द भी जल्दी-जल्दी उधर भाग आए थे और आस-पास जमा हो गए थे। चुपचाप, खामोश। नर्गिस बाजी की तंद्रा ना टूटने पाए। यक ब-यक वह बोलीं-

''बड़े प्यारे थे मेरे चारों भाई। जान देते थे मुझ पर। मगर जबसे वो नागिनें हमारे घर में आईं। घर-घर ना रहा। भाई-भाई ना रहे। जब सुसराल से वापस आई हूं तो वो दुर्गत हुई मेरी कि चील-कव्वे पनाह मांगें। भाभियों ने खाना-पीना तक बंद कर दिया। उनका मानना था भूखी मरूंगी तो खुद ही सुसराल वापस चली जाऊंगी। भाई आते रात को, पूछते तो कहा जाता-

''खा-पी कर सो गई...।'' उन्हें तसल्ली हो जाती।

- मैं बीमार कमरे में पड़ी रहती भूखी-प्यासी। कोई पूछता तक नहीं। कभी भाई, भाभियों से मेरा हाल दरयाफ्त करते तो उनसे कहा जाता-

''भली चंगी है। कहीं घूमने गई है....''

- मैं भिखमंगियों सी पड़ी रहती। कुछ बोलती भी नहीं कि कहीं भाई-भावजों के रिश्तों में खटास ना पैदा हो जाए। मगर..... कब तक.....कब तक करती....?

-आखिर के दिनों में मैं खुद बावर्चीखाने में घुस जाती। खाती-पीती। अपने कपड़े खुद धोती। सजती-संवरती, घूमती-फिरती। अब भाभियों को और आग लगी। बगावत शुरू हुई। हसद की आग यहां भी भड़क उठी। रोज-रोज की उठा-पटक से भाई भी आजिज आने लगे। जो भाई पलकों पर बिठाते थे वे अब मेरी पिटाई भी कर डालते। उनकी-देखी-देखा कभी-कभी बड़ी भाभी भी हाथ उठा देतीं। एक दिन क्या हुआ कि मेरा सिर बहुत दु:ख रहा था। मैं उठी। बावर्चीखाने में जाकर चाय बनाने लगी। तभी तेजी से बड़ी वाली भाभी आईं और चाय की पतीली उठाई, खौलता पानी मुझ पर उंडेल दिया-

''ले पी ले चाय....''

''मैं बिलबिला उठी और तैश में आकर दूध का भगोना उनके ऊपर फेंक दिया। वह भी बिलबिलाती हुई भागीं।

मैंने पड़ोस में जाकर पनाह ली। पड़ोसिनों ने मेरी मरहम पट्टी की। भाभी की तीमारदारी में तीनों भाभियां जुट गईं। मेरा हाल कौन पूछने वाला। उस दिन अम्मी, अब्बू और जहीर मुझे बहुत याद आए।...खैर, शाम को भाई जान आए। बगैर मेरी गलती के मेरी खूब पिटाई की। मेरा जिस्म पहले ही दर्द से कराह रहा था उस पर ऐसी मार....। उस सारी रात मैं चुपचाप लेटी अपने नसीब की कब्र पर आंसुओं के फूल चढ़ाती रही। सुबह मैंने अपनी गठरी बांधी। भाई जान फजर पढ़कर आए। मैंने अदब से सलाम किया और कहा-

''भाई जान, इतने दिन तक आप लोगों को बहुत तकलीफ देती रही। अब चलती हूं मेरा आखिरी सलाम लो...नर्गिस फिर नहीं आएगी...''

ये था मेरा नसीब। कोई ना था हमारे पास। ना कोई रूठने वाला था...ना कोई मनाने वाला...। वह इत्ता कह कर चले गए- ''ठीक है...जैसी तुम्हारी मर्जी....''

- मैं बासी मुंह लिए घर छोड़ आई। कुछ दिन यहां-वहां भटकी फिर अजमेर शरीफ चली आई। वहीं बाबा के आस्ताने में बैठकर दिल लगाने लगी। लंगर में खाना भी खा लेती...। मगर ...आ...ह कुछ दिनों के बाद ही मुझे वहां का दूसरा पहलू नजर आने लगा। पीरों की मजारों पर कुंडली मारके बैठे मुजबिर चिरागी के नाम पर भोली पब्लिक को खूब लूटते। और तो और मेरी तरह की गिरी-पड़ी लड़कियां जो अपने-अपने घरों से हंकाल दी गई थीं, और अब पीर-फकीर की हिफाजत में आई थीं, उन्हें अपनी हवस का शिकार बनाते। लड़कियां देखते-देखते बच्चे पैदा कर देतीं और फिर वे बच्चों को ढाल बनाके भीख कमातीं। मुझे ये सब बड़ा जी घिनाने वाला लगा। एक रोज एक से

पूछा–

''बीबी, शर्म हया भी कोई चीज होती है...कैसे गवारा करता है तुम्हारा दिल....?''

''बाजी की बात...., ना बाप ना भरतार किसके लिए शरम करूं? शर्मो–हया का चोला मैं वहीं उतारकर फेंक आई, जहां हमें घूंघट–और आंचल की तरबियत दी गई थी।''

– मैं सन्न रह गई। मगर यही सच था। वहां से जी ऊबा तो कलियर शरीफ पहुंच गई। वहां भी यही रवैया...। आखिर मैं उकता के चल पड़ी खिज्र की पनाहों में....''

–ओ....हो...येल्लो...छोटे शहजादे जाग गए....

एकाएक बातों का रुख बदल गया। जैसे वह सोते से जाग गई हों। करीब लेटे हसन साहब के एक साल के पोते को उन्होंने गोद में उठा लिया और पुचकारने लगीं....''बेटू....तू शाहजादा है ना....तेरे लिए एक शाहजादी लाऊंगी....बिल्कुल मेरे जैसी...नाजुक...हसीन....'' – सहसा कई हंसी की आवाजें एक साथ ही लहराई। उन्होंने सिर उठाया, बिल्कीस के सिवा भी वहां कई लोग जमा हो गए थे आस–पास। जुहर की अजान की सदा रह–रह के आने लगी थी। वह सब उठ गए और नमाज की तैयारियां होने लगीं।

०००

इन तीन–चार महीनों में नर्गिस की वजह से घर का निजाम काफी गड़बड़ा गया था। अब हद थी। घर के लोगों को खासकर बहू–बेटियों को नर्गिस का होना अब अखरने लगा था। घर में बारहा कलह मची रहती। एक रोज इसी सब हाय–तौबा से उक्ता कर हसन साहब ने नर्गिस को बुलाया और आवाज में कुछ नर्मी, कुछ तुर्शी लाते हुए बोले–

''नर्गिस, अब तुम जाओ...''

''कहां भाईजान ...?''

''कहीं भी, फैजाबाद चली जाओ...''

''वहां मेरा कौन है भला ....?''

''तो जहां हो, वहां चली जाओ...मगर जाओ...''

–वह फटी–फटी आंखों से उन्हें देखती रह गई।

''आपका क्या बिगाड़ा है हमने हसन भाई। सिर्फ साबुन ही तो मंगवा लिया करती हूं...और क्या मांगती हूं आपसे। आप ख्वाहम–ख्वाह...ही...अपनी बहुओं को तो नहीं कहते आप...?''

''ये उनका ही घर है...हमारा....या....तुम्हारा नहीं....''

वह कुछ देर गुम–सुम सी बैठी रहीं। फिर जैसे चेतना आई। तुरंत उठ कर कमरे में चली गईं। अपनी पोटली समेटी। नल पर गईं। सारे साबुन और साबुन के पड़े–गिरे घिसे–पिटे टुकड़े चुन–चुन के बटुए में खोंस लिए। फिर हसन साहब के पास बरामदे में लौटीं। वह शेव कर रहे थे। कुछ देर खड़ी उन्हें देखती रहीं फिर बोलीं–

''अच्छा हसन भाई, चलती हूं। इत्ते दिन बहुत आसरा दिया आपने इसका शुक्रिया...अब...नर्गिस फिर नहीं आएगी...'' और पल भर में घर से बाहर। नाजनी बेगम को धक्का सा लगा। आंख भर

आई। विक्षिप्त औरत कहां जाएगी, आगे दौड़ आईं-

''ठहरो तो नर्गिस...ठहरो तो....'' मगर वह ये गईं-वो गईं।

- तब उन्होंने लड़के को दौड़ाया-

''ये लो बेटा...कुछ पैसे दे आ उसे....कह देना साबुन खरीद लेगी...।''

०००००

घर सूना हो गया। दर-ओ-दीवार सूने हो गए। घर के सभी फर्द ने अनायास एक गहरी खामोशी ओढ़ ली। धीरे-धीरे सब सामान्य हो गया।

पांच-छः महीने बाद एक रोज हसन साहब के साले आ गए तो बातों-बातों में बोले-''और हसन भाई नर्गिस बाजी ने तो यहां बड़ा अच्छा वक्त बिताया। आप लोगों की तो मरते दम तक तारीफ ही करती रहीं....बेचारी....''

''क्या....वह नहीं रहीं.....?''

''कहां-काफी अर्सा हो गया। घूमती-घामती हमारे यहां पहुंची थीं। कुछ ही दिन रहीं कि निमोनिया हो गया। ठंडक में मारी-मारी फिरती रहीं। फिर दिन रात का नहाना-धोना। जकड़ गई। दवा-दारू तो खैर की हम लोगों ने मगर...दिन पूरे हो गए थे....चली गई....''

''मरते बखत बोलचाल रही थीं...?''- नाजनी बेगम में कौतुहल जागा।

''बोलती क्या थीं...एक ही रट्टा लगाए थीं...बुदबुदाती रहीं....नर्गिस फिर नहीं आएगी.....''

***

कहानी

बीसवां अफेयर और वेटिंग टिकिट

इंदिरा दांगी

रेल में चढ़ते ही हम अपनी आरक्षित बर्थें तलाशने लगे। हम यानी मैं, पति विशुद्ध और हमारा बच्चा आर्य। दो मिनट के स्टाप वाले स्टेशन पर डिब्बे तक दौड़ने-चढ़ने की हड़बड़ी से हमारी सांसें और धड़कनें गहरी-गहरी हो रही थीं। पुराने यात्री हर नए यात्री की तरह हम पर भी पल भर की जिज्ञासा भरी नजर डालते और फिर खिड़कियों के बाहर-भीतर देखते, पीते-खाते, पत्र-पत्रिकाएं पलटते-पढ़ते अपने शरीरों को गाड़ी की गति पकड़ती लय में ढीला छोड़ देते। हम यहां-वहां अपनी सीट तलाश रहे थे। ओह! जल्दबाजी में एक डिब्बा आगे चढ़ आए! हम उत्सुक-उदासीन यात्रियों के बीच से पिछले डिब्बे की ओर बढ़ने लगे। पति के कंधे पर ठसाठस भरा बैग, दोनों हाथों में वजनदार सूटकेस और चेहरे पर था परेशानी का मोहक भाव! परिश्रम से चमकते ललाट पर रोली-अक्षत का टीका घुलता-मिटता चेहरे पर खूबसूरत हिस्सा-सा हो गया था।

कैसी विचित्रता है, पुरुष बेबस कर्मठता ही उसके सौंदर्य का उन्मेष है! ऐसी यात्राओं में पुरुष अपने परिवार की रत्ती-रत्ती सेवा में मालिकाना दंभ से प्रस्तुत रहते हैं। परिवार का वजनदार लगेज उठाना, खाने-पीने की चीजें खरीद-खरीदकर देना, छोटे बच्चों को सूसू-छीछी करवाने ले जाना, रक्षक की मुस्तैद नजर के अदृश्य कवच में परिवार को भिखमंगों, धूर्तों, उठाईगीरों से सुरक्षित रखना आदि-इत्यादि, छोटे-बड़े दायित्व मुखिया पुरुष के चमकीले अहंकार में घुलकर गौरवानुभूतियों के नन्हें-नन्हें सुखों में बदल जाते हैं और असंख्य-असंख्य वैवाहिक जीवन इस तरह खुशी-खुशी निभ जाते हैं।

अब मेरी ही बात ले लीजिए, हर साल का यह किस्सा! बेटे के साथ छुट्टियां मनाने मायके जाती हूं तो सजने-संवरने के कपड़ों-लत्तों का एक सूटकेस भरा होता है, जिसे मेरा सैनिक-सा

जवान छोटा भाई फूलों की टोकरी की तरह उठा लेता है, पर जब वापसी होती है लिवउआ (पति) के मुंह से बड़ा सच्चा-सा मजाक निकल जाता है-

''मैं या तो इन दोनों को ले जाता हूं या बैग-सूटकेसों को।''

और विदाई के पलों में अपनी रुलाई भरसक काबू करती मेरी बूढ़ी मां एक छोटे मनोविनोद में अव्यक्त ममत्व का मर्म उड़ेल देती है,

तो इस बार सिर्फ सामान ही ले जाइए कुंअर साब! रानी को और कुछ दिन रह लेने दीजिए!

पर मां के कुंअर साहब न सामान छोड़ते हैं, न बेटी। विवाहित बेटियों पर मांओं का हक आंसुओं, यादों और उपहारों में सिमट जाता है। साल में एक बार आने वाली बेटी को मां कपड़े, श्रृंगार, पापड़-अचार और तमाम छोटे-बड़े घरेलू उपहार हार्दिकता से रच-रचकर देती है।

तो, मां की हार्दिकता से वजनी बैग-सूटकेसों से लदे-फदे हम जल्द-से-जल्द अपनी सीटों तक पहुंच जाना चाहते थे। वैसे भी अपनों से विदा लेते देह नम पड़ जाती है और कुछ छूट जाने के भाव से मन पलट-पलटकर पीछे देखता है। इस उदासी से मैं, मायके के छोटे स्टेशन पर जरा रुकने वाली रेल को पकड़ने और अपनी सीट तक पहुंचने की प्रक्रिया से गुजरते हुए ऐसे मुक्त हो जाती हूं जैसे -सर्प केंचुली उतारते-उतारते ही नया हो जाता है। छूटते स्टेशन पर हाथ हिलाकर विदा देते नन्हें भतीजों-भतीजियों के पास ही मैं बेटी-बहन-बुआ की चिलकदार केंचुल रख आती हूं और बेटे-पति के संग अपनी सीट तक पहुंचते-न पहुंचते अपनी त्वचा में, मैं बिल्कुल नई तरह से वही चिर-परिचित हो जाती हूं, स्कूटर पर सदा सवार स्टेपनी-सी पत्नी, हेलीकॉप्टर मां और घोर गृहस्थन!

रेल में चढ़ते ही हमने अपनी आरक्षित बर्थें तलाशना शुरु कर दिया। खिड़की से लगी सीट पर अपना आरक्षित नंबर देखकर मन हल्का-सा खिला है। हवा का नर्म झोंका तपते चेहरे को छू गया हो। सफर अच्छा कटेगा। दिल ने सोचा और मैं उस दुबली-श्यामल स्त्री से-जो अपने दो बच्चों और पति सहित हमारी सीटों पर थी-मुखातिब हुई, ''इन सीटों पर हमारा रिजर्वेशन है।''

''चलिए खड़े हो जाते हैं।'' उसने नीची आवाज में अपने पति से कहा।

उत्तर में पति ने अजीब नजर से उसे देखा जिसका अर्थ हमारे लिए ये रहा कि वो परिवार हमारी सीटों से नहीं उठा, बस थोड़ा सिमट-सरक कर उन्होंने खिड़की के पास डेढ़ आदमी की जगह छोड़ दी।

मुझे बेतरह गुस्सा आया, पर विशुद्ध ने मेरे कांप उठे कंधे पर हाथ रखा और मैं दिल मसोसकर रह गई। गर्म तवे पर पानी के छीटों के छनछनाकर भाप हो जाने सरीखी तसल्ली से मैं खुद को चुप कराए थी, तो भी कसमसाकर बैठते हुए इतनी जगह तो ले ही ली कि डेढ़ आदमी की जगह फैलकर पौने दो आदमी की हो गई। विशुद्ध ने हम दोनों पर एक प्यार भरी नजर डाली और सामने सीट पर यात्रियों के बीच जगह बनाते बैठ गए।

सफर तय होने लगा। मुआयना करती एक सीधी नजर मैंने सहयात्री परिवार पर डाली ही थी कि मुखिया पुरुष कह उठा, हमारे पास वेटिंग टिकिट है। आठ रोज पहले ही टिकिटें करा ली थी,

पर खोटी किस्मत! सीटें कन्फर्म नहीं हुईं। उसकी मुद्रा सफाई देने की-सी थी।

मुझे लगा, उसकी बात से न सहमत हुआ जा सकता है, न असहमत सो चुपचाप खिड़की के बाहर देखने लगी, पर पूरा ध्यान उस परिवार में अटका रहा जैसे सिर पर भरे घड़े ले जाती पनिहारिन राह में भले इधर-उधर बतियाने लगे, पर उसका पूरा ध्यान घड़ों में होता है।

परिवार चुप और असहज था। गेंहुए-स्थूल मुखिया पुरुष की उम्र पैंतीसेक साल रही होगी। आलू जैसा चेहरा। आधे-अधूरे बाल जो जतन से संवरे होने के बावजूद रीतती जा रही खोपड़ी को ढंकने में ऐसे असमर्थ जान पड़ रहे थे जैसे किसी गरीब की आमदनी में उसका बड़ा परिवार। हल्की तोंद पर ढीली-ढाली ओपन शर्ट, सादा पैंट और पैरों में सेल की-सी चप्पलें। चेहरे पर दुनियादारी का पुख्ता रंग, मैने अंदाज लगाया, छोटा-मोटा व्यापारी! और स्त्री जैसा कि बता चुकी हूं-तन्वी-श्यामली। यही कोई बत्तीस-तैंतीस के बीच की। चेहरे पर शाकाहारी पशु जैसे भोलेपन का भाव था। उसकी गुलाबी साड़ी की किनारी पर हरी पत्तियों के बेलबूटे थे। जेवर बस नाम के, हाथों में कांच के लहरिया कंगन, कानों में महीन बालियां, नाक में मोती और गले में कुछ नहीं। पैरों में रंगीन बिछिया थे, पायल नहीं थी, पर उसके चेहरे पर संतुष्टि का संपन्न-सा भाव था। गुलाबी फूल-सी वो स्त्री मुझे गृहस्थन कम साध्वी ज्यादा लगी क्योंकि मेरे लक-दक बनाव-श्रृंगार को उसने अब तक घूरा नहीं था जैसा कि आम तौर पर होता है। स्त्रियां दूसरी स्त्रियों के कपड़ों, जेवरों, बनाव पर इस कदर गौर फरमाती है कि चेहरों से ज्यादा उन्हें दूसरों का पहनावा, सजावट और जेवरों की डिजाइन याद हो जाती है।

खैर लौटिए, परिवार में एक बेटा था। रहा होगा छह-साढ़े साल का। मां-सा सांवला, पिता की बनावट-सा छोटा आलू। चेहरे से घोर जिद्दी लग रहा था। उसकी पीली टीशर्ट पर लाल हर्फों में लिखा था, सरप्राइज बॉय। काली जींस और पैरों में पिता की हैसियत से ऊंचे जूते। लड़के के बगल में, सबसे बीच दबी बैठी थी, उसकी छोटी बहन, पांचेक साल की सुंदर, स्वस्थ, मक्खन-सी गोरी। उसके गालों की ललाई कश्मीर के सेबों की याद दिला रही थी और आंखें बुंदेलखंड की चमकीली कत्थई चट्टानों-सी थी। उसके चेहरे का मुख्य भाव डांटकर चुप करा दिए गए किसी अबोध शिशु-सा था।

रेल के साथ वक्त आगे बढ़ा रहा और असहज दंपति के सहज बच्चे अपने हमउम्र, मेरे आर्य के साथ चेहरे छुपाने-दिखाने का खेल खेलने लगे। मुखिया पुरुष मेरे पति को बिना किसी परिचय-भूमिका के अप्रत्याशित अपनत्व से बताने लगा कि वे लोग आगरा से मुंबई जा रहे हैं और ये कि आठ दिन पहले ही उसने टिकिटें करवा ली थीं, पर खोटी किस्मत! सीटें कन्फर्म नहीं हुईं। अपनी बातों पर जो ध्वनिमत वह चाहता था, सामने वाली सीटों के किसी चेहरे से उसे नहीं मिला, न विशुद्ध से, न रिटायर अधिकारीनुमा वृद्ध से और न ही छात्रों सरीखे दो नौजवानों से। छोटा व्यापारी परम असहजता से धूसर फर्श घूरने लगा।

विशुद्ध का दूर बैठा होना मुझे झुंझलाहट से भर रहा था। चुभती धूप के चलते मैंने जालीदार खिड़की बंद कर दी थी। छत के पंखों की हवा नाकाफी लग रही थी। डिब्बे में तीखी उमस थी,

शायद कुछ दिलों में भी! केवल बच्चे थे जो पसीने में लथपथ खेलते हुए बीच-बीच में खिलखिला उठते थे। मेरी रूज-मस्कारा-लिपिस्टक घुल रही थी और रूमाल से बार-बार चेहरा पोंछती मैं कभी अपने विशुद्ध को देख रही थी, कभी वेटिंग टिकिट परिवार को।

ठंडा ले लो ठंडा कोल्डड्रिंक

ठंडा बेचने वाले की आवाज हवा में बहती आई और बच्चे खेल भूलकर उस ओर देखने लगे। बच्चों की नन्हीं लालची आंखें पढ़ते हुए कोल्डड्रिंक वाले ने ऐन हमारी बर्थों के बीच अपनी बाल्टी रख दी। बरफ के चमकीले टुकड़ों के बीच सजे कोल्डड्रिंक ऐसे दिख रहे थे जैसे लंबी तपस्या का मीठा फल। हम तीनों ने एक-एक बोतल ली। बुजुर्गवार ने भी एक खरीदी। देखादेखी उस परिवार के दोनों बच्चे भी ठुनके। पिता ने एक छोटी बोतल के दाम चुकाए और अपने सरप्राइज बॉय को कोल्डड्रिंक थमा दी। भाई-बहन बोतल को अपनी-अपनी ओर करने की जोर-आजमाइश करने लगे और मुझे लगा, ये परिवार सेकेंड क्लास डिब्बे में सिर्फ लंबी यात्राएं ही करता होगा।

चिंकी, बोतल भाईसाब को दे दे।

पिता ने इतनी दबी जुबान में डांटना चाहा कि सहयात्री न सुन सकें, पर मुखिया पुरुष की वही खोटी किस्मत! सभी ने सुन लिया और अपने हक के लिए जूझती चिंकी ने आदेश अनुसना कर दिया। अब पिता ने कड़ी नजर से मां को देखा। मां ने तुरंत चिंकी के नन्हें हाथों को ताकत से बोतल पर से हटाया और थैले से एक गिलसिया निकाल, उसमें बेटे से थोड़ा-सा कोल्डड्रिंक डलवाकर लड़की को थमा दिया। शेष तकरीबन पूरी भरी बोतल लड़का गटागट पीने लगा और पराजित बना दी गई चिंकी छोटे गिलास के घूंट भर कोल्डड्रिंक को देख-देख रुआंसी होने लगी। मैंने सोचा, जरूर नन्हीं गुड़िया ऐसे पक्षपातों की लंबी आदी है वर्ना इन मौकों पर छोटे बच्चे अपनी पूरी काबिलियत से रोते-चीखते हैं। ये बच्ची एक दिन बिल्कुल अपनी मां-सी बन जाएगी, पर वो अमर्ष उसकी बड़ी-बड़ी आंखों से टप-टपकर गिरने लगा।

चुप कर मनहूस! जब देखो, आंसू ढालती रहती है!

मां उसे पिता की ओर से ओट करते हुए कुड़बुड़ाई पर छोटी लड़की के भीतर मानो आंसुओं की उन्मत्त गंगा थी, जिसका विराट प्रवाह सख्त शब्द बांधों को बहाता चला आ रहा था। जब सब यात्रियों के चेहरे को उस नन्हीं मूक गंगा ने द्रवित कर दिया, पहले से ही असहज माता-पिता और ज्यादा अहसज हो गए। खिसियाए-से पिता ने बड़प्पन ओढ़ते हुए ऊंचे स्वर में कहा-

''बेटा हैप्पी! बहन को और कोल्डड्रिंक दो।''

हैप्पी कुनमुनाया। दुर्लभ-सी कोल्डड्रिंक की बोतल को उसने और कसके पकड़ लिया। मां ने दो-तीन मर्तबा दबी-दबी आवाज में बेटे को पुचकारा, पर सरप्राइज बॉय ने छोटी बहन को और दो घूंट कोल्डड्रिंक तभी दी जब पिता का स्वर कठोर आदेशात्मक हो गया।

रेल अपनी पूरी लय में थी और मैं सामने की सीट पर अखबार में लीन विशुद्ध को निहार रही थी, कसा बदन, भरी मुश्कों पर नई शर्ट, प्रबुद्ध चेहरा और कुल प्रभाव... खूब-खूब आकर्षक! मेरा मन हँस पड़ा, पति-पत्नी को साल में कम-से-कम एक बार तो जरूर ही एक-दूसरे से अलग हो

जाना चाहिए ताकि जब वे पुनः मिलें, नए होकर मिलें, नया खिंचाव, नए स्पर्श... नई शर्म, और नया प्यार? बिल्कुल नए सिरे से शुरू होता हुआ! दांपत्य का सौंदर्य एक ही इंसान से बार-बार प्यार-अफेयर-फ्लर्ट करने में है, और हां, वो इंसान आपका जीवनसाथी ही होना चाहिए (हा, हा, हा...)। बहरहाल, मैं मुग्ध थी, नया अफेयर शुरू हो रहा था। दिल तरसा, काश! विशुद्ध साथ वाली सीट पर होते और मेरा हाथ उनके हाथों में होता। वे कह रहे होते कि मेरी गैरमौजूदगी में वे कितने अकेले थे! कि बेटे और पत्नी के बिना घर घर नहीं लगता!... कि उन्हें रात-रातभर नींद नहीं आती थी! ... कि पिछले डेढ़ महीने से मेरे हाथ का खाना खाने को वे तरस रहे हैं! ... कि..कि..कि..! मेरे दिल की आवाज हवा में गूंजी और अखबार पढ़ रहे विशुद्ध ने चौंककर मेरी ओर देखा। हम मुस्कुराए। मैंने ठंडी सांस छोड़ते हुए वेटिंग टिकिट परिवार पर नजर डाली। काश! हम इन्हें अपनी आरक्षित सीट पर से उठा पाते! डिब्बे की उमस मेरे रो-रोम में उतरने लगी। मैं दिल-ही-दिल बड़बड़ाई, क्या जरूरत थी मुझे इतना बन-संवरकर आने की? सितारों से जड़ी साड़ी, मेंहदी, जड़ाऊ कंगन और मेकअप... सब सत्यानाश! क्या सुलगती गर्मी है, शरीर उबलते अंडे-सा महसूस हो रहा है।

एक और कोल्डड्रिंक बेचने वाला गुजरा। आर्य फिर ठुनका। मैंने कठोरता से मना कर दिया। वेटिंग टिकिट परिवार का मुखिया पुरुष क्या जाने इसी प्रतीक्षा में था, उसने तुरंत दो बोतलें खरीदीं और एक विजयी भाव सब ओर डालते हुए भरपूर भाव से भुगतान किया। आश्चर्य से मुंह खोले बच्चे कभी कोल्डड्रिंक कभी अपने पिता को देखते जो ऊंचे स्वर में आत्ममुग्ध-सा बोले जा रहा था,

''अरे पियो पियो! अभी तो तुम्हारे खाने-पीने के दिन है, खूब मजे करो, हमारी उमर में आओगे तो सिवाय कमाने के किसी काम में मजा नहीं आएगा।''

यात्रियों के उदासीन चेहरों पर इस बार भी अनुमोदन नहीं था।

पिया मिलन को दौड़ती प्रेम दीवानी-सी रेल भागी चली जा रही थी। बुंदेलखंड की तपती हवाओं, चट्टानी जमीन और कंटीले जंगलों को पीछे छोड़कर हम मालवा के सुरम्य माहौल से गुजर रहे थे। जून का यह दूसरा सप्ताह मालवा में मानसून के स्वागत का मौसम है। विंध्याचल पर्वत शृंखला किसी मुनि की बिखरी रुद्र माला के दानों सदृश्य थी। पर्वतों के मस्तकों को चूमती मेघ मालाएं, हवाओं के नम-पारदर्शी स्पर्श और काली मिट्टी के खेतों से उड़कर आती ताजी वर्षा की खुशबू, लगा जैसे कोई अदृश्य कलाकार अलौकिक कोलॉज रच रहा है और रेल का संगीत भी इस चित्र का हिस्सा है। यात्रियों के क्लांत चेहरे ठंडी-मीठी हवा की थपकियों से ऐसे शांत होने लगे थे जैसे रोते बच्चे को किसी सयाने ने दुलारा हो। बगल वाले दंपत्ति की असहजता भी कम हो गई। मैं और विशुद्ध तो खैर, एक-दूसरे को निहार ही रहे थे। विशुद्ध ने मुझे आंख मारी और मैं मुंह फेरकर मुस्कुराई।

भोजन का समय हो चला। वेटिंग टिकिट परिवार को अपनी सीट से उठाने का सुनहरा मौका था। खाने के बहाने, विशुद्ध को मैंने सीट पर आने को कहा। मुखिया पुरुष ने मेरे पति से सीट बदली, पर स्त्री दोनों बच्चों सहित हमारी ही सीट पर बैठी रही। अब वे तीन और हम तीन, एक

ही लंबी सीट पर ठसे बैठे थे!

हद है! मैं झल्लाई।

स्त्री गरीब-सी सूरत बनाए खड़ी हो गई। अलबत्ता बच्चों को उसने सीट पर ही बैठे रहने दिया और अपने बैठने की गुंजाइश के लिए इधर-उधर की भरी सीटों पर नजरें दौड़ाने लगी। विशुद्ध ने मुझे बुरी तरह घूरा, फिर स्त्री से छोटे भाई के-से स्वर में कहा-

''नहीं, नहीं बहनजी! आप बैठी रहिए!''

''नहीं भाईसाहब! आप लोग खाना खा लीजिए। तब तक मैं ऐसे ही...!''

''नहीं, आप बैठिए प्लीज!'' विशुद्ध के हाथ का कौर हाथ में ही रुक गया।

''नहीं, मैं ठीक..''

''बैठ जा ज्योति!'' मुखिया पुरुष ने बहुत ही संयत आवाज में कहा।

ज्योति बैठ गई। हम खाना खाते रहे। आर्य की नानी का प्यार अलग-अलग जायकों वाली खुशबुओं में बैग से निकल रहा था, पूड़ी... तरकारी... अचार... मठरी... भुजिया... बेसन के लड्डू... चिप्स! आर्य को मैंने खिड़की की ओर मुंह करके बिठाया और एक-एक कौर खिलाने लगी। विशुद्ध ने दो-चार कौर मुझे अपने हाथ से खिलाए, उन पलों में दिल बेतरह धड़का था और मुझे अपने शरमाते मन को याद दिलाना पड़ा कि हम रेल में हैं! अपनी शर्म, आकर्षण और उत्साह को दबाने के लिए मैंने वेटिंग टिकिट परिवार के बच्चों की ओर देखा। वे छोटे बच्चे लालायित-से अपनी मां का पल्लू पकड़े चुप-चुप ठुनक रहे थे।

खाने के बाद, मैंने आर्य को पुनः उन बच्चों की ओर बैठा दिया (अपनी सुविधानुसार परिचय को अपरिचय और अपरिचय को परिचय में बदलने का महानगरीय हुनर मैंने खूब अच्छी तरह सीखा है) तो, आर्य उन बच्चों के साथ फिर खेलने लगा। ज्योति अपने थैले से खाना निकाल ही रही थी कि केक-पेस्ट्री बेचने वाला हमारी सीटों के पास से आवाज लगाता गुजरा। मुखिया पुरुष ने पूरे परिवार के खाने लायक पेस्ट्रीज खरीदी जबकि पत्नी फुसफसा रही थी, सुनो जी, इत्ता खर्चा?

मुखिया पुरुष ने सबको पेस्ट्रीज दी,... हैप्पी, चिंकी, ज्योति, आर्य को भी! और मैंने देखा कि उसने खुद के लिए पेस्ट्री नहीं खरीदी थी। बच्चे खुश होकर खाने लगे। अन्य यात्री उन्हें देखने लगे। डिब्बे की उदासीनता छंट रही थी। वेटिंग टिकिट परिवार के चेहरों पर धीरे-धीरे समानता का-सा भाव आता जा रहा था। इसी बीच सबसे नजरें बचाकर ज्योति ने अपने हिस्से की पेस्ट्री स्टील की डिबिया में बंदकर थैले में घुसा दी और आधी बोतल पानी गटागट पी गई। विशुद्ध और मैं दूसरों से भूले एक-दूसरे से सटे-संयत बैठे थे।

रेल बारिश की वादियों से गुजर रही थी जबकि सुस्त यात्रियों के टिकिट चेक करता टी.सी. हमारी ओर आया। जिनके पास रिजर्वेशन थे वे अमीरों की तरह टिकिट दिखा रहे थे। मुखिया पुरुष टी.सी. के पीछे लगा चला गया। ज्योति के चेहरे पर चिंता की हल्की लकीरें उभरीं जबकि बच्चे पेस्ट्री खाने में संसार भूले थे।

थोड़ी देर में मुखिया पुरुष ऐसा प्रसन्न लौटा जैसे पास होने की शंका लिए गया छात्र फर्स्ट

डिवीजन का रिजल्ट लाया हो।

एक सीट मिल गई।

बड़ा अच्छा हुआ जी! चलो, अब रात में बच्चों को सोने को बर्थ तो होगी। ज्योति का स्याह चेहरा खिलकर तंबई हो गया था जैसे रात के कालेपन में भोर का हल्का उजास घुल गया हो।

''आप लोग कहां तक जा रहे हैं जी?'' मुखिया पुरुष पहली बार अपनी स्वाभाविक आवाज में विशुद्ध से पूछ रहा था।

''भोपाल तक।''

''बढ़िया! भोपाल स्टेशन तो आने ही वाला है। वहां से ये सीट हमारी है। ये खिड़की वाली लोअर बर्थ।''

अच्छा! हममें से पता नहीं किसने कहा, पर मुखिया पुरुष भला क्यों सुनने लगा, वो जैसे किसी धुन में बोले जा रहा था, रात होने से पहले दूसरी बर्थ भी जुगाड़ लेंगे। इसी के तो टी.सी. ने चार सौ लिए हैं। दूसरी का मिलाकर आठ सौ खर्चा हो जाएगा, टिकिटों की कीमत ऊपर से! अब क्या करें जी, परिवार के आराम के लिए रुपया तो खर्च करना ही पड़ता है फिर किस्मत खोटी निकली वर्ना हमने तो आठ दिन पहले ही टिकिटें करवा ली थीं।

खुशी में उसने अपने सरप्राइज बॉय को गोद में बिठा लिया और उस पर चुंबनों की वर्षा कर दी।

''पापा, मैं पोइम सुनाऊं?'' पिता की स्नेह वर्षा से वंचित चिंकी ने कुछ फुहारें पाने की जुगत भिड़ाई।

मुझे अच्छा लगा, जरा-सी बच्ची को कितनी दुनियादारी आती है! ... अभावों, असमानताओं और अन्यायों की अग्नि में तपने वालों की योग्यता कुंदन-सी निखरकर बाहर आती है। कष्ट से गुजरने का दूसरा नाम कला है।

चिंकी कविता सुनाने लगी। परिवार मनोरंजित होने के ढंग से खुश हो रहा था और यात्री सुरीली लड़की को यों सुन रहे थे मानो किसी लोकप्रिय फिल्म गायिका का लाइव कन्सर्ट चल रहा हो। यहां तक कि एकतारे पर रामधुन गाने वाला गुजरता साधु भिखारी भी मुग्ध भाव से ठहरा नन्हीं गायिका का काव्यपाठ सुन रहा था,

''मैं इक छोटी कठपुतली।
खाना बनाना आता नहीं,
चॉकलेट, आइसक्रीम खा लूं मजे से...''

गौरवान्वित पिता की फरमाइश पर उसने भजन का आलाप लिया,

''छोटी-छोटी गईयां, छोटे-छोटे ग्वाल
छोटो-सो मेरो मदन गोपाल....''

कवितामय हो गए माहौल में, मैं और विशुद्ध एक-दूसरे को महसूस कर रहे थे, कोई बीसवीं दफा इस खूबसूरत नौजवान से मेरा प्रेम प्रसंग शुरू हो रहा था और अब शादी के आठ सालों और

बीस अफेयरों के बाद हम पति-पत्नी के चेहरे कुछ हद तक एक जैसे दिखने लगे हैं। प्यार वो ईश्वर है जो आत्माओं, दिलों और चेहरों को एकरूपता देता चला जाता है।

बहरहाल, भोपाल स्टेशन आ गया। मां की हार्दिकता से वजनदार बैग-सूटकेसों को समेटते-संभालते हम अपनी सीटों से खड़े हुए और पल के सौंवे हिस्से में वो परिवार पूरी लंबी सीट पर फैल गया। इसी बीच कोल्डड्रिंक बेचने वाला आया। वेटिंग टिकिट परिवार (जो शेष सफर के लिए एक सीट का मालिक बन चुका था।) का सरप्राइज बॉय ठुनका और अपेक्षा के ठीक विपरीत मुखिया पुरुष ने पिता वाली रोबीली आवाज में उसे डांटा -बस, बहुत हो गया फालतू खाना-पीना! अब मुंबई तक कोई चीज नहीं मांगना! तुम्हारी मम्मी जो खाना बनाकर लाई है, हम सब यही खाएंगे।

और डिब्बे को छोड़ते हुए हमने उन पति-पत्नी को पहली बार स्वाभाविक बर्ताव करते देखा। मुखिया पुरुष सहयात्रियों पर कतई ध्यान दिए बगैर कह रहा था।

''ज्योति, पूड़ियां निकाल, जोर की भूख लगी है।''

***

कहानी

सोनवारे नरहरि

जयनंदन

इस क्षेत्र का सांसद मेखला भगत एक कार्यक्रम में भाग लेते हुए नक्सलियों द्वारा गोलियों से भून दिया गया था उसके लिए श्रद्धांजलि सभा हो रही थी। सभा में उपस्थित सारे गणमान्य लोग उसकी शान में कसीदे पढ़ रहे थे। लेकिन एक खास वक्ता सोनवारे नरहरि की जब बारी आई तो हवा उलटकर बहने लगी। सोनवारे बुलाए गए थे, चूंकि माना जाता रहा कि मेखला उन्हें अपना बहुत करीब मानता था। जब भी उसकी कोई गुत्थी अटकती थी तो वह परामर्श करने सोनवारे नरहरि के पास चला आता था।

सबको उम्मीद थी कि सोन बाबू बहुत आत्मीय और अंतरंग भाषण देंगे। उन्होंने कहना शुरू किया तो उम्मीद सिर के बल खड़ी हो गई, ''मेखला के मर जाने का बहुत गम मनाने की जरूरत नहीं है। वह कोई असाधारण प्रतिभा का आदमी नहीं था। उसके जैसे हजारों लोग हैं जो सांसद बन सकते हैं और उससे अच्छा काम दिखा सकते हैं। उसने अपनी दबंगई और अत्याचार से हजारों को अपना शिकार बनाया। सबने उसके मिट जाने की बददुआएं दीं। वह मारा गया तो हजारों खुश हैं। जिन्होंने उसे महान और बड़ा होनहार बताया, दरअसल वे उस परंपरा का पालन कर रहे हैं, जिसके

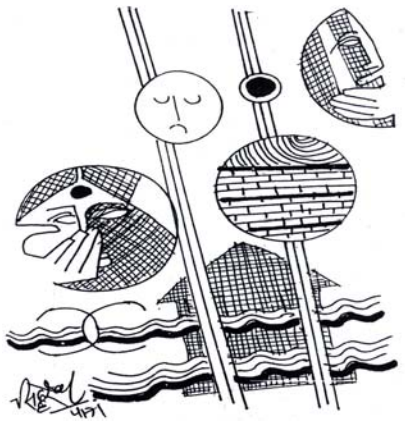

तहत एक फालतू आदमी भी मरते ही गुणों की खान बन जाता है। मेखला बाहुबली था, बर्बर था, ढीठ था, दुष्ट था, क्रिमिनल था और निहायत ही घटिया आदमी था। जब अलग राज्य का आंदोलन चल रहा था, तो वह भी एक आंदोलनकारी था। उन दिनों वह ठीक था, इसी वजह से मेरे करीब था। सांसद बनने तक उसके रास्ते भटक कर जोर-जबर्दस्ती और आतंक की तरफ गहरे धंसते चले गए। पुराने संपर्कों के कारण वह मेरे पास आता रहा। मैं उससे नफरत करने लगा था, लेकिन उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकता था, इसलिए उसका आना और उससे बतियाना मैं मन मसोसकर झेलता

रहा।''

मेखला के चिलमचियों, चमचों, चारणों और चाटुकारों को अब असह्य हो उठा, अब तक उनका धैर्य इसलिए ठिठका हुआ था कि सोन बाबू इस शहर के एक वयोवृद्ध चर्चित विचारक थे। अलग राज्य के आंदोलनकारियों के सलाहकार अथवा थिंकटैंक थे। चारणों को लग रहा था कि वे यह सब कहते हुए उपसंहार में जरूर चौंकानेवाले कुछ भावनात्मक तथ्य रखेंगे। आसार जब क्रमशः जमींदोज होते गए तो पांच-छह आयोजक लौंडों ने अपनी चप्पलें निकाल लीं और सोनवारे नरहरि पर बरसा दीं। (इन दिनों पूरी दुनिया में नाराज होने पर चप्पलें फेंकने का नया फैशन शुरू हो गया था। इस करतूत पर चप्पल खाने वाले तुरंत माफी देकर बड़प्पन दिखा रहे थे।) कुछ ने हाथापाई भी शुरू कर दी और कुछ ने थप्पड़-मुक्के भी जमा दिए। हो हल्ले के बीच सभा यहीं समाप्त हो गई। सोन बाबू को कुछ समझदार लोगों ने बचाकर वहां से निकाल लिया।

उनके लिए यह अप्रत्याशित नहीं था, इस तरह सच बोलने की कीमत वे कई बार चुकाते आए थे। अभी कुछ ही दिन पहले की बात थी। मेखला के साथ का एक लड़का गनौरी बोदरा नए राज्य के अनाड़ी, नवसिखुआ, बिकाऊ और कुर्सी भुक्खड़ विधायकों के बीच निर्दलीय होकर भी मुख्य मंत्री बन गया। चूंकि वह जानता था कि जीवन में उसे दोबारा यह अवसर नहीं मिलने वाला, इसलिए उसने दोनों हाथों से डेढ़-दो साल में राज्य को अधिकतम जितना लूट सकता था, लूट लिया। लेकिन बच्चू को लूटा हुआ धन पचाने की कला नहीं आई। अपने बंधु-बांधवों के साथ पकड़ा गया और जेल में ठूंस दिया गया।

उसके जेल में रहते ही लोकसभा चुनाव की घोषणा हो गई। लग रहा था कि इस चुनाव में वह किसी प्रकार की अखाड़ेबाजी नहीं कर पाएगा। मगर इस आशंका को निर्मूल करते हुए उसने अपनी उम्मीदवारी का पर्चा दाखिल कर दिया। सबकी राय थी कि उसकी जमानत जब्त हो जाएगी। शीघ्र ही यह राय तब डावांडोल होने लगी जब उसके पाले-पोसे नख से सिर तक अघाए लौंडे मैदान में उसके प्रचार के लिए टिड्डियों की तरह उतर आए और बिकने वाले लोगों की गैरत का सौदा कर-करके अपने पक्ष में समां बांध डाला। सोनवारे नरहरि अब तक स्थितियों पर ध्यान टिकाए हुए थे। उन्हें महसूस होने लगा कि हस्तक्षेप अगर नहीं किया गया तो यह शातिर लुटेरा जेल में रहकर भी मैदान मार लेगा। उन्होंने अपने साथ काम करने वाले चार-पांच लड़कों को लेकर उस क्षेत्र में डेरा जमा दिया और उसके खिलाफ कब्रें खोदने लगे। पोस्टर-पर्चा बांट-बांटकर जनसंपर्क किया जाने लगा कि अगर ऐसे भ्रष्ट और नाकारा आदमी की जीत हो जाती है तो इस क्षेत्र के लोगों के लिए एक शर्मनाक घटना होगी। उसके पाप और गुनाह को जन स्वीकृति मिल जाएगी, ऐसे में पूरी दुनिया यहां की जनता के विवेक का मखौल उड़ाने लगेगी। उसने जो कुकर्म किया है, उसकी जगह जेल में ही हो सकती है, न कि संसद में।

खूब अच्छा प्रभाव पड़ रहा था टीम सोनवारे के प्रचार का, तभी एक दिन पूरी टीम लापता कर दी गई। यह किसकी कारगुजारी हो सकती है, जानना किसी के लिए भी मुश्किल नहीं था। टीसो (टीम सोनवारे) के जो लड़के बाहर थे, वे खोजबीन में लग गए। पुलिस उन्हें आश्वस्त कर रही थी

कि वे जल्दी ही उन्हें ढूंढ़ लेंगे और मुक्त करा लेंगे।

सोन का सबसे करीबी सहयोगी व सहचर था जलद प्रसाद। वे आपस में घंटों बातें करते थे। जलद शहर के एक प्रमुख प्रतिष्ठान विधाता स्टील में काम करता था। इस कंपनी के जनसंपर्क विभाग में वह गृह पत्रिकाओं के संपादन का काम देखता था। सोनावारे वहां पार्टटाइम अनुवादक के तौर पर दो-तीन घंटे के लिए प्रतिदिन जाते थे। धीरे-धीरे जलद उनसे बेहद अंतरंग और प्रभावित होता चला गया था। उनके जीवन की सादगी, संघर्ष, मिशन, त्याग, बौद्धिक क्षितिज, ज्ञान कोश तथा उनकी कुछ दिलचस्प व मासूम मूर्खताओं पर वह मुग्ध था। उनके संपर्क ने उसकी जीवन दृष्टि बदल दी थी और उसकी समझदारी का पैमाना काफी ऊंचा हो गया था। नौकरी के कारण उसके पास समय कम था, फिर भी हर विशेष और विषम परिस्थिति में वह उनका साथ देने के लिए तत्पर रहा करता था। उनका लापता हो जाना विषम ही नहीं एक अति विषम परिस्थिति थी। क्या पता गुंडे उनकी हत्या न कर दें, हालांकि मन में यह भरोसा भी था कि इतना बड़ा भयानक दुस्साहस करने की औकात इन गीदड़ों में नहीं हो सकती, चूंकि सोनवारे क्या चीज हैं, यह उन्हें जरूर पता होगा। सूबे की शीर्ष कुर्सी से लेकर गली-कूचों में सक्रिय मामूली कार्यकर्ता तक को इल्म है कि फटीचर से लगने वाले इस बुड्ढे का भूमिगत विस्तार कहां-कहां तक है।

जलद को लगा कि यह समय पुलिस के जिम्मे छोड़कर चुपचाप बैठने का नहीं है। क्या पता मूर्खता में कुछ अनिष्ट ही न कर डालें ये लौंडे। अतः ब्रह्मास्त्र का इस्तेमाल कर लेना उचित रहेगा। ब्रह्मास्त्र के तौर पर उसके पास रुक्मी टेटे थी, जो हाईकोर्ट में अधिवक्ता थीं। एक बहुत ही काबिल वकील के तौर पर पूरे सूबे में उनकी पहचान थी। कई पेचीदे मुकदमों को सुलझाकर वह कई बार सुर्खियां बटोर चुकी थीं। पुलिस, प्रशासन और राजनीति आदि सभी क्षेत्रों पर उनका गहरा प्रभाव था। सोनवारे जी की वह खास शुभचिंतक थी....उनके लिए हरदम कुछ भी कर गुजरने को तत्पर....उनके साधारणपन में विद्यमान असाधारणपन पर पूरी तरह न्योछावर....उनकी संघर्षशीलता, उनकी जीवटता, उनकी निर्भीकता, उनकी बौद्धिकता आदि गुणों पर दीवानगी की हद तक सम्मोहित।

दोनों ने अपने कैरियर की शुरुआत जीवन बीमा निगम में नौकरी ज्वाइन करके की थी। वहीं दोनों ने एक-दूसरे को पहचाना था और क्रमशः काफी नजदीक होते चले गए थे। सोन उन्हीं दिनों यूनियन में सक्रिय होकर अग्रिम पंक्ति में तेजी से दाखिल हो गए थे। जहां कहीं भी संगोष्ठी, सम्मेलन, सभा होती, वहां वे मौजूद होते, सवाल करते, भाषण सुनते, भाषण देते। कर्मचारियों के हितों और उनकी मांगों के लिए हमेशा सजग और आंदोलन के लिए तैयार। यूनियन के हवाले से ही उन्होंने दुनिया में मौजूद बराबरी और गैरबराबरी का गणित समझा तथा उसके समाधान के तमाम सिद्धांतों का गहन अध्ययन किया। जो रास्ता उन्हें ज्यादा से ज्यादा जनोन्मुख, कारगर और तार्किक लगा, वे उसके समर्थक दलों और कार्यकर्ताओं से गहरे जुड़ते चले गए। रुक्मी से वे अपना विचार बांटते थे और वह ध्यानमग्न होकर उन्हें सुनती थी। ऐसा ही कोई कहने-सुनने का भावविभोर क्षण रहा होगा जब रुक्मी ने उन्हें प्रपोज कर दिया था।

''सोन, मैं तुम्हें कैसी लगती हूं ?''

''जाहिर है अच्छी लगती हो, तभी तो तुमसे हर बात शेयर कर लेता हूं लेकिन तुम ऐसा क्यों पूछ रही हो?''

''पूछ रही हूं कि अगर मैं अच्छी लगती हूं तो मुझे भी तुम अपने गंतव्य पर पहुंचने में सहयात्री बना लो। मैं जब कल्पना करती हूं कि मेरा जीवन साथी कैसा हो, तो बार-बार मेरी आंखों में तुम्हारा बिंब उभर आता है।''

''रुको, तुम सचमुच बहुत अच्छी हो, इतनी अच्छी कि मैं तुम्हारे लिए एकदम अनुपयुक्त चुनाव हूं। मेरा गंतव्य बहुत मुश्किल है, तुम्हें अपने साथ चलाकर थकाने का अपराध मैं नहीं कर सकता। मैं इस नौकरी में ज्यादा दिनों तक बना नहीं रह पाऊंगा। मुझे इस मुल्क के उन अस्सी-नब्बे प्रतिशत आम आदमियों के सरोकारों और मुश्किलों में शामिल होना है, जिनकी हालत लगातार बद से बदतर होती जा रही है।''

''क्यों, तुम्हें क्या लगता है मैं उन अस्सी-नब्बे प्रतिशत में नहीं हूं ?''

''थे कभी, जब तुम्हारे बाबा कुली-कबाड़ी का काम करते थे। अब तो तुम एक अच्छी भली तनख्वाह वाली नौकरी में हो। व्यवस्थित और आरामतलब जीवन गुजार रही हो। तुम्हारे पास ऊंची तालीम है, कल को तुम्हें बहुत आगे जाना है।''

''तो यह कारण हो गया मेरे अयोग्य होने का ?''

''नहीं रुको, अयोग्य तुम नहीं दरअसल मैं हूं तुम्हारे मुकाबले। मुझमें बहुत सारी बुराइयां हैं जो दिखती नहीं हैं। मैं तुम्हें ईमानदारी से बता रहा हूं कि संपूर्णता में मैं एक अच्छा आदमी नहीं हूं। कई मामलों में मैं एकदम कंफ्यूज्ड हूं। मैं एक अच्छा पति नहीं हो सकता। मुझे गुस्सा बहुत आता है, धैर्य की कमी है मुझमें, मतलब शार्ट टेंपर हूं, चीखने लगता हूं। मेरे मुंह से गालियां बहुत निकलती हैं। मैं नास्तिक नहीं हूं, लेकिन मंदिर जाने, पूजा पंडाल जाने, घर में पूजा घर बनाने से मुझे सख्त चिढ़ है। ये सारे कर्मकांड मुझे बेहद बेवकूफी भरे लगते हैं। गृहस्थी वाला काम करना भी अच्छा नहीं लगता। सब्जी लाना, राशन लाना, दूध लाना, नियम और अनुशासन में रहना, परंपरा और रीति-रिवाज में चलना, त्योहार और जश्न मनाना, तफरीह करना, किसी को खुश करने के लिए कसीदे पढ़ना, नहीं होता मुझसे। बोलो, ऐसे आदमी के साथ क्या कोई निर्वाह कर सकेगा? मैंने इन्हीं कारणों से जीवन पर्यंत अकेले रहने का संकल्प लिया हुआ है।''

''मैं अगर कहूं कि तुम इन तमाम आदतों के साथ मुझे स्वीकार्य हो तो? बल्कि मैं कहना चाहती हूं कि तुम अपनी इन्हीं आदतों के कारण मुझे और भी ज्यादा पसंद हो।''

''देखो रुको, जानबूझकर खुद को ऐसी सुरंग में प्रवेश करा देना, जहां से वापसी मुमकिन ही न हो, अक्लमंदी नहीं है। तुम अगर मुझे वाकई प्यार करती हो तो मुझे बांधकर नहीं, मुझे मुक्त छोड़कर मेरी ज्यादा मदद कर सकती हो, हम एक-दूसरे के सान्निध्य को ज्यादा इंज्वाय कर सकते हैं। तुम यह मत समझना कि तुम्हारे निवेदन को अस्वीकार करके मैं कहीं से भी तुम्हें ठेस पहुंचा रहा हूं। दरअसल मैं भी तुम्हें उतना ही या कहीं उससे ज्यादा प्यार करता हूं, जितना तुम मुझे करती हो।

यही कारण है कि मैं नहीं चाहता कि मेरी छाया से तुम्हारे भविष्य पर ग्रहण लगे।''

''तो ठीक है, तुम्हें पूरा हक है कि तुम अपने रास्ते जैसे चाहो चल सको। मैं भी यहां एक आजादी ले लेती हूं। मुझे भी पूरी उम्र अकेले रहना है। मेरे जीवन में तुम नहीं तो फिर कोई नहीं।''

''ऐसा करोगी तो तुम्हारे एकाकी होने का अपराध जीवन भर मेरे साथ लगा रहेगा। एकाकी जीवन बहुत नीरस होता है। हमारी जो सामाजिक संरचना है, उसमें कदम-कदम पर एक साथी की जरूरत होती है।''

''तुम्हें जरूरत नहीं है?''

''जरूरत है, लेकिन मैंने जो जीवन चुना है उसमें किसी का साथ लेकर न्याय नहीं कर पाऊंगा।''

''जानती हूं कि वकालत मैंने पढ़ी है, लेकिन जिरह में हमेशा मुझसे तुम्हीं जीतते रहे हो। ठीक है, इतना अधिकार तो दोगे कि जब मुझे लगेगा कि तुम्हारे रास्ते में कोई कांटा आ गया हो या पैर में चुभ गया हो तो मैं उसे हटा सकूं.....कोई जख्म लग गया हो तो मैं मरहम लगा सकूं। भगवान न करे इसकी नौबत आए, लेकिन अब तक तो मैंने यही देखा है कि कांटे तुम्हारे रास्ते में बिछने के लिए या फिर तुम्हारे पैरों में चुभने के लिए अनायास प्रकट होते रहते हैं।''

सोन बाबू ने अपनी आंखें बंद कर लीं, लगा जैसे कान के रास्ते कोई सुधा रस आत्मा में प्रवेश कर गया हो। अपने चेहरे पर एक कृत्तज्ञ और मुग्ध भाव लाकर उन्होंने कहा, ''आज मैं अपने को बहुत क्षुद्र महसूस कर रहा हूं रुक्मी, काश, मैं तुम्हारे प्यार से भरे लबालब गागर को अपने हृदयतल में रखने लायक होता। कोई बीमार आदमी उपचार देनेवाले को भला कभी मना करता है। तुम जिस तरह की सदाशयता प्रकट कर रही हो, मेरा भी कभी-कभी मन होता है कि मैं क्यों नहीं स्थाई रूप से बीमार हो जाऊं?''

रुक्मी ने उसकी पेशानी को चूम लिया, ''नहीं सोन, मैं इतना स्वार्थी नहीं हूं। जाओ, मैंने तुम्हें मुक्त किया, लेकिन जब भी तुम मुझे याद करोगे अपने पास पाओगे। भले ही समझौते के तौर पर मेरे जीवन में कोई दूसरा पुरुष भी क्यों न आ जाए।''

कुछ ही दिनों बाद रुक्मी ने जीवन बीमा निगम से इस्तीफा दे दिया और रांची चली गई। वहां उसने उच्च न्यायालय में वकालत शुरू कर दी। ज्यादातर वह गांव के ऐसे-ऐसे गरीब-गुरबों के मुकदमे लड़ने लगी जो साधन के अभाव में बीच में ही मुकदमा छोड़कर अपना बहुत कुछ गवां देते हैं।

जलद ने उसे जब टीम सोनवारे के अपहरण की सूचना दी तो उसने पुलिस महानिरीक्षक से लेकर मुख्यमंत्री तक जमीन-आसमान एक कर दिया और उन सबकी कुर्सियां झकझोर दीं।

सोन और उनके साथी अगले ही दिन मुक्त हो गए लेकिन उनके लिए यह एक गहरे सदमे का सबब बन गया कि उनकी टीम की लाख कोशिश के बाद भी बोदरा जेल से ही चुनाव जीत गया। उन्हें इसका गहरा दु:ख हुआ कि वे लोकतंत्र की जात-पांत और खरीद-बिक्री से बनी गंदी तस्वीर पर जरा सा भी अपना प्रभाव नहीं डाल सके।

सोन को जहां चाहनेवाले असंख्य थे, वहीं उनके दुश्मन भी कम नहीं थे। खासकर बोदरा के वे निकटवर्ती लोग जो उसकी इफरात काली कमाई का तीन-तेरह करने वाले चट्टे-बट्टे थे। वे उनके पीछे लग गए थे और किसी भी तरह कैंची में लेकर उन्हें घसीटना चाहते थे। ढूंढते-ढूंढते उन्हें एक क्लू मिल गया। अपने पड़ोस में रहने वाले दो विपन्न आदिवासी परिवार की दो होनहार और मेधावी लड़कियों को उन्होंने अपने दो परिचित और विश्वासी उच्च अधिकारी के घर दिल्ली भिजवा दिया था, इस शर्त पर कि वे घर का काम लेने के साथ ही जहां तक पढ़ सकती हैं, उन्हें पढ़ाएंगे और प्रगति की सूचना से आगाह रखेंगे।

सोन बाबू अपने हिस्से का एक जरूरी दायित्व समझकर मोहल्ले के बच्चों को बुलाकर पढ़ाने का कुछ समय निकाल लेते थे। चूंकि वे जानते थे कि खस्ताहाल सरकारी स्कूल की खानापूरी पढ़ाई पढ़ने वाले इन बच्चों को ट्यूशन पढ़ने की हैसियत नहीं है। वे भाड़े का घर लेकर रहते भी थे प्रायः उन्हीं मोहल्लों में जहां निम्न तबके के लोग रहते थे। बच्चों को पढ़ाते हुए ही उन्हें किसी-किसी बच्चे में दूर तक जाने की कौंध दिखाई पड़ जाती थी और वे उनके लिए खास इंतजाम में लग जाते थे। इन्हीं में शामिल थीं सुलोना टुडू और लुपू एक्का। खूब चुलबुली, स्मार्ट और तीक्ष्ण बुद्धि। इनके इंटर पास करने तक तो दिल्ली से सूचना आती रही थी, साथ ही इनके घर में हजार-पांच सौ का मनीआर्डर भी आता रहा था। कब इनसे लिंक टूट गया, इस पर वे भी ध्यान नहीं दे पाए और उनके घरवालों ने भी कभी कुछ नहीं कहा। साल-डेढ़ साल में तो वे घर भी आती रहीं और खूब प्रसन्नता प्रकट करती रहीं। सोन बाबू के प्रति कृत्तज्ञता जताते हुए उनसे आशीर्वाद भी ग्रहण जरूर कर जातीं।

इधर कुछ महीनों से झारखंड की लड़कियों की तस्करी की खबरें प्रायः सुनने-पढ़ने को मिलने लगीं। कुछ धंधेबाजों और दलालों द्वारा बहला-फुसला कर इन्हें यहां से ले जाकर बेच दिया जाता। ये या तो बंधुआ दाई बना ली जातीं या फिर यौन शोषण के कोठे पर पहुंचा दी जातीं। इन दलालों के तार विभिन्न खाड़ी देशों तक से जुड़ गए थे। शेखों के हरम की जरखरीद बांदी के तौर पर इन निरीह लड़कियों के ऊंचे-ऊंचे सौदे भी होने लगे।

बोदरा के लुंपेनों ने सुलोना और लुपू के घरवालों को बरगला कर उनके माथे में यह घुसेड़ दिया कि सोनवारे ने तुम लोगों की बेटियों को दिल्ली में बेच दिया है। झांसा देने के लिए कुछ दिनों तक वहां से पैसे आते रहे और अब उनका कोई अता-पता नहीं है कि वे कहां हैं। सोनवारे एक घटिया और दुष्ट आदमी है जो यहां के भोले-भाले लोगों को शुभचिंतक का चेहरा दिखाकर बेवकूफ बनाता है।

घरवालों ने अपने समाज और रंग-रूप के होने के कारण इन लड़कों का कहा सच मान लिया। वे सोन बाबू से जवाब-तलब करने लगे। सोन ने फोन से दिल्ली संपर्क किया। वहां से बताया गया कि ग्रेजुएशन करने के बाद ही दोनों ने घर छोड़ दिया यह कहकर कि वे शादी करके अपनी अलग गृहस्थी बसाने जा रही हैं। अभी वे कहां हैं इसकी उन्हें जानकारी नहीं है।

इस जवाब से घर वाले संतुष्ट नहीं हुए, या कहा जाए कि लड़कों ने उन्हें संतुष्ट होने नहीं दिया। उनकी जो मंशा थी, उसके तहत कुछ लड़कों ने गाली-गलौज करके उन्हें बेइज्जत करते हुए थप्पड़-

मुक्के चलाकर भी खुंदक के जबड़े को थोड़ा चारा दे दिया।

अगले दिन थाने में प्राथमिकी दर्ज करा दी गई और वे शाम को गिरफ्तार कर लिए गए। थानेदार उनका वजन जानता था और यह इल्जाम उसके भी गले नहीं उतर रहा था, लेकिन सांसद के गुर्गों और उसके समाज के लोगों के दबाव के आगे वह मजबूर हो गया।

अगली सुबह स्थानीय अखबारों की यह सुर्खियां बन गईं कि सोनवारे नरहरि आदिवासी लड़कियों की तस्करी के आरोप में गिरफ्तार किए गए।

जलद प्रसाद और टीसो के अधिकांश लड़के खबर पढ़ते ही हाजत पहुंच गए।

सोन बाबू ने उनके हैरान-परेशान चेहरे को देखते ही कहा, ''तुम लोग इतने घबराए हुए क्यों हो? मैं यहां हूं, इसका जिम्मेदार मैं खुद ही हूं। क्या पता जो इल्जाम मुझ पर लगाया जा रहा है, उसमें सच्चाई हो। जिन लोगों पर मैंने विश्वास किया था, उन लोगों ने ही कोई दगा कर दिया हो। यह तो सच है कि झारखंड की मासूम और इनोसेंट लड़कियों के साथ लगातार नाइंसाफी हो रही है। क्या पता, मैंने जिन्हें भेजा है, वे भी किसी चंगुल में फंस गई हों।''

''सुना है, आपके साथ बोदरा के गुंडों ने मारपीट की है?''

''यह कौन सी नई बात हो गई, उनकी तो यह फितरत ही है।''

उनके ललाट पर बायीं आंख के ऊपर एक बड़ा सा गूमड़ दिखाई पड़ रहा था, जो निश्चय ही चोट लगने से उभर आया था।

''आपका तो इलाज होना चाहिए और इन लोगों ने आपको हाजत में बंद कर दिया है।'' जलद ने गूमड़ पर नजर टिकाते हुए कहा।

''नहीं....नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूं, तुम लोग चिंता मत करो।''

जलद ने अपने थैले से निकालकर एक टिफिन बॉक्स थमाया। ''घर की बनी चपातियां हैं, आप खा लीजिएगा। मैं अभी आया।''

जलद ने रुक्मी को फोन से पूरी जानकारी दी। वह सब कुछ छोड़-छाड़कर टाटा के लिए कूच कर गई।

एसपी ने जमानत देने से असमर्थता जता दी। शायद ऊपर से कोई दबाव दे रहा था। इसके साथ ही चूंकि अर्से से लड़कियों की तस्करी और उनके साथ हो रहे अमानवीय कृत्य की वारदातें सुर्खियां बनी हुई थीं, जो पुलिस प्रशासन और सरकार के लिए एक सिरदर्द बन चुका था। इसलिए वे इसे हल्के से लेने की स्थिति में नहीं थे। एसपी ने बताया कि बेल कोर्ट से ही लेना संभव होगा।

रुक्मी जलद को कुछ जरूरी हिदायतें थमाकर रांची लौट गई। वह सोन से मिलकर भावना और सहानुभूति के मर्म को आर्द्र नहीं करना चाहती थी। रांची लौटकर उसने दिल्ली के लिए पहला फ्लाइट ले लिया। सुलोना और लुपू को किस अधिकारी के पास भिजवाया गया है, वह जानती थी।

दिल्ली से लौटने में उसे तीन दिन लग गए। इस बीच उसने उन दोनों लड़कियों को सुराग दर सुराग टोहते हुए ढूंढ लिया और उन्हें अपने साथ लेकर आ गई।

जलद और टीसो रुक्मी मैम की सूझबूझ भरी अचूक पहलकदमी देखकर अभिभूत हो गए।

लुपू और सुलोना के साथ उनके दो होनहार और कर्मठ पति भी ले आए गए थे।

कोर्ट में जब उनकी पेशी हुई और वे कठघरे में खड़े हुए तो रुक्मी ने खुद ही वकील की भूमिका निभाते हुए दोनों लड़कियों को पेश कर दिया।

दोनों ने लगभग विलाप करते हुए से स्वर में कहा, ''हमने तो अपने घरवालों को हर जानकारी दे रखी है, अपनी शादी के बारे में भी। गलती ये हो गई कि हमने सोन अंकल को इत्तिला नहीं किया। हमारे घरवालों ने किसी के बहकावे, लालच या दबाव में आकर जान-बूझकर इन पर तोहमत मढ़ा है। हम बेहद शर्मिंदा हैं कि हमारे चलते देवता जैसे अंकल को इस तरह जलील होना पड़ा। इन्होंने तो हमारा जीवन संवार दिया, नर्क से निकालकर स्वर्ग की राह दिखा दी, बदले में हमने इन्हें तोहफा दिया जेल की फजीहत झेलने का। धिक्कार है हम पर।''

सोन जब घर पहुंचे तो दोनों लड़कियां उनके पैरों पर लोट गईं और फूट-फूटकर रोने लगीं। लुपू ने कहा, ''हम आपके अपराधी हैं अंकल, हमारे घरवालों ने जो किया है, उन्हें हम कभी माफ नहीं करेंगे।''

सुलोना ने कहा, ''हमने पिछले महीने ही उन्हें पैसे भिजवाए हैं। हम दोनों वहां हाई स्कूल में टीचर हो गए हैं और ये हमारे हसबैंड हैं। ये हैं सेतराम हेंब्रम मेरे पति और ये हैं कुंजल लकड़ा लुपू के पति। दोनों सरकारी नौकरी में हैं।''

सोन बाबू ने निश्छल भाव से दोनों को उठाया और छाती से लगा लिया। कहा, ''तुम लोग चिंता न करो बेटे, कुछ नहीं हुआ मेरे साथ। तुम लोगों ने मौके का भरपूर फायदा उठाया और एक अच्छा मुकाम हासिल किया, मुझे बहुत खुशी हो रही है। अपने-अपने घर जाओ और घर वालों से खूब प्यार से मिलो।''

रुक्मी चुपचाप सामने बैठी हुई उन्हें एकटक देख रही थी। सोन ने कहा, ''बहुत भाग-दौड़ करनी पड़ी न तुम्हें, फिर तुम मुझे गुस्से से देखो न, प्यार से क्यों देख रही हो?''

''ये लल्लू-पंजू-नत्थू-खैरू तुम पर हाथ उठाते हैं, मुझसे सहा नहीं जाता। क्यों रहते हो ऐसे मोहल्ले में?''

''इनके जैसे लोगों को ही मेरी जरूरत है रुको, उनमें सही-गलत में फर्क करने का विवेक पैदा हो, यही तो हमें करना है।''

मुग्ध भाव से कुछ पल निहारती रही रुक्मी। फिर अंदर जाकर एक कटोरे में गर्म पानी ले आई। ''पेशानी में उगे गूमड़ अब तक पिचके नहीं हैं, लाओ इस पर सेंक लगा देती हूं।''

कपड़े भिंगो-भिंगो कर सेंक लगाते हुए उसने पूछा, ''चोट तो और भी कई जगह लगी होगी, डॉक्टर को बुला दूं?''

''नहीं....नहीं, उसकी कोई जरूरत नहीं है। मैं बिल्कुल ठीक हूं। तुम्हें एक बात बतानी थी?''

''हो बोलो।''

''लच्छू बड़ाइक की बेटी झुल्लो और मोहन माझी की बेटी पुजिया हैं, पढ़ने में बहुत मेधावी और विलक्षण। काफी अच्छा अंक लेकर मैट्रिक पास कर गई हैं, अब आगे पढ़ नहीं पाएंगी। मां-

बाप इनकी शादी करके गोबर पाथने और चूल्हा फूंकने में लगा देंगे। मुंबई में अपने पुराने साथी मेघा सावरकर और शिवराम परांजपे हैं। 'मजदूर यूनियन की कुंद होती धार' पर यहां जो सम्मेलन हुआ था, उसमें मेघा भी आई थी और शिवराम भी। मैंने तुम्हें मिलवाया था उनसे। दोनों एक अर्से से कह रहे हैं कि उन्हें घर संभाल देने वाली दो सुघड़ लड़कियां चाहिए। मेघा के पति जब से गुजरे, समाज सेवा में ही लगी रहती है और शिवराम दंपति को तो कोई देखनेवाला नहीं है। उनके दोनों बेटे अमेरिका में जाकर बस गए हैं। मेघा और शिवराम ने कह रखा है कि जो भी बच्ची आएगी, वे उसे अपनी बेटी की तरह रखेंगे और जहां तक पढ़ना चाहेगी, वे पूरा साथ देंगे। सोचता हूं कि अगले महीने दोनों को मुंबई भेज दूं।

रुक्मी टेटे उनकी निर्विकार आंखों को एकटक देखती रही गई थी।

***

जंजीर

ज्योति कुमारी

''हाय आयशा...''

''हाय दीपिका, कैसा रहा सफर?''

''ये बाद में बताऊंगी, पहले ये बता बाकी सब आ गईं?''

''हां सोनम, नैंसी, मारग्रेट, नताशा और संगीता आ गई हैं।''

''नफीसा नहीं आई?''

''नहीं, वह नहीं आ पाएगी। एक महीने की बेबी को लेकर आना जरा मुश्किल है...''

''उसके हस्बैंड की पोस्टिंग रूरल एरिया में है न...''

''ओह! आती तो अच्छा रहता। चार साल हो गए मिले हुए।''

''हां, चाहती तो मैं भी यही थी, लेकिन उसकी भी मजबूरी है। वैसे उसने अपनी कजन आलिया को भेजा है, शादी अटेंड करने...''

''वही कजन जो उसके साथ ही रहती आई है बचपन से...''

''हां वही...''

''कहां है वह, मिलवा न.... और सब कहां हैं? कितने दिन हो गए सबसे मिले हुए? तेरे भैया की शादी के बहाने चलो एक बार फिर गेट-टूगेदर हो जाएगा, हम सब फ्रेंड्स का...''

''हां, यार कॉलेज के बाद तो अब बस शादी-ब्याह पर ही हम सब मिल पाते हैं। नफीसा की शादी के बाद अब मौका मिला है, चार साल बाद...''

''अरे तुम लोगों की रामायण गाथा तो यूं ही चलती रहेगी, चल आ, पहले गले लग जा...''

''हां, दीपिका सोनम ही नहीं हम सब भी क्यू में हैं तुझे हग करने को...''

''हे गर्ल्स फटाफट तैयार हो जाओ 7.30 बजे बारात निकलनी है, 5 बज गए हैं...''

''अरे भाभी हम लोग तो पुराने दिनों को याद करने में मशगूल रह गईं और आप रेडी भी हो

गईं...''

''आप लोग आराम से तैयार हो जाइए... मुझे गिढारी करनी है इसलिए जरा जल्दी तैयार हो गई...''

''ओफ्फोह भाभी यह क्या कर रही हैं, इतना सुंदर जूड़ा बनाया है, जूड़े में ये मोती तो चांद तारे की तरह जगमगा रहे हैं, अब इतना घूंघट करने के चक्कर में इसे पूरा लेंगी तो इतने सुंदर जूड़े का क्या फायदा...''

''ये गांव है दीपिकाजी, यहां शर्म-लिहाज ही सबसे बड़ी सजावट है... सबसे बड़ा शृंगार... अब शहरवालियों की तरह बेशर्मी तो हम नहीं कर सकते हैं न... आपकी उम्र की बेटी है मेरी, लेकिन मजाल है कि कभी उघार माथा देखा हो कोई...''

''ऐसा नहीं है भाभी कि शहरवालियां बेशर्म होती हैं... शर्म-लिहाज का माथा ढंके रखने या लंबी घूंघट से क्या रिश्ता... शर्म-लिहाज तो आंखों में होना चाहिए, दिल में होना चाहिए, व्यवहार में होना चाहिए...''

''हां भाभी, दीपिका ठीक कह रही है, सुंदर दिखना कोई बेशर्मी थोड़े ही है...''

''सुंदर कोई शहरवाली गांववाली से ज्यादा थोड़े दिखती है... मसोमात जैसा चेहरा बनाए रहती है... अरे सेनूर-टिकुली, गहना-जेवर से ही तो सुंदर लगती हैं औरतें। गहना-जेवर जितना ठोस-ठोस हम लोग के पास है, किसी शहरवाली की औकात है इतनी। फिफनी-फिफनी जइसन जेवर पहनती है, सिंदूर दिखता नहीं, बिंदी लगाती नहीं। क्या तो सुंदर लगती है...''

''भाभी यह औकात की कमी नहीं है, यह फैशन है...''

''आग लगे अइसन फैसन में..... और फैसन-वैसन क्या रहेगा, वह कहते हैं न कि उतना खर्चा नहीं कर सकते तो अंगूर खट्टे हैं...''

''आप बिलकुल गलत सोच रही हैं भाभी, खर्चे की तो बात ही मत करिए, जितने में आप सोने का जेवर खरीदती हैं न, उससे ज्यादा तो हम शहरवाली अपने फाउंडेशन, लिपस्टिक, काजल, रूज, आई लाइनर, मस्कारा जैसे कॉस्मेटिक्स और ब्यूटी पार्लर की सिटिंग्स लेने में खर्च कर देती हैं...''

''पाउडर-इस्नो पोतने से क्या होता है, गांववाली के चेहरे पर जो चमक रहती है, शुद्ध हवा-पानी, शुद्ध खाना, शुद्ध दूध-घी की, कोई शहरवाली क्या खा के लाएगी ऐसी चमक। मुझे ही देखिए आपके जितनी बड़ी बेटी बेटी है। नाती-पोता वाली हो गई हूं, लेकिन आज भी चेहरे पर जो चमक है वह तो आयशाजी के चेहरे पर भी नहीं है, जबकि आयशा मेरी बेटी से बस छह महीने बड़ी हैं... शहरवालियों की तो हड्डियां दिखती रहती हैं, गाल धंसे हुए, पेट घुसा हुआ, न रौनक, न चमक, न बाल में तेल, उलझे फैले भूरे बाल... जैसे गांव में गरीब लड़कियों के बाल तेल-वेल के बिना कैल, रूखे और झखरल, ई तो एकदम भिखमंगनी वाला रूप है... मैं ज्यादा पढ़ी-लिखी तो नहीं हूं, लेकिन बचपन में एक कविता पढ़ी थी मैंने... पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक... यही रूप है न आज के जीरो फीगर का... आप बुरा मत मानिएगा, लेकिन सच्चाई तो यही है कि पैसे वाले का रौनके अलग रहता है... मेरी बेटी को देखिए, मारवारनी जैसी लगती है... गोरी दप-दप, कोई

उंगली मार दो तो तो खून निकल आए... गाल एकदम गुलाबी-गुलाबी... देख के ही लगता है कि खाते-पीते घर की है...''

''भाभी आपने तो हद कर दी... भिखमंगनी... ओह, बैठिए, मैं आपको समझाती हूं। बात दरअसल यह है भाभी कि खाते-पीते घर की लगने के लिए अब थुलथुला दिखना जरूरी नहीं... अब यह सुंदरता का पैमाना नहीं रहा। अब ऐसी लड़कियों को लोग आंटीजी बोलते हैं।''

''मतलब?''

''मतलब बेडौल, बदसूरत, एजेड...''

''क्या बकवास कर रही हैं दीपिकाजी...''

''बकवास नहीं भाभी, सच कह रही हूं। आजकल फिगर मेंटेन करने का जमाना है। जीरो फीगर का। गोरी, तंदुरुस्त, लाल-लाल जिसे आप मारवारनी जैसी कहती हैं न उसका जमाना लद गया। अब तो सुंदर का मतलब है- चिक बोन दिखना, पतली कमर, फ्लैट पेट... आपको पता है भाभी हम लोगों के ऑफिस में जिम फेसिलिटी इसीलिए है, ताकि स्टॉफ खुद को मेंटेन रख सकें।''

''क्यों स्टॉफ मोटा हो या पतला, इससे क्या फर्क पड़ता है? ऑफिस को तो काम से मतलब है न?''

''काम तो इंपोर्टेंट होता ही है भाभी, लुक भी बहुत इंपोर्टेंट होता है। इससे क्लाइंट पर अच्छा असर पड़ता है न इसलिए। निकला हुआ पेट, फूला-फूला गाल, थुलथुल होना इन सबको आलस की निशानी माना जाता है। हेल्थ के प्रति, ब्यूटी के प्रति, इन फैक्ट खुद के प्रति लापरवाह माना जाता है। और कंपनी मानती है कि जो आलसी प्रवृति के होते हैं, वही ऐसा करते हैं और उन्हें नौकरी पर रखना कंपनी के लिए फायदेमंद नहीं है। जो खुद के प्रति लापरवाह होते हैं वह कंपनी और काम में भी तो लापरवाही ही बरतेंगे न। इसीलिए भाभी ऐसे लोगों को कंपनी वाले अपने यहां रखना ही नहीं चाहते हैं। बीच में आयशा का पेट थोड़ा निकल गया था तो पता है, कंपनी से नोटिस मिल गया कि तीन महीने में वह टमी कंट्रोल करे वरना उसे नौकरी से निकाल दिया जाएगा।''

''अच्छा?''

''हां, भाभी।''

''तभी फिर से सूख गई हैं आयशा। आग लगे ऐसी नौकरी को। ऐसा पैसा किस काम का जिससे भरदम खा तक नहीं सकता आदमी। मैं तो जरा सी पतली हो जाऊं तो मेरी गोराई, चमक सब फीकी पड़ जाती है। मुझे तो टेंशन हो ही जाता है, बाकी सब भी डांटने लगते हैं कि झुर्री जल्दी आ जाएगी, जल्दी ही बूढ़ी हो जाएगी। अच्छा है कि गांव में हूं मैं... पचास साल में भी जवान। शहर में रहती तो तीस साल में ही बूढ़ी लगने लगती।''

''ऐसा नहीं है भाभी...''

''ऐसा ही है... देखो तो आज तक मेरे बाल काले हैं और आप लोग अभी से बालों को लाल, नारंगी, नीला कर-करके पका बाल छिपा रही हैं।''

''एक भी बाल पका नहीं है, यह तो फैशन है भाभी...''

''क्या! कोई काले बालों पर भी रंग पोतता है... हाय! भगवान बचाए ऐसे फैशन से... पता नहीं कैसा-कैसा फैशन चला है आजकल, सदा से तो काले बाल ही अच्छे माने जाते रहे हैं। खैर छोड़िए, तैयार हो जाइए जल्दी।''

''मैं तो तैयार हो गई भाभी...''

''ये साड़ी पहनकर जाएंगी आप बारात...''

''हां और क्या! क्यों? इसमें क्या खराबी है!''

''पूरा देह झलझल दिख रहा है, पेटीकोट का नाड़ा तक...''

''ओह भाभी आप भी न 55000 रुपये की साड़ी है यह, नेट की साड़ी का क्रेज है आजकल।''

''ई तो मच्छरदानी का कपड़ा है दीपिका जी, इसके 55000 रुपये! ठग लिया आपको... मेरी साड़ी देखिए, 20000 रुपये की है ये, प्योर बनारसी, इसकी बराबरी करेगा आपका यह नेट-तेट...''

''आजकल बनारसी कोई नहीं पहनती है भाभी। ई सब आउटडेटेड हो गया है। आउट ऑफ फैशन।''

''सिल्क और बनारसी भी कभी फैशन से बाहर होता है दीपिकाजी। कभी नहीं।''

''लेकिन भाभी शहर में कोई नहीं पहनती है अब यह सब?''

''कहां से पहनेगी शहरवाली बनारसी। बनारसी खरीदने के लिए गट्स चाहिए...''

''भाभी आपकी बनारसी साड़ी 20000 की है और मेरी नेट की साड़ी 55000 की। अब पैसा मैटर नहीं है ये तो स्पष्ट है। मेन बात यह है भाभी कि अब शहर में ई सब आउट ऑफ फैशन हो गया है। कोई नहीं पहनती।''

''कोई कैसे नहीं पहनती है। चाचीजी तो हमेशा बनारसी ही पहनती हैं। वो भी तो शहर में ही रहती हैं। आपको पता है- शादी-ब्याह, पार्टी-फंक्शन में ही नहीं वो तो मॉर्निंग वॉक तक बनारसी सूट में ही करती हैं। कमाल की लगती हैं उसमें। चाचाजी के सारे दोस्त कहते हैं- भाभीजी तो हमेशा महारानी जैसी दिखती हैं। एकदम राजसी कपड़े-गहने। चाचाजी तो बचपन से ही शहर में रहे हैं, वहीं पढ़े-लिखे, कामकाज भी वहीं। उनसे ज्यादा शहरी कौन होगा। लेकिन फिर भी... पता है आपको अगर एक दिन भी चाचीजी कॉटन या कोई और सूट पहन लेती हैं तो उस दिन उन्हें चाचाजी अपने साथ नहीं ले जाते हैं।''

''मैं तो ऐसे देहाती की तरह तैयार होऊं तो सुधीर मुझे अपने साथ खड़ी भी न होने दें और कंपनी में सब बहनजी, आंटीजी, विलेज गर्ल और पता नहीं क्या-क्या कहकर जीना हराम कर दें। मॉर्निंग वाक के लिए तो ट्रैक सूट या टी-शर्ट ट्राउजर ही ट्रेंड में है। सलवार-सूट वो भी बनारसी... सुधीर तो फिर कभी साथ न ले जाएं वाक पर... जरा सा क्रीज खराब हो मेरे ट्रैक सूट का तो उस दिन सुधीर अकेले ही चले जाते हैं वॉक पर... बनारसी पहन लूं तो सब कहेंगे कि संजने-संवरने तक का शऊर नहीं है।''

''अच्छा!''

''हां भाभी, संजने-संवरने का भी तरीका होता है। बहुत प्रैक्टिस से ही सीखकर उसमें पारंगत हुआ जा सकता है। तभी तो ब्यूटीशियन इतना ज्यादा चार्ज करती है मेकअप करने का। आप लोग की तरह तैयार होना तो बहुत आसान है, लेकिन करीने से तैयार होना, जैसे हम लोग तैयार होते हैं... आसान नहीं है। जैसे देखिए- आपने काजल लगा लिया... हो गया आपकी आंखों का मेकअप। लेकिन मुझे देखिए- पहले फाउंडेशन और कांपैक्ट पाउडर का टच कांप्लेक्शन के एकॉर्डिंग कांप्लेक्शन उभारने के लिए फिर काजल, पलकों को खूबसूरत बनाने के लिए आई शैडो, वह भी पिंक साड़ी है तो पिंक आई शैडो, फिर पलकों को हैवी दिखाने के लिए आई लाइनर, बरौनियों को घना दिखाने के लिए मस्कारा, पलकों के अनुसार आंखों का शेप उभारने के लिए काजल को और चौड़ा किया है मैंने। मेरी आंखें छोटी हैं न, इसलिए चौड़ा गाढ़ा काजल, ताकि आंखें बड़ी दिखें। खास मौका है इसलिए फॉल्स आई लैशेज लगाया है, पलकों पर ग्लिटर का टच दिया है और मुझ पर नीली आंखें फबती हैं इसलिए कॉन्टैक्ट लेंस से नीली आंखें पाई है। आई ब्रो पेंसिल से आई-ब्रो को परफेक्ट शेप व कलर दिया है।''

''बाप रे सिर्फ आंखों के लिए इतना?''

''हां भाभी फिर होठों को, गाल को, इन फैक्ट हर बॉडी पार्ट को इसी तरह से सजाया है। ये है सजने का सही तरीका। कहिए तो एक-एक डिटेल्स दूं मैं...''

''नहीं, नहीं बस इतने से ही मुझे तो चक्कर आने लगा... फिर भी आप ये तो मानेंगी न कि इसके बाद भी हम गांववालियां ज्यादा खूबसूरत दिखती हैं... शहरवालियां तो जोकर की तरह...''

''बस-बस रहने दीजिए...'' चिढ़कर बोली दीपिका- ''आप लोगों का क्या है एक अच्छी सी पर्स रखी, एक जोड़ी अच्छी सी सैंडिल और कुछ जेवर, जब भी जरूरत पड़ी इस्तेमाल कर लिया। जबकि हम लोग अलग-अलग ड्रेस के लिए अलग-अलग फुटवियर, पर्स आदि रखते हैं। और सिर्फ ड्रेस ही नहीं, मौके की नजाकत के हिसाब से एसेसरीज तक बदलते हैं। ज्वेलरी भी ड्रेस व अवसर के अनुसार तय होते हैं इवेन मेकअप भी। आप लोग तो चाहे कोई भी अवसर हो, बस वही... वही का वही... हूंह...''

''बाप रे पता नहीं क्या-क्या बोले जा रही हैं आप, आधा से ज्यादा तो मेरे सिर के ऊपर से गुजर गया...''

''एक लाइन में बस इतना समझ लीजिए भाभी कि हमारे स्टाइल के मेकअप में जादू होता है जादू।''

''मतलब?''

''मतलब यह भाभी कि अगर किसी को भगवान ने सुंदर नहीं बनाया है, वह भी इस तरह के मेकअप से सुंदर दिख सकती है।''

''अच्छा!''

''हां भाभी, जैसे देखिए मेरे चेहरे पर पिंपल्स के दाग हैं, हैं न?''

''थे, अब तो नहीं हैं।''

''अभी भी हैं भाभी, लेकिन मेकअप से नहीं दिखता है ये।''

''सच!''

''हां भाभी बिल्कुल सच। जब नहाकर निकलूंगी तब देखिएगा। दाग दिख जाएंगे। मैंने बताया न मेरी आंखें छोटी हैं आपको तो पता ही है लेकिन देखिए बड़ी लग रही हैं न।''

''हूं, सो तो है...''

''अब देखिए आपके होंठ थोड़े ज्यादा मोटे हैं तो मेकअप से यह सही दिखने लगेगा। सही तरीके से तैयार हों, तो नाटी लड़की भी थोड़ी लंबी दिखने लगती है, मोटी थोड़ी पतली।''

''अच्छा!''

''हां भाभी, आपको पता है मैं जब भी सुधीर से मिलने जाती हूं, वह कहता है- तुम तो हर बार एकदम नई लगती हो। डिफ्रेंट, ब्यूटीफुल। हर बार मुझे लगता है कि आज तुम सबसे ज्यादा खूबसूरत लग रही हो, लेकिन फिर अगली बार मेरा ख्याल बदल जाता है... मुझे लगता है कि इस बार से ज्यादा सुंदर अब तुम लग ही नहीं सकतीं, लेकिन अगली बार फिर तुम मुझे चौंका देती हो... और पता है भाभी उसके सारे दोस्त भी कहते हैं- योर गर्लफ्रेंड इज द बेस्ट...''

''और उसके दोस्तों का यह भ्रम न टूटे इसलिए दीपिका को हमेशा खूब सज-धज कर सुधीर से मिलने जाना पड़ता है... अगर वह ऐसा न करे तो उसका मूड खराब हो जाता है... वह इसे अपने साथ कहीं ले नहीं जाता।''

''चुप सोनम की बच्ची। भ्रम नहीं यह सच है भाभी। मैं द बेस्ट हूं। वो तो सुधीर इसलिए नहीं ले जाता है कि स्टेट्स कांशस है वह। और यूं भी स्टेट्स के हिसाब से खुद को मेंटेन तो रखना ही चाहिए न... भाभी आप भी तो अभी कह रही थीं न कि अंकल यानी आयशा के पापा भी बहुत स्टेट्स कांशस हैं।''

''हां बिलकुल... मैं भी यही मानती हूं।''

''हां भाभी हमारी कंपनी में भी सीनियर्स यही कहते हैं। मेरा मानना भी यही है। और मेरा ही क्या सब लोग ऐसा ही सोचते और मानते हैं।''

''सिवाय आयशा के...''

''वो कैसे भाभी...''

''जमींदार खानदान की दुलारी बेटी और बदन पर जेवर के नाम पर हमारी नाइन से भी कम सोना... क्या हाल बना रखा है... बिछिया तक नहीं पहनती है। एक ही पैर में पायल, एक और क्या हुआ...''

''ये पायल नहीं एंकल है भाभी और यह एक ही पैर में पहना जाता है।''

''और बिछिया? बिना बिछिया के अह्यवात रहती है कहीं.....''

''बिछिया अब कौन पहनती है भाभी... आउटडेटेड हो गया है यह। सुहाग की निशानी तो मंगलसूत्र होता है, देखिए जींस तक पर भी मैं मंगलसूत्र पहनती हूं।''

''हां भाभी मंगलसूत्र और चूड़ा तो वेस्टर्न आउटफिट पर भी हमलोग पहनते हैं।''

''मंगलसूत्र, चूड़ा ई सब हमलोग के यहां सुहाग की निशानी कब से हो गया... हमारे यहां तो कोई ई सब का नाम भी नहीं जानता था... ढोलना चढ़ता है हमारे यहां सिंदूर पड़ते समय... मंगलसूत्र तो टीवी में सिंदूर पड़ते समय पहनाते हैं..... होगा किसी इलाके का... चूड़ा भी सुनते हैं पंजाबी लोग का होता है... तुम लोग का दिमाग खराब हो गया है... सुहाग की निशानियों में भी फैशन...''

''भाभी फैशन तो फैशन है... यह आप भी समझती हैं, इसलिए अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ती... वो अलग बात है कि...''

''आखिर धरम भी कोई चीज होती है न...''

''हां, भाभी इससे कब इनकार है... और फैशन करते वक्त हम भी धर्म के नियमों का पालन करते हैं...''

''तब तो आपको ई बात मालूमे होगा कि पति-पत्नी के प्रेम की बात छोड़ भी दें तब भी सुहागन के लिए सिंदूर लगाना कितना जरूरी है... इससे पति की उम्र लंबी होती है... और पति से ही तो हर सुख, हर साज-शृंगार है... वही नहीं रहेगा तो ई शरीर किस काम का... ई जीवन किस काम का... विधवा जीवन जीना तो नर्क भोगने से भी बदतर है... कोई मुंह देख ले तो उसका भी जतरा बिगड़ जाता है, वहीं अगर कहीं जतरा पर निकलो और भर मांग सिंदूर लगाई अह्यवात नजर आ जाए तो शुभ होता है...''

''बकवास है यह सब भाभी... इन चीजों को शुभ-अशुभ, पति की उम्र आदि से इसलिए जोड़ दिया गया था कि औरतें डर जाएं और इसे मानें। सच तो कुछ और ही है भाभी। सिंदूर को इसलिए जरूरी बनाया गया ताकि औरत शादीशुदा है कि कुंवारी या फिर विधवा, यह पता चल जाए इन मर्दों को... आप ही बताइए, मर्दों के लिए है कोई निशानी जो बता सके कि वे शादीशुदा हैं या कुंवारे या... और ये तो पायल, चूड़ियों की बात है न, तो वह इसलिए हैं क्योंकि ये मर्दों के पहरेदार हैं...एक अदृश्य पहरेदार... ये बताते हैं कि इस वक्त औरत कहां है... किधर जा रही है... क्या कर रही है, ताकि अगर मर्द किसी नाजायज काम में लिप्त हो तो उसे उसके आने की पूर्व सूचना मिल जाए और सतर्क हो जाए... लेकिन आज की नारी इतनी बेवकूफ नहीं है जिसे इस तरह बरगलाया जा सके... '' खामोश बैठी संगीता बोल उठी।

''हां, भाभी इन दकियानूस बातों से हम लोग ऊपर उठ चुके हैं। हम लोग आज की नारी हैं... स्वतंत्र, सशक्त, आत्मनिर्भर... हम लोग वह क्यों करें जिससे बहनजी लगें... हम स्मार्ट हैं और स्मार्ट दिखते भी हैं...'' दीपिका ने संगीता की हां में हां मिलाया।

''फैशन की गुलामी करके?''

''मतलब क्या है तुम्हारा संगीता?''

''बकवास बंद करो... तुम होओ चाहे ये भाभी... तुम दोनों गुलाम हो... और ये शृंगार जंजीर है तुम्हारे लिए... मर्दों ने और मर्दवादी नजरिये का पोषण करने वाली बाजार ने शृंगार की बेड़ियों से बांध रखा है और इस शिकंजे को मजबूती देने में इस धर्म की भी कम भूमिका नहीं है... समझी...

अगर पहले औरतें दकियानूसी बातों की गुलाम थीं तो तुम भी खुद को आजाद समझना बंद कर दो... कुछ नहीं बदला है... वह नए कलेवर में तुम्हारे सामने अच्छी ब्रांडिंग और पैकेजिंग के साथ फिर से सामने आ खड़ा हुआ है... समझी... जैसे न्यू लुक पाने के लिए अपना मेकओवर कराया है न तूने... वैसे ही गुलामी ने भी अपना मेकओवर करा लिया है... पायल की जगह एंकल, बनारसी की जगह वेस्टर्न, ईस्त्रो-पाउडर की जगह फाउंडेशन, रूज, लिप लाइनर, लिपिस्टक... ब्ला... ब्ला... ब्ला...''

''क्यों सजने-धजने में कोई बुराई है?''

''खूबसूरत दिखना गुलाम होना है भला... बताओ... पागल हो गई है यह तो...'' भाभी दीपिका की तरफ देखती हुई बोलीं।

''यह सच है कि खूबसूरत दिखना गुनाह नहीं है, सजने-धजने में भी कोई बुराई नहीं है लेकिन तब जब यह अपनी खुशी के लिए अपनी मर्जी से की जाए। अपनी इच्छा के बदले गर लोग क्या कहेंगे, नौकरी चली जाएगी, क्लाइंट... बॉस पर अच्छा इंप्रेशन जमेगा... ब्वॉयफ्रेंड या हस्बैंड साथ नहीं ले जाएगा... स्टेट्स तो मेंटेन करना ही पड़ेगा जैसे दबाव में अगर सजना-संवरना पड़े तो कहां है आजादी? कैसी आजादी? मैं आप ही लोग से पूछती हूं... बताइए...''

''तुझसे तो बात ही करना बेकार है...''

''अच्छा चलो एक बात बताओ। कभी तो ऐसा भी होता होगा न, जिस दिन तुम्हें सजने-संवरने का मन नहीं करता होगा... मन करता होगा कि थोड़ा और सो लें या बच्चे के साथ जरा देर और क्वालिटी टाइम बिताएं या कुछ और...''

''हां, तो?''

''फिर भी? ऑफिस या पार्टी या कहीं और जाने के लिए सजना-संवरना पड़ता होगा, जो टाइम अपने मनपसंद चाहत में लगा सकती थी, उसे मेकअप में लगाना पड़ता होगा या सास-ससुर, पति क्या कहेंगे इसलिए तैयार होना पड़ता होगा?''

''हां, साफ-साफ बता न, कहना क्या चाह रही है?''

''तो बताओ कहां है आजादी?''

''यह गुलामी भी नहीं है मैडम। घर-परिवार की खुशी के लिए, आगे बढ़ने के लिए, समाज में स्टेट्स मेंटेन करने के लिए और करिअर को बुलंदी तक पहुंचाने के लिए जरूरी है। और, मन का क्या है, मन तो करेगा कि कुछ न करें, पूरा दिन सोए रहे... तो इंसान पूरा दिन सोया तो नहीं रह सकता न? आगे बढ़ने के लिए मन तो कंट्रोल करना ही पड़ता है। वरना विकास ही रुक जाएगा।''

''अरे छोड़ इसे! विकास, तरक्की, ये क्या जाने। इसे तो कंपनी ने एक बार नोटिस क्या दी कि नौकरी ही छोड़ दी। वहां रिजाइन कर आज इंजीनियर होते हुए भी मामूली स्कूल में टीचर है। वेस्टर्न फॉरमल पहनना इसे पसंद नहीं था, लेकिन ऑफिस में तो वेस्टर्न फॉरमल पहनने का रूल है। पहनना ही पड़ता, पर नहीं पहनेंगी की जिद लेकर बैठ गईं ये बहन जी, नौकरी जाए तो जाए... इतना ही नहीं... आव देखा न ताव रिजाइन मार दिया...''

''क्यों पहनूं जबरदस्ती। ऑफिस को मेरे क्वालिफिकेशन और परफॉर्मेंस से मतलब होना चाहिए। मेरे काम की क्वालिटी और मेरी पंक्चुअलिटी को जज करना चाहिए। मैं क्या पहनकर आऊं... लैटेस्ट ट्रेंड के फैशन से कितना अपडेट रहती हूं, इससे ऑफिस को कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए। हां, मैं मानती हूं कि कुछ फील्ड ऐसे हैं, जहां ड्रेस कोड इंपोर्टेंट होना चाहिए। जैसे आर्मी, पुलिस आदि। मैं यह भी मानती हूं कि किसी काम को करने में सुरक्षा के दृष्टिकोण से जरूरी चीजें जैसे- हेलमेट या फायरप्रूफ ड्रेस आदि जहां जरूरी हो, वहां ऑफिस को इसके लिए बाध्य करना चाहिए। कुछ हद तक पारदर्शी या अश्लील कपड़ों पर ऑफिस प्रतिबंध लगाए, तो भी जायज है। लेकिन जहां कमरे में कंप्यूटर पर काम करना है, वहां मैं वेस्टर्न फॉरमल पहनूं या साड़ी इससे क्या फर्क पड़ता है? या स्कूल में पढ़ाना है, तो कोई साड़ी या सूट सा वेस्टर्न फॉरमल इससे क्या मतलब? मैं कंप्यूटर पर मेकअप लगाकर जाऊं या विदाउट मेकअप इससे किसी को क्या? कंप्यूटर को तो इससे फर्क नहीं पड़ता! ऐसी बाध्यताएं तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन हैं... और जब कोई चीज या संस्थान आपकी आजादी के आड़े आए तो हमें उसका बहिष्कार करना चाहिए... याद है न गांधीजी ने भी इसी वजह से विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया था...''

''एक्सक्यूज मी मैडमजी, ये कोई हनन-वनन नहीं है। यह काम का, पर्सनालिटी का हिस्सा है। इसमें गांधीजी बीच में कहां से आ गए... उस वक्त देश गुलाम था... अंग्रेज बहुत सारी गलत चीजें लाद रहे थे... हमारा दमन कर रहे थे... इसलिए गांधीजी ने स्वदेशी का नारा दिया था... इस हिसाब से देखो तो गांधीजी भी स्वदेशी लादकर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन कर रहे थे... सीधी-सी बात है... यदि आप अच्छे से तैयार नहीं होती हैं, तो यह सामने वाले पर हिंसा करने के समान है। याद है न ट्रेनिंग क्लास का यह सबक।''

''तुम लोग याद रखो ऐसे सबक। क्योंकि गुलामी की आदत पड़ गई है, तुम लोगों को। वह भी इस कदर की अब वह तुम्हें अपना ही हिस्सा लगता है। गुलामी नहीं। इसीलिए गांधीजी के विदेशी सामान का बहिष्कार तो तुम्हें गुलामी लगती है, लेकिन कंपनियों द्वारा लाद दिया जाने वाला फालतू का ड्रेस कोड गुलामी नहीं लगता... गांधीजी ने इसलिए बहिष्कार किया था, क्योंकि ईस्ट इंडिया कंपनी भारत के घरेलू उद्योग को चौपट करके देश को आर्थिक रूप से गुलाम बना रही थी... देश की अर्थव्यवस्था को पंगु बनाकर भारत को रिमोट कंट्रोल के जरिए इंग्लैंड से शासित करने की योजना... नहीं बल्कि यूं कहो वहीं से शासित कर रही थी... वह आंदोलन देश की आर्थिक स्वतंत्रता के लिए था... समझी...''

''तुम ही करो ऐसी आजादी एंज्वाय। हमें तो बक्शो बाबा! दीपिका चिढ़कर बोली- 45 हजार पर मंथ की नौकरी छोड़कर और 15 हजार की नौकरी करके। हमें ऐसी आजादी नहीं चाहिए... तुम्हें आजादी मुबारक। सच तो यह है कि यह आजादी नहीं डिमोशन है। ट्राई टू अंडर स्टैंड संगीता। सीधे-सीधे कह क्यों नहीं देती कि तू काम का प्रेशर नहीं ले सकती थी। इसलिए यह नौकरी छोड़ दी... और हमें माफ कर, हम इतने बेवकूफ नहीं कि तेरी तरह 45 हजार की नौकरी छोड़कर आजादी एंज्वॉय करें...''

''छोड़ न ये सब! मैं तो कहती हूं संगीता कि अब भी अपनी भूल सुधार ले। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा यार। दोस्त हैं हम सब तेरे। तेरा भला चाहते हैं। इतना गुस्सा ठीक नहीं। अपने गुस्से को आजादी का नाम मत दे।''

''नैंसी ठीक कह रही है संगीता।''

''भाभी पंडितजी आ गए हैं। गिढारी के लिए चलिए...''

''सब लोग जल्दी आ जाइए। अब विधि विधान शुरू करना है, बारात निकलने के लिए...''

''जी भाभी चलिए हमलोग भी रेडी हो ही गए हैं। साथ ही चलते हैं...''

''हां चलिए...''

''अरे संगीता चल न बुरा मान गई क्या...''

''नहीं यार तुम लोगों की बातों का कभी बुरा मान सकती हूं मैं... बस एक बात और कहूंगी कि इसी वजह से औरत सदियों से गुलामी की बेड़ियों में बंधी है, क्योंकि उसने भी अपनी यह स्थिति स्वीकार कर ली है... जिस दिन वह भी गांधीजी की तरह सामूहिक रूप से इसके विरोध में निकल पड़ेगी न... कोई उसे गुलाम नहीं बना सकता... अंग्रेजों को भी भारत छोड़ना पड़ा... और इन....''

''चल-चल, चल ना... तेरा भाषण बाद में सुन लेंगे... बारात निकलने वाली है... वह मिस हो जाएगी...''

''तू चल मैं थोड़ी देर में आती हूं... अभी मेरा मेकअप पूरा नहीं हुआ है...''

''तब से तो बड़ा लेक्चर झाड़ रही थी और आज ये हैवी मेकअप... वेस्टर्न ड्रेस...''

''किसने कहा कि नहीं पहनती मैं! मैं तो कभी-कभी स्कूल भी वेस्टर्न फॉरमल पहनकर जाती हूं... लेकिन अपनी मर्जी से। आज भी अगर मैं यह सब पहन रही हूं, तो वह इसलिए, क्योंकि ये किसी के दबाव या नौकरी बचाने की कवायद के लिए नहीं है... आज मेरा दिल कर रहा है यह सब करने का... यह मेकअप, यह ड्रेस खुशी दे रहे हैं मुझे... और देखना आज तुम सब किस खेत की मूली हो दुल्हन को भी फेल कर दूंगी मैं... इंतजार कर नीचे... हुस्न की मल्लिका पधार रही हैं..।''

***

कहानी

उसके दरबार में

कैलाश बनवासी

जैसा कि मुझे पता था, मम्मी के पास कोई दूसरा टॉपिक नहीं था। मम्मी मुझसे इस समय वही सारी बातें कर रही थीं जो वो ऑलरेडी कल शाम कर चुकी थीं। खीज रही थी बेटी के ससुराल वालों के लिए, स्पेशली राजू 'हमारे दामाद' की मम्मी यानी डॉली की सास के लिए। और मैं फिलहाल उन्हें सुनता हुआ कुछ नहीं सुन रहा था, बल्कि इसी उधेड़बुन में गुम न जाने क्या-क्या सोच रहा था कि लड़कीवाला होना इस समाज में जैसे एक अपराध ही है। जब से डॉली की शादी हुई है-डेढ़ साल पहले, अपना परिवार हमेशा इस प्रयास में रहता है कि भूल से भी उसके ससुराल वालों के खिलाफ कोई ऐसी-वैसी बात न निकल जाए, बल्कि तारीफ ही करते रहो चाहे वह कितनी ही झूठी क्यों न हो। मम्मी-पापा के ये बिल्कुल नए गुण मैं डॉली की शादी के बाद से देख रहा हूं। और झूठ क्यों बोलूं, उनके साथ मुझे भी कभी-कभी ऐसी तारीफें करनी ही पड़ती है, चाहे वह कम ही हों, पर जैसे यह बहुत जरूरी हों। उन्हें नाराज करने की बात कभी कोई सोच भी नहीं सकता।

घर में भी प्रायः डॉली को लेकर चर्चा होती रहती है। उसका ससुराल, उसके सुख-दुःख। कभी-कभी ये इतना ज्यादा लगता है कि लगता है मम्मी-पापा को बस और कोई काम नहीं। उनका सारा ध्यान बस डॉली पर लगा रहता है, जिससे मैं बहुत बार कंझा जाता हूं। जैसे कि इस वक्त। ये मम्मी भी न, लगता है सास-बहू वाले सीरियल देख-देख के एकदम ऑब्सेस्ड हो गई हैं। बोले तो एकदम टिपिकल देसी मम्मी। अपने जमाने की टेंथ तक पढ़ी होने के बावजूद। मुझे ऐसे टाइम पे मम्मी को झेलना पड़ता है। और आज तो आते-जाते दोनों टाइम झेलना पड़ेगा। कोई चारा नहीं। इसीलिए मैंने पापा को बोला था पापा आप जाओ, मैंने कंपनी के काम का बहाना बनाया था, इधर

बहुत प्रेशर है बोल के, पर पापा सोफे पर अधलेटे हुए बोले, नहीं यार तुम्हीं लेके जाओ। इतनी लंबी दूरी तक गाड़ी चलाना मेरे बस का नहीं है। एक तो मैं वैसे ही स्पांडोलिसीस का पेशेंट ठहरा..।

सो मैं लेके जा रहा हूं मम्मी को अपनी बाइक से। और किस कदर फालतू काम के लिए। यहां से पैंतालिस किलोमीटर दूर कोई गांव है, वहां की कोई माता जी हैं। सुना है उनका बड़ा नाम है, और उन पर हर गुरुवार माता आती हैं, भक्तों की मनोकामनाएं पूरी होती हैं। माता का दरबार। माइ फुट। मुझे तो ऐसे भी बहुत चिढ़ है इन सो कॉल्ड बाबाओं-माताओं से। अपना धंधा-पानी चला रहे हैं और कुछ नहीं। और अपनी पब्लिक का भी देखो न, साइंस के इतने एडवांस जमाने में भी इन सब बातों पर विश्वास करती है। अनपढ़ तो अनपढ़, पढ़े-लिखों की लाइन लगी रहती है। पर मेरी मजबूरी है। घर का काम है। डॉली की सास ने फोन पर मम्मी को कहा था, हम लोग डॉली को लेकर माताजी के पास जा रहे हैं, कुछ जरूरी बात करने। तुम लोग भी आ जाओ। फिर डॉली ने भी कहा था-आ जाओ न मम्मी। और मम्मी का क्या है, बेटी से, नातिन से मिलने का बहाना चाहिए। फिर बेटी के ससुराल वालों का बुलावा है, इसलिए टाला भी नहीं जा सकता।

हम इस समय शहर से दसेक किलोमीटर आगे आ चुके थे और देहात शुरू हो चला था। सड़क अच्छी और साफ-सुथरी। सड़क के दोनों तरफ खेत थे, जिनमें धान की फसल लहरा रही थी। इधर का खुला वातावरण शहर की भीड़-भाड़ और ट्रैफिक के शोर-शराबे की तुलना में कितना भला लग रहा था। और अभी सुबह के दस बजे मौसम भी अच्छा था। अपनी गाड़ी की स्पीड बढ़ा दी थी मैंने।

....डॉली यहां क्या थी और वहां कैसा जीवन जी रही है।

मम्मी-पापा ने या इवेन मैंने कभी नहीं सोचा था कि उसके ससुरालवाले इतने संकीर्ण बुद्धि के होंगे। पुरानी मानसिकता के लोग। इतने ओल्ड माइंडेड जिन्हें अपनी बहू का घर से बाहर कदम रखना भी गवारा नहीं। और उसकी जरूरत की सारी चीजें घर में लाकर देने का दंभ अलग-'क्या तकलीफ है आपकी बेटी को? घर में रानी जैसे रखते हैं।' मैंने उसकी सास को एक बार कहते सुना था। डॉली से फोन में थोड़ी देर हाल-चाल ले लो तो उसकी सास की भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं। और लड़का यानी दामाद राजू भी छब्बीस की उमर के बावजूद हर बात में 'मम्मी जानेगी', या 'मम्मी से पूछ लो' वाली मेंटिलिटी का है।

शादी के बाद कितना बदल जाता है लड़कियों का जीवन। अब पूरी जिंदगी बस एडजस्ट ही करते रहो।

यहां जब थी डॉली तो उसने कॉलेज से निकलने के बाद कभी घर से पॉकेट-मनी नहीं मांगा। पापा इस मामले में कितने अच्छे हैं जो उन्होंने बेटियों को कभी बेटों से कम नहीं समझा। उन्होंने न केवल पढ़ाया-लिखाया बल्कि इस छोटे शहर में उनको आत्म-निर्भर बनाया। जबकि मम्मी पापा की इस उदारता पर बहुत बार भड़क जाती थीं, 'अरे लड़कियों को इत्ती छूट देना ठीक नहीं। कल को ससुराल जाएंगी तो उनको मुश्किल होगी। लड़कीजात को कितना तो सहना पड़ता है।'

डॉली और रिंकी दोनों ही जब मम्मी की बात पर हंस देती थीं तो मम्मी और भड़क जातीं -

'तुम लोग को अभी हँसी आ रही है? अरे, तुम लोग ससुराल जाओगी न तब पता चलेगा ससुराल क्या होता है। जितने लोग उतने नखरे। और बहू का पक्ष लेने वाला वहां कोई नहीं होता। तब याद करोगी कि मम्मी ठीक कहती थी। हमने ये सब इसी घर में भुगता है इसीलिए कह रही हूं। '

पर हमारा हंसना बंद नहीं होता था। लगता, मम्मी आज भी अपने ही जमाने में जी रही हैं, जबकि हमारे सामने नई दुनिया है, बहुत तेजी से बदलती हुई, जहां लड़कियां अब घर की चार दीवारियों से बाहर हैं अपनी पुरानी घरेलू छवि से परे, काम पर जाती हुईं, अपना वजूद खुद गढ़ती हुईं। हमारे ही यहां देखो न, बीकॉम करने के बाद डॉली कभी घर बैठकर नहीं रही। बीकॉम करते हुए ही उसने कंप्यूटर का कोई डिप्लोमा कोर्स कर लिया था, जिसके चलते ग्रेजुएशन के तुरंत बाद वह एक सीए के अंडर में काम करने लगी, फिर बाद में एक प्राइवेट फाइनेंस कंपनी में जाने लगी उससे कहीं ज्यादा अच्छी पेमेंट और सुविधा पर।

सारा घर देख रहा था डॉली अपनी राह खुद बना रही है। घर से पैसे मांगना तो दूर, बल्कि घर की छोटी-मोटी जरूरतों के लिए हमेशा आगे रहती थी। घर का नया फ्लैट स्क्रीन टेलिविजन उसी का खरीदा हुआ है। तब मेरी भी नौकरी की शुरुआत थी। पापा सहकारी समिति में क्लर्क थे-एक सेमी गौरमेंट संस्था के। रिटायरमेंट के बाद जीपीएफ के पैसे-साढ़े चार लाख- उन्होंने बेटियों की शादी के लिए बैंक में डिपॉजिट करा दिए। इनकम के लिए उन्होंने घर के सामने के हिस्से में छोटी सी किराने की दुकान डाल ली है, जिसमें भले ही ढाई तीन-सौ से ज्यादा की बिक्री नहीं होती, पर मम्मी-पापा घर बैठे इसी काम में लगे रहते हैं। क्योंकि नौकरी के रिटायरमेंट से मिले पैसों के अलावा और न कोई जमा पूंजी है न पुश्तैनी प्रापर्टी। घर की हालत मुझसे कभी छिपी नहीं रही। इसीलिए तो अपना मेकेनिकल में डिप्लोमा कंपलीट होते ही मैं प्राइवेट इंडस्ट्रीज के चक्कर लगाने लगा था, और जिस कंपनी से ऑफर मिला, तुरंत ज्वाइन कर लिया। और आज तीन साल की रगड़ाई के बाद बीस हजार की सेलेरी पर पहुंचा हूं-अभी-अभी जूनियर असिस्टेंस से प्रमोट होके सीनियर असिस्टेंस की पोस्ट पर। घर की माली हालत में थोड़ा सुधार हुआ है लेकिन अभी छोटी बहन रिंकी के ब्याह का खर्च सामने है। हालांकि वो भी एक निजी फर्म में क्लर्क का जॉब कर रही है।

डॉली की शादी।

कई जगह बात चली। आसपास भी और दूर भी। कहीं हमने रिजेक्ट किया तो कहीं लड़केवालों ने। सच पूछो तो ज्यादातर लड़केवालों ने। उनकी दहेज की छुपी हुई मांग हमारी क्षमता से बाहर थी। और मैंने पाया, आजकल के इन लड़कों को तो बड़े घर की लड़कियों में ज्यादा इंट्रेस्ट है। उन्हें लड़की के गुणों से कोई खास लेना-देना नहीं होता, लड़की का इकॉनामिक बैकग्राउंड बढ़िया होना चाहिए।

और लड़के भी तो कैसे-कैसे। एक लड़के ने, जो पेशे से एडवोकेट था, अपने दो फुल पेज लंबे-चौड़े बॉयोडाटा में अपने तमाम ख्यालात लिख के दिया था-शादी के बारे में, लड़की के बारे में, अपनी पसंद के गायक-गायिकाओं, हीरो-हीरोइन के नाम तक-शाहरुख खान, और ऐश्वर्या

राय, और अपनी फेवरिट फिल्में-'प्यार झुकता नहीं' और 'दिलवाले दुल्हनियां ले जाएंगे', और इसके पीछे वकील साहब ने तर्क यह दिया था कि लड़के-लड़की को एक-दूसरे की पसंद-नापसंद की स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए।

पापा तो शुरू से ही अपनी हैसियत के बराबर वालों में ही रिश्ता करने के हिमायती रहे ताकि कल को लड़की को किसी अप्रिय स्थिति का सामना ना करना पड़े। इसीलिए, जब डौंडीलोहारा कस्बे से यह रिश्ता आया तो हम सभी ने सोचा था, बड़ा अच्छा रिश्ता मिला है डॉली के लिए। एकदम छोटा परिवार। ...कुल दो जनों का परिवार -मां और बेटा। तीसरा कोई नहीं। तीसरी सदस्य अब इस घर की बहू ही होगी। बड़े परिवार के अपने झमेले हैं जिससे घर में कलह और अशांति बनी रहती है। यहां तो कुल दो ही जने। लड़के की मां स्कूल में टीचर है सो दिन भर तो बाहर रहेगी। और लड़के की अपनी रेडिमेड कपड़े की ठीक-ठाक चलने वाली दुकान है। फालतू लफड़ों की कोई जगह नहीं। और ऐसा छोटा परिवार तो किस्मतवालों को मिलता है। फिर सबसे अच्छी बात कि लड़का दिखने में खासा हैंडसम है...ही लुक्स लाइक ए मॉडल। ...फिर जैसे डॉली खुद गोरी और सुंदर है वैसे ही यह लड़का। लड़का डॉली को पहली नजर में ही पसंद आ गया था। आना ही था।

मम्मी-पापा ने हां कह दी। जो भी सुनता डॉली के इस रिश्ते पर इस बात पर अपनी खुशी जाहिर करता।

फिर शादी।

पापा आज भी कहते हैं कि हमने शादी में अपनी हैसियत से कहीं बढ़-चढ़कर खर्च किया - दो-ढाई का बजट खिंचते-खिंचते चार लाख तक पहुंच गया। क्योंकि रिश्ता तय होने के बाद-इसे उनकी डिमांड तो नहीं कहेंगे, लेकिन, वे चाहते थे शादी में आजकल प्रचलित सारे तामझाम हमारे द्वारा अरेंज किए जाएं...मसलन, बारात में फर्स्ट-क्लास बैंड की ही नहीं, दूल्हे के लिए शानदार घोड़े की भी व्यवस्था हो, रिसेप्शन पार्टी शानदार हो...डीजे हो...बारातियों के स्वागत-सत्कार का इंतजाम बढ़िया हो...उनके रिश्तेदारों को दिए जाने वाले कपड़ों की क्वालिटी बेस्ट हो....। हमें इसी दौरान पता चला कि उनके घर में सारे फैसले लड़के की मां नहीं, वरन उसके तीन मामा करते हैं, जिनका राजनांदगांव में बर्तन का खासा जमा-जमाया कारोबार है। पापा ये सोच के खर्च करते रहे कि भई, उनके सामने हम इतने भी गए-गुजरे तो न लगें, कि बेटी के ससुराल वालों को कुछ कहने का मौका मिले।

पर लड़के के घरवालों ने हम लोगों से एक बात छिपाई। हमको बताया गया था कि लड़के की मां स्कूल में टीचर है। यह तो डॉली के ससुराल जाने के बाद भेद खुला कि वो तो स्कूल में प्यून है।

''तो हमसे झूठ क्यों बोला? '' मम्मी ने पापा से पूछा।

''अरे जाने दो।'' पापा ने मम्मी को समझाने की कोशिश की, ''भइ, सरकारी नौकरी है ना...बस्स। अपने को क्या करना है? मान लो वो स्कूल की प्रिंसिपल ही रहती तो हमको क्या मिल जाता? उसने अपने पोस्ट को छिपाया...शरम आती रही होगी...या मन में रहा होगा कि इससे मेरी

इज्जत घट जाती है करके ...।''

''फिर भी हमको सच्ची बात बतानी चाहिए थी न? जब हमसे रिश्ता जोड़ रहे हैं तो झूठ क्यों बोलना? '' मम्मी पापा से घर में बहस करने लगी थी।

''अरे ठीक है न भइ।...और देखो, तुम इस बात को दामाद से या उसकी मम्मी से हरगिज मत बोलना। भई...बेटी गई है उस घर में...बात बिगड़ सकती है।'' पापा ने बात की नजाकत मम्मी के सामने रखी।

पर मम्मी इसी बात पर देर तक बड़बड़-बड़बड़ करती रहीं। आखिर उन्होंने हमसे झूठ क्यों बोला? ये तो बिल्कुल गलत बात है। हम लोगों ने तो उनसे कोई झूठ नहीं बोला। रिश्तेदारी में ऐसी झूठबाजी नहीं चलती। उनको ऐसा नहीं करना चाहिए था...।

खैर। बात आई-गई हो गई।

और कुछ महीने बाद डॉली के प्रेग्नेंट होने की खुशखबरी मिली।

डॉली अपनी ससुराल के बारे में ज्यादा कुछ नहीं कहती थी। वह तो खुद अभी इस घर में एडजस्ट होने की कोशिश कर रही थी...सुबह देर से सोकर उठने की आदत उसने कुछ हफ्ते में सुधार ली थी। रसोईघर संभालने की आदत नहीं थी। सो इसको भी उसने अपनी सासू मां के निर्देशानुसार संभालने की पूरी कोशिश की। घर में तीन जनों के लिए कमाई थी, पर यही उनकी सबसे बड़ी हवस थी। सबसे बढ़के। आज सोचो तो लगता है, कैसे उन्होंने इस घर की लड़की के लिए हां कह दिया? शायद दोनों के अधिकाधिक गुण मिलने के कारण, जो उन्होंने अपने पारिवारिक पंडित से पूछवाया था।

डॉली का ससुराल छोटा-सा कस्बा है जहां न अच्छे हास्पिटल हैं न अच्छे गायनकालाजिस्ट, इसलिए पापा-मम्मी ने दामाद और उसकी मां को बच्चे की डिलेवरी अपने यहां होने की बात पर राजी कर लिया। दामाद भी इसके लिए सहमत था। वह भी कोई रिस्क नहीं लेना चाहता था। और उसकी सास के लिए तो यह और भी अच्छा था। कि वह अकेली जान कहां-कहां देखेगी? फिर बड़ा फायदा यह था कि इससे उनका खर्चा बच जाएगाा। दूसरी बात उन्होंने सोची कि अपनी मां के यहां डिलेवरी होने के कारण इसकी छट्ठी का खर्च भी वही लोग उठाएंगे लेकिन डॉली की सास यह दूसरी बात मौके पर कहने के लिए छोड़ गई।

हम तो बस डॉली की डिलेवरी ठीक-ठाक हो जाए यहीं तक सोच रहे थे।

बेटी हुई। और हमारा घर नए मेहमान के स्वागत में जुट गया।

लेकिन डॉली की सास को झटका लगा था जब लड़की होने की खबर सुनी।

मम्मी ने ही बहुत खुशी-खुशी फोन करके उनको खबर दी थी-बधाई हो समधिन जी घर में लक्ष्मी आई है। डॉली को बेटी हुई है। बच्ची एकदम अपने पापा पर गई है। वैसे ही नाक-नक्श...। बहुत सुंदर है और बहुत तंदुरूस्त...।''

''अरे, बेटी हुई है...? '' ये पहली प्रतिक्रिया थी। फिर कहा था, ''चलो जो है सब अच्छा है भगवान ने जो भी दिया वह अच्छा है।''

उन्हें बेटे की चाह थी, पर हो गया बेटा।

राजू के लिए भी यह खुशखबरी उतनी नहीं थी जितना हम लोगों ने सोचा था।

मैंने राजू से कहा भी था, अरे यार, बेटी हो या बेटा...आज की डेट में सब बराबर हैं। लड़कियां किसी लिहाज से लड़कों से कम नहीं हैं।

मैं उसकी तसल्ली के लिए और न जाने क्या-क्या कहता जा रहा था पर वह फीकी हँसी हँसकर रह गया था मानो कह रहा हो, छोड़ो यार, ये सब मन बहलाने की बातें हैं, जबकि सचाई ये है कि वंश आज भी लड़कों से ही चलता है। घर से बाहर, इनकम के सारे काम लड़के ही करते हैं। तुम मुझको समझा रहे हो?

उसकी इस खोखली हंसी से मैने भांप लिया था, इन्हें बेटा ही चाहिए था, बेटी नहीं। अगर कहीं इनका वश चला होता तो बच्चा गिरवा चुके होते। पर शायद ये अभी इतने निर्मम नहीं हैं। सो बच्ची को स्वीकार कर रहे हैं, बुझे मन से ही सही।

मुझे राजू और उसके परिवार की ऐसी घटिया सोच पर सचमुच बहुत हैरानी हुई थी-किस जमाने में रह रहे हैं ये लोग? पर लगा, ये ही नहीं, ढेरों हैं ऐसा सोचने वाले। पर हम कर ही क्या सकते थे सिवा सही बात उनके सामने रखने के, समझाने के? पता चल गया था, समय से बहुत पीछे चल रहा है इसका परिवार।

डॉली भी क्या करे। उसे तो अपनी बेटी के साथ खुश रहना है और वह तो मन से बेटी ही चाहती थी।

यों तो तीनों मामा देखने-बोलने में बहुत अच्छे और व्यवहार-कुशल नजर आते हैं, पर जिनकी असलियत वे डॉली से ही जान पाए कि वे पक्के व्यापारी हैं और हर बात लाभ के हिसाब से सोचते हैं। जब डॉली के अपने मायके में डिलेवरी होने की बात उन लोगों ने सुनी तो अपनी बहन से बोले कि अच्छा है, और आगे उन्होंने ही यह सलाह दी थी कि अपने समधिन से कहो कि डिलेवरी के बाद बच्चे की छट्ठी भी वहीं कर लें। इसमें दो लालच थे, एक ये कि छट्ठी का उनका अपना खर्चा बच जाएगा, दूसरे, इस बहाने फिर सबके लिए कपड़े-लत्ते और जो भी वे अपनी क्षमतानुसार दे सकें, मिल जाएगा।..यह उनकी योजना थी जिसका हमारे घर को कुछ पता नहीं था।

बच्ची के जन्म के कोई चार दिन बाद राजू की मम्मी ने फोन किया था-''भइ...बच्चे की छट्ठी के बारे में आप लोग क्या सोच रहे हो? ''

मम्मी सुनकर अचकचा गई, ''अभी तो हम लोगों ने कुछ भी नहीं सोचा है समधिनजी और वैसे भी ये सब तो आप लोगों को ही सोचना है न...। आपके घर की बात है।''

''अजी हम लोग...यानी राजू के मामा लोग चाहते हैं कि बच्चे की छट्ठी उसके मायके में ही धूमधाम से मनाई जाए...आखिर आपकी भी पहली नातिन है।''

''पर समधिनजी, इसके बारे में तो हम लोगों ने कुछ भी सोचा नहीं है। घर में बात करनी पड़ेगी। मैं बिट्टू के पापा से पूछकर बताऊंगी।''

बाद में पापा ने ही फोन किया उन्हें, .'' .ऐसा है समधिनजी, हमारी स्थिति अच्छी होती तो हमारे

लिए ये कोई बड़ी बात नहीं होती। अब आपसे कुछ छिपा तो नहीं है। शादी का करजा अभी भी हमारे ऊपर है। बिट्टू की तनख्वाह तो पूरी कर्जे पटाने में ही चली जा रही है और दुकान के भरोसे घर चल रहा है। उम्मीद है आप समझेंगे हमारी बात को।''

''अरे देखिए भाई साब, ऐसा मौका कौन-सा बार-बार जीवन में आता है। आगे हम थोड़ी कहेंगे आपको? बस अभी की ही बात है।''

''मैंने आपको बताया न समधिनजी, '' पापा का स्वर और मुलायम हो आया, ''अभी हमारा हाथ बहुत तंग है वरना हम आपको इतना कहने का मौका ही नहीं देते। हमारी बेटी को पहली संतान हुई है इसकी खुशी को हम ही जानते हैं।''

पहले वे मनाने की कोशिश करती रहीं, फिर कहने लगीं, कि अब मैं अपने भाइयों को क्या जवाब दूंगी? ...क्योंकि ये उनकी ही इच्छा है...। पर पापा ने अपने हाथ एकदम खड़े कर लिए। इसलिए मन मारकर सहना पड़ा उनको। लेकिन बात फांस-सी गड़ी रह गई। इसी की खुन्नस उन्होंने डॉली के ससुराल पहुंचने पर निकाली थी। न सिर्फ यह कि वे अपनी पोती से उतना प्यार नहीं करती थीं, बल्कि गाहे-बगाहे कहती रहतीं कि हमारे राजू के लिए तो एक से बढ़के एक घरों के रिश्ते आ रहे थे। हमीं लोगों ने तुम्हारे घर को चुना...अब हमीं तुम्हारे मम्मी- पापा को कुछ कहते हैं तो लगता है जैसे हम लड़केवाले नहीं, लड़की वाले हैं।

मम्मी ने डॉली को अपनी सास की किसी बात का बुरा न मानने की सलाह दी थी। और डॉली उसका पालन करती रही।

इधर उसके खान-पान में घर का कंट्रोल हो गया। राजू या उसकी मां उसके हाथ में पैसे कभी नहीं छोड़ते।

राजू या सास पूछ लेती है, तुमको क्या होना बहू, तुम बता दो। अब कितनी चीजें वो गिन-गिनके बताए?

जिस लड़की के हाथ में हमेशा पैसे रहते थे, जो अक्सर घर की मदद किया करती थी, उसी को अपने खरचे, छोटी-छोटी बातों के लिए इनका मुंह देखना पड़ता है। और उनकी मरजी से ही घर में राशन-पानी आता है-एकदम नाप-तौल के। डॉली हुई सिर्फ उनकी आज्ञा मानने वाली। अब उसकी समझ में आया, ससुराल में चाहे दो लोग हों या चार, अगर वो ऐसे हैं तो एक ही बीस के बराबर। उसे मम्मी की वो बातें याद आतीं जिन पर वह कभी हंसती थी।

इस बीच एक जरा-सी बात पर मम्मी का डॉली की सास से पंगा हो गया।

डॉली के दूर के रिश्ते की एक ननद की सगाई थी राजनांदगांव में, जिसमें शामिल होने घर से मम्मी गई थी। सगाई निपटाकर मम्मी बेटी के घर चली गई थीं। अगले दिन सुबह लौटना ही था। पर सुबह जब राजू की मम्मी चानू को सेंकने जा रही थी, कि मम्मी बोल पड़ी-लाओ, मुझे दो राजू की मां। मैं सेंक देती हूं। मम्मी बच्चे को सेंकने लगी। सेंकते हुए उन्होंने एक बात कही, जिसकी शिकायत उन्हें इधर काफी दिनों से थी। वह थी, बच्चे की सिंकाई के लिए यहां दाई का इंतजाम न होना। मम्मी ने डॉली की सास से कहा, ''समधिनजी, चानू के लिए एक दाई क्यों नहीं लगवा देते

आप लोग ? डॉली को भी बच्चे की सिंकाई-विकाई नहीं आती। फिर आप भी बाहर रहती हो दिन भर। बच्चे की देह बढ़ने के लिए सिंकाई जरूरी है।'' इतना सुनना था कि कब की खार खाए बैठी उसकी सास ताना मारते बोलीं -''अरे कहां भइ, हम लोग तो गरीब लोग हैं। सारा इंतजाम तो इसके मायके से होता है न। तो क्यों नहीं इसके पापा को बोलकर एक दाई लगवा देते? ''

''समधिनजी, आप गलत मतलब लगा रही हो मेरी बात का। मेरे कहने का मतलब...।''

''बिल्कुल सही मतलब लगा रही हूं। '' भड़ककर बोलीं वह, ''आपकी बेटी अब हमारे घर में है। हमारी जैसी ताकत होगी, करेंगे। आप अपनी ये रईसी दुर्ग में दिखाना। अपने घर में। ..एक छट्ठी कार्यक्रम करने को कहे तो मना कर दिए और यहां बोल रहे हैं ऐसा कर दो-वैसा कर दो। ''

इस पर मम्मी भी चुप नहीं रहीं, जो समझ आया बोल दीं। कि एक छोटे बच्चे के लिए सौ-दो सौ महीने पगार में दाई नहीं रख सकते? ऐसा कौन-सा बड़ा भारी खरचा है?

बात बढ़ गई। झगड़ा हो गया। वह बार-बार मम्मी को उल्टा-सीधा बोलने लगीं। जवाब में मम्मी भी चुप कहां रहने वाली थीं।

चार महीने हो गए। बोलचाल बंद। बीच में मम्मी ने फोन से एक बार बात करने की कोशिश की थी, पर उसकी सास ने बिल्कुल भाव नहीं दिया।

इधर मम्मी अभी-भी थोड़ा डरी हुई हैं, आखिर बेटी के ससुराल का मामला है। पर मुझे कोई डर नहीं है। मुझको लगता है ये पुराने लोग खामखां बेटी के ससुराल को हव्वा बनाकर रखते हैं। कुछ कम अक्ल तो डॉली भी है, अभी भी पुरानी लड़कियों की तरह बिहेव करती है। मुझे उसका ऐसा सब कुछ चुपचुप सह लेना पसंद नहीं। मैं समझाता हूं, अरे हिम्मत से रहा कर। राजू को भी जो तेरे मन में है, साफ-साफ बोल दिया कर, तभी तो तुझे कुछ समझेंगे। ये क्या पुरानी लड़कियों की तरह उनकी हर बात मान लेती हो?

मेरे यों सुझाने को मम्मी बिल्कुल पसंद नहीं करतीं। कहती हैं, अरे लड़की को ससुराल में सबको ले के चलना पड़ता है। तू लड़का है इसलिए कभी नहीं समझ सकेगा, ससुराल किसको कहते हैं।

''मुझे समझना भी नहीं है। '' मैं जवाब देता। मेरी बात पर वह और खिसिया जातीं, ''इससे तो कुछ बातचीत करना ही बेकार है। ''

ससुराल से जब भी डॉली घर आती है, मम्मी और वो पता नहीं दिन भर क्या खुसुर-पुसुर करते रहते हैं। बहुत बार लगता था, ये औरतों वाली बातें हैं..उनके अपने प्रॉब्लम्ज के बारे में। मुझे खुसुर-पुसुर कभी भी ठीक नहीं लगती। पर कितना बोलूं मैं? हाल-चाल ले लेता हूं तो पता चलता है कि डॉली पर उसके ससुराल वाले हावी हैं...वह कोशिश कर रही है अपनी बात कहने की..पर अभी भी खुलके नहीं बोल पाती।

जब उसकी सास का मम्मी से झगड़ा हो गया तो मैंने राजू को समझाने की कोशिश की, भाई, सही तो है, एक दाई तो अभी कुछ महीने के लिए रख सकते हो...। पर वह भी मम्मी के सुर में ही बात करने लगा, हमको क्या रखना है क्या नहीं इसके बारे में आप लोग हमको मत बताओ। कुछ

समझ हम लोगों को भी है।

और उनकी इसी समझ का एक उदाहरण है कि वे सब आज अपने तीनों मामा के कहने पर बरबसपुर गांव जा रहे हैं। सुनते हैं कि वहां एक महिला हैं जिनको देवी आती है, उनसे अपना भविष्य पूछने। उसके मामा उन्हें बहुत मानते हैं। क्योंकि छोटे मामा को तीन बेटियां हो चुकी थीं, इनके पास आने के बाद 'माता' के आशीर्वाद से ही उनको चौथी संतान लड़का हुआ है।...ये सब बातें कल मम्मी सबको बता रही थीं। राजू और उसकी मां भी उनके पास इसीलिए जा रहे हैं, क्योंकि, वे लोग अब तक अपने शहर के तीन जाने-माने पंडितों को दिखवा चुके हैं, सबने कहा है, चार बेटियों के बाद पांचवें में लड़का है।

इनको पूरा विश्वास है कि माताजी के पास इसका तोड़ है।

हद है अंधविश्वास की भी। झींकता हूं कि डॉली का रिश्ता कैसे घर में हो गया। पर अब कर ही क्या सकते हैं।

गांव में 'माता' के बारे में ज्यादा पूछने की जरूरत नहीं पड़ी। गांव के सारे लोग उन्हें जानते हैं। पता चला, उनकी ख्याति ऐसी है कि लोग दूर-दूर से उनके पास पहुंचते हैं। गांव की कुछ संकरी गलियों को पार करने के बाद नदी जाने वाले रास्ते पर हमें उनका घर नजर आया, जो गांव की मुख्य बसाहट से अलग उस सीमा में था, जहां से खेत शुरू हो जाते हैं। घर के पीछे एक तरफ कुछ आगे नदी थी, तो दूसरी तरफ दूर तक खेतों का सिलसिला था।

डॉली का परिवार और उसके तीनों मामा ससुर का परिवार भी अभी-अभी पहुंचा था। बोलेरो में।

मम्मी अपनी तरफ से डॉली के सास के संग बात कर रही थीं, पर दिख जाता था, वह बेमन से बात कर रही हैं। लड़की वाले होने की क्या-क्या मजबूरियां।

गांव का एक औसत घर। खपरैल की छानी वाला। फर्क यह कि सामने एक सजावटी गेट लगाया गया है। अभी नौरात्रि चल रही है। वहां और भी लोग आए थे। छोटे बच्चों के लिए तो यह मानो पिकनिक स्पॉट था। वे खूब खुश थे। अंदर आरती चल रही थी। भीतर ज्योति कलश जल रहा था।

पता चला माता आरती के बाद सबसे मुखातिब होंगी। आरती के बाद माता के देवीरूप में आने के बाद सबकी समस्या सुनती हैं और उसका निदान बताती हैं। वहां वातावरण में धूप-लोभान और अगरबत्तियों की गंध भरी थी। यहां माताजी से मिलने का लोगों का नंबर वैसे ही लगा था, जैसे हास्पिटल में डॉक्टर से मिलने मरीजों का लगता है।

पर इसके तीनों मामा माताजी के खास भक्त हैं, इसलिए नंबर आधे घंटे के भीतर लग गया।

बुलौवा आने पर हम सब माता के दरबार में प्रविष्ट हुए।

प्रणाम माताजी। प्रणाम माताजी।

वह दस बाइ आठ का छोटा-सा गंवई कमरा था। बमुश्किल आठ फुट ऊंचा। जिसके एक दीवार के आले में देवियों के चित्र सजे हुए थे जिनमें से कुछ को मैं जान पा रहा था। उन्हीं के साथ देश के

कुछ प्रसिद्ध मंदिरों के भी चित्र थे। इन्हीं के सामने नीचे बड़ी-सी चौकी पर लाल कपड़े पर ज्योति कलश रखा था। इनके एक तरफ वह बैठी थीं, यानी माताजी।

माताजी को देख के मैं हैरान था। मैं इन माताजी को अपनी कल्पना में कोई साठ साल की बुढ़िया माने बैठा था। जबकि वह हृष्ट-पुष्ट देह की स्वामिनी युवती थीं, उम्र पैंतीस-छत्तीस की। भरे देह की वह गंवई सुंदर स्त्री थी। मैं माताजी के बांहों के भराव और उनके उभारों को देख रहा था। पर एक पल के लिए मैं ठिठका-सा रह गया था। अचानक मुझे आभास हुआ माताजी ने मेरे इस 'देखने' को देख लिया है और मुझे अटपटा लगा कि साला मैं भी कहां-कहां क्या-क्या देखता रहता हूं। इधर सब भक्ति-भाव से माताजी के चरण छू रहे थे। मम्मी ने मुझे भी वही करने को टहोका मारा। मैंने मम्मी को हल्की नाराजगी से देखकर माताजी को नमस्कार किया, हल्के से सिर झुकाकर।

वहां सब माताजी के आसन के गिर्द बैठ गए। परिचय का दौर चल रहा था। माताजी आहिस्ते से मुस्कुराकर सबका परिचय सुन रही थीं। उनके मामा परिवार को तो वह अच्छे से जानती थीं। नए हमीं थे। डॉली और हम यानी मम्मी और मैं।

वह सबसे हँसके बात कर रही थीं, साथ ही सबके हालचाल और परेशानी पूछती जा रही थीं। मुझे इसमें कुछ भी नया और अनोखा नहीं लगा। ये सब इनके जाने-पहचाने टोटके हैं।

माताजी ने उसके बड़े मामा की एक बेटी से पूछा, ''और कैसी है तू...अवनी? ''

''अच्छी हूं माताजी।''

''तू पिछली बार क्यों नहीं आई थी? ''

माता के सवाल पूछने पर मामा परिवार बहुत प्रसन्न हुआ...देखो, माताजी को इसका नाम अभी तक याद है...जबकि दो-तीन बार से अधिक आई नहीं है। यही तो माता की शक्ति है।

लड़की ने कहा, ''सॉरी माताजी!''

''अरे ये कौन-सी भाषा बोलती है? हिंदी में बोलो। माता सब समझती हैं पर अपनी मातृभाषा बोलनी चाहिए।''

''अरे आजकल के बच्चों की तो यही भाषा हो गई है, माताजी! अपनी मातृभाषा लोग भूलते जा रहे हैं। सबकी पढ़ाई इंग्लिश मीडियम से जो हो रही है।'' राजू के बड़े मामा ने हँसकर कहा। इस पर मैं भी सचेत हो गया। अपनी पढ़ाई भी तो इंग्लिश मीडियम से हुई है। मैं डरा कि मुझसे कुछ पूछा तो हिंदी में ही जवाब देना है।

फिर वह अगले से मुखातिब हो गई।

सब अपनी-अपनी समस्याएं बता रहे थे। जब उनकी मंझली मामी अपनी परेशानी बताने लगीं कि आजकल सपने बहुत डरावने आने लगे हैं तो मुझे लगा, अब यहां इनकी निजी बातें होंगी, बैठना उचित नहीं होगा। मैं उठा और अपनी भांजी चानू को गोद में उठाकर बाहर आ गया।

आंगन से होते हुए सामने आया। कुछ आगे नीम का एक बड़ा पेड़ था, उसकी छांह में उसे खिलाने लगा। भांजी चानू के गुलगुले गाल से मैं अपने गाल छुआने लगा तो उसे अच्छा लगा। वह

खिलखिलाके हंसने लगी। मैं उसे यों ही खिलाने लगा। साथ ही मन ही मन राजू और उसकी मम्मी को कोसता जा रहा था कि इतनी अच्छी बेटी के होते हुए बेटे की ख्वाहिश में मरे जा रहे हैं।

थोड़ी देर बाद मैं उकता-सा गया तो चानू को गोद में लिए-लिए वहीं टहलने लगा। घर के पीछे कुछ आगे नदी बहती है, जिसके चलते यहां की हवा में नदी के जल की शीतलता थी। मैं वहां की हरियाली, खुलेपन और शांति में सुख पाने लगा। करीब बीस मिनट हो रहे थे माताजी के पास उनकी 'कांउसिलिंग' के। मुझे पक्का मालूम था कौन क्या मांग रहा होगा। मामा परिवार अपने कारोबार में और बढ़ोत्तरी, घर-परिवार की सुख-शांति, डॉली की सास अपनी बहू की अगली संतान बेटा होने की मांग रही होगी, राजू अपने अच्छे धंधे-पानी की और पुत्र की कामना कर रहा होगा, ...और माताजी इन पर सलाह दे रही होंगी। बहुत सोच-समझकर, जैसे वह जो सलाह देने जा रही हैं इसके पहले कभी किसी ने मानो दिया ही नहीं होगा। आधा घंटा बीत गया। मैं समझ गया, औरों को छोड़कर माताजी इनको इतना समय दे रही हैं, इसका मतलब ये लोग उनके खास भक्त हैं। हमेशा माताजी का आशीर्वाद लेने वाले स्थायी ग्राहक।

कोई आधे घंटे बाद वे सब बाहर निकले। सबके-सब प्रसन्न और संतुष्ट नजर आ रहे थे। यहां तक कि राजू की मम्मी भी। पता नहीं इन माताजी ने उनको पोते प्राप्ति का क्या अचूक नुस्खा बता दिया?

डॉली ने मुझसे कहा, ''माताजी आपको बुला रही हैं, भैया!''

''मुझे ?'' मैं एक पल के लिए न जाने क्यों सहम-सा गया। मुझे तो वे जानती भी नहीं।

मैंने पूछा, ''क्यों? ''

''अब ये तो माताजी ही जानेंगी।'' उनके बड़े मामा ने हंसकर कहा।

मम्मी बोलीं, ''बिट्टू, अच्छे-से आशीर्वाद लेना माताजी का। माताजी ने कहा है कि वे तुमसे अकेले में कुछ बात करना चाहती हैं।''

मेरी धड़कन और तेज हो गई। पता नहीं क्या मामला है? कहीं माताजी को मेरा उनके पैर नहीं छूना बुरा तो नहीं लग गया ? या कोई और बात...कहीं मेरा उन्हें 'देखना'...?

मैं धड़कते मन से वहां दुबारा में गया।

''दरवाजा बंद कर दो। तुमसे अकेले में बात करनी है।'' माताजी ने जब कुछ सूखे अंदाज में कहा तो मेरी घबराहट और बढ़ गई। अपनी नास्तिकता का गुरूर न जाने कहां हवा हो गया। फिर भी मैंने खुद को संभाला, देखते हैं यार...।

कमरे में अब दिये की लौ की मद्धम पीली रोशनी थी। माताजी का भरा-भरा गोल चेहरा इस लौ में दिपदिपा रहा था।

''बैठ जाओ।'' उन्होंने धीमे स्वर में आदेश दिया।

''जी।'' मैं एकदम आज्ञाकारी छात्र बनकर उनके सामने बिछी चटाई पर पालथी मारकर बैठ गया जहां अभी मामा का परिवार बैठा था। चटाई में अभी उनके बैठने की गरमाहट बाकी थी। वह कमरा जो थोड़ी देर पहले भक्तिमय लग रहा था अब मुझे बहुत रहस्यमय जान पड़ा। कहीं सच में

इनके पास कोई दैवीय शक्ति तो नहीं....?

''आप डॉली के बड़े भाई हैं? ''

''जी।''

''क्या करते हैं?

''एक कंपनी में इंजीनियर हूं।''

''आपकी शादी हो गई है ?'' उनका स्वर बहुत सहज था, बस एक छोटी-सी जिज्ञासा।

''जी नहीं।'' मुझे समझ नहीं आया इन्हें मेरी शादी होने न होने से क्या लेना-देना।

''आप डॉली के लिए क्या चाहते हैं ?'' उनका स्वर जरा सख्त हो गया।

''क्या चाहूंगा...सिवा इसके कि डॉली अपने घर में अच्छे से रहे।''

''आपको पता है, उसकी सास अब उससे एक पोता चाहती है ?'' उसके लहजे से मैं उसकी शिक्षा का स्तर पता लगाने की कोशिश कर रहा था। शायद बारहवीं पास है।

मैंने कहा, ''हां, डॉली बताती है, उसकी सास यही बात करती रहती हैं...इसी वजह से तो वे आपके पास आए हैं।''

''तुमको क्या लगता है, मैं ऐसा कर सकती हूं ?'' वह सीधे तुम पर आ गईं। मेरी समझ को मानो आजमाती।

मैं सिटपिटा गया, ''लोग आपके पास दूर-दूर से इसी उम्मीद में तो आते हैं...। कुछ पूरी होती होंगी तभी तो...अब मैं क्या बताऊं...।''

''तुम अपनी बात बताओ।'' वह अब सीधे मुझे देखने लगीं।

मुझे अब माताजी दिलचस्प लगने लगीं, जो दूसरे के मन में है उसे जान ही लेना चाहती हैं, भले ही वह उनके खिलाफ ही क्यों न हो। इंट्रेस्टिंग।

मैंने अपने ऊपरी आवरण को अब एकदम हटा फेंका, ''मैं ऐसे किसी के आशीर्वाद से मनचाहा बच्चा हो जाने की बात पर यकीन नहीं करता।''

''मतलब साइंस ले के पढ़े हो।''

''हां।''

''मुझको लगता है, डॉली उस घर में पूरी तरह खुश नहीं है।''

''बिलकुल सही पकड़ा आपने।'' मैं अपने उत्साह में कुछ जोर से बोल गया तो उसने डपट दिया...''हूंअ.आवाज नीचे...।''

''ओह आयम् सॉरी।'' मुझे फिर यहां अपनी भाषाई गलती याद आ गई, कहा, ''....मतलब माफी.....क्षमा...।'' वह मुस्कुरा पड़ीं मेरे यों हड़बड़ाने पर।

कहा, ''तुम बोल सकते हो...जिस भाषा में तुम्हें बोलना हो।'' अब वह एक अर्थपूर्ण मुस्कुराहट के साथ मुझे देख रही थी, सीधे..एक खास छुपे हुए मतलब के साथ...और मैं उस मतलब को पूरी तरह पकड़ पाने की कोशिश में था।

''तुमको पता है, डॉली की सास अपने भाइयों को बहुत मानती है...उन्हीं के कहने मुताबिक घर

चलता है।''

''जी।''

''और वे लोग मुझको बहुत मानते हैं। पिछले चार सालों से।''

''हां, ये तो दिख रहा है।'' मैं समझ नहीं पा रहा था माताजी का लक्ष्य क्या है।

वह उसी तरह ठहरे स्वर में बोलीं, ''मैं डॉली की मदद कर सकती हूं..उसके घर में और अच्छे से रहने के लिए...मैं उनके मामा लोगों से जैसा कहूंगी वे करेंगे...। लेकिन...।''

''लेकिन क्या ?'' मेरे मुंह से एकदम निकला।

''इसके लिए मेरी एक शर्त है..।''

''शर्त? कैसी शर्त..? ''

मैं घबराया। मुझे लगा , अब यह देवीजी मुझसे कुछ रुपयों की मांग करेंगी...। पांच हजार या दस हजार या बीस हजार...कि देवी का यज्ञ कराना है...कि माताजी का मंदिर बनवाना है...कि मंदिर में कलश चढ़वाना है...वही पुराने हथकंडे। मैं मन ही मन इसके लिए खुद को तैयार कर रहा था। और उनका चेहरा इस समय इतना सपाट था कि कुछ भी बाहर नहीं निकल के आ रहा था। सारे भाव सख्त आवरण के नीचे दबे थे, जिसे मेरी हां से खुलना था।

''वह कैसे?''

''अपना मोबाइल नंबर मुझे देना। मैं तुमको कॉल करूंगी। एक शाम तुमको यहां आना पड़ेगा...अकेले...और रात रुकना पड़ेगा..? बोलो...?'' वह इतने निर्विकार भाव से मुझे देख रही थीं जैसे इसमें कुछ भी विशेष बात न हो, और मानो रोजमर्रा की बात हो।

मैं अब उनके चेहरे को गौर से देखने लगा, जिसके लिए वह तैयार थीं। उनका तांबई चेहरा अब हल्के-हल्के पिघलने लगा, और उनका आकर्षण मेरे भीतर अपने-आप बढ़ने लगा। फिर एक नामालूम-सी स्मित से उसके भरे-भरे होंठ के किनारे जरा तिरछे हो गए..। फिर कुछ देर बाद उनकी अजनबियत मेरे लिए जाती रही और वह अब खुल के मुस्कुरा रही थीं।

जवाब में मैंने पहले उनके हाथ पकड़े...इस पर वह धीमे से हंस पड़ीं...उनकी हंसी सचमुच सुंदर थी। फिर मैंने उन्हें अपनी ओर खींच लिया। कसके भींच लिया। मेरी हथलियां उनके पीठ के पसीने के ठंडेपन से भर गईं।

थोड़ी देर बाद हम सारे लोग माताजी के दरबार में फिर से बैठे थे।

वह सलाह दे रही थीं, ''राजू! तुम चाहते हो कि तुम्हारा अगला बच्चा बेटा हो तो अभी इसका एक ही उपाय है अगर तुम कर सको...कि आने वाले चार साल तक तुम दोनों की कोई और संतान नहीं होनी चाहिए।'' फिर मामाजी से मुखातिब होकर बोलीं, ''देखिए, आपके लिए ये बहू लक्ष्मी के जैसी है। आपके कारोबार में इसके आने के बाद नफा हो रहा है...बोलिये सच है कि नहीं..?''

''सच है माताजी।'' बड़े मामाजी बोले।

''इसीलिए कह रही हूं, आप लोग अपनी भांजे-बहू का खास ध्यान रखेंगे...।''

''जी माताजी। ..जी माताजी।'' उसके मामा-मामी मुस्कुराके कहने लगे, ''अजी, हम अपनी

बहू का पूरा ध्यान रखेंगे। बिल्कुल ध्यान रखेंगे माताजी।''

''और आप भी।'' उन्होंने अब डॉली की सास से कहा।

डॉली की सास ने झटपट हामी भर दी।

फिर माताजी ने एक उड़ती-सी नजर से मेरी तरफ देखा, जिसमें सब कुछ प्लान के मुताबिक होने का संतोष था, और आंखों में एक महीन मुस्कान बहुत हल्के-से चमक रही थी। मैंने उन्हें झट-से आंख मार दी।

उनके बुलाने पर जब एक शाम मैं वहां पहुंचा, उनके पतिदेव बच्चों को लेकर दो दिन के लिए किसी रिश्तेदारी में बाहर गए हुए थे, और घर के बूढ़े नौकर को आज जल्दी छुट्टी देकर भेज दिया था और उनके घर में लोगों का समय-बेसमय आना गांव में कोई नई बात बिल्कुल नहीं थी।

मुझे आज एक अलग कमरे में बिठाया था उन्होंने। यह कमरा शायद मेहमानों के लिए था। अपेक्षाकृत साफ-सुथरा। मैं तब बहुत विस्मित रह गया था जब व्हिस्की का एक क्वार्टर, कांच के दो गिलास, पानी का जग और साथ में खाने का कुछ नमकीन मेरे सामने के टी-टेबल पर रख दिया था।

थोड़ी देर के बाद वह कमरे का किवाड़ बंद कर रही थीं।

* * *

कहानी

दीवारें नहीं टूटीं

कृष्णकांत

उसने कहा- मेरी लड़ाई खुद मुझसे है, तब तक, जब तक मैं सारी स्याहियों को जज्ब करने लायक दामन न तराश लूं।

कैसी लड़ाई?

किसलिए?

औचित्य क्या है?

यही तो साफ नहीं है। बस, यह जाहिर है कि लड़ना है। आत्म-परिष्कार के लिए एक युद्ध। शायद उम्र लग जाए। और यह भी हो सकता है कि इसका हासिल मुझे न मिल कर बाकी जमाने को मिले।

आंख खुली तो वह उठकर बाहर आया। क्षितिज से उजाला फूट रहा था, जैसे चमड़े के कारखाने में से धुआं उठ रहा हो और आसपास की फिजा उसकी कालिख में सन गई हो। वह बहुत देर तक बॉलकनी पर खड़ा चारों ओर देखता रहा। कहीं कुछ भी नहीं दिखा जिसे देखकर सुकून मिले। तीसरी मंजिल की बॉलकनी से चारों ओर देखते हुए ऐसा लगा कि जैसे वह किसी जंगल में आकर गिरा है और एक ऊंचे से दरख्त पर अटक गया है। दरख्त में न फूल हैं, न पत्तियां हैं, सिर्फ शाखें हैं और शाखों पर कांटे हैं। वह उन्हीं कांटों पर टिका है। उसकी उठती-गिरती सांसों में कांटे चुभ-चुभ जाते हैं और वह अपार पीड़ा से बिलबिला रहा है। अगर यह बीती सदी की किसी फिल्म का दृश्य होता, तो बैकग्राउंड में गाना बज रहा होता... हदे-निगाह तक जहां गुबार ही गुबार है....। जहां तक निगाह जा पा रही थी, उसे धुंध ही धुंध ही दिखती है। खूब घना कांटों का जंगल।

उसने सोचा- क्या करूं? कहां जाऊं? कूद जाऊं यहां से? मरूंगा तो नहीं। हां, पूरा बदन छिल जाएगा जरूर। या ऊपर से नीचे गिरते वक्त मैं कांटों में फंस-फंस कर टुकड़े-टुकड़े बिखर जाऊंगा। लेकिन कूदने की जरूरत क्या है? हां, जरूरत है। जरूरत इसलिए कि मन में अथाह पीड़ा है और इतनी पीड़ा के साथ सिर्फ मरा जा सकता है, जिया नहीं जा सकता है।

पीड़ा क्यों है?

नहीं जानता, पर खुश रहने की कोई वजह भी तो नहीं है, इसलिए पीड़ा है, सिर्फ पीड़ा।

अरे पगले! सुबह-सुबह ये किस उलझन में फंस गया तू? देख, वह क्षितिज पर लाली छा गई है। सूरज बस निकलने ही वाला है। दुनिया में यही समय तो सबसे शुभ होता है। रोज ही असंख्य आंखें तमाम-तमाम सपनों के साथ खुलती हैं और अपने-अपने गंतव्य की ओर चल पड़ती हैं।

हां, सही है। पर इसमें सुबह का क्या? वह तो आंखों और सपनों का जीवट है कि वे निराश सोते हैं और उत्साह से लबरेज हो फिर जाग जाते हैं। वे रक्तबीज हैं। वे मरते नहीं। वे मौत से परे हैं....। उनकी हर बूंद से एक नया सपना पैदा होता है.... उनका कोई बिगाड़ेगा क्या....।

इतने में सोच टूट गई, जैसे हमेशा टूटती है। वह हंसा- सोच का टिका रहना कितना मुश्किल है!

अब तक काफी देर हो चुकी थी। रात का धुंधलका भी जा चुका था और सूरज उग रहा था- मलिन, फटा-फटा सा, बिखरा-बिखरा और अब खुद को इतना दीप्तिमान कर लेगा कि उसे देखा भी नहीं जाएगा। इसकी जगह कोई छोटा सा दिया होता तो उसके सहारे कुछ घड़ी कट सकती थी। इसे तो देखा ही नहीं जा सकता देर तक। इसके आने-जाने का कोई फर्क नहीं। मेरे लिए यह सुबह भी वैसी है, जैसी शाम गई है। दिन भी वैसा जाएगा, जैसी रात गई है। यदि मेरी पीड़ा बनी ही रहती है तो दिन हो या कि रात, मुझे क्या?

वह वापस कमरे में आ गया और फिर से बिस्तर पर लेट गया और चादर खींच ली। एकदम उतान लेटा हुआ चादर के भीतर-भीतर वह सोच रहा था कि यह सुबह वाकई कितनी खराब चीज है! रात भर कम-से-कम इतना सुकून था कि बेचैन मन से बिस्तर पर लेटा तो नींद आ गई और कुछ घंटे अपने को भूल गया....

...अरे हां, रात को मुझे नींद आई। नींद यानी कुछ समय के लिए आदमी का करीब-करीब मुर्दा हो जाना, जो कि मैं कुछ घंटे लिए हो गया था। अपने को भूल गया था। अपने को भूलना कितना सुखद होता है! जरूरी भी। लेकिन रात वास्तव में कमाल की चीज है। वाह! रात वास्तव में....।

लेकिन मैं उसे सुखद क्यों कह रहा हूं? ठीक है कि कुछ घंटे मैं छटपटाया नहीं, तो चलो यूं कह लो कि मेरे लिए यह ठीक रही। उसका कारण हो सकता है कि मेरा पेट भरा हुआ था। मेरा बलात्कार भी नहीं हुआ था। मेरे साथ लूट भी नहीं हुई थी। क्या जो भूखे पेट सोया होगा, जो बलत्कृत हुआ होगा, जो लुटा होगा, उसके लिए भी यह रात इतनी ही सुखद रही होगी? वह तड़प उठा।

उसे मां याद आ गई। मां ने पिछले हफ्ते कहा था घर आने को। दो-एक दिन के लिए ही सही पर आ जाओ। लेकिन वह नहीं गया। ''मां-बाप के पास जाने की फुरसत किसे है? जाएं भी तो करें क्या? बाप मुंह फुलाए रहेगा कि लड़का निकम्मा है क्योंकि बीस-बाइस बरस का हो गया है और अभी तक कहीं सरकारी बाबू नहीं हो पाया। और मां! वह तो हरदम रोती रहेगी। वह हरदम रोती रहती है। जब से होश संभाला है, देख रहा हूं कि वह रोती ही रहती है। मैं पैदा हुआ था तब का याद नहीं, पर यकीनन, वह तब भी रोई ही होगी। मेरे पैदा होने के पहले भी वह रोती रही होगी। उसे इतना तो समझ गया हूं कि दावे से कह सकता हूं-वह रोने के लिए ही बनी है। मैं कह सकता हूं कि उसके आंसू ही उसका जीवन हैं और मैं उस जीवन का कभी साथी नहीं बन सका। पर ये भी क्या बात हुई? हरदम रोते ही रहो। अरे जिससे आपको परेशानी है, उसका शमन करो, उसकी हत्या कर

दो, खत्म कर दो सारे अवरोध और हंसो। मगर वह कहां मानती है? कहती है- ''इतने खतरनाक विचारों का आदमी मेरा बेटा नहीं हो सकता। अब जब वह खुद कह रही है कि मैं उसका बेटा नहीं तो मैं जाऊं क्यों उसके पास?...''

सोच फिर टूट गई....।

उसने करवट बदली और अपने आपको कोसा- ''यह मैं क्या-क्या सोचता रहता हूं। यह सब छोड़ो। वह मां है। बुलाती है तो जाना ही पड़ेगा। मां मैं आ रहा हूं। आ रहा हूं....बस, सारे काम जरा निपटा लूं फिर आता हूं...।''

यह सिलसिला करीब दस सालों से चल रहा है। वह शायद रोज ही मां से वादे करता है कि वह जल्दी ही आएगा और रोज अपनी उलझनों में ऐसा व्यस्त हो जाता है कि घर जाने की योजना ही नहीं बन पाती। उसे समस्याओं का ऐसा अंबार दिखता है, जिसके आगे मां से मिलना बहुत छोटा और गैरजरूरी काम लगता है। हालांकि, मां के व्यवहार और बातों से लगता है कि मां सब बच्चों में उसे सबसे ज्यादा प्यार करती है। वह हमेशा उससे मिलने को छटपटाती रहती है लेकिन उसे मां का इस तरह अधीर रहना अच्छा नहीं लगता।

-क्या रोज-रोज मिलना-जुलना? अरे! इतने सालों तक तो उसी के पास रहा हूं। अब अपना ही जीवन इतना भारी और खौफनाक हो गया है कि इससे वह दु:खी ही होगी।

वह उठा तो दिन के तीन बज रहे थे। सोचते-सोचते जाने कब सो गया था, उसे पता भी नहीं चला। आंखें मींचते हुए उसने सिगरेट का डिब्बा उठाया और एक सिगरेट जला ली। उसने सोचा- यह धुआं भी क्या अजीब और अपरिहार्य चीज है, दुख की तरह पूरे जीवन साथ रहता है-जन्म से मृत्यु तक। धुएं के बारे में सोचते-सोचते वह सिगरेट का पूरा डब्बा खाली कर गया। दरवाजा बंद था और पूरे कमरे में धुआं-धुआं। ठीक ऐसे ही तो दिख रही थी आज की सुबह...। शाम भी ऐसी ही आएगी। बस धुआं... चारों ओर धुआं...।

वह बचपन से ही कुछ बातों को लेकर परेशान है और वह परेशानी अभी तक बनी हुई है। मसलन, सूरज का मन-मुआफिक रंग बदल लेना और आदमी का महज तमाशबीन होना। वह दो बातें इस जहान में बिल्कुल नहीं होने देना चाहता- एक यह कि चांद का आकार कभी छोटा न हो, और दूसरा यह कि कोई कभी आत्महत्या न करे। मगर यह दोनों बातें वह रोक नहीं पा रहा है। या यूं कह लो इसका शिकार खुद वह भी हुआ, जब उसकी प्रेमिका ने दीवारों से आजिज आकर आत्महत्या कर ली। वह दीवारें नहीं पसंद करती थी और उन्हें ही उसका नसीब बना दिया गया था। वह कहती थी-मेरा दम घुटता है। दीवारों को परे हटाओ और मुझे सांस लेने दो। दीवारों ने कहा- जितनी सांसें हम अता करें, वही तुम्हारा हक है। बाकी की आकांक्षाएं असंगत हैं। उसने विरोध किया और दीवारों की आगोश में ही खाक हो गई। दीवारें फिर भी रह गईं।

इन्हीं को ढहा देना उसके जीवन का अंतिम लक्ष्य है।

दीवारें इतनी बलवती कैसे हो गईं?

वह पहली बार जब गांव में लगने वाले मेले में उससे मिला तो दोनों में कोई बात नहीं हुई थी।

बस, आंखों में ही कुछ कह गई थी। उसकी निगाहों में एक आह्वान था। दीवारें तब भी उसके साथ थीं, जो उसकी आवाज को नहीं रोक सकीं। लड़की ने आवाज दी–दीवारों से मुक्ति चाहिए। उसने जवाब दिया– मैं आपके साथ हूं, बाजुओं की ताकत बनकर। लड़ो, आत्मबल तुम्हारा, हुमस मेरी, बल मेरा। बाजू तुम्हारे, ताकत मेरी।

दोनों में एक मौन समझौता हो गया। दोनों ऐसे जुड़ गए जैसे कोई अपनी दोनों हथेलियों को आपस में भींच लेता है। वे चल पड़े। दीवारों से परे खुले खेत थे, खलिहान थे, सड़कें थीं, पार्क थे, बेहद जमीन थी, खुले आसमान थे। पर दीवारें साथ थीं... वे जन्म से साथ थीं।

इनसे मुक्ति का उपक्रम करना होगा। हम साथ हैं। करेंगे, वह सब जो करना पड़े। दो हथेलियां गुंथी हुई साथ–साथ चलने लगीं। लेकिन दीवारें भला इतनी उदार कब होने लगीं! वे और सिमट गईं। घेरा कसता गया।

दो मुलाकातों के बाद एक महीना बीत गया, वह नहीं दिखी। एक दिन उसे एक पत्र मिला। एक बच्चा लाकर दे गया। वह लड़की का चचेरा भाई था। उसके हाथ में एक चॉकलेट था, जो उसके आधे मुंह में लिपट गया था। यह शायद पत्र पहुंचाने का मेहनताना था। वह दौड़ा हुआ आया और झट से उसे थमा दिया जैसे पहाड़ कंधे से उतार कर पटक दिया हो– यह लो, दीदी ने दिया है और भाग गया।

उसने पत्र खोला–

आकाश!

उस दिन तुमसे मिलकर लौटी तो सबको पता चल गया था कि खेत में तुम मुझसे मिले थे। शायद पिताजी ने देख लिया था, तब से मुझे घर से बाहर कदम न रखने का कह दिया गया है। इस हिदायत के साथ कि अगर मैं घर से बाहर दरवाजे पर भी दिख गई तो पांव काट दिए जाएंगे। लोग कितने कमजर्फ हैं। पांव कटने से किसी की यात्रा रुकी है भला। इन दीवारों में मेरा दम घुटता है। मेरी शादी की बातें चल रही हैं। मैंने मना किया और इस जुर्म में मां और पिताजी के हाथ दो–दो बार पिट चुकी हूं। वे लोग मुझे देखने आने वाले हैं। पहरे बढ़ गए हैं। हरदम कोई न कोई मेरे आसपास रहता है। खैर, तुम निश्चिंत रहो। मुझे कोई कैद करके नहीं रख सकता। इस घर की रवायतों पर मेरा बस हो न हो, मेरी जान मेरी अपनी है। मैं उसकी मालकिन हूं। होगा वही जो मैं करूंगी। अगर यहां से निकल सकी तो यह देश छोड़ दूर निकल चलने के लिए तैयार रहना। अगर यह न हो सका तो मैं चिर यात्रा पर निकल जाऊंगी। तुम अपनी दुनियादारी निपटाकर जब मौका मिले, आना। मैं इंतजार में रहूंगी। तुम खुद को कमजोर मत होने देना। इससे ज्यादा कुछ कह पाने का वक्त नहीं है। शेष मिलने पर... अगर मिल सके तो...

तुम्हारी

.....

आकाश किसी अनहोनी की आशंका से सिहर उठा।

तीन दिन गुजर गए उसने कोई संदेश नहीं भेजा। वह इंतजार करता रहा। उसके पत्रवाहक भाई

की प्रतीक्षा करता रहा कि शायद कहीं दिख जाए तो खैरियत मालूम हो, लेकिन ऐसा नहीं हुआ।

वह सोच रहा था कि अगर किसी तरह वह एक बार उसे मिल जाए फिर दोनों ऐसे छूमंतर होंगे कि ईश्वर भी दोनों को खोज नहीं पाएगा।

उसे लेकर कहां जाएगा, कैसे रहेगा, क्या करेगा, इन्हीं बातों में सिर धुनते-धुनते पहली बार की मुलाकात उसके जेहन में ताजा हो गई।

बड़ी-बड़ी गोल आंखें माथे पर नाखूनी का लंबा-पतला सा टीका लगा हुआ। छोटी सी उठी हुई नाक में पतले तार की नथनी। घुंघराले घने बालों में एक सादा सा रिबन। औसत कद काठी पर एक हरे रंग का सूट। कंधे पर आधी सरकी हुई ओढ़नी। आंख मिलाते ही उसकी आंखें भर आईं थीं। चेहरा लाल हो गया था। उन पनीली आंखों में एक तेज था। आत्मविश्वास था। जीवन जीने और प्रतिरोध करने का हौसला साफ झलक रहा था। नाम पूछने पर धीरे से बुदबुदाई थी- अंजू। जब तक सामने खड़ी रही, एक हाथ से दूसरे हाथ की उंगलियां तोड़ती रही और बस हां-हूं में जवाब देती रही। मुख्तसर सी मुलाकात करके चली गई थी। और चली ही गई....।

कोई तीन चार दिन गुजरे होंगे। आकाश दरवाजे के सामने जमीन पर माटी में ही पैर फैलाए बैठा था। सामने चटाई पर मां थोड़ा गेहूं सूखने को डाल गई थी। दाना थोड़ा था, चटाई उसके मुकाबले काफी लंबी चौड़ी। आकाश बार बार मुट्ठी में गेहूं भरता और फिर चटाई बिखेर देता। फिर बटोरता, फिर बिखेर देता। हल्का कुहासा था, कभी-कभी सूरज थोड़ा सा झांकता, हल्की धूप झांकती और कुहासे में फिर से छुप जाती। अनायास गेहूं के दाने बटोरते-बिखेरते काफी समय गुजर गया। आकाश दानों से उलझा हुआ जाने किस सोच में डूबा था कि अचानक किसी के घबराए से पदचाप से उसकी तंद्रा टूटी। बच्चा हाथ में चॉकलेट लिए आया और आकाश के हाथ में एक कागज का आधा फटा तुड़ा-मुड़ा सा टुकड़ा पकड़ाकर उसी वेग से लौट गया। आकाश ने इधर उधर देखा कि कोई देख न रहा हो और पत्र पढ़ने के लिए जरूरी एकांत की तलाश में उठकर घर की एक तरफ चला गया। इंतजार के बावजूद आज जाने क्यों उसे पत्र की आमद अच्छी नहीं लगी। उसने संभालकर कागज का टुकड़ा सामने फैलाया। मात्र दो पंक्तियां थीं-

आकाश, आज मैं अपने सर पर लादे गए सारे बोझ से मुक्त हो रही हूं। आगे का रास्ता तुम्हें अकेले तय करना है। अपने लिए अच्छे रास्ते तलाशना। मैं चलती हूं। अलविदा...

आकाश को सांप सूंघ गया। अब क्या करे। क्या भागकर उसके घर जाए और उसे उन दीवारों से हमेशा के लिए मुक्त करा ले... उसने कागज का टुकड़ा जेब में ठूंसा। कदम अंजू की घर की तरफ बढ़ चले। नहीं, यह नहीं हो सकता। मेरे रहते यह नहीं हो सकता। कदम और तेज हो गए। कलेजा मुंह तक आ गया-नहीं... नहीं... सुनो, तुम ऐसा नहीं कर सकतीं। कोई भी दीवार इंसान के हौसलों से ऊंची नहीं हो सकती। एक छलांग मारो और इस पार आ जाओ, मैं इंतजार में हूं। फिर कोई नहीं पा सकेगा हमें... तुम ऐसा कतई मत करना। आकाश के घर से उसके घर तक पहुंचने में कोई पांच-सात मिनट लगते थे। वह करीब पहुंचा तो अजीब चीख पुकार सुनकर ठिठक गया। अंजू के घर से अजब घबराहट भरी चीख आ रही थी। यह उसकी मां थी। जोर-जोर से रो रही थी। अंजू जा चुकी

थी।

वह उल्टे पांव लौट पड़ा। नहीं माना तुमने? मेरा कहा नहीं सुना तुमने? तुम इतनी बुजदिल हो गई? यह तो नहीं होना था। अब....?

वह फफकते हुए खेतों की ओर बढ़ गया।

आकाश घंटों खेत में बैठा अंजू के बारे में सोचता रहा। कोई आदमी आत्महत्या कैसे कर सकता है? अनमोल जीवन को कोई इतनी आसानी से कैसे गवां सकता है? क्या परिस्थितियां इतनी सशक्त हो सकती हैं कि आदमी उनसे हार जाए और पलायन का रास्ता चुन ले? लेकिन यह उसका विरोध भी तो हो सकता है। मौत का ख्याल कितना डरावना होता है, बावजूद इसके कोई मौत को गले लगा ले, अदम्य साहस भी तो है कि आपने अपने लिए सबसे डरावनी डगर चुन ली।

वह दो घड़ी रात बीते घर पहुंचा। दरवाजा खुला था, मां आंगन में पड़ी चारपाई पर गुमसुम बैठी थी। शायद उसी के इंतजार में । पहुंचते ही थोड़ा नाराज होती हुई बोली- कहां चले गए थे तुम? इतनी रात गए घर आ रहे हो, बताकर नहीं जा सकते थे। उसे झिड़कते हुए मां उसके लिए खाना ले आई। वह चुपचाप खाने लगा। खाना भीतर नहीं जा रहा था। वह पूरी ताकत से अंदर धकेल रहा था। मां से यह कहने की हिम्मत नहीं हो रही थी कि वह खाना नहीं खा सकता। वह हजार सवाल करती, क्यों नहीं खाओगे? क्या खाकर आए हो? भूख क्यों नहीं है...वगैरह वगैरह।

वह चुपचाप निवालों से जूझ रहा था और मां उसे गांव में घटी आज की घटना के बारे में बता रही थी- अंजू ने फांसी लगा ली। वह दो दिन से बिस्तर से नहीं उठी थी। उसकी मां उसे खाना देने गई तो देखा वह छत से लटकी हुई है। मां सदमे में है। वह बार-बार बेहोश हो जा रही है। सब बता रहे हैं कि वह किसी को चाहती थी, इसलिए फांसी लगा ली। बताओ, यह भी कोई चाहना हुआ? कैसे कैसे लड़के-लड़कियां हैं आज के? पढ़-लिखकर सब अकारथ...

वह बीच में ही उठ गया- अब नहीं खाऊंगा। उबकाई आ रही है। तबियत कुछ ठीक नहीं है...

मां ने दो-एक बार टोका, लेकिन सीधे घर से बाहर निकला और दालान में चला गया। ज्यादा न बोलने की आदत के कारण उसे मां को कोई जवाब नहीं देना पड़ा। यह भी नहीं कह सकता था कि जो हुआ, सब जानता हूं और कुछ हद तक मैं भी मर गया हूं। वह बेतरह चीखना चाहता था। इतना तेज कि उसकी आवाज पलायन कर गई अंजू तक पहुंच जाए। वह अपने बिस्तर पर आकर बैठ गया और बैठा रहा... सुबह तक।

कुछ समय बाद वह इलाहाबाद चला गया। उसे विश्वविद्यालय में दाखिला मिल गया था। विश्वविद्यालय पहुंचना उसके लिए बाकी युवाओं जैसा नहीं रहा। वह अंजू के साये से मुक्त नहीं हो सका। आकाश अकेला पड़ता गया। वह अपने व्यक्तित्व का विस्तार चाहता। वह कुछ करना चाहता। वह उन तारीकियों से लड़ना चाहता, जिनमें अंजू खो गई, लेकिन अंत में वह हार जाता और उसी कमरे में उसे पनाह मिलती जिसमें करीब-करीब उसका दम घुटता। वह दिन भर इलाहाबाद की शांत चौड़ी सड़कों पर अकेला घूमता रहता। जैसे कि यहीं कहीं अंजू मिल जाएगी। संगम के तट पर, अकबर के किले में, सरस्वती घाट पर, कंपनी बाग में, भारद्वाज पार्क में, खुसरो बाग में, विश्वविद्यालय

कैंपस में या किसी गली में। वह भीड़ में कभी पहुंचता तो बहुत तेजी से चारों ओर देखता। हर चेहरा उसे निराश-उतरा हुआ दिखता। हर ओर एक सुनसान सा मंजर, जहां न रहा जा सकता है और न किसी से बात की जा सकती है। अंत में निराश होकर वह लौटता और कमरे में बंद हो जाता... विह्वल... बेचैन...

उसे लगता कि इलाहाबाद एक सोया हुआ शहर है। यहां चारों ओर से इतने सारे युवा आते हैं और खामोश यहां से चले जाते हैं। यहां सबके कांधे पर एक गौरवशाली अतीत के सिवा कुछ नहीं है। यहां कुछ बदलता क्यों नहीं? यहां से कोई शुरुआत क्यों नहीं होती? यहां पर अब नए अध्याय क्यों नहीं लिखे जाते? उसने कोशिश शुरू की। वह कुछ युवा लेखकों को बटोरकर एक साप्ताहिक गोष्ठी आयोजित करने लगा, जिसमें दुनिया की तमाम दुश्वारियों पर बहस-मुबाहिसे होते। उनके उन्मूलन की योजनाएं बनतीं। युवा अपने जीवन लक्ष्यों पर चर्चाएं करते। वे विश्वविद्यालय में फैलती जड़ता को उखाड़ फेंकने की योजनाएं बनाते। वे परिसर में लागू होते आपात्काल के खिलाफ प्रस्ताव पारित करते। वे वहां तैनात बंदूकों के विरोध में नारे लगाते और उन्हें परिसर से बाहर करने की मांग करते। वे अपनी कविताओं और कहानियों में एक यूटोपिया गढ़ते और उसे साकार करने के सपने देखते। आकाश को इन सबमें अपनी निराशाओं से थोड़ी राहत मिलती। वह सोचता कि मैं उन तमाम दीवारों को ध्वस्त करूंगा जिनसे लड़ते-लड़ते अंजू शहीद हो गई।

आकाश के जो कुछ नजदीकी साथी थे, उन्हीं में से एक थी काव्या। वह हिंदी की शोधछात्र थी और विश्वविद्यालय के हॉस्टल में रहती थी। आकाश से उसकी गहरी दोस्ती हो गई थी। वह रिसर्च करने के बाद एक महिला संगठन बनाना चाहती थी ताकि महिलाओं के खिलाफ होने वाले उत्पीड़न से लड़ सके। इस काम में उसने आकाश से भरपूर सहयोग का वादा लिया था। वह स्त्रियों के रहने लायक एक दुनिया का सपना देखती थी और उस दुनिया की तस्वीर वह कहानियों और कविताओं में उतारा करती थी। उसे आकाश की सारी कहानी पता थी और कहा करती थी कि अब इस तरह किसी और अंजू को मरने नहीं देना है।

काव्या के रिसर्च गाइड प्रोफेसर साहब काफी पहुंचे हुए आदमी थे। वे अध्यापक संघ में सक्रिय थे और विश्वविद्यालय प्रशासन में काफी पहुंच रखते थे। वे शोध परंपरा के मुताबिक, उससे अपने बहुत सारे व्यक्तिगत काम करवाते, जिससे वह त्रस्त रहती थी और जल्द ही अपना रिसर्च पूरा कर उनसे मुक्त हो जाना चाहती थी।

प्रोफेसर साहब ने एक रोज उसे अपने घर बुलाया। वहां से लौटने के बाद वह बहुत परेशान थी। वह अपनी रूम पार्टनर सहेली से लिपट कर खूब रोई। बहुत कुरेदने पर बताया कि प्रोफेसर साहब ने उसके साथ जबरदस्ती की है और कहा है कि यदि वह इसके विरोध में कुछ करेगी तो उसे अपने रिसर्च से हाथ धोना पड़ेगा। सहेली देर तक उसे समझाती रही और सो गई।

अगली सुबह सहेली जागी तो देखा काव्या पंखे से लटकी हुई है।

आकाश ने अपने साथियों के साथ मिलकर प्रोफेसर साहब के खिलाफ अनशन शुरू किया। तमाम विद्यार्थी उसके साथ आ गए और विश्वविद्यालय परिसर का कामकाज ठप हो गया।

विश्वविद्यालय प्रशासन हरकत में आया और आकाश को साथियों सहित पुलिस उठा ले गई। उसे दो दिन जेल में पीटा गया फिर छोड़ दिया गया। उसे व्यवस्था भंग करने के आरोप में विश्वविद्यालय से हमेशा के लिए निकाल दिया गया और मामला शांत हो गया।

उसने साथियों के संग मिलकर काफी कोशिश की कि मामले में कोई कार्रवाई हो, प्रोफेसर साहब के खिलाफ जांच हो, उन्हें हटाया जाए, लेकिन कुछ नहीं हुआ। जो विद्यार्थी उसके पक्ष में आए थे वे सब अपने-अपने कामों में मशगूल हो गए। अब वह उनसे इस बारे में कुछ कहता तो वे उसकी हां में हां तो मिलाते, पर कुछ करने के नाम पर कन्नी काट जाते।

आकाश ने बहुत दिनों तक इस सिलसिले में कोशिश की और फिर चुप रह गया, लेकिन जब भी वह अकेला होता, उसे उस लड़की के ख्याल परेशान करते। उसे लगता कि प्रोफेसर ने उसकी आंखों के आगे काव्या का कत्ल किया, जैसे अंजू को मारा गया था और वह कुछ नहीं पाया। वह कभी आईने के आगे खड़ा होता तो आईना उसे चिढ़ाता कि तुम दो दो हत्याओं के चश्मदीद हो। किस मुंह से खुद से आंख मिलाते हो। वह आईने के सामने से हट जाता। उसे रात को सपने आते कि तुम कायर हो, तुम किसी निर्दोष की हत्या पर चुप हो, तुम हत्या में शामिल हो। तुम हत्यारे हो...

इन्हीं उलझनों में उसे तीन साल गुजर गए और उसका एक दोस्त उसे दिल्ली ले आया।

दिल्ली एक चीखता हुआ घबराया, डरा-सहमा सा शहर। चौड़ी मगर बोझिल सड़कें। बेहद भीड़। बलत्कृत होती यतीम गलियां चारों तरफ विचरती निराशाएं। निरी अकेली, उदास भटकती निरुद्देश्य संवेदनाएं। किसी की किसी से कोई पहचान नहीं। कोई संभावना भी नहीं। भविष्य का कोई सार्थक सपना नहीं। इंसानों के लिए कोई जगह नहीं। एक दरीचा सामने वाले दरीचे को देखकर मुस्कुराता नहीं। दीवारें सामने ही खड़ी दीवारों को छूना पसंद नहीं करतीं। वे आपस में बात नहीं करतीं। गोलियों का शोर, संगीनों का खौफ, बारूदों की गंध। आज के सारे पन्ने झूठे, सुनहरे वादों से लदे, वर्तमान के चेहरे पर भ्रष्टाचार की कालिख पोते हुए। सत्ता के सारे पाये अपना-अपना चेहरा मुखौटों से मूंदे। सबके पीछे एक डरावनी सूरत। तमाम जनता की उड़ती विह्वल आवाजें और सिंहासन के ढंके हुए कान। उनके कदमों से शैतानी आहट। वह घबरा उठा। यह कहां आ गया हूं। यह कौन सी जगह है। मेरी आंखों में दो और आंखों के सपने हैं, उन्हें कैसे सहेजूंगा। उन्हें लेकर कहां जाऊंगा ? कहां रखूंगा ? पर वापस लौटने की कोई गुंजाइश नहीं। रहना होगा, यहीं इन सबसे एक साथ लड़ना होगा।

हालांकि, अब वह खुद ठीक-ठीक नहीं जानता था कि वह आगे क्या करेगा या क्या होगा?

दिल्ली पहुंचकर उसने मुखर्जी नगर में एक कमरा लिया। मुखर्जी नगर अब तक इलाहाबाद की तरह सिविल सर्विसेज की तैयारी करने वाले युवाओं का गढ़ बन गया था। चारों ओर छात्रों की बेहद भीड़ होती, लेकिन उसे इन लोगों में, भीड़ में या दुनिया जहान में कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह अक्सर कमरे से निकलता और व्यस्त सड़कों को फलांगता हुआ किसी सुनसान पार्क में जाकर बैठ जाता। घंटों बैठा रहता फिर व्यग्र हो इधर-उधर घूमता और वापस आ जाता।

आकाश खुद के भीतर के द्वंद्व से इस कदर उलझ गया था कि आगे के बारे में कुछ भी सोच

सकने की ताकत खो चुका था। अब वह आईने के सामने पहुंचकर डरता नहीं था, घबराता नहीं था, बल्कि उसकी आंखों में आंखें डाल कर कहता–हां, मैं कायर हूं। मैं हत्यारा हूं। तमाम–तमाम अंजुओं–काव्याओं का हत्यारा... मैं हत्यारा हूं...

उसने पढ़ाई के या नौकरी के बारे में सोचना बंद कर दिया। शायद इस तरफ उसका ध्यान नहीं जा सकता था। उसने कोई दोस्त नहीं बनाया था। जिन दोस्तों के साथ वह दिल्ली आया था, अब उनसे भी मिलने नहीं जाता था। उसे लगता कि काव्या की मौत के बाद इन लोगों ने मेरा साथ नहीं दिया। फिर इनका कैसा साथ... ये क्या करेंगे? वे सभी कभी मिलने आते तो वह बस यूं ही मिल लेता। बिना किसी दिलचस्पी के। वह कोशिश करता कि किसी के सामने न पड़े। वह दिन भर कमरे में बंद रहता और जब अंधेरा हो जाता तो घर से निकलता। चुपचाप चलता जाता और जब थक कर चूर हो जाता तो देर रात गए लौटता और खुद को कमरे में बंद कर लेता। उसने अब खुद पर कोई ध्यान देना बिल्कुल छोड़ दिया। या कहें छूट गया। दाढ़ी बढ़ी हुई। बाल बढ़े हुए। करीब करीब डरावनी सूरत। हमेशा चुप चुप रहना। अगल बगल के लोग उसे संदेह की निगाह से देखते और उसके मकान मालिक को आगाह करते कि यह आदमी ठीक नहीं दिखता है। इससे होशियार रहना। उसके भीतर के युद्ध से कोई भी वाकिफ नहीं था।

एक रोज वह यूं ही घूमने निकला और रोज की तरह करीब बारह बजे के आसपास आकर फिर कमरे में बंद हो गया। उसी समय दिल्ली के सरोजिनी नगर में विस्फोट हो गया। बीस लोग मारे गए और करीब साठ लोग घायल हो गए। विस्फोट रात करीब नौ बजे हुआ था, जब वह घर से बाहर था, हालांकि वह हमेशा की तरह इस घटना से बेखबर था। विस्फोट के बाद उसके पड़ोसी मकान मालिक के पास पहुंचे और कहा– देखा, हम कहते थे। टीवी पर आतंकी का जो हुलिया बताया जा रहा है, वह बिल्कुल इसी आपके किराएदार जैसा है। अपनी खैर चाहो तो पुलिस को फोन कर दो, वरना पकड़े गए तो जिंदगी जेल में सड़ जाएगी। मकान मालिक ने बिना कुछ सोचे झटपट पुलिस को फोन मिलाया और बताया कि उसके मकान में एक आदमी रहता है और उसका हुलिया बिल्कुल वैसा ही है जैसा आतंकी का बताया जा रहा है। कुछ ही मिनट में पुलिस आ गई। आकाश अभी–अभी घूम कर लौटा था और अंदर से दरवाजा बंद किए लेटा था। पुलिस ने दरवाजा खुलवाया और बिना कुछ कहे उसे उठा ले गई। मकान मालिक और मोहल्ले वालों ने उसकी गतिविधियां पुलिस को बता दीं कि वह सिर्फ रात में निकलता है। वह अकेला ही रहता है, उसका कोई दोस्त नहीं है। वह छुप–छुप कर आता जाता है। उसकी बड़ी–बड़ी दाढ़ी है। वह निश्चित ही आतंकी है।

पुलिस ने अदालत को बताया कि इसका असली नाम अयूब खान उर्फ अबू हमजा उर्फ पप्पू है। आकाश इसका झूठा नाम है। पहचान छुपाने के लिए रख लिया है। इसके खिलाफ चार और धमाकों में शामिल होने के सबूत हैं। आकाश ने अदालत में अपनी सफाई में कुछ नहीं कहा। उसे पुलिस हिरासत में जेल भेज दिया गया।

* * *

कहानी

बयान बिल्ला

मनीषा कुलश्रेष्ठ

मैंने खास तौर पर महिलाओं के मनोरंजन के लिए पुरुषों की दुखद आपबीतियों की कहानियां लिखना शुरू करने के लिए सोचना शुरू कर दिया था। जाहिर है कि वे कहानियां ज्यादातर महिलाओं की प्रेम और दांपत्य में ज्यादती पर होतीं या किसी पुरुष के सदा के लिए गलत समझे जाने की दुखद कथा होती। किसी दिल के हाथ मजबूर मनचले वुमेनाईजर की ब्रेन वायरिंग में ही गड़बड़ की कहानी होती। मेरा सोचना था कि स्त्रियों की लिखी 'सॉब स्टोरीज' में से मजा जाने लगा था, पाठकों को, खुद महिलाओं तक को। क्योंकि वे इतनी बेचारी नहीं रही थीं। हम उनसे खेल ही रहे थे कि अचानक वे हमसे खेलने लगीं थीं। (एकाध नहीं जी! सामूहिक तौर पर। चाहो तो कोई सी सोशल नेटवर्किंग साईट देख लो, गृहणियां भी अब लोमड़ियां हो चली हैं।)

अप्रैल 2009 में जब वैश्विक आर्थिक संकट पूरी तरह घोषित हो चुका था। औरतें हर तरह की नौकरियों को हमसे कम पैसों में करने निकल आई थीं। यह वह समय था जब हमारा देशी और इंटरनेशनल प्रेस बड़े-बड़े पूंजीवादी घरानों, मल्टीनेशनल्स के अरबों के नुकसान के बारे में रिपोर्ट्स से भरा हुआ था। तब मुझे मालूम हुआ था, न केवल किसान बल्कि सोफेस्टिकेटेड अमीर लोग भी फूट-फूट कर टीवी पर रो सकते हैं। ऐसे में निष्क्रिय बुद्धिजीवियों, पदच्युत श्रमिकों, बिलकुल खाली हो गए किसानों की तो क्या कहें, कारपोरेटों, मीडिया हाउसेज और राजनीतिज्ञों की समन्वयहीनता के चलते देश बस दीवालियेपन की कगार पर था। किसी धार्मिक किताब में वर्णित कलयुग का दर्शन साक्षात् हो गया कि पापियों, बेइमानों जिनके पास पहले ही से बहुत कुछ था, उनको और अधिक मिलेगा, जिसके पास कुछ नहीं था, उनके पास आगे भी कुछ होगा ही नहीं ...पहले गांव के गांव शहर में आ रहे थे अब शहर मुंह फाड़े गांवों में घुसा चला आ रहा था।

यह शहर जिसमें मैं नौकरी के बाद से रहता था, निरंतर बढ़ता जा रहा था। यहां कारपोरेटों में जहां सात दिन भी काम करने को कम रहते, वहीं सरकारी कर्मचारियों के लिए उत्सवों और छुट्टियों की कमी ही नहीं थी। वहां अगर एक विभाग छः कर्मचारी मिलकर संभाल लेते थे तो यहां सत्तर पर भी 'मेन पॉवर' कम होने का रोना रोया जाता था। कोई भी पहले से नोटिस दिए बिना घर पर बैठ कर मैच देख सकता था, जुकाम का बहाना बनाकर। महिलाओं के तो मजे थे लंबी मैटरनिटी लीव

ही क्या कम थी कि बोर्ड का इम्तहान देने वाले बालकों के लिए वे दो बार चार-चार महीने घर बैठ सकती थीं। फिर विदाउट पे तो है ही।

हुआ यह कि मेरी पत्नी सरकारी नौकरी में दूसरे दर्जे की कर्मचारी थी और मैं कुछ महीनों पहले कॉरपोरेट सेक्टर जहां 'टारगेट' शब्द कुछ नहीं, बहुत कुछ मायने रखता था, में अधिकारी था। उन्होंने मेरे जैसे मध्यवयस, आरामतलब अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए पहले के सात दिन के सप्ताह को पांच दिन का सप्ताह किया, (दो दिन की दिहाडी काटकर) फिर हमें बिना वेतन लंबी छुट्टी भेज दिया गया। मेरे लिए संकट कोई रोटी कमाने का संकट नहीं था, हां, लेकिन दो बेडरूम फ्लैट के लिए, लिए गए ऋण को चुकाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं था। ऐसे में कौन बख्शता है, आने वाले 'त्योहार' सभी के 'त्योहारों' के समान बीते और मैंने तो परिवार में एक 'अर्थी भी उठाई' अपनी ससुरे की।

अब हालात यह थे कि बैंक-लेनदार फोन बजा-बजाकर मेरे मोबाइल तोड़ रहे थे। मोबाइल संचार के अग्रणी निर्माताओं की रिंगटोन ने मेरे कोमल मानस को क्वथनांक तक पहुंचा दिया था और मेरी दिमागी नसें सूजन के चरमोत्कर्ष पर थी। मैं केवल उन कॉल्स के लिए फोन उठाता था, जो अच्छे मनोभावों से भरे होते थे। जैसे मेरे दीवालिया होने पर भी मधुर आवाजों वाली कन्याएं मुझे कुछ न कुछ नए ऑफर के साथ बेचने को आतुर रहतीं, मेरी दुपहरिया नींद इसी अहसास से खुलती कि मैं अब भी बाजार के लिए उपयुक्त उपभोक्ता हूं।

एक दिन मेरा काम पूरी तरह तमाम हो गया। अन्य देशों की भागीदार कंपनियों ने हमारी कंपनी को बंद करवाकर दम लिया। हमारी कंपनी ने दूसरी कंपनी से कोलाबरेशन कर लिया, लिहाजा उस कंपनी की युवा सुंदरियों ने हम निकाले गए अधिकारियों, कर्मचारियों की जगह आधे वेतन में काम करना मंजूर कर लिया, हमारे बने बनाए, पके पकाए प्रोजेक्ट्स उनकी मुस्कानों पर जिबह हो गए।

खबर बुरी थी, मेरा मूड खराब होता सो होता, मेरी सास का मूड आजीवन के लिए 'आउट ऑफ ऑर्डर' हो जाता यूं भी 'आप से तुम' तो होने लगी थी, मैं नहीं चाहता था 'तुम से तू' होने लगे ! मैंने पत्नी को नहीं बताया कि मेरे दिन मेरे दफ्तर में पूरे हो गए हैं। मैं एनुअल लीव पर नहीं, परमानेंट लीव पर घर बैठा हूं। एक दिन मुझे लगा कि मेरी सास को कुछ -कुछ भनक पड़ गई है।

गनीमत है कि हम मेरी पत्नी को मिले सरकारी टाइप टू क्वार्टर में रहते थे। मेरी सास भी मेरे ससुरे के स्वर्गारोहण और मेरे दूसरे बच्चे के जन्म के साथ हमारे ही घर में रहने लगी थीं। एक दिन बात इस तरह बिगड़ी कि मुझे अंतिम निर्णय लेने के लिए विवश होना पड़ा। मेरी सास ने मेरे पाले हुए दोनों खरगोशों को आंगन के दूर के छोर पर गारबेज बिन के पीछे सडियल गोभी खिलाकर मार डाला ! मुझे गुस्सा आया और मैं बीवी का क्रेडिट कार्ड निकाल बार कम रेस्तरां चला गया। पूरी शाम मैंने क्रिस्टल के ग्लासों में सुनहरा पानी पीते, नीले बॉर्डर वाली सफेद प्लेटों में चिकन सलामी खाते, सफेद ट्राउजर पहन सेक्सोफोन बजाते छरहरे वादकों, छोटे लाल स्कर्ट और बड़े गले के टॉप्स पहने वेट्रेसेज के साथ बिताई। जैसे ही क्रेडिट कार्ड 'स्वाईप' हुआ, बीवी के पास 'अलर्ट' पहुंचा। इधर उसका फोन आया और इधर मेरी शाम की मादकता में बना मैडम तुसां का मोम का संग्रहालय

पिघलने लगा।

अंतत: उस शरद की बरसाती रात को, ब्यालू के बाद मैंने अपनी बेगम को यह दु:खदायक खबर सुनाने का फैसला किया। उस रात को मैंने यह नियम तोड़ा और उस औरत पर भरोसा कर लिया। बारिश की संगत में मैंने उसे समस्या से अवगत कराया। पहले तो वह हतप्रभ हुई, फिर चीखी दांत पीसकर मेरे नकारेपन पर। ''कितना कहती थी एमबीए कर लो। एक दिन निकाले जाओगे।''

हम अपने छोटे से सोने के कमरे में, खराब होकर चुभने वाले कॉयर लगे गद्दे पर लेटते हुए आधी रात तक बातें करते रहे। जब मैं बहुत रुआंसा हो गया और जुमले फेंकने लगा – ''सुमि, असफल ही रहा मैं तो! पिता से विरासत में कुछ न मिला। नौकरी भी।..क्या सोचा था कि, जब प्रमोशन हो जाएगा, घर की किश्तें चुक जाएंगी तो, तुमसे नौकरी छुड़वा दूंगा। अब लगता है कि सब खत्म हुआ जाता है, मुझे पता है तुम संभाल लोगी। कई दिन से देखो बीपी भी बढ़ा सा लगता है.. ''

ट्रंप कार्ड ने काम किया। क्लेश कुछ टल गई मगर अचानक हमारी बातचीत एक मनोवैज्ञानिक सत्र में बदल गई। मेरी बात सुनने के बाद पत्नी ने पिछले तीन सालों की त्रुटियों का विश्लेषण कर दिया, आज की विफलताओं के कारणों का पता लगाया और नतीजे पर पहुंची, कि कुसूर आर्थिक संकट का नहीं, मेरे आलसी मिजाज, सूजे मोटे अहम् और बीमार सिर का है।

''तुम्हें तत्काल ही कार्य-क्षेत्र को बदलना होगा। तब सिर और मिजाज अपने आप ही ठीक हो जाएगा।'' वह रोबदार लहजे में बोली।

मैंने पूछा– ''वह कैसे?''

''बात सरल है, सजन। चुन लो – कब्ज या जुलाब! दोनों के बाद सिर को भूल जाओगे ...''

इस तरह तंज से कहना कितना आसान है, इसमें मेरी पत्नी की भी गलती नहीं। अब उसका मानना था कि घर बैठे उसे प्यार करना और बच्चों को पालना ही मेरा लक्ष्य है। उसके लौटने पर चाय बनाना, उसकी दफ्तरी बातें सुनना, रसोई में सहायता करना, करीब होना और साथ में टीवी देखना सहजीवन की आवश्यक शर्त थी। हां, टीवी पर भी गंभीर बहसें और खबरें देखने की जरूरत नहीं है। बस एक रिचुअल की तरह लेटना, फालतू के रियलिटी शोज और गाने देखते हुए मूंगफलियां या भुजिया खाना और उसके भारी नितंबों से सटे रहना ... इस सुखद जीवन में केवल एक ही – संघर्ष बचा था मेरे लिए। टीवी रिमोट के बटन कौन दबाएगा? हमारे परिवार में घर का मालिक वह है जिसके हाथ में टीवी रिमोट है।

एक प्रशांत शाम, खाने की लजीज चीजों और बियर और वाइन से खूब भरे फ्रिज के साथ, आरामदायक सरकारी घर, एलसीडी टीवी, गुदगुदा सोफा, जिस पर 'क्षीण कटि विकट नितंबा' पत्नी लेटी है, और नमकीन से भरा मुंह लिए रिमोट पर राज कर रही है, एक ज्योतिषी टीवी पर है। लाईव शो है, लोग फोन लगा रहे हैं। घाटे के बिना कैसे व्यापार करें, इस हेतु वह जो उपाय बता रहा है पत्नी बहुत गौर से सुन रही है। मूल को सही सलामत रख, लोन लेकर घर बैठे पैसा कैसे कमाया

जा सकता हैं? मेरे जैसी परिस्थितियों में कैसे भाग्य बदला जाए और हथेलियों में स्वर्ण रेखा कौनसी है? या व्यापार के लिए कौनसा क्षेत्र ढूंढा जाए! नीलम पहना जाए कि पन्ना या फिर मूंगा !

मैं खीझकर कहता हूं – ''अब यही ज्योतिषी तो बताएगा। इसी शहर में कितनों को तो मैं जानता हूं कि जिन्होंने ज्योतिष के दिए नीलम-पन्नों को पहन-पहन खुद के व्यवसाय शुरू करने की सोची है, उनके पीछे अब बैंक के रिकवरी एजेंट डंडा और बंदूक लिए शहर भर में घूमते हैं। चलो हटाओ यह चैनल।'' रिमोट छीनने का इससे बेहतर बहाना क्या हो सकता था? मैं जानता था कि आरामदेह जिंदगी में मैं फिलहाल व्यापार जैसी कोई खलल नहीं डालना चाहता था।

फिर मेरी मलिका, समझदार सुमी (पासपोर्ट के अनुसार – सुमित्रा देवी) जिसको मैं प्यार से – 'मलिका' बुलाता हूं, वह अपने फटीचर फकीर से (यानी मुझ से) कहती है ''मेरे गदबदे प्यारे बिल्ले, जाने दो व्यापार! तुम क्यों न जल्दी ही किताबें लिखना शुरू कर दो? शेयर और इनवेस्टमेंट पर, फाईनेंशियल एनालिसिस पर नहीं, तुम अपनी क्राईसिस संभाल लो वही बहुत है। देखो न तुम सोने से पहले मुझे इतनी प्यारी कहानियां सुनाते हो! प्यार के बारे में भी, जीवन के बारे में भी, इतिहास से निकालकर, अपने पुराने ऑफिस के प्रेम प्रसंग, पॉलिटिक्स के अजूबे किस्से ...चुटकुले। पुरानी-पुरानी कहावतें। क्यों नहीं फिर तुम एक नॉवल लिखते हो?''

''पगला गई हो क्या? न मेरी अंग्रेजी ठीक, न तुमने मेरी हिंदी ही ठीक रहने दी। किस भाषा में लिखूंगा? फिर कोई पढ़ेगा उसे? वैसे मैं हिंदी में लिख सकता हूं। और रही सिंधी वो तो मुझे याद नहीं शादी के बाद कब बोली थी। बस एक पिक्चर का टाईटल भर याद है 'हलत भजी हलूं' !''

''मतलब?''

''चलो कहीं भाग चलें।''

''अंग्रेजी में लिखो कोई हर्ज नहीं, उसे सुधरवा लेंगे। चाहो तो हिंदी में ही शुरू कर लो....तुम बस शुरू करो! तुम्हारी कहानियां जब मुझे बहुत पसंद आती हैं, तो मेरी जैसी बहुत सी औरतों को भी पसंद आएंगी ! बल्कि इससे तुम कुछ कमा तो भी लोगे। खाली बैठने से बेहतर तो है कि कलम चलाओ।''

''किस गलतफहमी में हो मैडम? हिंदी में आप 'ब्रेड और बटर' नहीं कमा सकते, कहानी लिख -लिख कर। हैं, मेरे कुछ दोस्त वहां भी! कुछ तो पैसे देकर अपनी किताब छपवाते हैं।''

''तुम्हें कौन सी ब्रेड कमानी है, बटर भी तो मैं ही कमाती हूं। सोच लो, खाली दिमाग शैतान का घर, मेरी राय से तुम लिखना शुरू करो। वही जो तुम मुझे घंटों सुनाते हो सोने से पहले के किस्से! जब भी मैं उन्हें किसी सहकर्मी या सहेली को दफ्तर में सुनाती हूं तो लोग आपकी बयानबाजी की तारीफ किए बिना नहीं रहते। सचमुच, तुम बयान बिल्ला हो!''

''बयानबाजी नहीं यह अंदाजे-बयां है, जानी! वैसे ये 'बयान-बिल्ला' बढ़िया ईजाद है ! देखो किस्से सुनाना अलग बात है। लिखना अलग। मैं किस्सेबाजी घंटों कर सकता हूं। मेरे पिता और दादा तो मुझसे बड़े 'बयान बिलाव' थे। मगर लेखन।..एक शब्द उनसे कभी लिखा न गया। अब तलक तो किस्सागोई ही विरासत में मिली हमें तो।...'' यंत्रवत् मैं विरोध करता रहा।

''भगवान करे, तुम्हारे पिता अपने दिन शांति से पूरे करें, उनसे और किसी विरासत की आशा मत करो। तुम अंग्रेजी में लिख पाते तो तुम्हारे बैक-ऋण बुकर पुरस्कार चुका सकता था, नहीं?'' गंभीरता से पत्नी ने पूछा।

''लेकिन मेरा कोई साहित्यिक उपनाम नहीं है! जैसा मेरा नाम है उससे मैं लेखक कम दुकानदार ज्यादा लगता हूं।'' मैंने उसे टाला।

''कोई बात नहीं, यदि आवश्यक होगा तो सोच निकालेंगे।'' पत्नी ने जवाब दिया।

''यही बात सबसे बड़ी तो नहीं है। तुम्हारा मजेदार जीवन अनुभव सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जिन शब्दों में तुम सुनाते हो बस वही तुम लिखना।..लेकिन याद रखना, जो सुनाते हो वही और दिल से!''

मैंने सोचा कि शुरू में लेखक की मान्यता के लिए, दिल नहीं पब्लिशर से जान-पहचान या फिर अंग्रेजी में छपने और वितरित होने के लिए एजेंट चाहिए और इस सबके लिए पैसा चहिए।

''चलो, पहले उपनाम सोच लो।''

मेरा नाम और मेरा सरनेम बहुत लंबे थे। ध्वनि संयोजन के दृष्टिकोण से कतई मिलते-जुलते नहीं थे। मोतीलाल लखवानी। उस पर तुर्रा यह कि मेरे नाम-उपनाम दोनों पूंजीवादी से थे। यह मैं जानता था कि लिखना है तो वाम की तरफ ही चलना होता है। लिखते हैं न भाई लोग 'व्हेन एवरीथिंग इज रांग, लेफ्ट इज राइट!' मेरे साथ यूं भी सब कुछ गलत ही तो था, सो मैंने बाईं राह ली, भले ही न चलो मगर दिखो।..तो उधर चलते दिखो। क्यों न ऐसा करें कि मोती का कोई उर्दू पर्याय ढूंढें?''

''तुम्हें बहुत समय लगेगा पहले ढूंढने में फिर लोगों को यह समझाने में कि इसका मतलब अरेबिक या फारसी भाषा में क्या होता है। पहले तुम ये 'फनी' सरनेम, जिसे मैं और बच्चे ढो रहे हैं क्विट करो। जेब में फूटी कौड़ी नहीं सरनेम लखवानी!''

''तुम्हारे चलते, क्या-क्या क्विट करें मलिका-ए -हुस्न, और हुस्न-ए-बेपरवाह !''

''केवल मोती के नाम से लिखो....मोती अजीब लगता है कि जैसे कि किसी पालतू कुत्ते...जाने दो, उपनाम तो ढूंढना होगा!'' मेरे साथ वह भी उलझ गई।

मैं मोती के पर्यायवाची इंटरनेट पर हर भाषा में ढूंढता रहा। मुझे बहुत समय लगा। इस बहाने शाम का खाना बनाने से बच गया।

'अल' का मतलब अरबी भाषा में मोती होता है, और जर्मन भाषा में - स्नेकफिश। और 'अल्बा' का मतलब जर्मन में रोशनी होता है। संस्कृत में मुक्तक। ''

''एमअल्बा, कैसा है, अगर अंग्रेजी में लिखना है तो?'' पत्नी ने किलकारी मारकर कहा।

''और हिंदी में लिखना हो तो?''

''मोतीलाल 'मुक्तक'।''

मैं पहली बार सहमत हुआ, कायल भी। अपनी 'क्षीण कटि ...' का!

अब काम एक तिहाई हो चुका था। अब बाकी था बस एक छोटा सा काम। लिखना और क्या? किताब का शीर्षक तो विषय पर निर्भर करेगा। अब मुझे खोजना था वह विषय जो 'गॉड ऑफ

स्माल थिंग्स', 'इनहेरिटेंस ऑफ लॉस', 'व्हाइट टाइगर' से कतई नीचे न हो। या 'लाइफ ऑफ पाई', 'स्लमडॉग' जैसा कुछ ऐसा हो जो आगे इंटरनेशनल फिल्म मेकर्स को आकर्षित करे। मैंने जो सोचा वही कह दिया।

मेरी पत्नी कुम्हलाई, ''सुनो यदि लिखना हो, तो प्यार के बारे में लिखना ! इस विषय के आगे हर विषय बकवास है। और तुम ऐसे ही अवैध प्रेम के कितने सारे कॉम्प्लीक्टेड किस्से सुनाते हो जी! उसमें तुम्हारे बयान और जुमले अतिकाल्पनिकता और जादुई यथार्थ भर देते हैं। मसलन तुमने बताया था कि तुम्हारे बॉस के दफ्तर में उसकी बीवी के घुस आने पर, कैसे वह सेल्स एक्जीक्यूटिव खिड़की से कूद अपनी ट्राउजर उठाकर पूरे कॉरिडोर में भागती रही, पीछे - पीछे बॉस की बीवी झाड़ू उठाए। बल्कि सच में तो जानू वह किस्सा तुम्हारे बॉस के घर का था। और वह एक्जीक्यूटिव थी भी वहीं पर वह खिड़की कूदकर भागी नहीं थी कहीं। सातवें माले की खिड़की से कूदती तो भगवान को प्यारी हो जाती! तुम चाईनीज व्हिसपर में भी हींग का तड़का लगाने में माहिर हो मेरे 'बयान बिल्ले'!''

''यह ठीक है! यही तो कहानी, अतिकल्पना का साहित्य है! सही है! इसी बारे में लिखा जाए जो कभी होता नहीं, जिसकी सच्चाई टटोलना असंभव है। यही सभी को पसंद आएगा। और किताब का नाम क्या रखना होगा?'' मैंने पूछा।

''तुम अपने पसंदीदा 'प्यार' शब्द से फायदा उठाओ। किताब का नाम तो आकर्षक, खटमिट्ठा, याद रहने जैसा होना चाहिए।''

''तुम्हें 'प्रेम का छठा कोण' कैसा लगता है?'' मैं अपने पहले विचार की आवाज में बोला।

''यह कोई संकेत है क्या? तुममें तुम्हारे दादा जी उबलने लगे क्या? मुझे आशा है कि तुमने बिना सोचे मजाक किया है? जाने दो, तुम।'' उसने लाल-पीली होते हुए जवाब दिया।

मेरी पत्नी पूरी कूढ़मगज नहीं है। वह पॉलिटिकल साईंस, इकॉनॉमी और अंग्रेजी साहित्य से बीए है। उसका अंतर्ज्ञान अविश्वसनीय है। वह मेरे विचार चुटकियों में भांपती है और फिर मेरे साथ विमर्श करती है, कभी-कभी विमर्श की अति हो जाए तो 'जाने दो' करके मेरी बखिया उधेड़ना शुरू करती थी। इसलिए मैंने खतरे का लाल फ्लैग लगा देख बात करती जुबान को पलटा दिया।

''सुनो वैसे विषय वही चुनेंगे जो तुम्हें पसंद आते हैं। एक्स्ट्रा चीज वाले पिज्जा की तरह। रसात्मक, रुचिकर। चलो, अब आराम करें, कहो तो एक-एक बियर का कैन खोल लें।'' मुझे उम्मीद थी कि मैंने बात संभाल ली, लेकिन मेरे साथ अक्सर ऐसा नहीं हुआ तो आज क्या होता। रेल ने पटरी छोड़ दी। पत्नी ने कहा ''मुझ में मेरे अय्याश, वुमेनाईजर दादा बोलने लगे हैं। मैं स्त्री विरोधी आदमी हूं।''

''चलो हटाओ हम स्त्री विरोधी कुछ नहीं लिखेंगे। हम उन कुछ स्त्रियों के कहानीनुमा कनफेशन लिखेंगे, जिन्होंने पतियों की बेवफाइयों के परखच्चे कैसे उड़ा दिए।'' उसने बात आगे नहीं बढ़ाई। पलटकर सो गई। मैं भी उसकी मांसल पीठ में मुंह घुसाकर सो गया क्योंकि रात के तीन बज गए थे। अगले दिन उसने प्लान किया कि मुझे 'खरीदो-बेचो' की एकरस तान पर चलने वाले इस

बेमुरव्वत शहर से निकलना चाहिए कि कुछ लिखने का मूड तो भी बने। उसने दो दिन की छुट्टी ले ली, महज एक फोन पर , क्या शाही नौकरी है सरकारी नौकरी भी! वह भी खासतौर पर महिलाओं की, वह भी क्लर्क और पीएस लेवल की।

''सर, तबियत।''

''.....''

''जी सर क्या बताऊं वही।''

''.....''

''जी! जी! वही। गायनी प्राब्लम!''

सुमि के गाल लाल हो गए। मैं बिस्तर में पड़ा भन्ना गया। स्साला, डीटेल पूछ रहा है। मैंने पत्नी को इशारा किया, हाथों का कट्स बनाकर कि 'बात खत्म करो।'

उस दोपहर हम और सुमि प्लान के मुताबिक, दिल्ली से लगे हरियाणा के एक देहात में दो दिन की पिकनिक मनाने चले आए। यहां सुमि की एक पुरानी घनिष्ठ सहेली रहती थी। मंजुला। प्लान यही था कि सुमि सहेली से गप्पें मारेगी। मैं मुंह में तिनका दबाए अपने विषय पर सोचूंगा और उस देहाती शांति में अपनी किताब की रूपरेखा बना लूंगा।

हम पहुंचे ही दोपहर को थे। यह एक छोटे फार्म हाउसनुमा दो मंजिला हवेली सी थी। लंच पर खूब अच्छी शाकाहारी खातिर हुई। डिनर पर ड्रिंक्स और चिकन की दावत। सुमि और उसकी सहेली, उसका मुच्छड़ फौजी पति तीनों एक जमाने में क्लासमेट्स रहे थे (मेरे अनुसार सुमि की सारी सहेलियां सुंदर और उनके पति चिरकुट होते हैं, और सुमि टोकती है कि लगभग यही बात भी उसकी सहेलियों के पति सोचा करते होंगे) न जाने क्या - क्या बातें करते रहे। मैं बोर होता रहा, कि फिर एकाएक घटिया विषय चल पड़ा कि कैसे सुमि और उसकी सहेली दोनों ही इस 'चिरकुट' पर मरते थे। और चिरकुट इतना भोला था कि उसे पता न चला। सुमि की नौकरी लग गई वह चली गई तो सहेलीजी ने भाभीजी से कह कर रिश्ता भिजवाया। रिश्ता स्वीकार हो गया। शादी भी, शादी के बहुत साल भी। बच्चे भी। तब कहीं जाकर फौजी महाशय को याद आई ''सुनो तुम्हारी एक सहेली हुआ करती थी। दो चोटियों वाली। सांवला रंग, तीखे नैन और भरा..भरा.. आय मीन कर्वेशियस बॉडी!'' सहेली ने इंटरनेट पर खोजा। तो मिल गई सुमि। फिर लगातार फोनबाजी होती रही। और इस तरह देहात आने का यह आमंत्रण मिला। डिनर के बाद कॉलेज के जमाने के प्रेम-प्रसंगों की जुगालियों के बीच मैं तो वहीं काउच पर सो गया था, मगर वे दोनों मुर्गे की पहली बांग से जरा पहले ही सोने गए, सुमि मुझे उठाकर गेस्टरूम में ले आई थी। खूब खुश थी यह मैं नींद में भी महसूस कर रहा था।

आदतन मैं जल्दी उठ गया और सुबह की सैर पर निकल पड़ा, बसंत के दिन थे। दूर तक फैले खेत और पकते गेहूं ने मेरा मन मोह लिया। सदियों से इतने मजेदार ढंग से नए दिन का स्वागत नहीं किया था। पक्षियों का चहकता-कुहुकता झुण्ड। ताजा हवा। पकते गेहूं के खेत की महक।

वसंत की अल्लसुबह... मगर बसंत का संकट भी मेरी प्रतीक्षा में था। करीब छः बजे थे, सड़क

पर एक शराबी बाइकर बिना हैलमेट मुझ पर चढ़ता चढ़ता बचा! मैं अपना कुछ भारी शरीर लिए भागा और आगे जाकर एक खोके पर रुका, जहां ट्रक ड्राइवर चाय पी रहे थे। मैंने चाय के ग्लास में नाक डुबाकर नए प्रदेश की नई गालियों का आस्वाद लिया। तभी मैंने गौर किया कि सारे ट्रक ड्राइवर एक ही दिशा में देखने लगे। लोटा लिए खिलखिलाता महिलाओं का झुंड खेतों की तरफ अग्रसर था। लगता था, सारी बस्ती उठ गई थी, मैं भी चाय पीकर, सिगरेट का पैक खरीदकर हवेली लौटा। मैं चुपचाप ऊपर छत की ओर खिंचता चला गया। यह दूसरी मंजिल से भी ऊपर बने एक अतिरिक्त शौचालय की ओर की यात्रा थी, क्योंकि पूरी हवेली में वही एक पाश्चात्य ढंग का टॉयलेट था, देशी के लिए मेरे घुटनों ने तो न जाने कब से हड़ताल घोषित कर दी थी। मैं भीतर तक खाली और संतुष्ट महसूस कर रहा था। यहां टॉयलेट की खुली खिडकी से पड़ोसी की बालकनी नहीं दिखती थी, खुला आसमान और पेड़ और खेत दिखते थे। पूरी प्राइवेसी। नीचे एक आड़ुओं का बाग था, पिछवाड़े में। मौसम अच्छा था। मूड एकदम सही था। प्रकृति के साथ ताल मिलाने की कोशिश कर रहा था। मैं कमोड पर बैठा सिगरेट पीते हुए किताब के बारे में सोच रहा था कि तभी आड़ू के बगीचे से आवाज आई।

''सुरेंदर, सच में तुमने पूछा था, मंजुला से मेरे बारे में।''

''हां, मंजुला झूठ थोड़े ही बोल रही है।''

''तो वह यह भी जानती है कि तुम मुझे फैंटेसाइज करते रहे हो।''

''नहीं...मार खानी थी क्या?''

सुमि खिलखिलाई तो खिलखिलाती चली गई। उसे मेरा ख्याल भी नहीं था कि मैं कहां हूं। मन में विकट ईर्ष्या हुई। मन किया अभी उठूं और गेंडे की तरह इस चिरकुट के पीछे नाक का सींग घुसा दूं।

''चाय बन गई है। तुम्हारे लेखक महोदय कहां हैं, सुमि!''

ओह! तो यह प्रचार भी यहां कर दिया। आह! लगता है सुमि मेरी बेरोजगारी को लेखक होने के छद्म से ढकना चाहती है। मेरे मन में सुमि की सहेली मंजुला का मुंह दमका, फिर फौजी मुच्छड़ का। सुमि पर नपुंसक क्रोध आया। फिर दया, वह बेचारी करे भी तो क्या? क्या कहे?

''अरे हां, मैं सोच ही रही थी कि ये आखिर गए कहां? देखती हूं।''

इसी हड़बड़ाहट में मैं उठा और दिन में भी हल्के अंधेरे में घिरी सीढ़ियों से नीचे आते हुए मैंने एक पुरानी कुर्सी से ठोकर खाई, जो अकेले में तीन पायों पर तपस्यारत खड़ी थी। मकान मालिक उसे कई साल से अनावश्यक कपड़ों के लिए एक स्टैंड की हैसियत से इस्तेमाल करते रहे होंगे। बेचारी वह खुद खड़ी हो नहीं पाती थी, इसलिए एक गोदरेज की छोटी अलमारी पर अपनी पीठ टिकाती थी। कुर्सी का चौथा पाया आराम से लेटा हुआ अलमारी की असंतुलित साइड को सहारा देता था , ताकि वह अलमारी किसी के सिर पर न गिर जाए। इस अप्रत्याशित टकराव से, कुर्सी का चौथा पाया न जाने कैसे अलमारी के नीचे से निकल पड़ा, और वह मुझ पर गिर गई। इस गड़गड़ाहट को सुन मंजुला और उसका पति चौंके। सुमि समझ गई थी कि यह मैं ही हूं। ऐन इसी

पल मुझे किताब का नाम सूझा था , 'एक पति का कनफेशन और तीन पायों की कुर्सी'

ब्रेकफास्ट टेबल पर मैंने किताब के शीर्षक की घोषणा की। चिरकुट मेरा मुंह ताकने लगा।

''क्या मतलब?''

मैंने उसे देखा तक नहीं, और सुमि की तरफ मुखातिब हुआ। वह मुंह खोले बैठा रहा।

''सुमि सोच लिया अपने नए उपन्यास का नाम!''

सुमि की तनिक मोटी मगर सुमुखि सहेली मंजुला ने जिज्ञासा जताई तो मैंने खूब रुचि लेकर अपना प्लॉट गढ़ बताना शुरू किया, ''मेरा नया उपन्यास, पतियों की फंतासियों...'' सुमि ने आंखें तरेरी। ''दरअसल मैं कई दिन से सोच रहा था कि इस विषय पर कुछ क्रिएटिव लिखूं। मतलब जो नया मैं लिख रहा हूं...मेरा नया नॉवल। यह उसी का शीर्षक है। 'एक पति का कनफेशन और तीन पायों की कुसी'!''

उस दोपहर हम घर लौट आए। रास्ते में मैंने उससे 'आड़ू के बाग और फंतासी' विषय पर उसके विचार पूछे तो, 'जाने दो...' आंखों से फेंके सुमि के इस ब्रह्मास्त्र ने मुझे चित्त कर दिया। इसका सादा सा अर्थ था कि , 'मुंह मत खुलवाओ हमारा। तुम्हारी फंतासियों में जो परवर्जन हैं, उन पर कभी बोली क्या मैं?' हमने जाने दिया। हमारे सुझाए दोनों शीर्षकों को पत्नी ने इस 'सम हाउ' नापसंद ठहराया। 'एक पति के कनफेशन और तीन पायों की कुर्सी!', 'आड़ू के बाग और फंतासी'।

अगले दिन जब मैं सो रहा था, पत्नी ने काम पर जाने से पहले एक चिट्ठी छोड़ी थी–''सजन! ये दोनों शीर्षक केवल एक विकृत मानसिकता का देशी लेखक ही गढ़ सकता था। कोई इंटरनेशनल लेखक इस स्तर पर नहीं उतर सकता।''

मेरे समझ में नहीं आया कि इसका मतलब विकृत कैसे हो सकता है? लेकिन पत्नी के ऊपर किसी भी बात का असर नहीं हुआ। खोज जारी रही...विषय की।

''सिर न खपाओ, वह खुद आएगा,'' – पत्नी मुझे समझाती थी। ''लिखना तो शुरू करो!''

''अरे बिना विषय के कहानियां कैसे लिखी जाती है?''– मैंने पूछा।

इस पर हमारी बेगम का कहना था– ''तुम्हें पता है न, मीटिंग्स के मिनट्स या रिपोर्ट्स और आज्ञापत्र कैसे लिखे जाते हैं? तुम खाली कागज लेते हो और लिखना शुरू करते हो : महानिदेशक को...। और फिर तुम्हारा हाथ खुद वही शब्द चुनता है जो अर्थ के अनुसार उसके विषय के अनुकूल होंगे। इसी तरह से कहानियां भी लिखी जाती हैं।''

मैं लाजवाब खड़ा रहा, उसके सामने।

''कुछ नहीं तो...इसी बात का वर्णन करो कि अपनी कैसेनोवागिरी के चलते एक पुरुष को कैसे तलाक मिलता है और उस समय वे क्या सहते हैं। नौकरी भी छूट जाती है। ''

''अमां, मेरे इकलौते दोस्त को बख़्श दो, उसके जीवन को सार्वजनिक करना होगा यह तो।''

''आप भी कुछ कम नहीं..... माय डियर कैसेनोवा। अपना ही कोई अनुभव...'' उसने बोलना जारी रखा। जाहिर था वह खीजी हुई थी। मेरे दिन भर घर में पड़े रहकर बढ़ते जा रहे, सास और मेरे

बीच के वाक् और शीत दोनों प्रकार के युद्धों से।

''मेरी बात सुनिए, कुछ घंटों किसी लाइब्रेरी में बैठिए। कितने तो तुमने किस्से सुनाए हैं उनमें से कई कथावस्तुएं एक साथ खोलो और उन्हें जोड़ दो। न हो तो आप अपने दादा, पिता और अपने चाचाओं की प्रेमिकाओं के बारे में उसी किस्सागोई के साथ। यह एक सर्वोत्कृष्ट रचना होगी। जानू! तुम यह कर सकते हो!'' उसने लाड़ लड़ाया और दफ्तर के लिए तैयार होने लगी।

''अपने दादा और पिता की सभी उपपत्नियों के बारे में लिखना तो फिर भी बन जाएगा जान! मेरी वर्चुअल और नॉनवर्चुअल प्रेमिकाओं के लिए जरूर कागज की कमी हो जाएगी।'' मैं मुस्कुराते हुए बुदबुदाया। साथ ही एक गंदे चुटकुले की याद आ गई ! मैंने विषय परिवर्तित कर दिया।

''मेरी मलिका ! राजनीति क्यों नहीं? राजनीतिज्ञों के बारे में लिखना बिलकुल आसान है।''

''हां, यदि तुम राजनीतिज्ञों के जैसे झूठ बोलोगे और आत्म-विडंबना से नहीं डरोगे, तो बेस्टसेलर हो जाएगा!'' वह बोली

''मेरी जान! आत्मविडंबना ! वह भारी शब्द है, मत उठाओ अपनी कोमल जबान पर। संसद के सत्र , कॉमेडी सर्कस के किसी एपिसोड से कहीं अलग नहीं हैं? इस देश के लोगों के जीवन संघर्ष और बिना मुड़े, बिना रुके भागते हुए लोगों की भीड़ को देखें, तो यहां भी और वहां भी नेता स्टैंडअप कॉमेडी ही करते हैं, ताकि लोगों को अपना जीवन उबाऊ न लगे।'' मैंने सुस्त मगर भावुक जवाब दिया।

''ना! इस विषय को उठाने से कुछ नया नहीं लिख जाओगे तुम? तुम क्या सोचते हो, दूसरे देशों के संसदों की हालत अलग है? ''

''तुम औरतें क्यों चाहती हो कि हम वही राय रखें जो तुम रखती हो?''

''तुम्हें दुनिया ने समय दिया था कि तुम अपनी राय रखो और उस पर खरे उतरो। तुमने राय रखी मगर खरे नहीं उतरे। इसलिए अब तुम्हें कोरी राय रखने का अधिकार केवल लेखक बन के मिल सकता है समझे। मेरी बात पर गौर करो लेखन में भी अगर सफल होना चाहते हो तो। लिखना ही है तो स्त्रियों के लिए लिखो, उन्हें ही अपने संप्रेषण का केंद्र बनाओ। उन्हें राजनीति बोर लगती है।''

''हां, तुम्हारा विचार सही लग रहा है मुझे। स्त्रियों के लिए, पुरुषों की कहानियां लिखनी चाहिए। कोमल फंतासियां, आईडियल प्रेमी! पुरुषों के लिए कितने क्रूड किस्म के ईरॉटिकाज लिखे जाते हैं। स्त्रियों के लिए किसी ने नहीं लिखे। मैं 'तीन पायों की बारह कुर्सियां' नामक एक ग्रंथ लिखता हूं, जिसमें बारह कहानियां शामिल हों और जिसकी नायिकाएं अपनी-अपनी कुर्सी पर बैठें। और अपनी-अपनी कहानी कहें ।'' मेरे भीतर का बयान बिल्ला सृजन प्रक्रिया में शामिल हुआ। मेरी चतुराई काम कर गई। पत्नी को 'सिंहासन बत्तीसी' की बत्तीस पुतलियों के बारे में नहीं पता था। यूं भी तो मेरी टूटी कुर्सियों की बारह पुतलियां मॉडर्न होंगी। एक से एक कलाकार। कलाकार!

एक हफ्ता बीत गया। नोटबुक खोलते हुए मैं इंतजार करता था कि मेरा पेन अपने आप चल पड़ेगा, लेकिन व्यर्थ ही स्क्रिबलिंग करता रहा। मैं समझने लगा था कि 'सृजन की पीड़ा' क्या होती

है। लेकिन पत्नी का तुर्रा – पीड़ा तो है सजन! मगर सृजन तो दूर – दूर तक नहीं। पत्नी मेरी कहानियों के परिणामों के लिए इंतजार कर रही थी, लेकिन गहरे कहीं नीचे, उसे शक था कि यह कभी होगा कि वह गर्व से कह पाए, हमारे ये राइटर हैं।

उस रात मैंने गर्म पानी से स्नान किया और काली कॉफी पीकर एक बार मैंने आंखें बंद कीं। ध्यान–योग में निमग्न हो जाने की कोशिश की, पहली कहानी की अमूर्त छवियों के रूप में किसी भी प्रवृत्तियों तथा विषय को आगे बढ़ाने को प्रेरित करने की कोशिश करते हुए मैंने पाया कि सिर में बस खालीपन है। तब मैंने पहली बार ईश्वर नामक अमूर्त शक्ति को प्रणाम किया। और फिर लो, वह पवित्र आत्मा मुझ पर उतरी और कहा ''शुरू हो जा बे''। मैंने पेन उठाया! कोरे कागज पर पहला वाक्य लिखा – ''हर सफल प्रेम एक ही तरह से सफल होता है और हर असफल प्रेम अलग–अलग तरह से असफल होता है।''

मन के पीछे से कोई चीखा – अबे! ये क्या लिख दिया। ऐसा ही कुछ तो लिख गए तॉलस्तॉय पहले से ही!

दूसरा वाक्य जमाया – ''सुंदरता रहस्यमय और पीड़ादायक दोनों होती है, जहां शैतान और भगवान होते हैं, और पुरुष का दिल जंग का मैदान बनता है।'' फिर कोई फुसफुसाया – '' मेरे यार फ्योदोर दोस्तोवस्की को बख्श दो!'' तीसरा वाक्य पेन पर उतरता उसके पहले कोई चीखा....जेम्स जायस...जेम्स जायस !''जहां पुरुष बौद्धिकता की रेखाओं पर चलते हैं और स्त्रियां भावुकता के घुमावदार मोड़ लेती हैं।''

मैंने पेन झटका और खीजकर लिखा ''जाने दो! मैं औरतों को कभी नहीं समझ पाऊंगा....'' कुछ देर खामोशी रही, कोई नहीं बोला तब मैंने आगे लिखा ''इनकी नाखुशी, बेदिली, बेरुखी से बड़ी परेशानी होती है, मैं यह अपने अनुभव से नहीं कह रहा, मेरे दादाजी भी कहा करते थे। 'ब्रह्मपुत्र के किनारे माप लोगे बबुआ, औरत की थाह बड़ी मुश्किल....' मेरे भीतर का किस्सागो, सुमि का 'बयान बिल्ला' अंगड़ाई ले चुका था, और म्याऊं करके चांद पर छलांग लगाने वाला था।

* * *

आज की कहानी : एक परिचर्चा

मनोज मोहन

आज युवा पीढ़ी द्वारा लिखी जा रही हिंदी कहानी और इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में प्रकाश में आए नए कहानीकारों के लेखन का जायजा लेने के लिए 'बहुवचन' को यह जरूरी लगा कि क्यों न आज की प्रमुख साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादकों के विचार पाठकों के लिए प्रस्तुत किए जाएं। इसके साथ ही कहानी विधा पर नजर रखने वाले कुछ अन्य रचनाकारों, आलोचकों के भी विचार लिए जाएं। 'बहुवचन' द्वारा यह जिम्मेदारी युवा कवि फ्रीलांसर मनोज मोहन को सौंपी गई। मनोज मोहन ने आज की हिंदी कहानी के परिदृश्य पर बातचीत के लिए एक प्रश्नावली के माध्यम से सभी के विचार लिए जिसे आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है:

1. हिंदी कहानी में जिस नई पीढ़ी ने दस्तक दी है, उनका प्रस्थान बिंदु आप किसे मानते हैं। उन युवा कहानीकारों को कैसे चिन्हित करेंगे?

2. नई पीढ़ी के इन कहानीकारों पर उदारवाद और बाजारवाद का प्रभाव किस रूप में पड़ा है। यहां मूल्य की चिंता कम है बाजार की चिंता अधिक?

3. ग्रामीण यथार्थ का बदलता हुआ चेहरा जो है, इन कहानीकारों की कहानियों में कितना झलकता है?

4. अंतर्जाल की सुविधा ने उन्हें खुद से समाज को देखने समझने के विकल्प से मुक्त सा कर दिया है। उनकी कहानियों में समाज की जो समझ है क्या वह अंतर्जालीय नहीं है?

5. पच्चीस साल बाद इन उभरते कहानीकारों में आप किन्हें देख पा रहे हैं जिनकी कहानियां बची रह जाएंगी?

यातना...संघर्ष और स्वप्न की कहानियां

राजेंद्र यादव (वरिष्ठ कथाकार और संपादक 'हंस')

हम अपने समय में जिनको लेकर कहानियां लिख रहे थे आज वे खुद ही अपनी कहानियां लिख रहे हैं। खासकर दलित और स्त्रियां जिनको हमने आवाज दी, जबां दी। अनुभव जो उनको अपने मालिकों के संपर्क से मिले थे यानी दलितों के मालिक उनका दमन और शोषण करते रहे। उन्हें

अपनी बात कहने की कोई आजादी न थी दूसरी तरफ परिवार का पुरुष, स्त्री को अपनी सेवा में लगाए रखता था। उसकी अपनी कोई इच्छा न थी। उसे अपने मालिक यानी पति को देहसुख देना था, भोजन की व्यवस्था करनी थी। आदर्श गृहिणी के कुछ रोल मॉडल भी थे, वहां सीता-सावित्री की मूर्तियां प्रतिष्ठित कर दी गई थीं। उनके थोड़े से विचलन पर उन्हें छिनाल, रंडी, बदचलन आदि कहकर वापस अंधेरे बंद कमरे में ठेल दिया जाता था। दलितों को जब आजादी मिली मालिकों से, तो उन्होंने छाती ठोंककर कहा कि हम चमार हैं, हम भंगी हैं, आप जो चाहे कहो लेकिन हम अपनी बातें खुलकर कहेंगे। स्त्रियां और दलित दोनों ने ही अपना शुरुआती लेखन आत्मकथाओं के रूप में किया। चूंकि उनके पास वही अनुभव थे, वही यातनाएं और प्रताड़नाएं थीं। साथ ही थी उनसे बाहर निकलने की छटपटाहट। उनकी आज की रचनाओं में हमें अपने भविष्य के सपने और उनको पाने के वही संघर्ष दिखाई पड़ते हैं। आज की रचनात्मकता का सूत्र है- यातना, संघर्ष और स्वप्न। और यहीं से हिंदी कहानी लेखन में युवा वर्ग का उदय होता है।

बाजारवाद की बहुत सी कहानियां हैं नीलाक्षी सिंह की, मनोज रूपड़ा की.....। बाजार को लेकर पारिवारिक ध्वंस मचा हुआ है। इस पर काफी कहानियां हैं। चारों तरफ दिशाहीनता और अराजकता की स्थिति है। उसका असर भी कहानी पर है।

गांव टूट रहा है, शहर गांव में चला गया है।

सूचनाओं का अंबार है। सोच का समय नहीं है उनके पास।

चंदन पांडेय, मनीषा कुलश्रेष्ठ, ज्योति कुमारी, पंकज सुबीर, किरण सिंह इस तरह बहुत हैं, जिनकी कहानियां बची रह जाएंगी।

नई पीढ़ी के लिए सहिष्णुता अपेक्षित

रवींद्र कालिया (संपादक 'नया ज्ञानोदय')

संयोगवश देश में युवा रचनाकार और कंप्यूटर एक साथ आया और लगभग इसी समय उदारीकरण की नीतियां भी सामने आईं। देश में मोबाइल क्रांति भी हुई और, पायरेटेड सीडी ने भी धूम मचाई। टेक्नोलॉजी में आमूल-चूल परिवर्तन हुआ। वैश्वीकरण की हवा चली। विदेशी कंपनियों का भारत में पदार्पण होने लगा धड़ल्ले से। इन सबका एक असर सामाजिक संबंधों पर भी पड़ने लगा। पुरानी पीढ़ियां अपने अतीत की तरफ लौट रही थीं और समाज में आए हुए परिवर्तनों को उतनी संवेदनशीलता और गहराई से रंखांकित नहीं कर पा रही थीं। बिना नई टेक्नोलॉजी के ज्ञान संभव भी नहीं था। जो एक्सपोजर युवा पीढ़ी ग्रहण कर रही थी उससे एक नए तरह के संबंधों का विस्तार होने लगा। इंटरनेट ने नई पीढ़ी को एक नए संसार से परिचित कराया, जिससे हिंदी कहानियां अब तक अपरिचित थीं। ये युवा पीढ़ी के लिए संभव हो गया कि घर बैठे इंटरनेट के सहारे किसी भी भाषा की नई फिल्म देख सकें, किसी भी भाषा का साहित्य पढ़ सकें, किसी भी भाषा में चैटिंग कर सकें। मैं ऐसे कई युवा रचनाकारों से परिचित हूं जो हिंदी में चैटिंग करते हैं, जो सुननेवाले को स्पैनिश में सुनाई देता है। यह है टेक्नोलॉजी का चमत्कार। इस सुख से कंप्यूटर निरक्षर तमाम पीढ़ियां वंचित हैं। आज

अगर संबंधों को समझना है तो टेक्नोलॉजी को भी समझना जरूरी है। उसका मानव जीवन पर क्यों असर पड़ रहा है? ये आकस्मिक नहीं है कि जापान की तरह भारत में भी युवकों में शादी न करने का प्रचलन बढ़ रहा है। इसके अन्य एक कारण सामाजिक आर्थिक भी है, जिनके ब्यौरे में जाना इस समय संभव नहीं है। मेरे हिसाब से यही चर्चा पीढ़ी का प्रस्थान बिंदु है। इसकी पदचाप आप 'वागर्थ' और 'नया ज्ञानोदय' के 'युवा विशेषांकों' और 'नवलेखन अंकों' में सुन सकते हैं।

संस्कृति के तथाकथित अनुयायी जब कन्या भ्रूण हत्या में लीन पाए जाते हैं, तो यही कहने को मन होता है कि मूल्य जड़ नहीं गतिशील होता है। आज जिस तरह से भारतीय मूल्यों को जड़ मानकर चलते हैं। सामाजिक कुरीतियां जैसे क्रूर–दहेज प्रथा, बलात्कार, दहेज हत्याएं हो रही हैं। इन्हें कौन सा मूल्य कहा जाएगा? इस विडंबना को समझने की जरूरत है। आपका अभिप्राय किन मूल्यों की तरफ है? बाजार से चचा गालिब भी नहीं बच पाए थे वे भी कहने पर मजबूर हो गए थे, 'बाजार में निकला हूं खरीदार नहीं.....' युवा पीढ़ी बाजार को हौव्वा की तरह नहीं लेती। बाजार तो होगा ही। आपको परहेज है तो घर में बैठे रहिए अपना अन्न उगाइए, खाइए, पता नहीं आपके पास कितनी जमीन बची है।

गांवों का लगातार शहरीकरण हो रहा है। बाजार का रुख भी गांव की तरफ हो गया है। टेलीविजन, मोबाइल, इंटरनेट सब गांव तक पहुंच चुके। आप किस गांव की बात कर रहे हैं। जो आपकी यादों में पल रहा है या जो आज का यथार्थ है। इस बदलते हुए गांव की तस्वीर का चित्रण भी नई पीढ़ी बेहतर तरीके से कर रही है। वह नॉस्टेलजिया से मुक्त है।

क्या आप चाहते हैं कि वे आपके चश्मे से देखें। यथार्थ और उसके आंकड़े जानने हों तो इंटरनेट से बढ़िया कोई माध्यम नहीं। अनेक सर्वेक्षण आए दिन होते रहते हैं। उसका ब्यौरा आपको मिल जाता है। कंधे पर झोला लटकाकर चप्पल चटकाते हुए आप ग्रामीण जीवन की सही–सही जानकारी नहीं ले सकते। ग्रामीण जीवन भी कम जटिल नहीं रह गया है। इस जटिलता को समझने में इंटरनेट द्वारा प्रस्तुत आंकड़े बहुत सहायक हो सकते हैं।

आज सबसे ज्यादा नए लेखक ही पढ़े जा रहे हैं। भारतीय ज्ञानपीठ से चालीस से ज्यादा युवा रचनाकारों की पुस्तकें छपी हैं। शायद ही कोई पुस्तक ऐसी हो, जिसका दूसरा संस्करण न हुआ हो। किसी भी पीढ़ी के भविष्य को प्रेडिक्ट करना कोई खेल नहीं है। इन्हें लिखने दीजिए, बढ़ने दीजिए अभी से फसल क्यों काटना चाहते हैं। नई पीढ़ी के लिए जो सहिष्णुता अपेक्षित है उसे बचाए रखने की बहुत जरूरत है।

संभावनाएं शेष हैं

प्रेम भारद्वाज (संपादक 'पाखी')

साहित्य में कोई भी दौर सहसा विस्फोटक अंदाज में रेडी वन, टू, थ्री की तरह शुरू नहीं होता। इसे हिंदी युवा कहानी के परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। इसका सहसा प्रकटीकरण नहीं हुआ। जो बातें भक्ति काल के संबंध में कहीं जाती हैं कि वह अचानक बिजली की तरह नहीं चमका,

अलबत्ता उसके लिए बहुत पहले से बादल एकत्रित हो रहे थे। इसी प्रकार यही युवा कहानी का एकमात्र प्रस्थान बिंदु नहीं हो सकता। हर आगाज पर विवाद और बहस की पूरी गुंजाइश है लेकिन हम इसका सबसे ज्यादा श्रेय सहमति-असहमति रखते हुए रवींद्र कालिया को ही देंगे जिन्होंने युवा कथाकारों को एक साथ छापकर मंच दिया, उनके संपादन में 'वागर्थ' और 'नया ज्ञानोदय' के विशेषांक टर्निंग प्वाइंट साबित हुए।

जो युवा कहानीकार इन दिनों लिख रहे हैं उनकी चेतना भूमंडलीकरण के आंधी और बाजारीकरण के बवंडर के दौर में ही विकसित हुई है। यह वह दौर है जहां मूल्य मिट नहीं भी रहे हैं तो भी उनके मायने बहुत तेजी के साथ बदल रहे हैं। अधिकतर युवा कहानीकारों की कहानियां बाजारवाद के विरोध में हैं जबकि उनमें से अधिकतर जीवन में बाजारवाद के पुरजोर समर्थक हैं। इस समय का जो पूरा परिवेश है उसमें ही मूल्य हमारी प्राथमिकता में नहीं है तो युवा कथाकारों से ही विशेष आग्रह या दुराग्रह क्यों? पंकज मित्र की 'पड़ताल', नीलाक्षी सिंह की 'प्रतियोगी', कैलाश बनवासी की 'बाजार में रामधन', उमाशंकर चौधरी की 'ललमुनिया मधुमक्खी की छोटी कहानी', राकेश बिहारी की 'वह सपने बेचता था' बाजारवाद और कॉरपोरेट कल्चर के प्रभाव और सच की कहानियां हैं।

दरअसल ग्रामीण और शहरी यथार्थ की दो धाराएं नई कहानी के दौर से ही साफ दिखाई देने लगी थीं। हालांकि इसकी जड़ें प्रेमचंद काल में भी देखी जा सकती हैं। नई कहानी के दौर में भी ग्रामीण और शहरी यथार्थ की परंपरा ही आगे बढ़ते हुए आज यहां तक पहुंची है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि युवा कथाकारों ने ग्रामीण जीवन को पूरी तरह से भुला दिया है, गौरीनाथ, प्रभात रंजन, श्रीधरम, पूरन हार्डी, सत्यनारायण पटेल आदि कथाकारों की कहानियों में गांव का यथार्थ उभरकर सामने आया है। आज शिवमूर्ति की तरह सिर्फ और सिर्फ ग्रामीण जीवन के यथार्थ पर ही लिखने वाले नई पीढ़ी में नहीं के बराबर हैं।

इंटरनेट एक माध्यम है जिसमें उलझकर उसको ही हद मान लेना गलत है। यह इंटरनेट से आशय उन तमाम और सोशल नेटवर्किंग साइट्स से है, ब्लॉग्स से है जो नए जमाने में अभिव्यक्ति का एक प्रबल मंच बन गए हैं। नाम लेना मुनासिब नहीं होगा लेकिन नई पीढ़ी में कई रचनाकारों ने इंटरनेट जैसे प्रबल माध्यम का इस्तेमाल कर कहानी तो क्या बड़े-बड़े उपन्यास लिख डाले हैं...।

एक रचनाकार का विकास सीधा, सपाट और सरल रेखा में नहीं होता, वह अक्सर घुमावदार होता है, उतार-चढ़ाव वाला। जिन युवा कथाकारों की दस साल पहले बुजुर्ग पीढ़ी के लेखकों, संपादकों ने पीठ ठोंकी थी उनमें से कुछ आज भी अपनी पुरानी कमाई खा रहे हैं। बावजूद इसके निराश नहीं हुआ जा सकता, संभावनाएं शेष हैं।

यथार्थ को देखने का नजरिया बदला है

महेश दर्पण (सुपरिचित कथाकार)

हिंदी कहानी में इधर की नई पीढ़ी का प्रस्थान सिर्फ 'नया ज्ञानोदय' या 'कथादेश' के विशेषांकों से मानने वाले विद्वानों की अपनी दिलचस्पियां हो सकती हैं, लेकिन उसे महज इन्हीं पत्रिकाओं के

लेखकों तक सीमित कर देना सही नहीं होगा। जरूरी तो यह है कि उस नई सोच को रेखांकित किया जाए, जिससे नई पीढ़ी का प्रस्थान एक समय विशेष में चिन्हित होता है। इस काम के लिए हमें इन पत्रिकाओं के साथ ही अनेक जगहों से निकल रही विविध पत्रिकाओं के सामान्य अंकों की कहानियों को भी देखना होगा। सबसे ज्यादा जरूरी यह होगा कि हम रचना में कथ्य के अन्वेषण की परख करें और उसमें समय से जुड़े सरोकारों को चीन्हें। देखें कि किन कहानियों में यह संभव हो पाया है कि वे समाज में फैली भ्रामकता, निरंकुशता, भीषण शोषण, भुखमरी, गरीबी और व्यवस्था की इसके प्रति उदासीनता को सामने रखें। व्यक्ति की इच्छाओं और अभिलाषाओं की सीमित परिधि की कलाबाज कहानियों में कथा-सौंदर्य खोजने में किसी की दिलचस्पी हो, तो हो, मेरी नहीं है। इसीलिए मैं नई पीढ़ी के प्रस्थान बिंदु को 21वीं सदी के शुरुआती वर्षों में तो अवश्य मानता हूं, लेकिन उसे दो पत्रिकाओं तक सीमित करना नहीं चाहता। पता नहीं कितनी रचनाएं देश की अगणित अन्य पत्रिकाओं में ऐसी आई होंगी, जिन्हें रेखांकित किया जाना चाहिए। समय के जरूरी प्रश्नों को समेटे बगैर कोई पीढ़ी अपना प्रस्थान बिंदु तय नहीं कर सकती।

उदारवाद, बाजारवाद, भूमंडलीकरण के असर को भी इस रूप में देखा जा सकता है कि लिखो, लेकिन बाजार के नियमों का ख्याल रखो। हिंदी कथाकारों की इस पीढ़ी की स्थिति बड़ी विचित्र है। वह न तो पूरी तरह बाजार की हो सकी और न ही जन-सामान्य की। सीमित अनुभवों की बेहद सीमित दुनिया में अधिकांश रचनाकारों को न तो अपने पाठकों की फिक्र है और न वह उनका सरोकार ही है। यदि पाठक उनकी कहानी नहीं समझ पा रहा, तो उन्हें इसकी परवाह भी नहीं है लेकिन अगर किताब का बाजार या कोई संपादक-प्रकाशक उन्हें समझने से इंकार कर देगा, तो उनके लिए बड़ी चिंता की बात हो जाएगी। जिन तीन बड़े प्रभावों की बात आप कर रहे हैं। वह तो उन रचनाकारों के लिए हैं जो सोचते समझते हैं, न कि 'मेड टु ऑर्डर' पर यकीन करते हैं। संतोष बस इसी बात का है कि इस पीढ़ी में कई किस्म के रचनाकार है। इनमें बहुतेरे जेनुइन भी हैं, जो प्रचारितों की भीड़ में प्रायः गुम हो जाते हैं लेकिन फिर भी उन्हें मूल्यों की फिक्र रहती है और वे बगैर किसी दबाव के अपने काम में लगे हुए हैं।

अगर हम शहरों और महानगरों में ही रच बस गए कथाकारों की रचनाओं में ग्रामीण यथार्थ खोजने की कोशिश करेंगे तो यह ठीक न होगा। जिन कहानीकारों के पास ऐसे अनुभव हैं, वे खुद उसे कथा का विषय बना रहे हैं। महानगरीय कथा चर्चा में उनका न आना जरूर गंभीर चर्चा का विषय है। इस दृष्टि से मैं 'युग तेवर', 'हरिगंधा' और 'कथादेश' के उन अंकों की प्रशंसा जरूर करूंगा जो किसान कथा या ग्रामीण जीवन से जुड़कर सामने आए। अरविंद कुमार सिंह, पराग मांदले, मुरारी शर्मा, नवीन कुमार नैथानी, हरभगवान चावला सरीखे कई कहानीकारों जैसी रचनाएं कम ही देखने को मिलती हैं। एक समय 'अब' ने यह काम किया था। यह बात सही है कि इस पीढ़ी के ज्यादातर रचनाकारों के पास ग्रामीण यथार्थ को पकड़ने की सामर्थ्य , रुचि और आकांक्षा भी नहीं नजर आती। जिस ऊर्जा के साथ चंद्रकिशोर जायसवाल, शिवमूर्ति, महेश कटारे, मदन मोहन और पुन्नी सिंह की पीढ़ी लिख रही थी, वह इस पीढ़ी में नहीं है लेकिन इसे भी निर्णायक वक्तव्य मान लेने के बजाय,

यह कहना जरूरी लगता है कि इस पीढ़ी की समूची कहानियां अभी पढ़ी ही नहीं गई हैं। एक बनते हुए कथा-समय को बहुत धीरज से पढ़ना होता है। कहीं हरनोट नजर आ जाते हैं तो कहीं श्रीधरम, उमाशंकर चौधरी या कैलाश बनवासी, लेकिन महिला कथाकार नहीं।

इंटरनेट की सुविधा का इस्तेमाल आप किस रूप में करते हैं, यह निर्भर उस पर अधिक करता है। यह एक माध्यम है, आप चाहें तो इससे पुल का काम ले लें, न चाहें तो एक अलग द्वीप बसा लें। नई पीढ़ी के बहुतेरे कथाकार ऐसे हैं जो एक पीढ़ी को इसमें फंसता देख कर असमंजस में हैं। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो इससे एक वृहत्तर समाज बना रहे हैं। मूल प्रश्न तो रचनाकार की दृष्टि से जुड़ा है। ओमा शर्मा की कहानी 'दुश्मन मेमना' ऐसी ही रचना है।

मैं यह मानता हूं कि आगामी दो-ढाई दशक तक वही कथाकार आगे जाएंगे जो अपने विवेक से काम लेने को महत्व देंगे। जो चमत्कृत नहीं होंगे, किसी वक्तव्य या संपादकीय निर्देश से। जो अपनी कथा में किसी नए कंटेंट की खोज करते हुए अपने वक्त को पढ़ पाएंगे। जो किसी जैसा नहीं, वरन खुद जैसा कथाकार बनते हुए नजर आएंगे। मुझे यह कहना होगा कि जो अपने समय की कहानियों में बड़ी समस्याओं को उठाएंगे। जो अनुभव के स्तर पर पूरे समाज से जुड़ने की कोशिश करेंगे। जो चालू राजनीतिक मुहावरों से अपनी रचना को मुक्त रख सकेंगे। मैं नहीं जानता कि हम रचना के उद्देश्यों और उसकी सामाजिक सार्थकता के प्रश्न को पीछे धकेलने में क्यों लगे हैं। जो रचेगा वह बचेगा।

किस्सागोई का महत्व कम नहीं

रघुवंश मणि (कवि एवं आलोचक)

यह कहना तो उचित नहीं कि आज की युवा कहानी ने यथार्थ से अपना नाता ही तोड़ लिया है। नए कहानीकार जिन पर अपनी कहानियों में तकनीक के अधिक इस्तेमाल को लेकर आरोप लगाए जाते हैं, वे भी अपनी कहानियों में यथार्थ से दूर जाते नहीं दिखाई देते। यह जरूर कहा जा सकता है कि वास्तविकता के सीधे प्रतिबिंबन के बजाय वे उसे थोड़ा टेढ़े तरीके से देखते हैं। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण भी उन कहानीकारों से भिन्न है जिन्हें हम यथार्थवादी कहानीकार कहते हैं लेकिन कहानियों की यथार्थोन्मुखता पर शायद ही प्रश्न किया जा सके।

क्या हमारे समय की बदलती परिस्थितियों ने उन्हें यथार्थ को इस तरीके से देखने पर विवश किया है? अथवा क्या यह पश्चिमी कथाकथन की शैली है जिसे उत्तर आधुनिकता का जामा पहनाया जाता है? क्या वही सब कुछ हिंदी के कथा लेखन में वेशांतरित हुआ है? क्या इन कहानियों की भारतीयता संदिग्ध है? ये सारे प्रश्न आज की कहानियों को लेकर उठते हैं और शायद इनका कोई बहुत सीधा-सपाट उत्तर दे पाना कठिन होगा। कुछ मामलों में एक बात सही होगी तो दूसरे में दूसरी।

फिर भी यह स्पष्ट है कि आज की कहानी में उतरे युवा कथाकारों की कहानियां प्रचलित कहानी की अवधारणाओं से अलग हैं। नयापन स्वयं में एक बार ध्यान आकृष्ट तो करता ही है और अगर उसमें कुछ मूल्यवान भी हो तो वह प्रभावित करता है। कहानी को लेकर पाठक और आलोचक दोनों

की ओर से यह प्रश्न होना ही चाहिए कि क्या कहानी हमें प्रभावित करती है? और फिर हमें पूछना चाहिए कि कहानी हमें किस प्रकार प्रभावित करती है। कहानी के प्रकार्य से जुड़ा यह प्रश्न ही हमें कहानी को ठीक से समझने में मदद करेगा।

यथार्थ की बढ़ती जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए अक्सर सरलीकृत उपकरण काम नहीं करते। पिछले कुछ दशकों में, विशेषकर ग्लोबलाईजेशन के दौर में, परिस्थितियां काफी तेजी से बदली हैं। ऐसे में नई तरह की कहानियों का आना बेहद स्वाभाविक लगता है। उदय प्रकाश की कहानियों से यह सिलसिला प्रारंभ होता है। 'पाल गोमरा का स्कूटर' जैसे कहानी बदले हुए यथार्थ को प्रभावशाली तरीके से प्रस्तुत करती है। कहानी का मुख्य पात्र पाल गोमरा एक ऐसे प्रतिनिधि चरित्र के रूप में सामने आता है, जिसका अपने समय से समायोजन कई तरह से बिगड़ता जाता है। चरित्र की त्रासदी समय की भयानकता को सामने लाती है जो पारंपरिक कहानी के शिल्प से अलग होने के कारण भी रेखांकित करने योग्य है। यथार्थ का प्रतिबिंबन इस कहानी में यथातथ्य न होकर अपने गल्प से जुड़े लेखक द्वारा चयनित प्रस्तुतीकरण के कारण है।

इसी प्रकार अखिलेश की कहानी 'जलडमरूमध्य' अपने बदले हुए कथ्यरूप के साथ बदलते समय की क्रूरता को प्रस्तुत करती है। उसके बाद नई तरह की कहानियां लिखने वाले कहानीकारों की एक पूरी पीढ़ी ही उभरकर आती है, जिसे कहानी के क्रमिक विकास के रूप में देखा जा सकता है। ऐसा नहीं कि इस प्रकार के प्रयोग इक्के-दुक्के हुए मगर कुछ लेखकों की कहानियों की चर्चा विशेषकर हुई और हिंदी कहानियों में आते इस नए पक्ष पर नए सिरे से प्रकाश पड़ा। सैन्य अध्ययन के क्षेत्र में प्रचलित तथ्य है कि सामरिक तकनीक चाहे जितनी विकसित हो जाए, स्थल सेना और सामान्य सैनिकों का महत्व हमेशा बना रहता है। इस उपमा को यदि साहित्य जगत् की ओर ले चला जाय तो यह कहा जा सकता है कि कहानी में शिल्प अथवा तकनीक का महत्व चाहे कितना ही क्यों न बढ़ जाए, कुछ मूलभूत बातें अपना महत्व रखती हैं जैसे किस्सागोई और प्रतिबिंबन की सीधी शैली। यह कथन उस तरह से सही नहीं होगा जैसे कि सैन्यविज्ञान में। कारण यह कि साहित्य में चीजें इतने सीधे तरीके से सिद्ध नहीं होती हैं। आज के दौर में शैलियों के अनुप्रयोग एक दूसरे पर चढ़ बैठ रहे हैं। मगर फिर भी यथार्थ के चित्रण की सीधी शैली और सहज साफ किस्सागोई का महत्व कम नहीं हुआ है। इस प्रकार की कहानियों को किसी आलोचकीय मध्यस्थता की जरूरत नहीं होती और ना ही किसी अभ्यस्त पाठ की। हिंदी में संजीव, पंकज विष्ट, शिवमूर्ति, जैसे कहानीकारों की सूची में आगे बहुत से नाम जोड़े जा सकते हैं जिनकी कहानियां सामान्य पाठकों तक सीधे पहुंचती हैं।

अपठनीय होती जा रही है कहानी

निलय उपाध्याय (कवि-कथाकार)

हिंदी कहानी बहुत भयानक दौर से गुजर रही है जिस प्रकार से विचारधारा के नाम पर हिंदी कविता को अपठनीय बना दिया गया था, जिसमें शब्द सहज थे अर्थ को जटिल बना दिया जाता था

बिल्कुल वही हाल हिंदी कहानी का होने जा रहा है। हिंदी कहानी की परंपरा हमें लोककथाओं से मिलती है जब हम लोककथा को एक बार सुनते थे तो हमें कथा पूरी की पूरी याद हो जाती थी उसमें पात्र, घटनाएं होती थीं और कथा कहने का उद्देश्य साफ झलकता था और कहानी कहने के उपरांत संदेश साफ पता चल जाता था। हाल की कहानियों में परिवर्तन आया है, जिसे आप विकास कहते हैं वो तीन प्रकार से प्रभाव डालती हैं। पहला, समाजशास्त्रीय विश्लेषण- ऐसा लग रहा है कि कथाकार कहानी नहीं लिख रहा है बल्कि वह अपने समय के समाजशास्त्र का विश्लेषण कर रहा हो। क्या समाजशास्त्री चुप हो गए हैं, क्या उनकी भूमिका समाप्त हो गई जो कथाकारों को कहने की जरूरत पड़ गई। दूसरा, पत्रकारिता का प्रभाव- हिंदी कहानी पर दूसरा सबसे बड़ा प्रभाव पत्रकारिता का पड़ा है। पत्रकारिता में चरित्र गायब हो जाते हैं और घटनाएं प्रमुख हो जाती हैं। हिंदी कहानी में यह प्रभाव गहराई से देखा जा सकता है। हिंदी कहानी पर तीसरा सबसे बड़ा प्रभाव हिंदी कहानी से नायकों का गायब हो जाना है। कहानी पढ़ते हुए हमें यह समझ में नहीं आता है कि कहानी का नायक कौन है, दूसरा कहानी का कन्फिलिक्ट क्या है और चरित्र का विकास किस तरह से होता है।

कुल मिलाकर कहना यह चाहता हूं कि जब भी कोई पाठक कहानी पढ़ना शुरू करता है तो वह चरित्र की करुणा के साथ चलता है और उसकी सुखद या दुखद अनुभूतियों के साथ अपनी यात्रा पूरी करता है। हमारे दौर के सबसे महत्वपूर्ण कथाकार हैं-उदय प्रकाश। उनकी कहानियों के नायक को देखकर लगता है जैसे क्रूरतम समय के शिकार हों और वक्त के बड़े रोलर के नीचे आकर पिस जाने के अलावा उनके पास और कोई विकल्प ही नहीं बचा हो। मैं मानता हूं कि जीवन जटिल है पर इतना जटिल नहीं है कि आप बिल्कुल मौत के मुंह पर खड़े हैं।

अच्छी भाषा और संतुलित प्रयोगों के कारण किसी हद तक उदय प्रकाश बचा ले जाते हैं कहानी को। मगर उनकी तरह लिखने का जो फैशन चल पड़ा, उसने हिंदी कहानी को बहुत बड़ी क्षति पहुंचाई है और लगभग अपठनीय बना दिया है। इसका सबसे बड़ा कारण मैं हिंदी आलोचना को मानता हूं। हिंदी आलोचना में जैसे सांप्रदायिकता पर लेख लिखना हो तो लेखक एक विचार के साथ दस रचनाकारों की सूची बनाता है उनकी दो-दो पंक्तियों को लेकर लेख तैयार कर लेता है। हिंदी कहानी ने भी लगभग उसी तरह का रवैया अपनाया है, लेकिन मुझे खुशी है कि नए रचनाकार इस बात को समझ गए हैं और नए सिरे से कहानी को पठनीय बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

* * *

कहानी

बुधना वाया बुद्धिदेव

नीलम शंकर

ट्रेन की रफ्तार और उसके मन की रफ्तार बीच-बीच में एक हो जाती थी। जैसे ही दोनों में से किसी की भी रफ्तार आगे पीछे होती तड़ से उसकी उंगली मोबाइल के बटन पर जा दबती, दूसरा गाना सुनने के लिए। वह कानों में लीड लगाए, जिसका दूसरा सिरा उसके पतले से गुलाबी सफेद मोबाइल में खुंसा हुआ था।

पहले वह दिल्ली से कानपुर तक किसी ट्रेन से आया था, रात में। रात में भी थीं गाड़ियां लेकिन उसने सुबह-सुबह की पंजाब मेल चुनी अपने गांव के लिए। उसी में बैठा कभी सपने बुनता-गुनता। कभी वर्षों पीछे जाकर गांव की बदनुमा जिंदगी से मुंह कसैला कर लेता। पंजाब मेल के जनरल बोगी में भीड़ के क्या कहने। लोगों से खचाखच भरी हुई थी। जितने लोग सीट पर बैठे थे, खड़े उससे कम नहीं थे। वह खिड़की के पास सिंगिल सीट पर बैठा, गानों को सुनता हुआ तेजी से गुजरते हुए पेड़ों, खेतों, गढ़हीनुमा तालाबों व बिजली के बड़े-बड़े टावरनुमा खंबों को निहारता-सोचता बैठा हुआ था। बीच-बीच में एक निगाह डिब्बे के मुसाफिरों पर भी डाल लेता। जो जरा सी भी टेक लगाने को बेताब दिख रहे, लोगों की निगाहें टोह रही लगातार शायद कोई रहम ही कर दे। क्या कीजिएगा जनरल डिब्बे का मंजर होता ही कुछ ऐसा है। बगल में बड़ी देर से खड़े एक मुसाफिर पर उसने निगाह डाली, पता नहीं क्या सोचा अपना खड़ा हो गया उसे बैठाल दिया।

कद काठी, वेषभूषा उसने किसी फिल्मी टपोरी टाइप विलेन की बना रखी थी। कलाई से लेकर मछलियों तक उसने किस्म-किस्म के गोदना गोदवा रखा था। आज की भाषा में कहें तो टैटू बनवा रखा था। जो उसके स्लीवलेस गोल गलानुमा काली टीशर्ट से अपने आप दिखाई दे रहा था। गले में स्टील की दो या तीन मोटी-मोटी चैन उनमें बड़ा सा लटकता लॉकेट। कलाइयों में मोटे-मोटे किसी पीली धातु के कड़े लेकिन किसी भी कलाई में घड़ी नहीं थी। मरे मोबाइल ने पारंपरिक घड़ी का बाजार ढीला कर दिया है। बीच-बीच में मोबाइल से ही समय देखता और फुसफुसाहट के अंदाज में अभी इतनी देर है अपने घर पहुंचने में। समय को वह कभी स्पष्ट नहीं बोलता था।

उमस भरी गर्मी में सभी बेहाल, डिब्बे में भीड़ की स्थिति यह, किनारे की तरफ जो ऊपर केवल सामान रखने की पतली पट्टीदार सीट मुश्किल से एक फुट की भी नहीं होती और आकार

में बड़े क्या नवजात शिशु को भी नहीं बैठाला जा सकता। गोलाई लिए होती है सीट डिब्बे की छत से ज्यादा से ज्यादा सवा फुट होगी। लेकिन उसमें भी पतली कद काठी के लोग किसी तरह लेटे हुए थे। उसी में कोई पानी की बोतल का ढक्कन पानी पीने के बाद शायद ठीक से बंद नहीं कर पाया होगा। पानी उस टपोरीनुमा लड़के की गर्दन से होता हुआ उसकी काली स्लीवलेस टी शर्ट में घुस गया। ऐसा लगा कि वह अब अपनी बॉडी-शॉडी का प्रदर्शन करते हुए रौब दिखाएगा पर वैसा कुछ भी नहीं हुआ। खड़ा हुआ टी शर्ट उतारी, हलके से झटका फिर पहन लिया। उतनी ही देर में दिखाई पड़ गया कि उसकी बे-बाल की चौड़ी छाती में ढेरों टैटू गुदे हुए थे पीठ और कमर पर। अजीब जूनून था उसे इतने परमानेंट टैटू बनवाने का। कोई फूल-पत्ती नहीं किस्म-किस्म के कीड़ों के और तिकोने दिल को भेदता तीर, और नहीं तो डरावने-डरावने से आकार वाले चित्र।

एक सहयात्री ने टोक ही दिया, यार इतने गोदना! पिरान नाही का तोहे।

उधर का इतना दरद था इधर का दरद तो कुछ भी नहीं लगा। कुछ-कुछ लापरवाही भरा जवाब था उसका, वह क्यों दिखाए अपनी संजीदगी किसी भी अजनबी के आगे। उधर का दरद में वह दोनों जगह का कम से कम शब्दों में बयान कर गया था।

गांवों में भूमिहीन वह भी अवर्ण किसानों के दु:ख-दरद अनगिनत होते हैं। वह किस-किसको बयान करे और किससे कहे। और क्यों कहे? या फिर अपनी हँसी उड़वाए वह बुद्धू, बुधना से बुद्धिदेव हो गया था। कारण वही पुराना कि वह बुधवार को पैदा हुआ था। वह पांच वर्ष बाद अपने गांव लौट रहा था। उसका गांव निछान ठाकुरों का गांव। बाकी किस्म-किस्म के अवर्णों की टोलियां। ज्यादातर की दक्खिन दिशा में ही बसावट थी। कुछ अपने मालिकों की दया-किरपा से या यूं कहिए वह अपनी जरूरत अनुसार एक दो कोठरी की जगह दूसरी दिशाओं में दे दिए ताकि टैम-कुटैम उनको गोहरा सकें।

फिलवक्त उसका एक ही लक्ष्य अपनी मां को ठाकुर-ठाकुरदीन से मुक्त करवा के अपने साथ दिल्ली ले जाना। ऐसा नहीं था कि ठाकुर साब ने उसकी मां को कैद कर रखा हो या रखैल जैसा कुछ हो। लेकिन उसकी मां से वह वैसा काम करवाते जो उसे हरगिज नहीं पसंद था। बात काम की नहीं थी उनकी नीयत थी? बात उस समय की है जब उसके पिता बचना को परीक्षण में फोते में कैंसर निकला था। डॉक्टर ने साफ कहा था कोई पुरानी चोट है जो धीरे-धीरे कैंसर में बदल गई। गांवों में तो जिसका खेत जोते-बोवे वही उसका मालिक। वह गया बाबू साब हमको दवाई बरे ढेर पैसा चाही। जाने कौन बेमारी डॉक्टर बताइस कि ढेर पैसा लगी।

बचना ने डॉक्टर का परचा ठाकुरदीन के आगे खिसका दिया था। अंग्रेजी लिखावट वाले पर्चे में वह देखकर क्या समझे, कितना समझे यह तो ठाकुरदीन ही जाने। पर नामी डॉक्टर का नाम पढ़कर जो समझे वह, काय्य् बे ओतना महंगा डॉक्टर के लगे जायके कवन जरूरत रही? एक फटकार और धिक्कार दोनों थीं उसमें। बाबू जवन बीमारी भय बा ओकर एलाज वोंही होई। बात उसने जितनी सहजता से कही पर अंदर से वह उतना सहज था, नहीं। डॉक्टर ने तो स्पष्ट ठेठ हिंदी में उसे समझा दिया था।

कितना चाहिए आखिर? कभी-कभी ठाकुर-ठाकुरदीन पता नहीं रौब के लिए या दिखाने के लिए दिहाती से खड़ी हिंदी बोलने लगते। पूर्वांचल में जमींदारी लगभग खतम हो गई परंतु सभ्यता को अभी भी कुछ मजबूत किसान बचाए हुए हैं जैसे ठाकुर-ठाकुरदीन। हिसाब-किताब नफा-नुकसान का गणित लगाया, चार दिन तक। फिर उसे पैसों के लिए हामी भर दिए।

उन चार दिनों में बचना बचना-बो के मन में ऊब-चूभ लगी रही। बड़कउ और दादा अलग हैरान पर कोई किसी से अपनी परेशानी नहीं बांट रहा। क्या कहें और करें एक दूसरे से। लाचार चारों लोग। आसरा ठाकुर-ठाकुरदीन। इस समय वही उनके भगवान, तारणहार। आखिर उन्होंने उसका छै कूला खेत के बदले पैसा दे दिया था। उसकी मजबूरी ने उसे भूमिहीन कर दिया था। जो उनकी ताकत में था उन्होंने वही किया। जितना पैसा, वैसा इलाज, और उतने ही दिन की जिंदगी बचना को नसीब हुई। बच रही बुधना की मां, बुधना, एक ठो दादा (बड़का बाबू) और बुधना का बड़ा भाई बडकऊ। यह सारे लोग ठाकुरदीन के यहां किसी ना किसी काम में लगे हुए थे। बस खाना खर्चा किसी तरह चल रहा। बुधना की मां रोज नियम से ठाकुरदीन, बहू के बुकुआ पीसी सरसों का उबटन लगाती। उनको हैंड पंप के नीचे बैठा कर लगातार चलाते हुए नहलाती। जब तक कि उनको ठंडक का एहसास ना होने लगे। उनकी ही साज शृंगार सेवाटहल में लगी रहती। जो कुछ वक्त बचता उसमें अपने घर का काम करती थी। बुधना तब किशोरावस्था को पहुंच रहा था। वह भी उन्हीं के यहां बेगारी पर था भोर होने से लेकर शैय्या पर जाने तक। बुधना की मां कद-काठी से ठीक-ठाक साधारण नयन नक्श। एक खासियत कि वह बड़े सलीके से और साफ सुथरी रहती थी। उबटन लगाने, ठकुराइन को नहलाने, संवारने के बाद तुरंत जाती रेह से अपना लूगा-लत्ता रोज साफ करती थी।

कुछ मर्द केवल घर के बाहर की ही कमान संभाल रखते हैं। घर के अंदर का मालिकाना मेहरारू के हाथ में होता है। परंतु ठाकुर-ठाकुरदीन कुछ-कुछ मेहरा टाइप के बाहर-भीतर हर जगह दखल दिए रहते। ऐसों की मेहरिया चाहकर भी पति की बेजा भावनाओं-इच्छाओं का विरोध नहीं कर पातीं। मेहरारू ठाकुरदीन साहब से तो दिखाती पर ठाकुरदीन की पैंतरेबाजी के आगे ज्यादा देर टिक नहीं पाती थी। ऐसी लाचार विधवा स्त्री पर मालिक की निगाह न पड़ती हो, यह कैसे संभव हो सकता था। लेकिन ठकुराइन ही उसे अपने आप में इतना लपेटे रहती कि ठाकुरदीन अपने लिए दिमाग दौड़ाते लेकिन स्पेस नहीं पा रहे थे। वह अपने लक्ष्य के लिए दिमागी मशक्कत करते रहे आखिर कैसे स्पेस न मिलता।

उनके भी देह में आए दिन पिरान की शिकायत रहने लगी। आए दिन ठकुराइन से लड़ियाते हुए दर्ज भी कराते। खिसिया के एक दिन ठकुराइन ने कह ही दिया, तुहू लगवावा करा बुकुआ तेल हमरे हिसकन बिना हील-हुज्जत के झोली में हीरा-मोती आ गिरी।

औरत मरद की निगाह ना पहचाने यह हो भी कैसे सकता है। समझ तो वह बहुत दिनों से रही थी। कसमसाते, हल्की नाराजगी दिखाते हुए, अपने बिगड़े समय को पहचानते हुए, दबे मन से हामी भरी। भरी क्या उससे भरवाई गई थी।

जब तू हमरे लगावत हउ तो उनहू के तो चाही कि लगा दा। मरद हएन मजबूत रहिही तो तोहरेन सबके बरे न करीहैं। मन ही मन बुदबुदाई बुधना की मां, करिहैं कि हमार सरबस छीन लिहेन, अब जवन कुछ बचा अहैं उहो के फिराक मा हएन पढ़ाई नाही बा हमरे लगे का समझदरियों घुसुर गैइ बा।

बुधना की मां रच-रच के सरसों पीसती। ठकुराइन की शरम हया को प्यार से का मालकिन हमरे से का लजावत हऊ जऊन तोहरे तवन हमरे। शरीर के हर अंग में बुकुआ लगाती। गोरी, चिट्टी, मांसल देह, रपटीली चमड़ी की ठकुराइन। बुधना की मां को एक अलग किस्म का आनंद धीरे-धीरे आने लगा था। आखिर वह भी एक औरत थी उसके पास भी जज्बात और उसकी जरूरतें थीं जब वह उनके अति संवेदनशील अंगों पर धीरे-धीरे प्यार से लगाती-मीसती, उसे और उन्हें भी न अखरता न अचरज होता। घनिष्टता का पैमाना यहां तक पहुंच गया कि कभी-कभी आपस में एक दूसरे के अंगों से खेल-खिलवाड़ भी कर लेतीं। उस घड़ी मालकिन-मजूरनी का भेद मिट जाता था। हर दिन अगले दिन का इंतजार रहता था दोनों जनी को। एक तरह से आपसी ठिठोली-संतुष्टी वाला बहनापा कोठरी के अंदर अपनी जगह बना चुका था।

अमूमन पति पत्नी के रिश्तों में एक कठोर होता है तो एक कोमल-निर्मल। शायद यह प्रक्रिया स्वत: बन जाती है। ठाकुरदीन की पत्नी भक्तिपरायण अति मानवीय और सरल हृदय वाली। बुधना की मां की हर परेशानी की राजदार-रहमदार। वह भी ठकुराइन के प्रति उतनी ही समर्पित।

अगले दिन से ठाकुरदीन के भी बुकुआ लगना शुरू हो गया था। वह एक शहराती कट चड्डी पहने नंगे बदन लगवाते। नंग-धड़ंग, हट्टा-कट्टा, अधनंगा शरीर। भूखी आंखों, अघाई आंखों, प्रेमिल आंखों में फर्क होता है जो आसानी से पहचानी जा सकती हैं। बुधना की मां ने महसूस किया था ठाकुरदीन की आंखें भयभीत कर देने वाली थीं। हर दो मिनट में अपना पल्लू ठीक करती उंगली के सहारे। अपने डर को वह इसी तरीके से कम कर रही थी। उसे शुरुआती दिनों में एक स्वाभाविक सा डर शील-शरम, संकोच होता। वह भी जल्दी से निबटाने के चक्कर में रहती। ठकुराइन से बचा-खुचा बुकुआ ही बस चटनी के माफिक लगाती ताकि देर तक शरीर पर रगड़ना न पड़े। हल्का सा कड़ुआ तेल तन में चटा के मात्र पंद्रह मिनट में फारिग हो लेती। ठाकुरदीन बेहयाई से टोंकता क्या, भद्दी जबान के साथ।

''ई का रे हम जमत नहीं बाटी का...निबटाबे के फेर में है ले...मालकिन का तो तू दु-दु, तीन-तीन घंटा घिसत हऊ, हा-हा, ही-ही ठठ्ठा चलत रहत हय कोठरी मा।'' बुधना की मां स्तब्ध और सन्नाटे में आ गई। फिर पैंतरा बदल... ''तोर घरवा अनाजे से भर देब तनी एहर देख...।'' वह कहां ठाकुरदीन के डॉयलोगों पर कान देती थी। उसकी लापरवाह निगाहों से खिसियाता ठाकुरदीन -''का रे ई भैंस जइसन शरीर-जांगर के कर बरे बचावत हऐ तैं, ऊ नेरबसिया बरे का... हमरेन से कलियान होई। मालकिन न कुछ कै पई हैं। फटा पुराना लूगा तक रह जइबू...।''

वह चुप तो चुप। एक चुप हजार चुप। ठकुराइन तो अपनी कोठरी में लगवाती थीं लेकिन ठाकुरदीन ने ओसारा चुना था, वहीं तख्त पर लेटते और लगवाते। आते-जाते लोगों को अपना

ठकुरई का अहसास भी करवाते। उनके शरीर का पिरान पता नहीं गया कि नहीं लेकिन बुधना जब भी देखता उसके तन में ऐठन शुरू हो जाती। वह चीखता–

''माई चल घर...चल, का खाना न बनवे क ह...बता न। बनइबे कि न...न त हम जाई पानी पी के ओलर रही।''

वह हर दिन दो तरह के डर से भर उठती। एक ठाकुरदीन का। दूसरा बेटा का। जो रोज ब रोज धमकिया जाता उसके स्त्रीत्व और ममत्व को। ऐसी जली–कटी बातें सुन कर बुधना की मां फटाफट समेटना शुरू कर देती। ऐसा ही कुछ–कुछ रोज–ब–रोज होता था। ठाकुरदीन जैसे ही बुधना को देखते किसी न किसी काम में लपेट देते। पर बुधना इतना नासमझ भी न था वह जाता तो लेकिन ठाकुरदीन के बहाने से मां को फटकारता चला जाता। ठाकुरदीन की ठकुराई सर पर आ गई। कई दिन का गुस्सा समेटे–समेटे एक दिन बाहर निकल ही पड़ा। अपने ही घर के अलाने–फलाने को लगा दिया उसके पीछे छै सात ठो झापड़ घूंसा–लात रसीद करवा दिया बिला वजह।

वह जमाना लद गया जब मजूर या मजूरों के बच्चे इसे अपनी नियति मान रो–धो के पुनः हो मालिक, जी साहेब करा करते थे। बुधना कई दिनों तक माथा–पच्ची करता रहा, अपमान की आग में झुलसता रहा। माई का दो ठो लच्छा चुरा भाग गया दिल्ली। अपनी हाल खबर मां को देता रहा पीसीओ से ठाकुरदीन के चोंगा वाले फोन पर। गांव नहीं आया तो नहीं आया। बस एक ही धुन कमाऊंगा, शरीर दुरुस्त करूंगा तब जाकर ठाकुरदीन के सामने ताव से खड़ा होऊंगा।

बुधना के भागने को बुधना की मां क्या आसानी से पचा पाई थी? उसे वह दिन अच्छी तरह याद आ रहा था जब ठाकुर–ठाकुरदीन ने जरा सी गलती पर अपने कई कुत्तों में से एक कुत्ते को लुहकार दिया था बचना पर। उसने बस एक पंजा ही तो मार दिया था कूदकर। जो दुर्भाग्य से उसके फोते पर लगा था। पतली धोती चीर उठी थी, हल्का सा नाखून भर लग पाया था। लेकिन धुस्स चोट लग गई थी। एक चीख के साथ वहीं बैठ गया था। वह चोटिल जगह फूली तो फिर कभी पिचकी नहीं बल्कि आकार में बढ़ता ही गया था। चलता तो लगता अलग से कुछ सामने बंधा हुआ है। बैठता तो लगता सामने छोटी–मोटी गठरी रखी हुई है। चाल में असहजता रहती थी। सच पूछो तो वह गलती कोई गलती न थी। उसने उनके किसी रिश्तेदार को पैलगी न कहकर हाथ जोड़ नमस्ते कहा था। बस फिर क्या स्साले मेहरी के टांग के सीका के एतनी हिम्मत। ठाकुर–ठाकुरदीन दांत चबाते हुए चीखे थे। पूरी–पूरी पर निर्भरता जो न करवाए, सहाए और डरवाए।

कई ठो काम करने के बाद उसने वही काम चुना जहां से दो पैसा और शरीर भी बने। वह एक जिम में हेल्पर का काम करने लगा। नव धनाढ्यों को देखने–समझने में तीन वर्ष गुजार दिए। उनकी किस्म–किस्म की एक्सरसाइज देखता, उपकरण देखता, उनसे जानकारियां लेता। जिम आने वाले जो जरा सरल स्वभाव के होते उसे सही सलाह देते। वह उनकी बिन मांगी मदद करता, ठंडा पानी लिए खड़ा रहता, उनको वक्त–वक्त पर पसीना पोंछने को टॉवेल देता आदि–आदि। जिसको जैसी जरूरत वैसी उसकी सेवा करता। बदले में शरीर बनाने की सारी जानकारियां इकट्ठा कर रहा होता। थोड़े–मोड़े टिप्स के रूप में कुछ अतिरिक्त कमाई भी हो जाती। जिसे देखो वही बुद्धिदेव–बुद्धिदेव

करता। वह भी सुबह 5 से लेकर 10 बजे तक एक पैर पर दौड़ता और कभी किसी के पास खड़ा मिलता तो कभी किसी के पास। कस्टमर खुश तो मालिक दोगुना खुश। उन्हीं किन्हीं खुशी के क्षणों में मालिक ने एक सलाह दे डाली ''तू भी अपना शरीर बना ले, मिलिट्री में सिपाही तो हो ही जाएगा।'' बुधना आश्चर्यमिश्रित खुशी के साथ बोला ''सच्चय मालिक'' ''तो क्या झूठ बोल रहा'' और यहीं से उसके दिमाग में एक और सपने ने जन्म ले लिया था। और अपनी मुफीद उम्र का इंतजार करने लगा। जब तक उम्र हुई तब तक बुधना जिम मालिक का चहेता बन चुका था। अब काम से बचे वक्त में अपना शरीर बनाने में जुट गया था। शरीर कैसे आकर्षक लगे और दिखे तो कैसे खतरनाक दिखे वह सब भी उसने कर लिया था तभी तो शरीर पर किस्म-किस्म के गोदना बनवा लिए थे। उसे हर टैटू में असहनीय दरद होता। लोग कहते हैं कि दिल-दिमाग के दरद को शरीर का दरद कम करता है। जैसे विष-विष को काटता है वैसे ही दरद भी है। जितनी बार वह गोदना गोदवाता उतनी बार उसके आत्मविश्वास की एक परत चढ़ उठती ठाकुरदीन से सामना करने की।

पक्की सड़क से उतर कच्ची पगडंडी से घर तक ढेरों लोग मिले पर उसे किसी ने भी न पहचाना। न ही उसने किसी को पैलगी ही की। वजह कोई घमंड-गुरूर नहीं, वही कि पहले मां देखे फिर ठाकुरदीन। मोबाइल और उसका इयरफोन लपेट-लपाट के जींस के पॉकेट में डाल लिया था। बाहर ओसारे से ही माई-माई रे...। मां आवाज कैसे न पहचानती बाहर अचरज से बुधना को देखती रही। फिर लगी लिपट के सिसक-सिसक के रोने । जाहिर था कि वह खुशी के आंसू रहे होंगे। दोपहर से पहले ही पहुंचा था। खरमिटाव का वक्त हो चुका था। पानी-गुड़-चबैना ले, वह सीधे ठाकुरदीन के दरवाजे गया। दूर से ही ठाकुरदीन की आंखें डर मिश्रित आश्चर्य से फैल गईं। तब तक वह उसकी वेशभूषा को जांच परख रहे। काली गोल गले की टाईट फिट टी शर्ट और ब्रांडेड जींस बाकी शरीर पर कड़े, छल्ले, मुनरी, संकरी तो थी ही। सीने का स्पष्ट उभार, पेट पिचका हुआ, मछलियां रह-रह के हिलती-झुलती हुई एक डर का एहसास देती हुई सी। कुछ देर बाद ठाकुरदीन अपनी चेतन अवस्था में लौटे और खुश रहा, खुश रहा, मुंह से निकालना ही पड़ा।

''का रे बुधना दिल्ली में का करत रहे एतना दिन'' उनका सेफ्लाना साफ दिख रहा था, जिसमें वह मौका-ए-सिद्धहस्त थे।

''हेल्पर का काम...।''

''का?''

''हेल्पर ....।''

उनकी समझ में आया कि नहीं यह तो वही जाने लेकिन बुधना का उच्चारण वही रहा जो उसने अपनी तरह से सीखा था। ठाकुरदीन मन ही मन में सोच रहे थे कुछ अच्छा काम पा गया है तभी इसकी कमाई इसके शरीर पर दिख रही है।

''कय दिन बरे आए हए?'' वह क्यूं बताए और किसलिए बताए।

''माई के लियाय जाऊंगा।''

''आ काहे...।'' जरा हिचकते-हुए से ठाकुरदीन बोला।

''का उनका कौनव परशानी बा?''

''परशानी हमको है जी।'' दांत चबाते हुए बोला था।

''हम बचना नहीं बुधना है माई क कोखी क अजीवन करजवार हई कउनो पांच मिनट मां सेन्हुर नहीं फेरे हैं कि डरा जाए।''

''आपन पैसा लो पचास हजार...।'' पचास हजार जिसको उसने हिकारत और गर्व के साथ कहा था। पांच सौ की एक गड्डी निकाल पाकेट से उनकी तख्त की सफेद चादर पर धमक के साथ रख दिया था।

''माई मेरे साथ जाएगी... दादा, बड़का भइया के जवन मर्जी होए।''

''बहुत जल्दी मिलेट्री में होने वाला हूं बस मेडीकल बाकी है।''

''समझया...ठाकुरदीन।'' ठाकुरदीन का 'न' हर्फ बड़ी देर तक हवा में गूंजता रहा।

इतना कह कर वहां से चल दिया था। पहली बार किसी परजा ने ठाकुरदीन के मुंह पर उनके नाम से उनको संबोधित किया था।

ठाकुरदीन गड्डी समेट सकुचाए भी, डरे तो हैं ही। अब शायद वह बुधना की मां पर हक न जता पाएंगे।

***

कहानी

बहुत देर हो गयी

नीरजा पांडे

आज मंगलवार है।

मैंने उंगली पर गिना, शनिवार के तो चार दिन बाकी हैं। अभी-अभी ही डॉली का फोन आया था। वह बोली थी, ''मम्मा इस संडे को तुम्हारे और पप्पा के साथ गुजारूंगी। मयंक बाहर जा रहे हैं दो दिन के लिए।''

सुनकर मन खुश हो गया था, कितने दिन से मन में मैंने आशा संजोई थी, वह पूरी हो जाएगी। पर अभी तो चार दिन हैं, कैसे इंतजार करेंगे, सोचकर मन भारी हो गया। फिर मन ही मन आगे की प्लानिंग करने लगी। शनिवार को सुबह ही सब काम निपटा लूंगी। एक सब्जी पहले से बनाकर रख लूंगी। अगर हो सका तो एक सब्जी इन्हें भेजकर बाहर से मंगा लूंगी। डॉली को पनीर पसंद है। कढ़ाई पनीर ही मंगा लूंगी।

अरे नहीं पिछली बार कढ़ाई पनीर उसे कम पसंद आई थी तो फिर चिली पनीर और मंचूरियन ही मंगा लूंगी। रोटी भी बाहर से ही आ जाएगी। तंदूरी उसे बहुत पसंद है। सोचते-सोचते हँसी आ गई। अरे अभी तो चार दिन हैं इनसे भी राय कर लूंगी। सोच पर विराम लगाते हुए उठ खड़ी हुई। घड़ी देखी तो शाम के सात बज रहे थे। इनके भी आने का समय हो रहा था। खाना कुछ भी नहीं बना था। उठकर किचन में चली गई, मन बहुत ही खुश था। डॉली अक्सर आती है। पर मयंक के साथ आने पर वह बात नहीं रहती।

कितनी बार मन होता है कि मैं उसको अपने पास लेकर लेटूं, गोद में चिपका लूं, प्यार करूं।

बालों में ऊंगली फिराते हुए ढेर सारी बातें करूं, कुछ मैं सुनाऊं, कुछ वह सुनाए, समय कितना बीत गया, इसका होश ही न रहे।

पर यह सब कहां संभव हो पाता है, एक-एक दिन इकट्ठा करती हूं, पर जब सब काम निपटता है तो वह दोनों गुडनाइट मम्मा कहते हुए सोने चले जाते हैं, मेरी सारी सोची बातें जहां की तहां रह जाती हैं, अगली बार करूंगी सोचकर मैं भी सोने चली जाती हूं। हर बार यही होता है और मेरी मन की मन में ही रह जाती है। ससुराल गई बेटी कितनी पराई हो जाती है मन से वह कितनी दूर हो जाती है, तब बहुत ज्यादा अनुभव होता है। लगता है अब वह मेरी गुड़िया नहीं है बल्कि केवल मयंक की पत्नी है।

याद आते हैं वह दिन जब मैं रात में इनकी तरफ मुंह कर लेती थी तो डॉली गुस्सा होकर मेरा मुंह अपनी तरफ कर लेती और कहती मेरी तरफ देखो, इधर करवट करो न! और मैं तब तक उसकी तरफ से मुंह नहीं घुमा पाती थी, जब तक वह सो नहीं जाती थी। अक्सर ऐसा होता है कि जब डॉली के सोने पर मैं इनकी तरफ मुंह घुमाती तो देखती यह सो गए हैं। आज वही डॉली एक रात भी मयंक से अलग नहीं रह पाती है। लगता है बच्चे भी कैसे होते हैं। मां-बाप की तो कितनी रातें ले लेते हैं, पर अपनी जिंदगी से एक रात भी मां को देना गंवारा नहीं है। मुझे याद आते हैं वह दिन जब गर्मी की छुट्टियों में मैं मायके जाती थी, हम बहनें, भाभी सब एक साथ इकट्ठा होतीं। घर में आम का बाग था इसलिए सभी लोग मई-जून में ही जाते थे। क्या मस्ती होती थी। बच्चों की छुट्टी होते ही भइया आकर ससुराल से ले जाते थे। फिर महीना भर रहने के बाद पति लोग आकर वापस विदा कराकर ले जाते थे।

फिर वह दिन कितनी मस्ती भरे होते थे, रात में मम्मी के बगल में लेटकर उनके पेट पर हाथ रखकर सोने का जो मजा था वह और कहां।

बचपन में बहुत दिन तक मैं मम्मी के पैरों पर पैर लादकर सोती थी। आज की बेटियां तो पति के साथ आएंगी, उन्हीं के आगे-पीछे लगी रहेंगी और उन्हीं के साथ वापस चली जाएंगी।

अरे मैं भी क्या-क्या सोच बैठी, स्मृतियां भी कैसी होती हैं। कुछ भी करते रहो। दिमाग में पिक्चर चलती ही रहती है। मेरा आधा खाना बन चुका था। तभी कॉलबेल बज उठी, ये ऑफिस से आ गए थे।

दरवाजा खोलते ही सबसे पहले खबर सुनाई, डॉली आ रही है, शनिवार को इस बार हम लोगों के साथ रहेगी अकेले।

सुनकर ये चौंक गए। ''मयंक क्यों नहीं आएगा?''

''उसे दो दिन के लिए बाहर जाना है।''

ये बोले, ''तभी मैं कहूं आज मैडम का मूड इतना अच्छा क्यों है? देर से आने के लिए डांट भी नहीं पड़ी?''

मैं हँस दी, बोली, ''मुझसे जो कुछ काम है अभी से बता देना, डॉली के आने पर मैं पूरे समय केवल उसके साथ रहना चाहती हूं। फिर न कहना ये कर दो। मुझे उससे बहुत सी बातें करनी हैं?''

मैं इनकी बातों से बेखबर बोले जा रही थी।

''अरे भाई अभी तो मुझे चाय पिला दो। डॉली तो शनिवार को आएगी। तब देखा जाएगा।'' कहकर यह अपनी स्टाइल में हँसे।

मैं भी खिसिया गई। कितनी बेवकूफ हूं। जो दिमाग में चढ़ जाता है बस वही चलता रहता है। मैं इन्हें चाय-पानी पूछना भी भूल गई थी।

किचन में जाकर चाय बनाने लगी। दो कप चाय बना कर लाई तो देखा ये कपड़े चेंज कर चुके थे। घर में अकेले ये चाय नहीं पीते हैं, मुझे साथ देने के लिए चाय लेनी ही पड़ती है, नहीं तो तुरंत कहेंगे अकेले पीना पड़ेगा? तुम नहीं पियोगी? छुट्टी के दिन तो चाय का साथ देते-देते मन ऊब जाता है। सुबह आठ बजे से दोपहर एक बजे तक हर दस मिनट, आधा घंटा बाद 'चाय पिला दो' कहते रहेंगे।

मैं ऊबकर कभी-कभी कह उठती हूं चाय न हो गई कोई टॉनिक हो गया है। मैं अब नहीं पियूंगी। आप भी उठिए और फ्रेश हो जाइए। तब बोलेंगे। ''अच्छा बस आधा कप और पिला दो फिर पक्का उठ जाऊंगा।''

गुस्सा कर चाय बनाने किचन में चली जाती हूं।

चाय और दालमोठ लेकर वापस कमरे में आती हूं। बैठकर पुनः दिमाग डॉली के बारे में सोचने लगता है, तभी इनकी आवाज कानों में पड़ी, ''अरे श्रीमतीजी कहां खोई हैं? मैं आ गया हूं अब किसके बारे में सोच रही हैं?'' सुनकर मैं सकपका गई। ''कुछ नहीं, कुछ नहीं'' कहते हुए चाय पीने लगी।

चाय खत्म करते हुए ये बोले ''अच्छा मैं दस मिनट में फ्रेश होकर आता हूं, तब तक तुम मेज पर खाना लगा दो। आज बहुत थक गया हूं।'' मैं किचन में जाकर जल्दी-जल्दी काम निपटाने लगी।

दाल छौंककर उसे कंप्लीट किया, सलाद काटी और रोटी सेंकना शुरू कर दिया। गिनकर चार रोटी सेंकनी होती हैं। मैंने खाना मेज पर लगा दिया। ये आकर सीधे कुर्सी खींचकर बैठ गए।

''हां अब बताओ डॉली का प्रोग्राम कब का बना है?''

''मैंने बताया तो था शनिवार की शाम आएगी। संडे हम दोनों के साथ रहेगी मंडे को वापस जाएगी।'' मैं झुंझला गई।

''अरे तुमने घर में घुसते ही बताया था, उस समय मुझे केवल चाय का कप ही याद आ रहा था। इसलिए कुछ समझ नहीं पाया। आज बहुत थक गया था। आज भारत बंद था इसलिए आफिस से आते समय सवारी मिलने में भी बड़ी परेशानी हुई। काफी पैदल चलना पड़ा।''

हम दोनों बातें करते रहे और खाना खाते रहे। खाना खाते समय इन्हें टीवी देखना बिलकुल पसंद नहीं, कहते हैं यही तो एक समय होता है। उसमें भी टीवी खोलकर बैठ जाओ? बातें करते-करते खाना कब खत्म हो गया पता ही नहीं लगा। बचा खाना खाली करके फ्रिज में रख दिया।

ब्रश करके नाइटी बदलकर मैं बिस्तर पर आ गई। तब इन्होंने चादर सही करके ऑलआउट लगा

दिया था। ''अच्छा मैं अभी आता हूं'' कहकर ये आंगन में चले गए थे। सोते समय खाना खाने के बाद सिगरेट पीना इनकी पुरानी आदत थी। कमरे में कभी भी नहीं पीते।

रात में जब लेटे तो मुझे अपने पास खींचकर बोले, ''सैटरडे को तो तुम डॉली के पास सोओगी?''

''हां हां उसमें भी कोई शक?'' मैं चहक उठी।

ये फिर बोले, ''तो उसका टैक्स तो आज चुका दो।''

कहकर हँसे।

''धत् शैतान,'' कहकर मैंने इनके सीने में मुंह छिपा लिया।

सुबह मस्जिद से आती अजान की आवाज से नींद खुली। अरे स्कूल भी जाना है। स्कूल ही के कारण समय कैसे बीत जाता है, पता ही नहीं लगता, नहीं तो दिन काटे न कटे। उठकर जल्दी-जल्दी किचन में जाकर चाय चढ़ाई, तभी इनकी आवाज आई, ''मैं भी चाय पियूंगा।'' ''अरे अभी उठकर क्या करेंगे'' कहते हुए मैं कमरे में आ गई। ''बस अपने साथ चाय पिला दो, फिर पीकर सो जाऊंगा।'' ये बोले।

सुनकर मैं मुस्काए बिना नहीं रह सकी। चाय बनाकर इनके साथ चाय पी और फिर किचन में आकर खाने का काम निपटाने लगी।

नौ बजे मैं स्कूल जाऊंगी, दस बजे इन्हें आफिस जाना होगा। सब तैयार करके इनका और अपना टिफिन लगाकर स्कूल जाती हूं। जिस दिन देर होती है और इन्हें कह दूं कि अपना टिफिन लगा लीजिएगा, उस दिन जरूर टिफिन भूल जाएंगे और पूछने पर कहेंगे, ''तुम्हारे जाने के बाद सो गया था। देर हो गई, जल्दी से उठा और तैयार होकर भागा। बाहर से खाना मंगा लिया था। भूखा नहीं रहा।''

सुनकर इनकी बच्चों जैसी बात पर हँसी आ जाती है।

स्कूल में दिनभर मन खुश रहा। इस बार डॉली से खूब सारी बातें करूंगी। उससे सब कुछ क्लियर बात कर लूंगी। उससे यह भी पूछूंगी कि चार साल हो रहे हैं अब आगे की क्या प्लानिंग है? अब बहुत मस्ती तुम दोनों कर चुके अब बाल बच्चे के बारे में प्लान कर डालो। यह पूछूंगी? वह कहूंगी सब कुछ मन ही मन दिनभर दोहराती रही। आज तो बुधवार ही है।

एक-एक दिन पहाड़ की तरह कट रहा था। शनिवार अभी कई दिन बाद है। फिर सोचा चलो अच्छा है, समय मिल गया है। एक लिस्ट बना लूंगी कि डॉली से किस-किस टॉपिक पर बात करनी है, कोई बात न रह जाए कि मैंने उससे यह नहीं पूछा, वह नहीं पूछा।

एक-एक करके शनिवार की सुबह भी आ गई। बाजार से क्या-क्या लाना है, उसकी लिस्ट बनाकर इनको दे दी। तय हुआ कि आफिस से लौटते समय ये सब सामान ले आएंगे। तंदूरी रोटी भी पैक करा लाएंगे। मीठा तो डॉली को पसंद नहीं है, इसलिए उसके पसंद की चिप्स भी लिस्ट में लिख दी है।

शनिवार शाम पांच बजते-बजते मैंने अपना सारा काम निपटा लिया था। बिस्तर की चद्दर तक

बदल ली थी। इनका बिस्तर ड्राईंग रूम में सेट कर दिया था, क्योंकि हम दोनों देर तक हर तरह की बातें करेंगे तो इन्हें डिस्टर्ब न हो। अगले दिन तो संडे है। आराम से यह भी सोएंगे। डॉली भी छुट्टी के दिन देर तक सोना चाहती है। मेरा एक मिनट भी डॉली के आने पर बेकार न हो इसलिए डाईनिंग टेबिल पर प्लेट्स तक लगा ली थीं। जग भरकर रख दिया था। बस इनके आने पर चाय बनानी पड़ेगी। एक बार मन में आया लाओ चाय बनाकर केतली में रख लूं। फिर सोचा चाय बनाने में कितनी देर लगेगी।

शाम के साढ़े छः बज गए थे। घड़ी की सुई पर मेरी निगाह अटक गई, तभी कॉलबेल बजी। मैं समझ गई थी, कि डॉली आ गई थी। मैंने लपककर दरवाजा खोला। सामने डॉली को देखकर खुशी से उसे चिपटा लिया। वह अंदर आकर बैठी तो मैंने मैगी लाकर उसे दी। ''अरे यह कब बनाई?'' डॉली खुशी से चहकी।

मैं बोली, ''मुझे तुम्हारे आने का टाइम पता था, बस अभी ही गैस बंद की है।'' मैगी डॉली को बहुत पसंद थी। यहां तक कि जब विदा होकर वह ससुराल गई थी तो मयंक ने अपने हाथों से उसके लिए मैगी ही बनाई थी।

हम दोनों बहुत देर तक मयंक के बारे में, उसके आफिस, अपने स्कूल सभी के बारे में बातें करते रहे तभी कॉलबेल बज उठी ''पापा आ गए'' कहती हुई डॉली दरवाजे की ओर दौड़ी। दरवाजा खोलकर खड़ी हो गई। ''आज मैं पापा के लिए चाय बनाऊंगी।'' कहती हुई डॉली किचन में चली गई।''

''तुम भी कुछ काम करो आते ही उसे किचन में घुसा दिया और खुद आराम करने लगीं।'' इनकी बात से मैं चिड़चिड़ा उठी। ''मैंने नहीं भेजा है, वह खुद ही अपने पापा के लिए चाय बनाने गई है।'' तब मैंने इनके हाथ से पैकेट ले लिया और रोटी-सब्जी सब निकालकर कैसरॉल में रख दिया, जिससे खाना ठंडा न हो जाए।

पापा के साथ मेरी भी चाय लेकर जब डॉली कमरे में आई तो मुझे वही पहले वाली डॉली लगने लगी। लोअर और टाप पहने इधर-उधर फुदकती हुई डॉली।

आज उसके हाथ की चाय पीकर मन खुश हो गया। अपने हाथ की कैसी भी अच्छी चाय बनाओ पर उसमें वह स्वाद कहां जो बनी बनाई चाय में मिलता है। वह भी बिटिया के हाथ की।

तीनों लोग बैठकर बातें करते रहे फिर ये उठकर फ्रेश होने चले गए। मैंने सलाद काटा और फिर मेज पर खाना लगा दिया। मैं एक भी मिनट बरबाद नहीं करना चाहती थी।

ये खाना खाकर बोले ''मुझे कहां सोना है।'' ड्राइंग रूम की तरफ मेरा इशारा पाकर ड्राइंग रूम की तरफ चले गए। ''तुम मां-बेटी बातें करो, मैं तो सोने चला।'' कहकर ये अपनी तकिया लेकर ड्राइंग रूम की तरफ धीरे से चले गए।

रात में लेटने पर मैं यही सोच रही थी कि बात उससे हो जाए। वह मेरे कहने के मतलब को समझ ले।

तभी देखा डॉली मोबाइल में विजी है, उसने नेट खोल दिया था। किससे चैटिंग कर रही है मेरी

बिटिया? पूछने पर मुस्करा दी। ''मयंक से दिनभर बात नहीं हो पाई थी वह मीटिंग में बिजी थे इसलिए उन्हीं से थोड़ी बात कर लूं।'' मैं मायूस हो गई पर यह क्या? अकेले आकर भी मेरी बेटी अकेली नहीं है। वह तो मन से मयंक के साथ जुड़ी है। ठीक भी है आखिर वह उसका पति है। दिन भर के बाद उसका हाल-चाल तो जानना ही चाहिए।

अरे मेरा क्या? कल संडे है, दिन भर में या रात में किसी भी समय बात कर लूंगी।

सोचकर करवट लेकर लेट गई।

आज डॉली को यह भी होश नहीं था कि मम्मा मेरी तरफ मुंह करके लेटी है या नहीं।

दो तीन बार घूमकर देखा वह मोबाइल में ही बिजी थी। न जाने मुझे कब नींद आ गई।

सुबह नींद खुली तो देखा सात बज रहा था मैं झटके से उठ गई। तब देखा सामने से ये भी चले आ रहे थे। हाथ के इशारे से मैंने इन्हें बोलने से मना किया और ब्रश करने बाथरूम की ओर चली गई। आकर किचन में चाय बनाई और दो कप चाय लेकर ड्राइंग रूम में आ गई।

''कितनी रात तक दोनों मां बेटी में बातें हुईं?''

ये चुटकी लेते हुए बोले?

''अरे कहां डाली नेट पर मयंक से चैटिंग में बिजी थी। मैं भी थोड़ी देर जगी और फिर सो गई। वह पता नहीं कब सोई?''

''चलो कोई बात नहीं, आज तो दिनभर, रात भर वह तुम्हारे पास है, जितनी चाहना बातें कर डालना।'' यह बोले।

''हां यही मैंने भी सोचा था।'' मैं बोल पड़ी।

लगभग ग्यारह बजे डॉली सोकर उठी। हम तीनों ने फ्रेश होकर साथ में नाश्ता किया। आज उसके पसंद की सैंडविच बनाई थी।

तभी पड़ोस की भाभी जी आ गईं। कुछ काम था। एक घंटा उनके साथ बीत गया। फिर डॉली की पसंद की तहरी बनाकर मैंने किचन का काम खत्म किया। हम तीनों खाना खाकर निपटे तो डॉली बोली ''मम्मा मैं देर से उठी हूं, अब आराम नहीं करूंगी। जरा पास में अपनी दोस्त के यहां हो आऊं, उसने बहुत बुलाया था। कल ही उससे बात हुई थी। वह भी आज खाली है।''

''हां ठीक है।'' कहकर मैं उदास हो गई। फिर सोचा चलो ठीक है थोड़ी देर लेटकर मैं खाना जल्दी से बना लूंगी, तब तक डॉली आएगी, मैं अपना सब काम निपटा लूंगी। फिर हम दोनों बैठकर ढेर सारी बातें करेंगें।

डॉली चली गई। मैं इनके साथ दोपहर में सो गई। तभी कॉलबेल की आवाज से नींद खुली। कोई सेल्समैन था। मुझे कुछ नहीं चाहिए। कहकर मैंने दरवाजा बंद कर दिया।

डॉली को अपनी दोस्त के यहां से आते-आते सात बज गया। घुसते ही बोली, ''मम्मा मैं कुछ नहीं खाऊंगी। स्वाती ने बहुत खिला दिया। आंटी भी पीछे पड़ गईं फिर मुझे खाना, खाना ही पड़ा है। तुम गुस्सा तो नहीं हो।''

''नहीं, गुस्सा क्यों होऊंगी।'' कहते हुए मैं अपने आंसू छिपाती वहां से चली गई, कितने प्यार

से मैंने उसकी पसंद का खाना बनाया था। उस पर औरों का भी उतना ही हक है, जितना मेरा। सोचती हुई मैं किचन में आ गई।

हम दोनों ने खाना खाया। तब तक वह नेट पर ही बिजी रही। अपनी पुरानी दोस्तों से चैटिंग करती रही। सब काम निपटा कर जब मैं वापस बिस्तर पा आई तो मुझे कहना ही पड़ा, ''डॉली अब मोबाइल रख दो, मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं।''

डॉली आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगी, ''क्या मम्मा गुस्सा हैं?''

''बस दो मिनट,'' कहते हुए उसने मयंक को फोन मिलाया और थोड़ी सी बात करके फिर गुडनाइट कहके फोन रख दिया। फिर मेरी तरफ करवट लेती हुई बोली, ''हां मम्मा बताओ क्या बात है? कोई सीरियस बात?''

मैं बात किधर से शुरू करूं सोचते हुए बोल पड़ी, ''बेटा तुम दोनों की शादी को चार साल हो गए हैं बहुत मौज कर ली, अब आगे के बारे में क्या सोचा है?''

''आगे के बारे में मतलब?'' डॉली पूछ बैठी।

मैं सकपका गई।

''अरे बच्चे के बारे में कुछ प्लान किया? अब और देर करना उचित नहीं है।''

''छोड़ो मम्मा तुम भी क्या टॉपिक लेकर शुरू हो गईं। मुझे बच्चा नहीं करना।''

''बच्चा नहीं करना, क्या मतलब?''

''हां मम्मा मैं इस सब झंझट में नहीं फंसना चाहती। खूब कमाऊंगी, खूब ऐश करूंगी। कौन यह सब बवाल लेगा।''

''अरे हम लोगों ने क्या तुझे जन्म नहीं दिया, तेरा पालन-पोषण नहीं किया। हमारा सब कुछ तेरा ही है, फिर प्रापर्टी का क्या होगा?''

''अरे मम्मा तुम भी? खर्च करने के लिए बच्चा लाना कहां की अक्लमंदी है? अरे मैं ही सब खर्च कर डालूंगी, वर्ल्ड टूर करूंगी। जो बचेगा उसे गरीबों में बांट दूंगी।'' डॉली की बातें मेरे कान में गर्म शीशे की तरह पड़ रही थीं।

ये क्या हो गया है? आज की जनरेशन को। केवल अपने बारे में ही सोचती है। अपनी ही खुशी इनके लिए मायने रखती है। और किसी से कोई मतलब नहीं है।

समझाने की गरज से मैं फिर बोली, ''बेटा मयंक के बारे में तो सोचो उसे बच्चों से कितना प्यार है। उसका मन क्यों दुखाओगी? फिर तुमने शादी ही क्यों की थी?''

''मैंने शादी तुम लोगों की खुशी के लिए की थी।'' डॉली बोली ''मम्मा मयंक वही चाहता था, जिसमें मैं खुश रहूं। मैं जानती हूं वह कभी मुझे किसी काम के लिए फोर्स नहीं करेगा। वह यह भी जानता है कि अगर ज्यादा जिद करेगा, तो मैं उसे छोड़कर चली जाऊंगी।''

डॉली की बात सुनकर मैं सन्न हो गई। यह लड़की बचपन से जो कह देती थी, वह बात पत्थर की लकीर हो जाती थी। किंतु वह इतना बड़ा निर्णय केवल अपने स्वार्थ के लिए ले लेगी यह मैंने कभी नहीं सोचा था। मुझे मयंक पर दया आ रही थी, जिसने बचपन में ही अपने मां-बाप को एक

कार एक्सीडेंट में खो दिया था। आज यह लड़की उसे औलाद देने का हक भी छीन रही थी। मुझे खुद पर ग्लानि हो रही थी, क्या हमने उसे संस्कार देने में कुछ कमी कर दी थी। आज मुझे पछतावा हो रहा था। क्यों हमने एक बच्चे के पालने का निर्णय लिया था। क्यों हमेशा उसकी हर बात को पूरा करने को ही हमने अपना कर्तव्य समझा? शायद इसीलिए वह दूसरे के साथ कुछ शेयर नहीं कर पाती? यहां तक कि अपने बच्चे को भी जन्म देना नहीं चाहती। मैं कैसे समझाऊं? अब तो बहुत देर हो गई थी। अब उसके स्वभाव को बदलना हमारे वश में नहीं रहा। सोचते-सोचते मैं कब सो गई। पता ही नहीं लगा।

* * *

उपन्यास और कहानियां आज के जमाने में बहुत शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक साहित्य समझे जाते हैं। इनके लेखक का अपना एक जबर्दस्त व्यक्तिगत मत होता है, जिसकी सच्चाई के विषय में लेखक का पूरा विश्वास होता है। वैयक्तिक स्वाधीनता का यह सर्वोत्तम साहित्यिक रूप है। 'घासलेटी' लेखक ललकारे जाने पर या तो भाग खड़ा होता है या विक्षुब्ध होकर गाली-गलौज पर उतर आता है। वह भीड़ के आदमियों को अपनी नजर के सामने रखकर लिखता है। पर अपने प्रचारित मत पर उसे खुद विश्वास नहीं होता।

प्रेमचंद का अपना मत है जिस पर वे पहाड़ के समान अविचलित खड़े हैं। इस पर एक महागुण के कारण नाना विरोधों के होते हुए भी जैनेंद्र कुमार को साहित्य में अपना स्थान बना लेने से कोई नहीं रोक सका। उपन्यासकार है ही नहीं; यदि उसमें अपनी विशेष दृष्टि न हो और उस विशेष दृष्टि पर उसका दृढ़ विश्वास न हो। महत्वपूर्ण उपन्यास या कहानी केवल अवसर-विनोदन का साधन नहीं है। वे इसलिए महत्वपूर्ण होती हैं कि उसकी नींव मजबूती के साथ उन वस्तुओं पर रखी हुई होती है जो निरंतर गंभीर भाव से और निर्विवाद रूप से हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वंद्वों को प्रभावित करती हैं। हम उपन्याकार के रचना-कौशल घटना, विकास की चतुराई, पात्रों के सहज स्वाभाविक विकास की सच्चाई और अपने निजी दृष्टिकोण की ईमानदारी के कारण मनुष्य मात्र के साथ एकात्मैत: अनुभव करते हैं, दूसरों के दु:ख सुख में अपनापन पाते हैं, इस प्रकार हमारा ह्दय संवेदनशील और आत्मा महान बनती है।

- हजारी प्रसाद द्विवेदी

आलेख

विचारधारा और कहानी

पल्लव

यह कहानी का समृद्ध दौर है। अनेक नए कहानीकार परिदृश्य पर हैं और पुरानी समझी जा रही पीढ़ी के कहानीकार भी बराबर सक्रिय दिखाई दे रहे हैं। इंटरनेट से मुद्रित माध्यमों तक युवा कहानीकारों को लेकर बहुत चर्चा-बहस है। आलोचना को इसे बारीकी से देखे जाने की जरूरत है। हमारे देश में करीब बीस साल पहले भूमंडलीकरण और उदारीकरण की नीतियां लागू की गई थीं, यह साफ-साफ देखा जा रहा था कि अब व्यवस्था को विचारवान नागरिक नहीं बल्कि भरी जेब वाले उपभोक्ता चाहिए। साहित्य भी इन उपभोक्ताओं की जरूरत को पूरा करने वाला, गुदगुदाने वाला या कम से कम ऐसा कि जो परेशान तो न करे। साहित्य को वस्तु या उत्पाद बनाने की जिद भूमंडलीकरण की है और आश्चर्य नहीं कि इसके कुछ उदाहरण खोजने पर हिंदी में भी मिल जाएंगे। युवा कहानी के आगमन से पहले 'हंस' और कुछ पत्रिकाओं ने विमर्श के बहाने स्त्री और दलित अस्मिताओं के लेखन को भरपूर बढ़ावा दिया था। युवा कहानी अपने कारणों से इन अस्मितावादों का निषेध करती है। दूसरी बात यह कि यह भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के साथ बन-बढ़ रही पीढ़ी की कहानी है अत: यहां भूमंडलीकरण जैसा ही व्यापक चित्र बनता है जिसे हम ठीक ठीक एक फ्रेम में बंद नहीं कर सकते। इस दौर में जहां भाषा और कला के चमकदार प्रयोगों को लिख रहे कहानीकार हैं तो जीवन के संघर्षों से जूझ रहे लोगों के धैर्यपूर्ण वृत्तांत लिख रहे कथाकार भी। युवा कहानी का यह दौर रवींद्र कालिया के संपादन में निकल रहे 'वागर्थ' और फिर 'नया ज्ञानोदय' के विशेषांकों के मार्फत शुरू हुआ। ज्ञानरंजन के संपादन में आ रहे 'पहल' के आख़िरी अंकों और 'प्रगतिशील वसुधा', 'परिकथा', 'तद्भव', 'कथाक्रम' के विशेषांकों को भी इसका थोड़ा श्रेय देना अनुचित न होगा। कहानीकारों की यह पीढ़ी इन्हीं बीस सालों में युवा हुई है और कहना न होगा कि उनके वैचारिक धरातल पर भूमंडलीकरण के नए संस्कारों का गहरा असर है। इस पीढ़ी ने समाज में बदलाव तो देखे हैं लेकिन ये बदलाव दुर्भाग्य से प्रतिकूल बदलाव ही हैं और किसी आंदोलनकारी मिजाज से बिलकुल जुदा। इसी दौर में तकनीक का भारी दबाव हमारे जीवन पर आया है। ऐसा नहीं है कि तकनीक ने सब चौपट किया है बल्कि कई मायने में जीवन को आसान भी बनाया है लेकिन देखना होगा कि तकनीक भी अंतत: किसके पक्ष में है और क्या तकनीक से उन लोगों का कुछ भला

हो रहा है जिनके लिए साहित्य प्रतिबद्ध रहा है। इन्हीं बीते पांच-सात सालों में युवा कहानी का मौजूदा परिदृश्य तैयार हुआ और अब यह अपने पूरे उभार पर है। कोई भी साहित्य प्रेमी इसका स्वागत करेगा और इससे उत्साहित होगा। लेकिन आलोचना के लिए मुश्किल चुनौती है क्योंकि आलोचना लोकप्रियता के मानदंडों पर अपना काम नहीं करती, यदि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में वह सभ्यता समीक्षा है तो उसके लिए अप्रिय काम ज्यादा है। किसी भी रचनाशीलता के लिए आलोचना की पहली कसौटी है सरोकारों की पहचान। जो कथाकार सक्रिय हैं और कहानी लिख रहे हैं आलोचना की जिम्मेदारी है कि वह उनकी कहानी को अपने समय और समाज की चुनौतियों के बरअक्स रखकर उनके महत्त्व को स्थापित करे। यह काम आनन-फानन का नहीं बल्कि धैर्य और इत्मीनान का है। हम जानते हैं कि नई बाजार व्यवस्था और उपभोगमूलक सभ्यता में गति का बड़ा मान है, इंस्टेंट ग्रेटीफिकेशन-तुरंत फल प्राप्ति। आपने अभी फेस बुक पर एक कमेंट (वक्तव्य नहीं) जारी किया और बीस-तीस-पचास लोगों ने उसे पसंद किया और दस-बीस ने उस पर टीका-टिप्पणी की। साहित्य का व्याकरण इससे भिन्न होता है। यदि ऐसा साहित्य में होता या हो सकता होता तो समांतर कहानी आंदोलन कहानी ही नहीं साहित्य का सबसे बड़ा आंदोलन सिद्ध होता। आलोचना कृति को समय के साथ कायम रहते देखती है और उसके बदल रहे समय के साथ रिश्ते को भी देखती है। यदि आज महान नजर आ रही रचना चार साल बाद बेहद औसत लगे तो महानता का क्या औचित्य रह जाएगा? दूसरी बात बाजार की है, पत्रिकाएं हैं और अखबार भी, इनमें साहित्य की उपस्थिति कविता से कहीं अधिक कहानी के मार्फत होती है अर्थात कहानी का पाठक आज भी बड़ी संख्या में है। वृत्तांत की बुनियाद मनुष्य समाज की मानसिक संरचना में ही है इसीलिए कहानी पढ़ने सुनने में दिलचस्पी हमेशा बनी रहेगी। बाजार की नीयत मुनाफे में है इसके लिए वह छवियों को गढ़ता है अकारण नहीं कि इधर रचनाकार की उपस्थिति के नए ढंग देखे जा सकते हैं। बात अधिकाधिक पाठकों तक पहुंचे लेकिन बोलेगी बात ही हम नहीं। यही कारण है कि कहानी की युवा उर्वरता के इस दौर में कहानियों से ज्यादा कहानीकारों की चर्चा है। यह चर्चा साहित्य के भीतरी दबाव की अपेक्षा नायकत्व की खोज में लगी मालूम होती है। यहां विचारधारा की जरूरत मालूम होती है जो न केवल रचना को सही परिप्रेक्ष्य देने का काम करती है अपितु रचनाकार को भी जिम्मेदार, सजग और दृष्टिसंपन्न बनाती है। देखा जाए तो इस चकाचौंध के माहौल में ऐसे कहानीकार हैं या नहीं जो अपने लेखन में विचारधारा को गर्हित नहीं समझते। ऐसे लेखकों की रचनाएं क्या अपने समय और समाज का साक्ष्य बन सकी हैं अथवा नारेबाजी में ही तब्दील होकर रह गई हैं?

इस चर्चा में सबसे पहले मैं अनिल यादव की कहानियों का जिक्र करना जरूरी समझता हूं। अपने यात्रा वृत्तांत 'वह भी कोई देस है महराज' के लिए प्रशंसित यादव का पहला और एकमात्र कहानी संग्रह है- 'नगर वधुएं अखबार नहीं पढ़तीं।' जब हिंदी कहानी चकाचौंध रोशनी और बजबजाते वर्णनों से त्रस्त दिखाई पड़ रही है तब जीवन के धूसर मैदानों में पसीने में नहाते पात्रों को लाना वाकई बड़ी बात है। अनिल यादव इन कहानियों में जहां गरीबी और मजबूरी से जूझ रहे

निहायत मामूली लोगों के चित्र खींचते हैं वहीं इनकी गरीबी और मजबूरी के असल कारणों की तलाश के सूत्र भी इनमें मौजूद हैं।

'लोक कवि का बिरहा' उनकी कहानी शैली की उपलब्धि है जिसमें देहात से निकले बिरहा गाने वाले एक कवि के बहाने वे जातिवादी राजनीति, व्यवस्था की चालों और गांवों की भयावह जीवन स्थितियों को एक साथ प्रस्तुत करते हैं 'दंगा भेजियो मौला' में नदी किनारे के मोमिनपुरा का चित्र है जो हर बरसात में ढहता-बहता है। अल्पसंख्यकों पर फैशन में बात करने और एक सार्थक रचना का अंतर इस कहानी को पढ़कर महसूस किया जा सकता है। शीर्षक कहानी 'नगर वधुएं अखबार नहीं पढ़तीं' बनारस के मोहल्ले मडुआडीह की वेश्याओं पर लिखी गई है। लंबी कहानी का कौशल और कथाकार की बारीक बुनाई यहां दर्शनीय है। वेश्याओं का उपेक्षित संसार, उनकी जमीनों पर नजर लगाए भू माफिया और पांचवां स्तंभ मीडिया इस कहानी को हमारे समय का मार्मिक यथार्थ बनाते हैं। यह देखना भी कम रोचक नहीं कि नई दिशाओं का संधान करने में जुटी हमारे दौर की कहानी में हाशिए की ऐसी स्त्रियां कहां आ सकी हैं?

वस्तुत: अनिल यादव की उपलब्धि इस बात में है कि वे कथा प्रविधि का चयन बेहद सजगता से कर रहे हैं। नए जीवन के विद्रूप भी उनकी कहानियों में आए हैं लेकिन उनकी स्पष्ट पक्षधरता साहित्य को वाग्विलास बन जाने से रोकने वाली है। गांव की कहानी के लिए चरणसिंह पथिक जाने गए हैं। ज्ञानरंजन ने सबसे पहले उनकी प्रतिभा को पहचाना था। अपने पहले संग्रह के साथ ही उन्होंने कहानी के समकालीन परिदृश्य में एक ऐसे युवा कथाकार की छवि बनाई थी जो रोज-ब-रोज बदल रहे गांव की प्रामाणिक तस्वीर अपनी कहानियों में बताता है। उनका दूसरा संग्रह इस छवि को पुष्ट करता है क्योंकि इन कहानियों में उनके सरोकार अधिक पुख्ता हुए हैं। उनका कहानी लेखन अभ्यास नहीं, उपलब्धि बनने का प्रयास करता हुआ है। पिछले दिनों आया उनका दूसरा संग्रह 'पीपल के फूल' भूमंडलीकरण के दिनों में भारतीय गांव का रोचक और भीतरी चित्र प्रस्तुत करता है। ये कहानियां गांवों में व्याप्त जाति-वर्ण, भ्रष्टाचार और सामाजिक संबंधों में आ रहे बदलावों को लक्षित करने वाली रचनाएं हैं। विकास की मुख्यधारा से छिटक रहे भारतीय ग्रामीण जीवन की असमानता का ढांचा बरकरार रखने को उतारू शक्तियां एक ओर हैं तो अपने ही दबावों से चरमरा रहे संबंधों की परिणतियां दूसरी ओर। इनकी कथात्मक प्रस्तुति पथिक की कहानियों की बुनियादी संकल्पना है। दलितों के साथ हो रहे अन्याय अपमान का बोध कराते हुए वे 'चौकी' जैसी कहानी लिखते हैं तो मीणा-गुर्जर समुदायों के आपसी संघर्ष पर 'मूछें' जैसी बढ़िया कहानी भी। कभी कहानियों से मुस्लिम पात्रों के अलोप होते जाने पर चिंता जताई गई थी। पथिक की कहानियों में मुस्लिम पात्रों की आवाजाही इतने सामान्य और नामालूम ढंग से हुई है कि लगता नहीं कि ऐसे पात्र हमारी कहानियों में नहीं थे। 'वह अब भी नंगा है' प्रकाशन के साथ ही चर्चित हुई थी तथापि यहां उसके मुख्य चरित्र केदारी प्रजापत, करीम, लल्लू कंडेरा मिलकर बताते हैं कि सांप्रदायिकता असल में कृत्रिम और थोपी हुई आफत है। सामान्य जिंदगी में सबके सब आजीविका के संकट को तोड़ने में ही बेजार हैं। कहानी के अंत में लल्लू कंडेरा के बच्चे को एक जोड़ा अदद कमीज-हाफपैंट भी मयस्सर

न हो पाना हमारे तरक्की कर रहे देश के चेहरे पर बदनुमा दाग है। पथिक कहानी गढ़ने की बजाय अपने आसपास के परिवेश-घटनाओं को बीच में रखकर किसी व्यापक सचाई से उसका वृतांत रचते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी कहानियां अक्सर देखी, सुनी और भरोसेमंद लगती हैं। उनकी निजी प्रविधि की दो कहानियां संग्रह में हैं। 'फिरने वालिया' देहात में शोक प्रसंग के साथ भी आती जा रही प्रदर्शनप्रियता और कृत्रिमता को इस अंदाज से बताती है कि पाठक मुस्कुराए बिना नहीं रह सकता। इसी तरह दो बहनों की कहानी 'दो बहनें' में आई तकरार देखने योग्य है। इन बहनों की आपसी तकरार-खींचतान ऐसी सहज है कि दूरी हो जाने पर जब तकरार की गुंजाइश नहीं रह जाती तो वे बीमार-अन्यमनस्क हो जाती हैं। जैसे ही संवाद का सूत्र मिला -तू तू मैं मैं। जीवन की आपाधापी और लोभलाग में खींचतान का ऐसा स्वस्थ चित्र दिनों बाद कहानी में आया है।

पथिक दलित नहीं हैं और अस्मितापरक विमर्शवाद से उनकी सहमति भी नहीं दिखाई देती। 'कलुआ' एक दलित स्त्री की कहानी है जो अस्मिताई विमर्श की सीमा बताती है। गांवों में दलित उत्पीड़न की घटनाएं प्राय: रचना जगत् में आई हैं। यहां दलित स्त्री एक अनोखा काम करती है: अपनी भैंस के नर शिशु को पाढ़ा बनाती है ताकि गांव की भैंसों को 'बुआने' (गर्भाधान) के लिए दबंगों की खुशामद न करनी पड़े। आखिरकार पंचायत का फैसला है कि भैंसें यदि कोली पाढ़े से गाभिन होती हैं तो क्या भद्द न कुट जाएगी? कलावती का उत्तर है: 'पंचों का फैसला पंचों के ही माथे... ! कलुआ गांववाई न सही लेकिन इस बस्ती की कोई भी भैंस हो या दूसरी बस्ती की भैंस...कलावती के कलुआ के पास ले आना, कलावती एक धेला भी नहीं लेगी।'

प्रेम विवाह पर अंकुश लगाती खाप पंचायत और डरकर भाग रहे प्रेमी युगल को ठंडी गदुली में देखना ऐसा है जैसे पीछे की ओर जाना, लेकिन जब हमारे समाज में ऐसी पंचायतें और दस्तूर हैं तब इन कहानियों की प्रासंगिकता भला कैसे न होगी? पथिक भी कोई नया विकल्प नहीं दे रहे, पलायन ही इन प्रेमियों के लिए एकमात्र रास्ता है। वही राजनीति का लोलुप चेहरा प्रधानजी की कुतिया में दिखाई दे जाता है। कहानीकार की शक्ति इस बात में है कि वह गांव में बन रहे सभी वर्ग-जाति संबंधों को ठीक ठीक देख-समझ ही नहीं रहा बल्कि इनके कारण हो रहे बदलाव भी लक्षित कर रहा है। गांव अब 'राग दरबारी' से आगे की जटिलता प्राप्त कर चुका है और स्त्री-पुरुष संबंध भी यहां नए ढंग से बन-बिगड़ रहे हैं। 'पीपल के फूल' शीर्षक कहानी में पथिक ने कोशिश की है कि भूमंडलीकरण का प्रति-आख्यान गांव के प्रतीक-पहचान से रचा जाए। वे असफल तो नहीं हुए तथापि कहानी वैसी सहज-सुगम नहीं बन सकी। राजस्थान की बोलियों और लोक जीवन, खेती-धंधों से जुड़ी भाषा-कहावतों का प्रयोग हिंदी कहानी के लिए शुभ है। हिंदी की बोलियों का वैविध्य इसी रूप में भाषा को संपन्न करता है इसीलिए अपने खास रंगों और आकारों को लिए यह विविधता सचमुच प्रसन्नतादायक है। पथिक विचार और साहित्य के द्वैत को जरूरी नहीं मानते। कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि उनका स्वर संयत, गहरा और अर्थवान है।

अरुण कुमार असफल की कहानियां भी इधर चर्चित हुई हैं। 'पांच का सिक्का' उनका दूसरा कहानी संग्रह है जिसकी शीर्षक कहानी कई पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर प्रशंसित हो चुकी है। इस

नए संग्रह की पहली कहानी है – 'कंडम'। यह कहानी भूमंडलीकरण के बाद बदल रहे सामाजिक संबंधों के साथ-साथ कारपोरेट संसार की भीतरी सच्चाइयां भी बताती है। खास बात यह कि इसमें कहानी का संसार एक मजदूर के पक्ष से खुलता गया है जो पीडित है और अंततः नष्ट होते जाना उसकी नियति है। कहानी का सुंदर पक्ष यह है कि इस मुख्य पात्र के बहाने स्त्री-पुरुष संबंधों के नए स्वरूप पर भी लेखक की दृष्टि गई है। स्त्री का पक्ष कथाकार ने जिस मजबूती से उठाया है वह कहानी को बड़े आयाम से जोड़ देता है। यहां विमर्शवादी लेखन के समानांतर वैचारिक संपन्नता वाले लेखन पर बहस की जानी चाहिए। असफल इन कहानियों में बदल रहे संबंधों को बार-बार देखते हैं। इस कहानी को पढ़ते हुए गीत चतुर्वेदी की प्रसिद्ध कहानी 'पिंक स्लिप डैडी' याद आ जाती है और यदि इन दोनों कहानियों की तुलना की जाए तो मालूम हो सकता है कि विचारधारा से लेखन में क्या बदलाव आते हैं और रचना किस तरह मूल्यवान बनती है। उनकी दूसरी कहानियों यथा 'स्याही और तेल', 'पुरानी कमीजें' और 'गुल्लक' में भी संबंधों में आ रहे बदलावों को देखने-समझने की कोशिश है और बहुधा कहानीकार इस कोशिश में निरर्थक साबित नहीं होता, उसे इन्हें प्रभावी बनाने के लिए नकली उपादानों और अतिरंजनाओं की जरूरत भी नहीं लगती। उनकी कहानी 'पांच का सिक्का' समकालीन कहानी की उपलब्धि है। प्रगतिशील-जनवादी कहानी जिन क्लिशे में कैद हो जाती थी, उन्हीं सीमाओं से लड़कर असफल निहायत गरीब परिवार की कहानी लिखते हैं। मामूली कथा-प्रसंग के बावजूद लगभग पचास पृष्ठों की कहानी को वे कभी भी बोझिल या अरोचक नहीं होने देते। कहानी का मुख्य पात्र एक बच्चा निनकू और उसकी माई पाठक के अवचेतन में स्थायी जगह बना लेते हैं। अरुण कुमार असफल की नई कहानियां सहजता और सरलता के साथ नए समय की उलझनों को कहानी में व्याख्यायित कर सकी है। इस बड़े और व्यापक दृश्य की उपलब्धियां गिनने की जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए क्योंकि अभी यह दृश्य बन रहा है। यह बात कुछ युवा कहानीकारों के लिए उपलब्धिमूलक है कि वे किसी विचारधारा के आग्रह को स्वीकार नहीं करते लेकिन यह उपलब्धि जब विडंबना का रूप धर लेती है तब रचनात्मक विफलता का बोध होने लगता है। बाजार और उपभोक्तावाद को लेकर अभी भी दृष्टि बहुत साफ नहीं है और इसका कारण यह है जिस आकर्षण में आज का नागरिक है उसे गलत कहने का जोखिम उठाने के लिए जिस वैचारिक तैयारी की जरूरत होती है वह नहीं है। प्रेम इन कहानीकारों के लिए बेहद प्रिय और आकर्षक विषय रहा है जिसके बहाने सामाजिक व्यस्था के पिछड़ेपन और जाति-कट्टरता की बात भी हुई है। सामाजिक-पारिवारिक जीवन के भ्रष्टाचार की कहानियां जितनी इधर लिखी गईं उतनी वर्ग-भेद के उत्साह में भी नहीं थी। स्त्री पुरुष संबंधों के बारे में भी यह कहा जाना चाहिए कि खुलापन और बराबरी इसकी जरूरत है लेकिन खुलापन देह को वस्तु बनाने को तत्पर दिखाई दे तो भला किसे दोष दें? अकारण नहीं कि स्त्री विमर्श पर अनगिन रचनाएं लिखी जाने पर भी स्वतंत्र स्त्री का अदम्य और अकुंठित चेहरा एक पुराने कहानीकार के यहां ही आया है (महुआचरित-काशीनाथ सिंह)। युवा प्रयोगों में विश्वास रखते हैं और अपनी कहानियों में वे कोई भी जोखिम उठाने को तैयार हैं। देखना यह है कि सघन वैचारिक तैयारी की कितनी जरूरत वे अपने लिए महसूस करते हैं या केवल

सूचनाओं के उपयोग से ही कहानी को अपने समय की प्रतिनिधि रचनाशीलता बनाने का आत्मविश्वास उनके लिए पर्याप्त है। वहीं इन कथाकारों के लिए भी चुनौती है कि विचारधारा के क्लिशे से लड़कर ऐसी कहानियां संभव करें जो कला की कसौटी पर कहीं कम न हो।

* * *

हिंदी कहानी अपने जन्म से ही दो तरह की जिम्मेदारियां निभाती रही हैं। भारतीय नवजागरण के काल में, जब राष्ट्रीयता का उदय हो रहा था, हिंदी की प्रारंभिक कहानियां लिखी गईं। खड़ी बोली हिंदी गद्य का वह शुरुआती दौर भी था। राष्ट्रीय स्वातंत्र्य और राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पहचान की लड़ाई में हिंदी कहानी शुरू से ही शामिल हुई, जिसका निर्वाह वह आज तक जिम्मेदारी और साहस के साथ कर रही है। उसकी दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका है हिंदी गद्य के निर्माण में। हिंदी गद्य को उसकी संस्कृत-गर्भित बोझिलता एवं प्राचीनता से निकालकर जीवन की बदलती हुई सच्चाइयों के अनुकूल बनाना आसान काम नहीं था। काफी हद तक हिंदी-कहानियों की वजह से आज हिंदी गद्य रूढ़ न होकर लचीला, जीवंत, साफ-सुथरा, सहज होकर जीवन की जटिलता एवं अंतर्विरोधों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है।

हमारे देश में कहानी की परंपरा बहुत पुरानी है। हम कहानी शब्द से परिचित हैं। जन भाषाओं में कहनी शब्द का इस्तेमाल होता है। अपनी दादी या मां से आपने कहानी सुनी ही होगी। इस शब्द से ही स्पष्ट है कि अपनी भावनाओं, अनुभवों, विचारों एवं आदर्शों को घटनाओं एवं चरित्रों के माध्यम से कहने (सुनाने) की परंपरा उसी समय से है, जब मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया। सुख दु:ख को आपस में बांटने के लिए ऐसा किया जाता था। घटित जीवन और चरित्रों को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखने के लिए भी संभवत: आत्म साक्षात्कार और आत्माभिव्यक्ति का भी यह एक तरीका था। जीवन में जो कुछ सुंदर और शुभ है, उसको तलाशने एवं फैलाने का भी यह प्रयास था। जीवन और परिवेश से गहरा लगाव और जुड़ाव कहानी की जान है। कहानी एक मनुष्य, दूसरे मनुष्य या मनुष्यों के प्रति ऐसा संबोधन है जो आनंदित करता है और बुलंदी की ओर ले जाता है। इस अर्थ में सामाजिक उद्देश्य कहानी का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है। उस समय भी लोक-कथाओं, जातक कथाओं, नीति और बोध कथाओं, पंचतंत्र की कथाओं तथा पौराणिक कथाओं ने समाज को अनुशासित करने और तत्कादलीन आदर्श के अनुरूप समाज को ढालने का भी काम किया। बड़ी कुशलता से ये कहानियां बुनी जाती थीं। शुरू से आखिर तक ये बेहद रोचक होती थीं और अपने मंतव्य में स्पष्ट। जटिल-से-जटिल बात या सिद्धांत को भी बहुत ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया जाता था। वे ग्राह्य होती थीं और सुनने या पढ़ने वाले पर गहरा प्रभाव छोड़ती थीं।

- अमरकांत

कहानी

...प्लीज मम्मी, किल मी !

प्रेम भारद्वाज

मां ने बेटे की आंखों में अथाह दर्द को तैरते देखा... और वह सहसा काल में तब्दील हो गई।

उसके स्तनों से दूध के बजाय मौत की धारा फूट पड़ी... जवान बेटा मासूम शिशु बन उसके स्तनों को पूरी तन्मयता के साथ पीने लगा। इस बात से बेखबर होकर कि वह अपने अंत की ओर बढ़ रहा है।

एक ऐसी अभिशप्त कथा जिसमें न जिंदगी का नूर है, न मौत का स्याहपन। खुशी और गम के बीच कोई नामालूम सी चीज। क्या नाम दिया जाए उसे? शब्दकोश की शरण में निराशा मिली। गुरुओं ने इसे गैरजरूरी प्रश्न बताकर टाल दिया।

शब्द कितने लाचार होते हैं भावों को वहन करने में। शब्द से बड़ी व्यथा... व्यथा से भी बड़ी जिंदगी की हकीकत। जिंदगी फंसी है लाचार शब्दों की खोह में। कैसे? कुछ इस तरह... हाथ में ममता की खंजर लिए मां औलाद की हत्या करने के खतरनाक इरादों से लैस आगे बढ़ती जा रही है। समय के माथे पर पसीना आ गया... रिश्ते पारंपरिक-मर्यादाओं के बिल से निकलकर चूहे, सांप, बिच्छुओं की तरह इधर-उधर भागने लगे मानो कोई जलजला आने वाला हो... मृत्यु संविधान के खंडहर में किसी प्यासी रूह की मानिंद भटकती 'दर्शन' के मुंडेर पर जा बैठी... करीब ही जल रही एक चित्ता में भस्म होती देह... उससे उठता धुंआ हवाओं में फैलकर 'मुक्ति' लिख रहा था।

''मुझे बहुत दर्द हो रहा है मम्मी, बेइंतहा दर्द, और तुम इस बात को अच्छी तरह जानती हो कि मुझसे जरा भी दर्द बर्दाश्त नहीं होता।''

मां की नींद अचानक टूट गई। आंखें खोलीं। सामने बिस्तर पर उनका बेटा अचेत पड़ा था- राज वत्स। उम्र 30 साल। पिछले सात-साल से यूं ही लेटा है। अचेत। स्पंदनहीन। शायद चेतनाविहीन

भी। किसी लाश की मानिंद। अक्सर भ्रम होता है- सामने बिस्तर पर कोई लाश तो नहीं पड़ी है जिसे वह बेटे के होने के मुगालते में जी रही है। बेटा- जो है, और नहीं भी। डॉक्टर कहते हैं, इसका दिमाग जिंदा है, जिस्म सुन्न। लेकिन वे दिल के बारे में कुछ नहीं बताते हैं कि क्या वह सुख-दु:ख अनुभव करता है। मां के पास बोलने के लिए बहुत कुछ है। मन भरा है भाव से। न कहे गए शब्दों से। क्या मालूम यही स्थिति राज वत्स की भी हो। लाचारियों-विवशताओं के कब्रिस्तान में पड़ी दो लाशें...जहां सन्नाटा है...केवल सन्नाटा ही...दिलों को लहूलुहान करता। दो लोग महज एक मीटर के फासले पर। मगर कोई संवाद नहीं-दिन, महीने, साल। पूरे सात साल। दोनों के दरम्यान एक शब्द न बोला गया-न सुना ही गया।

यह सब कुछ उस युग में था जो बहुत वाचाल है। पृथ्वी के दो छोरों पर बैठे लोगों के बीच पल-पल संवाद स्थापित करने की अत्याधुनिक तकनीक उपलब्ध है। लेकिन मां-बेटे के बीच तने हुए दुर्भाग्य के वितान पर हर तकनीक विफल है। दिल के भीतर गहरे धंसे बेटे से मां की कोई बातचीत नहीं। दिल से दिमाग की दूरी पृथ्वी से अनंत अनाम ग्रह की दूरी बन गई जहां की रोशनी अभी भी पृथ्वी तक नहीं पहुंच पाई है। ऐसे में मां ने बेटे के साथ बातचीत का नया रास्ता ढूंढ लिया। वह अपनी आंखें बंद कर उसके सामने इजी चेयर पर बैठ जाती। फिर कल्पना करने लग जाती कि आज इस खास वक्त में वह उससे क्या कहना चाह रहा होगा? कई बार तो वह काल्पनिक और नहीं बोले गए सवालों का जवाब देने लग जाती। ऐसा भी हुआ कि उनको बड़बड़ाते देखकर डॉक्टर और नर्स भी पूछ बैठते 'किससे बात कर रही हैं आप? यहां तो कोई भी नहीं है।'

मां आंचल की कोर से चुपचाप आंसू पोंछने लगती। वो कैसे बताए कि इस कमरे में उसके अलावा भी कोई और है- उनका बेटा राज वत्स। क्या हम बोलते तभी हैं जब हम शब्दों को उगल रहे होते हैं? सच तो यह है कि जब हम चुप होते हैं तो उसी समय सबसे ज्यादा बोल रहे होते हैं। मामला सिर्फ सुनने और महसूसने के फर्क का है। इस फर्क को मां से ज्यादा और कौन जानता है? मां को बेटे की आवाजें सुनाई देती जिसे सिर्फ और सिर्फ वहीं सुनती थी... कभी कुछ पुराना पढ़ा याद आ जाता। काफ्का सबसे ज्यादा..।

क्या इस तकलीफ से निजात मिल सकती... डाल से हिलग गए फूलों से बिल्कुल अलग बर्ताव करना चाहिए...। कितना कष्टकर हूं मैं आपके लिए... आप कितने बरस मेरे साथ यों ही रहेंगे?

शाम को मां अक्सर अस्पताल का मुआयना करने निकल जातीं। अलबत्ता ये कहना बेहतर होगा कि वे अस्पताल की बीमार जिंदगियों से रू-ब-रू होने जातीं। दूसरों को गमजदा देखकर खुद का गम कुछ हल्का हो जाता है मगर मां का नहीं हो पाता। अस्पताल से बड़ी कोई अध्ययनशाला नहीं ...हर मरीज एक अफसाना...जिंदगी का एक दर्दनाक किस्सा। दर्द का पाठ आत्मा को शुद्ध करता है लेकिन यहीं प्रश्न खड़ा होता है-आत्मा क्या है? क्या वही जो गीता में कृष्ण ने बताया है। मां को लगता, महाभारत और गीता एक कथा कहानी के सिवाय कुछ नहीं है। महज तर्क का जंजाल। अपनी बात को प्रमाणित करने की जिद। युद्ध, स्वार्थ, सत्ता और हिंसा को जायज ठहराने की झूठी मगर मजबूत दलील। जिसे धर्म-अध्यात्म की चाशनी में लपेटकर पेश किया गया है...हिंसा मनुष्य

विरोधी है। वह किसी भी स्थिति में जायज नहीं हो सकती? क्या किसी को तकलीफ देना हिंसा नहीं है? किसी को तकलीफ सहते मूकदर्शक बन देखते रहना भी क्या हिंसा की परिधि में आता है? रूह को अजर-अमर बनाने वाले ने जिस्म के साथ इतनी नाइंसाफी क्यों की? जिस्म बीमार होगा, जर्जर होगा और एक दिन सब कुछ भस्म। अजब है ईश्वर का दस्तूर। आत्मा तो किसी को कभी दिखाई नहीं देती। उसके होने पर यकीन करना भी कठिन है। सामने मौजूद तो जिस्म ही होता है।

मां के सामने भी एक जिस्म है। उसके ही वजूद का हिस्सा। वह उसको जिंदा माने या मुर्दा..मां का दिल उसको जिंदा मानने के मोह में फंसा है...लेकिन एक बदमाश दिमाग है जो अक्सर सामने पड़े जिस्म के जीवित होने पर सवाल पैदा करता रहता है।

चलती सांसों का नाम ही अगर जिंदगी है, तो वही सही। बेटे की सांसें बेशक चलती हैं... लेकिन निगाहें न कुछ देखती है, न पहचानती हैं। लाचार सांसें, बेजान धड़कनें...पथराई आंखें।

''क्या सोच रही हैं आंटी।'' बंद कमरे में वह इस सवाल के साथ दाखिल होती है। जस्सी नाम है उसका। केरल की है। उम्र 35 साल। अपनों के नाम पर केवल बूढ़ी मां जो अक्सर बीमार रहती है। शादी इस वजह से नहीं की कि अगर पति मां को साथ रखने को राजी नहीं हुआ तो वह कहां जाएगी बुढ़ापे में?

''कुछ नहीं बेटी, आओ!'' मां की तंद्रा टूटी।

''कितनी बार समझाया आंटी, जब लाइफ के बारे में कुछ समझ में नहीं आए तो सब कुछ ऊपर वाले के भरोसे छोड़ देना चाहिए?''

''सात साल में भरोसा बचा नहीं रह जाता बेटी!'' मां ने गहरी सांस छोड़ी।

जब भी जस्सी को मौका मिलता, वह मां से मिलने चली आती। उसके साथ क्या रिश्ता है, यह मां समझ नहीं पाती। शायद दर्द के भी रिश्ते होते हैं।

''आज आंटी बहुत सैड है।'' मुस्कुराई थी जस्सी। किसी के लिए भी बहुत कठिन था अस्पताल के उस कक्ष में मुस्कराना जहां जिंदगी ठहर सी गई थी। दिलासे जहां खुदखुशी कर लेते थे, प्रार्थनाएं अपाहिज हो जातीं थी, मरहम अपना मकसद भूल जाते थे। ये तो जस्सी का हौसला ही था जो वहां दो जिंदा लाशों के बीच मुस्कुराने की जुर्रत कर लेती थी। मां बुरा भी नहीं मानती। अलबत्ता उसको जस्सी का इंतजार रहता।

''मां कहा करती है-गॉड पर भरोसा नहीं छोड़ना चाहिए। दु:ख उसी को मिलता है जिनको गॉड लव करता है। क्या जीसस ने कम दुख झेले।'' जस्सी अपनी धुन में थी।

''जीवन की सच्चाई किताबों और कथा-कहानियों से बाहर होती है जस्सी!''

''आज तुम ज्यादा डिप्रेस हो आंटी,-मगर घबराओ मत, आज हम तुम्हारे बेटे के लिए प्रेयर करेगा-सब ठीक हो जाएगा।''

''अफसोस कि मेरा बेटा तुम्हारी प्रार्थनाओं की हद से बाहर आ चुका है।'' लरजता स्वर। आंखों में आंसू, जिसे जस्सी ने आगे बढ़कर पोंछा। न जाने क्या सोचकर मां जस्सी के सीने से लग फफक-पड़ी-''बेटी, कोई इम्तहान इतना बड़ा होता है क्या?'' जस्सी ने मां को रोने दिया। मन के भीतर

जमा गुबार था जो आंसुओं के रूप में बाहर आ रहा था- कतरा-कतरा।

वह पैरों में पंख लगाकर दौड़ता था। उसके हर डग में सदियों की कोशिश छिपी होती। वह दौड़ता था। बहुत तेज। दुनिया के एक छोर से दूसरे तक दौड़ते हुए पहुंचने का जोश। धीरे चलने वाले लोग उसे बिल्कुल पसंद नहीं। स्लोनेस के विरुद्ध थी उसकी जीवन शैली, सोच, दर्शन, दलीलें। सब कुछ। कहा करता- 'रफ्तार ही जीवन है'। शोले के गब्बर वाले अंदाज में-'जो ठहर गया, समझो वो मर गया।'

रेल यात्रा के दौरान अगर एक मिनट के लिए भी ट्रेन रुकती और अगर वह जाग रहा होता तो उतरकर प्लेटफॉर्म पर टहलने लग जाता। अगर प्लेटफार्म नहीं है तो पत्थर की गिट्टियों पर, जमीन पर। लेकिन नीचे उतरकर सिग्नल होने तक टहलता जरूर। रुकना पसंद ही नहीं था उसे।

मां अक्सर उसे चेताती, ''बेटा ऐसे हर जगह नहीं उतरा करते..कभी ट्रेन आगे चली जाएगी-तुम पीछे छूट जाओगे।''

बद्दुआ नहीं दी थी मां ने लेकिन वह चेतावनी बद्दुआ में ही तब्दील हो गई। जिंदगी की ट्रेन आगे निकल गई। राज पीछे छूट गया-बहुत पीछे।...जिसे रफ्तार का नशा था, उसकी जिंदगी ठहराव का प्रतीक बन गई। किसी पत्थर के बुत की मानिंद। फर्क सिर्फ इतना है-राज के भीतर दिल धड़कता है-क्या पता संवेदना भी महफूज हो?

मां रो रही है। सामने बेटे को हसरत भरी निगाहों से देखते हुए। कमरे में टीवी चल रहा है। ओलंपिक का लाइव शो। सौ, दो सौ और चार सौ मीटर की दौड़ में भारतीय धावक पीछे रह गए-खाली हाथ। 'देखना मैं फर्राटा दौड़ में ओलंपिक से गोल्ड मेडल लेकर लौटूंगा- आकर तेरे ही गले में पहनाऊंगा उस मेडल को। इस धरती पर तूने ही तो मुझे कुछ चलना-दौड़ना सिखाया है। तू मेरी पहली कोच।'

जिंदगी में अनगिनत सवाल। मगर दो अहम। पहला। इस पूरी कायनात में मेरा वजूद क्या है, कौन हूं मैं? दूसरा जो मैं नहीं हूं, वह दरअसल है क्या? अस्पताल में अलग-अलग चेहरे। हांफते लड़खड़ाते-रोते बिलखते। अलग-अलग दु:ख। किस्से। अफसाने। दु:खों का कोलाज। गडमड खयालात। फिल्म 'वेटिंग फार गोदो' का दृश्य।

खंडहर में आती आहटों को सुनकर बेटे का इंतजार कर रही मां को लगता है-वह आ गया जिसकी उससे प्रतीक्षा थी। कभी-कभी वह भ्रम का शिकार हो जाती है-आखिर वह इंतजार कर किसका रही है? बेटे के ठीक होने का जो संभव नहीं है। शायद नामुमकिन की हद तक मुश्किल। या फिर उसकी मौत का जो पीड़ा से मुक्ति का द्वार खोलेगी। क्या कोई मां अपने बेटे की मौत का इंतजार कर सकती है। जर्जर काया, बीमारी के दलदल में धंसी जिंदगी, नरक की सी यातना..एक लापता उम्मीद का इंतजार। मां को कई बार लगता, जो जीवन जिया, वह निरर्थक था। हम सब मरे हुए हैं। यह मृत्युबोध कुछ लोगों के लिए प्रतिकार भी है। स्मृति, आवांगर्द, फंतासी, न्यूडिज्म, अतियथार्थ और निहिलिज्म के दरम्यान उलझी जिंदगी। उसको अपने ही कंधों पर अरथी की तरह ढोते लोग। अजीब दृश्य। अपने ही कंधों पर खुद की अरथी।

सहसा ही मां का हाथ अपने कंधे पर चला जाता है। इस बात का यकीन करने के लिए कि उसके कंधे पर तो कोई अरथी नहीं है। सोचों की दिशा बदलती है। शरीर के साथ जुड़ी कामनाओं का सच क्या है? शरीर के न रहने पर भी कामनाएं रहती हैं...वे अनादि हैं। सपनों के वास्ते। लड़ने-भिड़ने के लिए कामनाओं का होना जरूरी है।

एक सवाल मां को परेशान कर गया। क्या ऐसा नहीं है कि मनुष्य के जीवन की शुरुआत और उसका अवसान दोनों ही इच्छाओं से संचालित होते हैं। इच्छाएं भी हिंसक हुआ करती हैं। कई बार इसकी चपेट में वे अपने आ जाते हैं जिनको हम बेहद चाहते हैं। कुछ मामलों में अगर हम इच्छा की जगह प्रेम को रख दें तो ज्यादा फर्क नहीं पड़ता।

स्वाति नाम था उसका। सबको लगा था वह राज वत्स को प्रेम करती है। राज को रफ्तार से प्रेम था। स्वाति को राज से। राज कम से कम समय में दौड़कर दुनिया को लांघ लेना चाहता था। स्वाति राज को ही बांहों में भरकर दुनिया को अपने भीतर उतार-लेना चाहती थी। तब जीवन में आने वाले मझदार और भंवर का इल्म नहीं था उसको।

राज जब मुर्दा सा बिस्तर पर लेटा था। तब बहुत रोई भी स्वाति। बिलख-बिलख कर। प्रथम झटका था वह लगा जैसे उसकी दुनिया ही लूट गई। दो साल तक दोस्त आए। तीन साल तक रिश्तेदार। स्वाति इनसे ज्यादा महान निकली। वह चार सालों तक यहां आती रही-।

तीन साल पहले जब स्वाति मिलने आई तब उसके चेहरे पर दु:खों का कोई भाव नहीं था। भावविहीन चेहरा। एकदम सपाट। वह आकर चुपचाप बैठ गई। खामोश। कई पल यूं ही सरकते रहे। पहल मां ने की ''कैसी हो? बहुत दिनों बाद आई हो-शायद छह महीने बाद।''

''यहां आने के लिए हिम्मत जुटानी पड़ती है आंटी! राज की हालत देखकर लगता नहीं कि यह कभी ठीक भी होगा। सच तो यह है कि हालात के तपते रेस्तिान में प्यार भी सूखने लगा।''

''रेगिस्तान की क्या हस्ती कि वह प्यार के फूल को मुरझा दे।''

''किस जमाने की बात कर रही हैं आप। यह देवदास नहीं, देव डी का जमाना है। प्रेम के लिए खुद को तबाह करना पागलपन और मूर्खता है - मैं पागल नहीं हूं।''

''बिना पागलपन के प्रेम कैसा।''

''मेरे जैसा-''

मां सन्न रह गई स्वाति का जवाब सुनकर। कुछ समझी, बहुत कुछ नहीं भी। कुछ देर की चुप्पी। आंखों ने आंखों से बातें कीं। स्वाति जाने से पहले एक कार्ड राज के सिरहाने रख गई। फिर वह तेजी से मुड़ती हुए कमरे से बाहर चली गई- वह स्वाति की शादी का कार्ड था। 16 अप्रैल को शादी है। कार्ड में एक खत भी था।

मां ने खत पढ़ना शुरू किया।

डियर राज,

हर रिश्ते की एक उम्र होती है। हमारे रिश्ते की भी थी शायद। वह मेरे शादी के इस पैगाम के साथ खत्म हो रही है। दस सालों का रिश्ता। दु:ख तो होता है-मगर किया भी क्या जा सकता है। मैं

सावित्री नहीं जो तुम्हारे लिए यमराज से लड़ जाऊं। मेरे सपने हैं–अरमान भी। उन्हें मुझे पूरे करने हैं। जीना तो पड़ता ही है। मैं कोई माफी नहीं मांगने जा रही। तुम नियति के आगे लाचार हो। मैं अपनी महत्वाकांक्षाओं के आगे। गलती किसी की नहीं। सच कहूं तो तुमसे बिछड़ने या बेबाक ढंग से कहें तो तुमको मझदार में छोड़ने, बेवफाई करने का मुझे दु:ख है। मैं तो तुम्हारे साथ मझदार में डूबना चाहती थी। लेकिन हिम्मत नहीं जुटा पाई। बड़ी खुशी के लिए छोटे दु:ख तो झेलने ही पड़ते हैं। क्या पता जिसे रोशनी समझ तुम्हारे अंधकार से निकल रही हूं वह रोशनी अंधकार से भी बदतर हो। रोशनी का भी अंधेरा होता है। बहरहाल, साहिर का वह गाना तो याद होगा 'वो अफसाना जिसे अंजाम तक ले जाना न हो मुमकिन, उसे एक खूबसूरत मोड़ देखकर छोड़ना बेहतर।' तो बेहतरी के लिए ही अलविदा। जो मोड़ खूबसूरत नहीं।

स्वाति।

पुनश्च: मैं जानती हूं तुम इसे पढ़ नहीं सकते, सुन भी नहीं सकते मगर मैं चाहती हूं इसे तुम्हारी मां पढ़कर सुनाए, मुझे अच्छा लगेगा। न जाने क्यों मुझे यकीन है मेरी भावनाएं तुम तक पहुंच जाएंगी।

स्वाति की इच्छा का पूरा सम्मान करते हुए मां ने वह खत ऊंचे स्वर में पढ़कर सुनाया। फिर गौर से बेटे की ओर देखा...प्रतिक्रिया जानने के लिए। कोई भाव नहीं। सिर्फ शून्य। महाशून्य। ऐसा क्यों होता है, जिसे दर्द भी बर्दाश्त नहीं होता उसके लिए ही सितम का अंतहीन सिलसिला नसीब बन जाता है।

बगल के कमरे में हेम भर्ती है। पत्रकार है। बहुत संवेदनशील। सच्चा। दुनिया में अकेला है। इसलिए अपनी ही धुन में रहता है। मां की इच्छा हुई, उससे मिला जाए। दो दुखी लोगों का मिलना ही जख्मों का मरहम बन जाता है। जख्म भरे या नहीं, थोड़ी राहत जरूर महसूस होती है।

हेम शायद बाथरूम में था। दरवाजा खुला था। और उसके बिस्तर पर एक डायरी भी। पहली पंक्ति ही 'बीमारी' से शुरू हो रही थी। मां उसे पढ़ने की इच्छा का संवरण नहीं कर पाई। लिखा था– आदमी बीमार है या समय ही बीमार हो गया है, जिसकी नब्ज पर हाथ रखने वाला कोई नहीं। कोई बताने वाला नहीं कि इस दर्द की दवा क्या है–समय का अर्थ इस देश से भी लिया जा सकता है। देश की सेहत बहुत अच्छी नहीं है। वह किसी अस्पताल, किसी ट्रामा सेंटर, बिस्तर पर नहीं पड़ा है– मगर है बीमार। किसी को फिक्र नहीं। इस देश में कोई चीज अपनी जगह नहीं...। रोटी चाहिए, वह नहीं, इंसाफ की सांसें फूल रही हैं। ईमानदारी कोमा में, मौत का कोई भी पल हो सकता है–। सच्चाई को कैंसर हो गया है–उसे मरने से कोई नहीं बचा सकता। आजाद देश में सब आजाद हैं–लेकिन हकीकतन हर कोई अपनी ही आजादी का गुलाम बन गया है। यह नए ढंग की गुलामी है जो गुलामी लगती भी नहीं और जो हालात हैं उसका मतलब आजादी होता नहीं। अरुणा शानबाग को इच्छा मृत्यु की इजाजत नहीं जिसके मरने पर रोने वाला कोई नहीं। जिसके न जीने का मतलब है, न मरने का। वैसे भी जिनके सपने मर जाते हैं उनके धरती पर बने रहने का कोई औचित्य रह नहीं जाता।

बाथरूम का दरवाजा खुलता है। होंठों पर मुस्कान फैल जाती है- ''अरे, आंटी कब आई?''

''तुम्हारी डायरी बिना तुमसे पूछे पढ़ रही थी।'' मां ने उस प्रश्न का उत्तर देना जैसे मुनासिब नहीं समझा।

''यह डायरी नहीं, सच्चाई का दस्तावेज है।''

''इसमें व्यक्ति नहीं समाज और देश है''

''जमीन से जुड़े लोगों की सोच आसमान जैसी होती है।''

''और उनका क्या जो जमीन में धंसते ही नहीं, उसमें दफन हो जाते हैं...जो कहीं किसी को दिखाई भी नहीं देते।''

''नियति। अपना-अपना नसीब।''

''नहीं मानता नसीब को-तकदीर से तदबीर बड़ी होती है।''

''मुझे देखकर भी क्या यही बात तुम दावे के साथ कह सकते हो-''

''आंटी, आप मेरे लिए एक ऐसा प्रश्न हैं जिसका मैं उत्तर ढूंढ नहीं पा रहा हूं....।''

''ये तुम्हारे पेशे का दोष है..तुम पत्रकार लोग सवाल बहुत उछालते हो--बड़ा आसान होता है सवाल करना। जब उसका जवाब तलाशना पड़े तो पता चलता है जवाब की खोज में गौतम को बुद्ध बनना पड़ता है।''

सांसों की डोर से बंधे शरीर को घसीटना नरक की यातना झेलने सरीखा होता है। मां को अस्पताल से बाहर अक्सर एक कुत्ता दिखाई देता है। उसकी पिछली टांग टूटी है...सिर पर एक बड़ा घाव... मवाद से भरा... वह चल नहीं पाता। बमुश्किल रेंगता है...उस कुत्ते को जीवित नहीं कहा जा सकता। मरा भी नहीं माना जा सकता...मां को उस पर तरस भी आता है। उसका कोई इलाज क्यों नहीं करता? वह जिंदा ही क्यों है? मर क्यों नहीं जाता? मां ने उस कुत्ते की आंखों को बहुत गौर से देखा है- तकलीफ से लबरेज। मुक्ति की चाहत से भरी बुझी-बुझी थकी आंखें। वह घायल और लाचार कुत्ता खुद मरने की जुगत भी तो नहीं कर सकता? फिर ऐसा ही हुआ कि बिस्तर पर पड़े राज के चेहरे को गौर से देखते हुए अचानक उस मरियल घायल कुत्ते की बेबस आंखें दिखाई देने लग जातीं। दर्द से मुक्ति की चाहत लिए। किसी ने कहा- संजय लीला भंसाली की फिल्म 'गुजारिश' आई है जो इच्छा-मृत्यु पर आधारित है। उसे लगा, यह फिल्म उसे देखनी चाहिए। वह गई भी। फिल्म को देखते हुए वह बहुत रोई थी। ईश्वर क्या वाकई जादूगर है। क्या जादू का मतलब मनोरंजन होता है? ऐसा जादू किस काम का जो किसी के हित में न हो? लोककथाओं की तरह कोई जादूगर उसको मिल जाता, जो उसके राज को ठीक कर देता।

रोते-रोते मां को कब नींद आ गई पता ही नहीं चला। मन का द्वंद्व स्वप्न में ढल गया। राज उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा है। आंसुओं से भरा चेहरा। उसकी जुबान से ही नहीं पूरे वजूद से एक फरियाद फूट रही है-''मां, तू इतनी स्वार्थी क्यों हो गई है? मुझसे अब बर्दाश्त नहीं होता। लाश की तरह तेरे सामने पड़े रहना सहन नहीं होता-हर पल तुझे रोते देखना भी असहनीय हो चला है। मोह से बाहर निकल। मोह से बड़ा स्वार्थ दुनिया में कुछ नहीं।''

''तू चाहता क्या है?''

''मुक्ति।''

''किससे?''

'दर्द और बेशक इस देह से।''

''मुझे क्या करना होगा?''

''मैं लाचार हूं। तू तो नहीं-। प्लीज मम्मी किल मी-किल मी मम्मी,-प्लीज!''

''नहीं-नहीं-नहीं-!''

सपना टूटता है। सामने राज अचेत लेटा है-जैसे पिछले सात सालों से। वह आगे बढ़कर उसकी करवट बदलती है। सपने की बातों को झटकने की कोशिश। लेकिन यह सपना उसे बार-बार आने लगा। रोते बेटे की एक ही गुजारिश 'प्लीज मम्मी किल मी'। कुछ समय बाद ऐसा हुआ कि यह फरियाद जागते हुए भी दिमाग की दीवारों पर दस्तक देने लगी। कहीं राज यही तो नहीं चाहता, क्या मालूम उसकी यही इच्छा हो।

दिल पर पत्थर रखकर उसने बेटे की इच्छामृत्यु की याचिका अदालत में दाखिल की। महीने भर बाद इच्छामृत्यु को अपराध और समाज हित में अनुचित बताते हुए अदालत ने अपील ठुकरा दी। मां परेशान। सोचने लगी। किसी जमाने में इच्छामृत्यु का वरदान मिलता था कठिन तपस्या के बाद। मगर आज वह अपराध है। मरने का अधिकार नहीं। जीने के हालात नहीं। इन दोनों के बीच फंसी जिंदगी। कानून की जटिलताएं। आत्महत्या और इच्छामृत्यु एक नहीं। भले ही दोनों में मृत्यु का वरण है। अदालत के सामने दो मुद्दे। जीवन के अधिकार को कानूनी मान्यता। इच्छामृत्यु भी आत्महत्या के दायरे में। आत्महत्या अपराध है, इस आधार पर इच्छामृत्यु की इजाजत नहीं दी जा सकती।

परेशान मां बगल के कमरे में चली गई-हेम के पास। वह उसे देखकर मुस्कराती है।

''जब दर्द हद से गुजर जाए तो वह किसी आवरण से नहीं ढक पाता...मुस्कराहट से भी नहीं।'' हेम बोला।

''अदालत ने मेरे बेटे की इच्छामृत्यु की अपील ठुकरा दी है। कहा है, मरण का वरण अपराध है।''

''गलती अदालत या व्यवस्था की नहीं, हमारी है आंटी।''

''मतलब!''

''अगर मरण का वरण अपराध है तो हम महामूर्ख हैं जो अपराध करने की इजाजत उस व्यवस्था से मांग रहे हैं जो सबसे बड़ी अपराधी है। भूख से मरते लोग, लू, शीत लहर और बाढ़ में मरते लोग-साल-दर-साल विदर्भ में लाखों किसानों की खुदकुशी। कौन है इन मौतों का जिम्मेदार। अकबर का एलान-'सलीम तुम्हें मरने नहीं देगा.. और हम अनारकली तुझे जीने नहीं देंगे'...पता है आंटी, 1984 के दंगे में 4 हजार लोग, 2002 के दंगों में भी हजारों मारे गए। इस देश में जो ईमानदार हैं उन्हें भ्रष्टाचार मारता है- हर रोज, हर जगह।''

''मेरे सामने देश का बदरंग मानचित्र मत रखो- साफ-साफ बताओ मैं अब क्या करूं?''

''आप तो उस राह पर चल पड़ी हैं जिस पर चलने की हिम्मत आज तक किसी मां ने नहीं की होगी। एक मां अपने बेटे की मौत की फरियाद कर रही है। दरअसल, आप उस मकान में रहने को अभिशप्त हैं जो बंद गली का आखिरी मकान है- आगे का रास्ता बंद है। कहीं लिखा नहीं है मगर मान लीजिए....।''

''कोई भी रास्ता पूरी तरह से बंद नहीं होता। अंधेरे में भी चल पड़ो तो रास्ता खुद-ब-खुद निकल आता है।''

''क्या करेंगी आप?''

''अंधेरे में चलूंगी।''

''यानी?''

''मैं राष्ट्रपति के पास अपील करूंगी।''

''उसी राष्ट्रपति के पास जिनके पास पहले से ही कई आतंकवादियों और खूंखार अपराधियों की दया याचिकाएं सालों से सड़ रही हैं। फांसी को उम्र कैद में बदलने की मांग। वे मृत्यु से बचना चाहते हैं। इसलिए फरियाद की है। आपको बेटे की मौत चाहिए। मंजूरी किसी को नहीं। बहरहाल परसों मैं इस अस्पताल से डिस्चार्ज हो रहा हूं। अब वही रिपोर्टिंग। घूम-घूमकर लोगों से मिलना। आपको अपनी कुछ रिपोर्टिंग मेल करूंगा।''

ऐसा पहली बार हुआ कि हेम की बातें मां को अच्छी नहीं लगीं। शायद दूसरी तरह की अपेक्षाएं रही होंगी। उजालों की उम्मीद ने अंधेरे को और गहरा कर दिया। सब कुछ जब्त करती हुई वह बेटे के पास लौट आई।

दो महीने बाद वह राष्ट्रपति के सामने थीं। बेटे की इच्छामृत्यु के साथ। संयोग से राष्ट्रपति महिला थीं, एक तीखा सवाल, ''क्या ये आपका अपना बेटा है।''

''जी।''

''ऐसा होता नहीं है।''

''मगर है-''

''हैरत। दुनिया का आठवां नहीं पहला आश्चर्य। मां मैं भी हूं-पता नहीं इसे आपका साहस कहूं, पागलपन या कुछ और। मां की ममता तो नहीं कह पाऊंगी।''

''आप जहां खड़ी हैं वहां से मेरा दर्द नजर नहीं आएगा। कुछ भी कहिए, मुझे कोई एतराज नहीं। हाथ जोड़कर यही विनती है कि मेरे बेटे को मौत बख्श दें।''

राष्ट्रपति कुछ नहीं बोलीं। आंखों में हैरत। हैरत में नमी। नमी में पता नहीं कैसे-कैसे तैरते भाव। उनमें से एक मां की ममता को कटघरे में खड़ा करने का भाव भी। कानून अपने ढंग से काम करता है। व्यवस्था की अपनी चाल होती है। इनके बीच जकड़ा आदमी अपनी बदहाली को नियति मानने को मजबूर। मां का अथक संघर्ष जारी था। वह उस चौखट से टकरा रही थी जहां से उसे कुछ हासिल होना मुश्किल था। मंदिर-मस्जिदों में उसने जाना बहुत पहले ही छोड़ दिया था। ईश्वर पर भरोसा भी नहीं रहा। जो इतना क्रूर, तटस्थ, संवेदनहीन और लाचारी का बुत बना हो वह हमारे देश की सरकार

या व्यवस्था तो हो सकती है ईश्वर नहीं, मां ऐसा सोचती। लेकिन क्या किया जाए कि वे इन्हीं पत्थरों में संवेदना की नमी भी ढूंढ़ रही थीं। कानून की मोटी किताबें, घुमावदार उलझी परिभाषाएं, धाराएं, इन सबके बीच वह अपने लिए जगह तलाश रही थीं।

वह वहां खड़ी होकर चीख रही थीं जहां बोर्ड पर लिखा था–'यहां आवाज करना मना है' जो कि होना ही था। राष्ट्रपति ने उसके बेटे की इच्छामृत्यु को मंजूरी नहीं दी। एक टिप्पणी जड़ दी –'हमारी संवेदना आपके साथ है लेकिन क्रूरता की इजाजत देना संभव नहीं।'

बेहद गुस्सा आया था मां को। कैसी संवेदना? कैसा साथ? क्या क्रूरता कई बार बदली हुई परिस्थितियों में अपनी परिभाषा के बाहर नहीं आ जाती। प्रसव वेदना से गुजरना भी असहनीय दर्द को झेलना होता है। बहुत तकलीफदेह। क्या उसे भी क्रूरता कहा जा सकता है जो पति और बच्चा देता है। नहीं, यह पीड़ा मुक्ति का द्वार खोलती है–बच्चा गर्भ के अंधेरों से निकलकर नई दुनिया में आता है। उजालों के संसार में –डॉक्टर और उनका विज्ञान कुछ भी कहे। अगर उनका बेटा सपने में आकर कह रहा है कि उसे दर्द हो रहा है, तो हो रहा है। मुझे उसकी मुक्ति के लिए एक बार फिर प्रसव वेदना से गुजरना होगा।

उन दिनों नवरात्रि चल रही थी। दुर्गा की प्रतिमाएं जगह–जगह स्थापित की गई थीं। एक प्रतिमा अस्पताल परिसर में भी थी। शाम को न जाने क्या सोचकर मां वहां गई। एक जमाने बाद दुर्गा की प्रतिमा के आगे हाथ जोड़े। प्रार्थना की। कुछ मांगा। गेट के बाहर वह मरियल कुत्ता भी दिखाई दिया। मुक्ति की चाह में रेंगता। चेहरे पर बेहद गंभीरता और सख्त भाव लिए वह बेटे के कमरे में लौट आईं।

दिमाग में बहुत कुछ चल रहा था–एक तूफान सा। मां ने कमरे की लाइट ऑफ कर दी। खुद बेटे के बिस्तर पर चढ़ गई। सालों से अचेत पड़े बेटे के सिर को गोद में रखा। उसके माथे को सहलाती रही। उसे चूमती रही। उस क्षण को याद किया जब 30 साल पहले उसे नवरात्रि में ही जन्म दिया था। अचानक वह उस पुरानी प्रसव वेदना की मनोदशा में पहुंच गई। आंखों में वही दर्द। चेहरे पर वही टीस। सब कुछ 30 साल पुराना। राज को जन्म देते वक्त जैसा। फिर न जाने क्या सोचकर उसने बेटे के बदन से सारे वस्त्र उतार दिए। यही काम खुद के साथ किया। अब बेटे का सिर उनकी दोनों जांघों के बीच था,... और मां के एक हाथ में...फिर..

अगली सुबह अस्पताल के लोगों को राहत देने वाली थी। अजीब सी राहत। दर्द में लिपटी। उदासी में डूबी। तरह–तरह की बातें। राज ने अपने दर्द से मुक्ति पा ली। अंतहीन इंतजार का अंत हो गया था। पोस्टमार्टम की जरूरत नहीं समझी गई। अस्पताल के कुछ लोगों ने कल मां को दुर्गा के सामने प्रार्थना करते देखा। उसने उनकी प्रार्थना सुन ली। जो काम कानून, सरकार और व्यवस्था नहीं कर सकी उसे नियति ने कर डाला। बातें थीं, बातें इसी तरह होती हैं। पानी पर लाठी पीटने सदृश।

लेकिन मां कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। अस्पताल के लोगों ने उन्हें बहुत तलाशा। वह कहीं नहीं मिली। अलबत्ता उनका लैपटॉप...उसी कमरे में था। उसे ऑन किया गया.. क्या पता उसमें कोई जानकारी हो। सीधे मां का जी–मेल एकाउंट खुल गया। उसमें एक मेल आया था–हेम का।

जस्सी ने उस मेल को खोला...।

परेशान आंटी

प्रणाम

मैं विदर्भ में आया हूं। जहां पिछले दस सालों में लाखों किसानों ने आत्महत्या की। अभी मेरे सामने पांच लोगों वाले परिवार के मुखिया की लाश पड़ी है। अब इस परिवार का क्या होगा.. मुआवजा मिलेगा...लाख रुपया। यही राशि पहले मिल जाती तो आत्महत्या की नौबत क्यों आती? यहां आकर मैंने देखा-आत्महत्या और हत्या का फर्क मिट गया है। ये आत्महत्या नहीं, हत्याएं हैं जो सरकार कर रही है और जो अपराध की श्रेणी में भी आता है-मगर किसी की क्या मजाल कि सरकार को कटघरे में खड़ा कर उस पर हत्या का मुकदमा चलाए। यही सरकार, यह व्यवस्था, तेरे लाश बने बेटे को इच्छामृत्यु की इजाजत नहीं देगी...आज का अखबार तो देखा होगा एक युवक ने हाईकोर्ट के सामने इसलिए आत्मदाह कर लिया क्योंकि उसको इंसाफ नहीं मिला...

-हेम चंद पांडे

जस्सी ने व्यक्तिगत तौर पर राज के अंतिम संस्कार की तैयारी की। उसने हेम को मेल भी किया-राज की मौत हो चुकी है-मां लापता है-उनको ढूंढ़ने में मदद करे। वक्त ने करवट ली। जिंदगी के बिस्तर पर गहरे जख्म की सिलवटें पड़ गईं। ममत्व की बाढ़ ने संतुलन का बांध तोड़ दिया-पानी पागलों की तरह भटकने लगा। मां का स्तन सूख चुका था। उसने शिशु को आवाज दिया और प्रसव वेदना से तड़पने लगी। मालूम नहीं शिशु ने उसकी आवाज सुनी या नहीं मगर वह सामने नहीं आया। मां की पुकार जारी थी... शिशु दूर नहीं उसके भीतर ही तो था... जो अब बाहर नहीं आना चाहता था। गलियों में घूमता एक जोगी कबीर के पद गाता हुआ अपनी धुन में टहल रहा था-'मुझको क्या ढूंढे रे बंदे मैं तो तेरे पास में ...।'

***

कहानी

दस्विदानिया

पंकज सुबीर

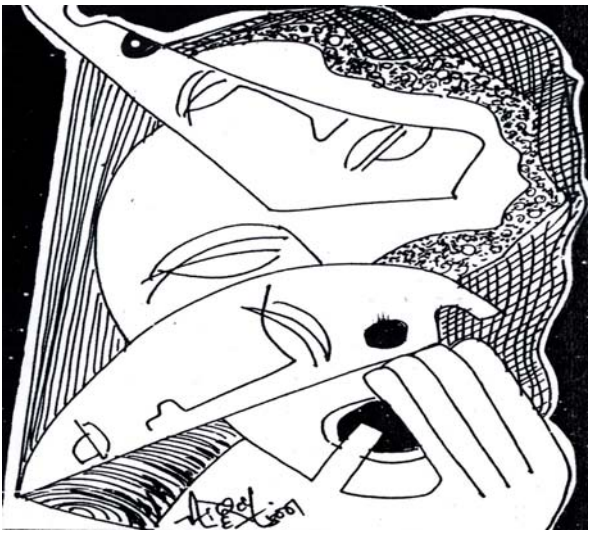

पत्र के आरंभ में कोई भी औपचारिकता नहीं कर रहा हूं। पत्र जिस मन:स्थिति में लिख रहा हूं उसमें औपचारिकता की कोई गुंजाइश भी नहीं है। पता नहीं ये पत्र तुमको मिलेगा तो तुम इसको सहज भाव से ले पाओगी भी या नहीं। कुछ नहीं जानता, बस ये जानता हूं कि तुमको पत्र लिखने के लिए बहुत दिनों से अपने अंदर का अपराधबोध दबाव डाल रहा था। काफी दिनों तक तो टालता रहा, लेकिन जब टालने से बाहर बात हो गई तो अंत में लिखना ही पड़ा। लगभग 20 सालों बाद किसी भी रूप में कोई संपर्क करते हुए ये पत्र तुमको लिख रहा हूं। बीस साल का अंतर एक अच्छा-खासा अंतर होता है। इस बीच में एक जीवन परिवर्तन के कई कई दौर देख लेता है। और इन बीस सालों में तो परिवर्तन का चक्र कुछ ज्यादा ही तेजी के साथ चला है। जीवन में जो तेजी आ गई है वह हैरान कर देती है। किंतु, फिर भी कहीं न कहीं, कुछ न कुछ ऐसा होता है जो ठहरा होता है। तुम्हें याद होगा प्रोफेसर झा हमें फासिल्स के बारे में पढ़ाया करते थे। नहीं याद आए झा सर ? अरे वही बॉटनी के प्रोफेसर जो अपने ऑफिस में बैठ कर चुरुट पीते थे। वे हमें बताते थे फासिल्स के बारे में कि किस प्रकार कुछ वनस्पतियां, कुछ कीड़े, मकोड़े, जानवर कहीं दब जाते हैं, और उसके बाद लाखों सालों तक वहां उसी प्रकार दबे रहते हैं। समय के तेज चक्र से अपरिवर्तित रहे हुए। बाद में कहीं कोई खोज करते हुए उनको ढूंढ निकालता है। और वे फासिल्स उस समय की जानकारी प्राप्त करने का सबसे अच्छा

जरिया होते हैं। हमारे जीवन में भी कई सारी घटनाएं, वस्तुएं, लोग, फासिल्स बन जाते हैं। उन पर समय का कोई असर नहीं होता। जब भी कुरेदो तो उसी प्रकार सुरक्षित रखे मिलते हैं। तुम्हें याद होगा शायद कि हमारे फाइनल की परीक्षाओं के दौरान ही खबर मिली थी कि प्रोफेसर झा का दिल का दौरा पड़ने से निधन हो गया। झा सर को मरे आज भले ही बीस साल हो गए हैं, लेकिन उनकी वह चुरुट पीने की स्टाइल आज भी मेरे मन में फासिल्स की तरह सुरक्षित है। उसी नास्टेल्जिया में मैंने भी एक दो बार चुरुट पीने की कोशिश की भी, लेकिन वह बात नहीं आ पाई जो झा सर में आती थी। कुछ चीजें शायद कुछ लोगों के लिए ही बनी होती हैं। जैसे तुम्हारा वह बैंगनी, फूलों वाला सलवार कुरता, जिस पर तुम प्लेन बैंगनी दुपट्टा डालती थीं।

बात उसी बैंगनी सलवार कुरते से शुरू की जाए तो मेरे लिए आसान होगा। क्योंकि मुझे तो अभी भी ये तक नहीं पता कि तुमको कुछ पता भी था या नहीं। तुम्हें मैंने पहली बार उसी बैंगनी सलवार कुरते में देखा था। मुझे अब तक अच्छी तरह याद है कि तुमने शंकू के आकार की बैंगनी बिंदी भी लगाई थी। किसी कारण के चलते मैं पहली बार में सैंकंड इयर क्लियर नहीं कर पाया था और जब क्लियर किया तब तक मेरे साथ के सब स्टूडेंट आगे निकल चुके थे। तब आज की तरह सेमेस्टर तो होते नहीं थे, तब तो ये था कि फेल हुए तो गया पूरा साल। दूसरी बार में जब सैंकंड इयर क्लियर करके फायनल आया तो क्लास में अपने से एक साल जूनियर स्टूडेंट्स के साथ बैठना पड़ा था मुझे। उनमें तुम भी थीं। जब फायनल की पहली ही क्लास अटैंड की थी मैंने, तो उस पहली ही क्लास में तुम नजर आईं थीं। सांवले से भी कुछ अधिक सांवला रंग, बैंगनी सलवार कुरता, बैंगनी दुपट्टा और बैंगनी बिंदी। हो सकता है कि किसी को गहरे सांवले रंग पर बैंगनी रंग पहनना अच्छा न लगे। हो सकता है कि इसे ड्रेस सेंस के हिसाब से इसको बहुत ऑड कॉम्बिनेशन भी कहा जाता हो, पर यक़ीन जानो मेरे लिए तो वह ही परफेक्ट कॉम्बिनेशन था। गहरे सांवले रंग पर छाया हुआ गहरा बैंगनी रंग। जैसे शीशम के सांवले गहरे तने पर बोगनबेलिया की बेला छाई हुई हो। मैं देखता ही रहा, बस देखता ही रहा। सांवले रंग में इतनी खूबसूरती हो सकती है ये मुझे पता ही नहीं था। और ये कहने की तो जरूरत नहीं है कि बैंगनी रंग उस दिन के बाद से मेरे लिए सबसे फेवरेट हो गया था। मेरे सीधे हाथ की किसी उंगली में एक अंगूठी हुआ करती थी। वह पुखराज की अंगूठी थी। सैंकंड इयर में मेरे लुढ़क जाने के बाद मां ने किसी ज्योतिषी से पूछ कर मेरे लिए बनवाई थी। बताया गया था कि मेरा गुरु कमजोर है इसलिए अंगूठी पहनना जरूरी है। उसी पुखराज की अंगूठी को इस प्रकार से आंख के पास एंगल बनाता रहा कि उसमें तुम्हारा अक्स नजर आता रहे। गुरु को मजबूत करने के लिए पहनाई गई अंगूठी उस दिन मेरे शुक्र को मजबूत करने का काम करती रही। मेरी दुनिया उस पीले पुखराज में नजर आ रहे तुम्हारे बैंगनी अक्स को देख-देख कर बैंगनी पीली हो गई थी।

पूरी क्लास में घुलने-मिलने में कुछ समय लगा था मुझे। हालांकि सब जूनियर ही थे लेकिन फिर भी साथ के स्टूडेंट्स तो थे नहीं। उस क्लास में कुछ स्टूडेंट्स तो ऐसे भी थे जो स्कूल से ही साथ साथ पढ़ते चले आ रहे थे और अब कॉलेज में भी ग्रुप का ग्रुप साथ में ही था। मैं उनके लिए

बाहरी था। मगर फिर धीरे-धीरे मैं उनमें एडजस्ट हो गया। तुमसे भी बातचीत शुरू हो गई थी। मगर उतनी नहीं। तुम्हारे ग्रुप के लड़के तुम्हारे साथ ज्यादा घुलमिल कर बातें कर लेते थे। मेरे मन में एक हिचक थी। एक छोटे क़स्बे के बीस साल पहले के उस स्टूडेंट के मन में वह हिचक स्वाभाविक होती थी। भले ही कॉलेज को एड था लेकिन संस्कार कोएड के नहीं थे। और मेरे मामले में तो शायद एक चोर भी मन में था जो हिचक पैदा करता था।

राजेश हीटर तुम्हारे सबसे क़रीब हुआ करता था। सबसे पहले तो मुझे इस नाम ने ही परेशान कर दिया था। बाद में नाम वाले से भी परेशानी हुई। राजेश के नाम के साथ लगे हुए हीटर शब्द से मैं हैरत में पड़ गया था। तुम सब तो स्कूल के समय से ही सहपाठी रह चुके थे इसलिए एक दूसरे के बारे में सब कुछ जानते थे। मगर मुझे तो पता नहीं था कि ये हीटर क्या बला है। तुम लोगों से ही पता चला था कि राजेश बचपन में कूलर को हीटर कहता था और इसी कारण तुम लोगों ने स्कूल के दिनों में ही उसका नाम राजेश हीटर रख दिया था। इसलिए भी क्योंकि तुम्हारे ग्रुप में दो राजेश थे। दोनों राजेशों को अलग अलग कैसे किया जाए इसलिए राजेश सोनी को राजेश हीटर कर दिया गया था। तो राजेश हीटर तुम्हारे सबसे क़रीब था। पता चला कि तुम दोनों के परिवारों में भी आपस में खूब अच्छी जान-पहचान है। राजेश के परिवार की जेवरों की दुकान थी, और तुम्हारा परिवार उस दुकान का पुराना ग्राहक था। इस कारण तुम दोनों में खूब घुटती थी। ये घुटना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं था।

अच्छा तुम्हें ये तो लग रहा होगा कि अचानक ये मैं बीस साल पुराना किस्सा कहां ले बैठा हूं। असल में उसके पीछे भी एक कारण है। कुछ दिनों पहले मैंने तीन फिल्में देखी थीं। उनमें से एक फिल्म का नाम था दस्विदानिया (बाकी दोनों फिल्मों का जिक्र पत्र में आगे कहीं आएगा)। उस फिल्म का हीरो एक लिस्ट बना कर वह सारे काम करता है जो उसे करने हैं। वह रोज दस कामों की एक लिस्ट बनाता है और उस लिस्ट के हिसाब से काम करता है। अचानक एक दिन उसे पता चलता है कि उसे लास्ट स्टेज का कैंसर है, वह कुछ ही दिन का मेहमान है। ये पता चलते ही वह दस कामों की एक लिस्ट बनाता है। ये दस काम उसकी दस इच्छाएं होती हैं। वे इच्छाएं जो वह बचपन से ही पूरी करना चाहता था। वे काम जो वह हमेशा से करने का सोचता है पर कर नहीं पाता। उन इच्छाओं में नई कार खरीदना, विदेश यात्रा, गिटार बजाना सीखना, बॉस को गाली बकना, समाचार पत्र के मुखपृष्ठ पर फोटो छपना, बचपन की दोस्त नेहा के सामने प्रेम का इजहार करना, बचपन के दोस्त से मिलना और जीवन में एक बार किसी से प्रेम करना भी शामिल था। उसकी ये लिस्ट पढ़ कर मुझे लगा कि हर आम पुरुष की ड्रीम विशलिस्ट लगभग यही होगी। ये उस हीरो की इच्छाएं नहीं थीं, बल्कि ये तो हम सब मध्यमवर्गीय पुरुषों की इच्छाएं थीं। वह एक एक करके मरने से पहले ये काम करता जाता है। नेहा को ढूंढता है और उसके सामने प्रेम का इजहार करता है, एक रशियन लड़की जो सैक्स वर्कर है उससे प्रेम करता है। सारे काम करता है और आखिरी काम समाचार पत्र के मुखपृष्ठ पर फोटो छपने का उसके मरने के बाद होता है, जब उसकी श्रद्धांजलि का विज्ञापन छपता है जो उसने मरने से पहले ही बुक कर दिया था।

मुझे ये थीम बहुत पसंद आई थी। हम सब अपने अपने जीवन में एक लिस्ट हमेशा बनाते रहते हैं। और उस लिस्ट में कुछ काम ऐसे होते हैं जो टॉप प्रायारिटी पर होते हैं। हमारे अंदर एक धधकती हुई इच्छा हमेशा विद्यमान रहती है कि काश हम इन कामों को कर सकें। काश, इसलिए कि हम इन कामों को करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते हैं। और ये इच्छाएं, काश बन कर हमेशा हमारे साथ चलती हैं। चलती जाती हैं, चलती जाती हैं और फिर एक दिन हम मर जाते हैं। अपने कई सारे काश अपने सीने में लिए ही चले जाते हैं। दस्विदानिया का हीरो अपने जीवन के इन्हीं सारे काशों की लिस्ट बना कर मरने से पहले उन्हें पूरा करता है। मैंने भी वैसी ही कोई लिस्ट बनाई हो ऐसा तो नहीं है और न ही दूसरा कारण भी मेरे साथ है। मगर फिर भी कुछ इच्छाओं को पूरा करने की मन में आई। जो मुझे लगता है कि मेरे जीवन के सबसे बड़े काश हैं। वे काश जो फासिल्स की तरह मेरे जीवन में कहीं कहीं जमे हुए हैं। और उसी कारण ये पत्र लिख रहा हूं।

तो हुआ ये कि फायनल करने के बाद पूरी क्लास पीजी की अलग-अलग कक्षाओं में बंट गई थी। कुछ स्टूडेंट्स पढ़ाई छोड़ भी गए थे। हम छः स्टूडेंट्स ने सबसे टफ सब्जेक्ट लिया था। रसायन में मास्टर डिग्री। हम छः, जो थे तीन लड़के और तीन लड़कियां। ऐसा किसी फिल्मी गणित के चलते नहीं हुआ था कि तीन लड़के और तीन ही लड़कियां। वैसे भी तुम्हारे अलावा जो बाकी की दो थीं वे लड़कियां थी हीं कब, वे तो बहनजियां थीं। मोटे फ्रेम का चश्मा लगाने वाली बेला और हरदम पढ़ाई की बातें करने वाली मीना। हां लड़के हम तीनों ठीक ठाक थे। मैं, राजेश हीटर और तीसरा धनंजय। मुझे रसायन हमेशा से ही डराता था और उसीमें मेरे सबसे कम नंबर आते थे। लेकिन मेरे पास तो कोई ऑप्शन भी नहीं था। क्योंकि तुमने रसायन में पीजी करने का निर्णय पहले ही ले लिया था और तुम्हारे कारण ही राजेश हीटर ने भी रसायन लेने का निर्णय लिया था। ये दोनों ही कारण मिलकर तीसरा कारण बने मेरे रसायन लेने का। रसायन में पीजी के अपने कॉलेज के पिछले रिजल्ट भी डरावने थे। हमसे ठीक पहले के साल में जो पांच स्टूडेंट्स पीजी कर रहे थे वे सबके सब फेल हो गए थे। और इस साल वे सारे समाजशास्त्र में एमए कर रहे थे। रसायनशास्त्र का विभाग पीजी के अपने खराब रिजल्ट के कारण पूरे कॉलेज में बदनाम था। जब मैंने रसायन में पीजी का फार्म भरा तो मुझे भांति-भांति के लोगों ने भांति-भांति से डराया था। लेकिन मेरे अंदर तुम्हें लेकर जो रसायन और उस रसायन से जो शास्त्र बन रहा था उसने मुझे मजबूर कर दिया कि मैं भी रसायन में पीजी करूं। मुझे बहुत बोरिंग लगता था कागज पर हाइड्रोक्लोरिक एसिड और सोडियम हाइड्राक्साइड की रासायनिक क्रिया को दिखाना जिसमें पानी और नमक बनता था। पानी और नमक बन जाए वहां तक भी ठीक, लेकिन समीकरण में साम्य स्थापित करो कि एक भी एटम कम न हो जाए। जो कम हो गया तो समीकरण असंतुलित हो जाएगा।

मैं बॉटनी में पीजी करना चाहता था। बॉटनी मेरा पसंदीदा विषय थी और बॉटनी पढ़ाने वाली शैफाली मैडम भी। तुम्हें तो याद ही होगा कि फायनल में सबसे अच्छा हर्बेरियम कलेक्शन मैंने ही बनाया था। जाने कहां-कहां से, जंगलों की, खेतों की खाक छान-छानकर पत्तियां और फूल जमा किए थे। उनको कापियों में दबा-दबाकर, सुखा कर, फिर ड्राइंग शीट पर चिपका कर हर्बेरियम

कलेक्शन बनाया था। शैफाली मैडम को प्रभावित करने के लिए। कामयाब भी हुआ था। पूरी क्लास को दिखाया था उन्होंने मेरा हर्बेरियम कलेक्शन। ये अलग बात है कि प्रेक्टिकल में अच्छे नंबर नहीं दिए थे उन्होंने। मैंने उनका नाम हीबिस्कस रोजा सायनेन्सिस रखा था। तुम्हें तो याद होगा कि गुड़हल के फूल का बॉटनिकल नाम होता है ये, तुम शायद जवाकुसुम कहती थीं गुड़हल को, अपने किसी बंगाली पड़ोसी के कारण। शैफाली मैडम जिस प्रकार से हमेशा लाल कपड़े पहनती थीं उसके चलते ही वह नाम दिया था मैंने उनको। शायद उन्हें भी पता चल गया था कि मैंने उनको ये नाम दिया हुआ है। मैं समझता था कि वे इसे कॉम्प्लीमेंट की तरह लेंगी, लेकिन, प्रेक्टिकल में मिले नंबरों ने मेरी गलतफहमी को दूर कर दिया था। बुरा मानना तो था झा सर को मानना था, जिनको चुरुट पीने की आदत के कारण मैंने उनको तंबाखू का बॉटनिकल नाम निकाटियाना टबैकुम नाम दिया था, जिसको और शार्ट करके हम उनको टबैकुम बुलाते थे। मगर वे बिचारे तो बुरा मानने से पहले ही चल बसे। खैर तो लब्बो लुआब ये कि शैफाली मैडम के लाल रंग और तुम्हारे बैंगनी रंग के बीच तुम्हारा ये बैंगनी रंग जीत गया। वैसे भी शैफाली मैडम मेरे लिए गूलर का फूल थीं, पत्थर का अचार थीं। फिर भी बॉटनी में पीजी न कर पाने का मलाल अभी भी सालता है। जब भी नवरात्रि में दुर्गापूजा पर गुड़हल के फूल देखता हूं तो शैफाली मैडम याद आ जाती हैं।

रसायनशास्त्र के डिपार्टमेंट में आकर बॉटनी डिपार्टमेंट की याद और शिद्दत से आने लगी थी। क्योंकि, रसायनशास्त्र के डिपार्टमेंट में कोई भी मैडम नहीं थीं। तीन सर थे। बूढ़े, खूंसट और तीनों ही गंजे, तोंदियल। और मजे की बात ये थी कि तीन में से दो तो गुप्ता थे। कहां हीबिस्कस के ललछौंहेपन से ललियाती बॉटनी की लैब और कहां ये एचटूएस की सड़े अंडे समान गंध से गंधियाती रसायनशास्त्र लैब। मगर धीरे-धीरे मलाल कम होता चला गया। इसलिए भी क्योंकि क्लास में केवल हम छः ही थे। हम छः में एक प्रकार की कैमिकल बॉण्डिंग होने लगी थी। दोस्ती की बॉण्डिंग। हम सबके लिए वह एक अलग ही अनुभव था। इतनी छोटी क्लास जिसमें केवल छः ही स्टूडेंट्स हों। जब भी सबमें एका हुआ तो एक साथ कॉलेज नहीं आए। हो गई छुट्टी। बस इसी बॉण्डिंग ने मेरे मन में एक प्रकार का डर पैदा कर दिया था। डर इस बात का कि जब बाकी सबको पता चलेगा कि मेरे मन में तुम्हारे लिए क्या है तो वे बाकी मेरे बारे में क्या सोचेंगे।

हम छः धीरे-धीरे एक परिवार की तरह होते जा रहे थे। ऐसे में ये डर आना स्वाभाविक सी बात थी। जो दोस्ती, जो अपनापन हम सबके बीच में पनप चुका था उसमें एकदम से दरार आ जाएगी। एक अलमस्त जिंदगी जिसमें नो फिकर, नो टेंशन टाइप का जीवन हम जी रहे थे उसे मैं खोना नहीं चाहता था। और हां उन सबके बीच कुछ ऐसा भी था जो बिल्कुल तुम्हारे जैसा था। पोटेशियम परमैंगनेट का घोल। जो बिल्कुल तुम्हारी ही तरह बैंगनी था। जो हमारे बहुत काम आता था। इसके अलावा वह टाइट्रेशन की प्रक्रिया जिसके द्वारा हम अम्ल क्षार का संतुलीकरण बिंदु तलाशते थे उसमें भी तो संतुलन बिंदु पर बैंगनी गुलाबी कलर आता था। परखनली में अम्ल लेकर उसमें कुछ बूंदें इंडीकेटर की डाल के फिर ब्यूरेट से क्षार का घोल डालते। एक बिंदु पर आकर

अम्ल और क्षार एक दूसरे को न्यूट्रल कर डालते थे और परखनली में इंडीकेटर का गुलाबी बैंगनी रंग छा जाता। हम सावधानी से परीक्षण करते थे कि किस बिंदु पर आकर विलयन का रंग बैंगनी होना शुरू हो गया, ब्यूरेट की रीडिंग को कॉपी में नोट करते। ये सारे परीक्षण अपनी जगह और बैंगनी रंग अपनी जगह।

पता है अचानक तुमको ये पत्र लिखने का विचार कैसे आया। कुछ दिनों पहले देखी गई वह दूसरी फिल्म इसके पीछे मुख्य कारण है। उस फिल्म में भी तीन दोस्त थे। मैं, राजेश और धनंजय। फिल्म का नाम था जिंदगी न मिलेगी दोबारा। वे तीनों दोस्त कॉलेज के बरसों बाद फिर से मिलते हैं और उन सारे कामों को करते हैं जिनको करने की वे कॉलेज के समय सोचते हैं। फिल्म की थीम लगभग वैसी ही थी जैसी दस्विदानिया की थी। लेकिन कुछ अंतर था दोनों में। यहां तीन दोस्त मिलते हैं। तीनों मिलकर कुछ फैंटेसियों को पूरा करते हैं। जैसे स्काय डायविंग, सी डायविंग और जाने क्या-क्या। तीनों की अपनी-अपनी एक एक फैंटेसी होती है जिसे वे पूरा करते हैं। वे तीनों बिल्कुल हम तीनों की ही तरह थे। अलमस्त, बिंदास और मस्तमौला टाइप। दोस्तों के बीच तो हर कोई शायद ऐसा ही हो जाता होगा। किसी ने कहा भी तो है कि हम शरीर से किसी के भी सामने नंगे हो सकते हैं किंतु, मन से, जमीर से, आत्मा से, हम केवल और केवल अपने कॉलेज के दोस्तों के सामने ही नंगे हो सकते हैं। जिंदगी के वे काम करना जो हमारी फैंटेसी में शामिल रहे हों, बहुत जरूरी है। मगर उन कामों को भी कर देना चाहिए जो हमारे साथ अपराधबोध बन कर लदे रहते हैं। ये दोनों ही आवश्यक काम होते हैं। लग रहा है न कि मैं फिल्मी भाषा में बात कर रहा हूं, उसी कॉलेज वाले मैं की तरह। हां उसी भाषा में बात कर रहा हूं, वे कॉलेज वाले शब्द छूटते ही कब हैं, ये अलग बात है कि हम खुद का संयमित करके उन शब्दों का जबान पर आना रोकते रहते हैं। भद्र होने की कुछ तो कीमत चुकानी ही पड़ती है। कॉलेज लाइफ एक समग्र रूप से अभद्र जिंदगी होती है, अपनी सीमित दुनिया में, भरपूर अभद्रता से भरा हुआ समय का एक टुकड़ा।

तुम्हें लग रहा होगा कि ये भी दस्विदानिया के हीरो की ही तरह एक स्थगित प्रेम इजहार है जो कि बीस साल बाद हो रहा है। मगर ऐसा नहीं है। हां, ये सही है कि इसमें वह बीस साल पुराना प्रेम शामिल है, लेकिन, उसके अलावा भी बहुत कुछ है। अब मैं उसी बात पर आना चाह रहा हूं। ये सब कुछ जो मैंने भूमिका में लिखा है ये केवल इसलिए ताकि तुम दोनों उस माहौल में पहुंच जाओ जो उस समय का माहौल था। क्योंकि, सब कुछ जानने के लिए उस समय के माहौल में होना बहुत जरूरी है। बिना माहौल के कुछ समझ में नहीं आएगा। काश, जिंदगी न मिलेगी दोबारा के उन दोस्तों की तरह हम सब भी मिलते और सारी बातों पर चर्चा करते। सारी बातों पर। मगर वह हो नहीं सकता है इसलिए ही ये लंबी भूमिका लिखी है।

रसायनशास्त्र की वह लैब धीरे धीरे हम में घुलने लगी थी। एचटूएस की वह सड़े अंडे समान गंध कितनी अपनी सी लगने लगी थी हमें। हम सारे उसी गंध के बीच बैठ कर समोसे की, कचौरियों की पार्टी करते। अपने साथ लैब असिस्टेंट को भी शामिल कर लेते। प्रेक्टिकल परीक्षा में तो यही लैब असिस्टेंट काम आता था, जो चुपके से बता जाता था कि कौन सी पुड़िया में कौन सा

केमिकल रखा गया है। उन्हीं सबके बीच मेरे दिल में कुछ चीजें और बढ़ने लगी थीं। जब तुम परखनली में नाइट्रेट का ब्राउन रिंग टेस्ट लगातीं तो ऐसा लगता कि परखनली में नहीं बल्कि मेरे दिल में एक भूरा वलय बन रहा है। भूरा वलय जो गाढ़ा होने लगता। इधर तुम कॉपी में नाइट्रेट का कन्फर्मेशन लिखतीं और इधर दिल में बन रहा भूरा वलय प्रेम का कन्फर्मेशन कर देता। प्रेम का और नाइट्रेट का परीक्षण मुझे हमेशा से एक सा ही लगता है। वहां परखनली में भूरा वलय बनता है यहां दिल में। वहां भी परखनली के किनारे किनारे धीरे-धीरे केमिकल डाला जाता है और यहां भी। वहां भी दोनों केमिकलों के संधिस्थल पर भूरा वलय बनता है और यहां भी। बस अंतर ये होता था कि उस भूरे वलय को तुम देख लेती थीं और इस भूरे वलय को तुम मेरी सारी कोशिशों के बाद भी देख नहीं पा रही थीं। उसके होने का एहसास तक नहीं कर पा रही थीं।

याद होगा एक बार हम सब बारिश में फंस गए थे। बारिश इतनी तेज हो रही थी कि हम कॉलेज से घर नहीं जा पा रहे थे। उस दिन दो घंटे तक हमने लैब में ही महफिल जमाई थी। तुम सब लोगों के बहुत कहने पर मैंने एक गाना गाया था, चांद सी महबूबा हो मेरी कब ऐसा मैंने सोचा था। मुझे लगा था कि ये गाना सुन कर तुम समझ जाओगी कि ये गाना मैं तुम्हारे लिए ही गा रहा हूं। लेकिन तुम तो थीं नब्बे के दशक की एक छोटे से क़स्बे की लड़की, तुमको कहां पल्ले पड़ता था ये सब। मुझे याद है कि इक सूरत भोली भाली है दो नैना सीधे सादे हैं, अंतरे को गाते समय तुमसे मेरी नजरें काफी देर तक के लिए मिली थीं। तुम अपनी चिर-परिचित मुद्रा में हथेली पर ठोड़ी टिकाए मुस्कुरा रही थीं। तुम्हारी मुस्कुराहट से मुझे लगा था कि मेरा काम हो गया है। मगर कुछ नहीं हुआ।

और तुम्हारी वह खिल-खिल हँसी कैसे भूल सकता हूं, जो उस दिन मेरे ये कहने पर आई थी कि मैं ठंड की सुबह रजाई से बाहर निकलने से पहले रजाई से केवल उंगली निकाल कर बाहर का तापमान जांचता हूं। तुम हँस-हँस कर दोहरी हो गईं थीं। वह हँसी मैं कभी नहीं भूल सकता। कोई भी नहीं भूल सकता उस हँसी को। तुमने काजल लगी बड़ी-बड़ी आंखों को और बड़ी करते हुए पूछा था, तुम्हारी उंगली में थर्मामीटर लगा है क्या। सच कहता हूं मैंने आज तक वैसी हँसी जीवन में कभी भी दोबारा नहीं देखी। शायद झरने के समान हँसी उसी को कहते हैं। या जिसके बारे में कहा जाता है कि जो फूट कर बहती है वह हँसी। मैं पूरा का पूरा भीग गया था उस हँसी में। उस दिन के बाद जब भी किसी को हँसते देखता हूं तो पहले कंपेयर करता हूं उस हँसी के साथ। आज तक कोई भी हँसी ऐसी नहीं मिली जिसकी फ्रिक्वेंसी तुम्हारी उस हँसी के कहीं आसपास भी रही हो। तुम खुद भी शायद वैसा नहीं हँसी हो उसके बाद।

इस बीच मैंने कुछ टोटके भी किए। पहला तो ये कि मैंने एक दिन तुम सबको अपनी एक झूठी प्रेम कहानी सुनाई कि मैं एक लड़की से बहुत प्रेम करता था और वह लड़की मर गई। मैंने पूरे अभिनय के साथ वह कहानी सुनाई थी। मैं रो भी दिया था। मेरी कोशिश तुम्हारे मन में अपने लिए पहले सहानुभूति और बाद में प्यार पैदा करने की थी। तुम्हारे मन में मेरे प्रति सहानुभूति तो बहुत आ गई थी लेकिन प्रेम-व्रेम जैसा कुछ नहीं हुआ। एक दिन तुम्हारी नोट्स की कॉपी में मैंने

91215225251521 भी लिख दिया था। शायद तुम कुछ समझो। उस समय मोबाइल नंबर तो होते नहीं थे। ये तो आइ लव यू का अंकीय संस्करण था। मगर तुम उसको भी नहीं समझ पाईं। मुझसे ही पूछ लिया कि ये नंबर क्यों लिखे हैं। मूर्ख कहीं की। हमारी मालवी में कहें तो गेली या गेलसप्पी थीं तुम, निरी गेलसप्पी।

पीजी का पहला साल गाने गाते, समोसे उड़ाते बीत गया। समय आगे खिसक रहा था और मैं तुमसे कह नहीं पा रहा था। जो कुछ मैं बिना कहे समझाना चाह रहा था वह तुम समझ नहीं रही थीं। कितनी गधी थीं तुम। पहले मैं समझता था कि तुम जान-बूझ कर सब कुछ समझते हुए भी अन्जान बनी हुई हो। मगर नहीं तुम तो सचमुच ही निरी मूर्ख थीं। यदि फ्रेंडशिप की कहूं तो हम सब में ही बहुत मजबूत दोस्ती हो गई थी। जो जाहिर सी बात है तुम्हारे और मेरे बीच में भी थी। मगर वह वैसी ही थी जैसी तुम्हारी धनंजय और राजेश के साथ भी थी। मतलब ये कि मेरे हिस्से में कुछ अधिक नहीं आ रहा था। मैं परखनली में क्षार मिलाता-मिलाता थक रहा था। मगर वह बिंदु आ ही नहीं रहा था जहां पर विलयन का रंग बैंगनी होना प्रारंभ हो जाए। मैं पूरा-पूरा ब्यूरेट कई-कई बार खाली कर चुका था लेकिन इंडीकेटर अपना बैंगनी गुलाबी रंग दिखाने को तैयार ही नहीं था। मेरी दुनिया रंगहीन अवस्था से बैंगनी होने के लिए मानो तैयार ही नहीं थी।

इस बीच एक और घटनाक्रम हुआ था। वह ये कि एक बार राजेश और मैं अपने फायनल के साथी लड़कों के साथ संडे को क्रिकेट मैच खेलने गए थे। उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि मेरे मन में गांठ पड़ गई। उस दिन लड़के राजेश को बार-बार तुम्हारा नाम ले-लेकर छेड़ रहे थे। हालांकि राजेश उस सबमें सहमति नहीं जता रहा था, लेकिन वह उस सबका कोई प्रतिरोध भी नहीं कर रहा था। मौन का नाम सहमति ही होता है। एक-दो बार राजेश ने शायद मेरी उपस्थिति को भांपते हुए उन लड़कों पर दिखाने के लिए गुस्सा भी किया, लेकिन वह गुस्सा भी समझ में आ रहा था कि वह नाम का ही है। मुझे उस दिन बहुत बुरा लगा। मुझे दो कारणों से बुरा लग रहा था। पहला कारण तो अब तक तुमको पता चल ही गया होगा। दूसरा कारण ये कि हमारी फैकल्टी की किसी लड़की का नाम लेकर दूसरी फैकल्टी वाले लड़के मजाक बना रहे थे। वह भी हमारे ग्रुप का, जिसमें हम छः लोग किसी परिवार की तरह शामिल थे। मगर मैं कुछ नहीं कह पा रहा था। उसके भी दो कारण थे, पहला तो ये कि उससे शक की सूई मेरी तरफ घूम जाती। और दूसरा ये कि वे सारे बचपन के साथी थे, मैं उनके लिए आउट साइडर था। मैं कुछ भी कहता तो हो सकता है मुझे ये जवाब मिल जाता कि तुझे क्या पता, इन दोनों का तो स्कूल के समय से ही चक्कर चल रहा है। मेरे लिए वह क्रिकेट का मैच खेल पाना तक मुश्किल हो गया था। मुझे लगा कि इतनी बड़ी बात मुझे पता तक नहीं है और मैं फिजूल ही कोशिश किए जा रहा हूं। जब ये लड़के इस प्रकार की बात कर रहे हैं तो जाहिर सी बात है कि ये बात स्कूल के समय से ही चली आ रही होगी।

उस दिन तो मैं चुपा गया लेकिन मेरे मन में ये बात बैठ गई कि राजेश ही वह कारण है जिसके कारण मैं तुम तक नहीं पहुंच पा रहा हूं। धीरे-धीरे ये शक गहराता गया। अब मैं सामान्य नहीं रह गया था। अब राजेश की हर गतिविधि पर नजर रखना और उसको बारीकी से आब्जर्व करना मेरा

काम हो गया था। विशेषकर तब, जब राजेश उन लड़कों के साथ हो, या तुम्हारे साथ हो। तुम दोनों जब भी साथ होते तो मैं छिपकर या कभी सामने आकर ही तुम दोनों पर भी निगाह रखता। लेकिन तुम दोनों के व्यवहार में मुझे कहीं भी वैसा कुछ नहीं दिख रहा था जो वे लड़के कह रहे थे। इस बीच कुछ और भी बातें मेरे सामने आईं। जैसे ये कि तुम्हारा छोटा भाई जो सैकंड इयर में पढ़ता था, उसका भी नाम ले-लेकर ये लड़के राजेश को छेड़ते रहते थे। तुम्हारे भाई का नाम ले-लेकर ये लड़के राजेश को छेड़ते थे कि देख तेरा साला जा रहा है। साला.....? मेरे लिए ये पानी सर पर गुजर जाने वाली बात थी। बात यहां तक और इस क़दर बढ़ी हुई है।

बहुत दिनों तक नजर रखने का परिणाम ये हुआ कि मुझे ये पता चल गया कि तुम्हारे और राजेश के बीच में तुम्हारी तरफ से तो कुछ नहीं है, लेकिन राजेश के मन में कुछ कोमल तंतु जरूर हैं। उन कोमल तंतुओं को नष्ट करने का मैंने बीड़ा उठा लिया था। मौका भी जल्द ही मुझे मिल गया। उस दिन बाकी का चारों कॉलेज नहीं आए थे। केवल तुम और मैं ही थे। लैब की खिड़की से लगे हुए इमली के पेड़ की नई आई हुई कोमल पत्तियां नोंचते हुए मैंने धीरे-धीरे अपने मन का जहर उगलना शुरू किया था। मैं बोलता गया और तुम सुनती गईं, और रोती भी गईं। मैंने पूरी बात को बदल कर रख दिया था। मैंने ये नहीं कहा लड़के संजय को ऐसे-ऐसे चिढ़ाते हैं, मैंने तो ये कहा कि राजेश ही लड़कों के सामने इस प्रकार डींगें हांकता है। राजेश ही लड़कों को तुम्हारे भाई की तरफ इशारा करके कहता है कि देखो मेरा साला जा रहा है। इस बात पर पहले तो तुमने अपनी आंखें विस्फारित कर दी थीं और उसके बाद कुछ जोर जोर से सिसकियां भरी थीं। मैंने जाने क्या क्या कहा था। ये कहा कि पूरे कॉलेज में तुम्हारी और राजेश की बातें हो रही हैं। जबकि हक़ीक़त में ऐसा कुछ नहीं था, केवल उन दस-पंद्रह लड़कों के बीच होने वाला मजाक था वह। मैंने ये कहा कि राजेश सबके सामने छाती ठोंक-ठोंककर कहता है कि उसने तुमको पटा रखा है (क्षमा करना इस शब्द के लिए, असल में इसका कोई अल्टरनेट नहीं मिल पा रहा। उस दौर के हम कॉलेज के लड़के इसी शब्द का उपयोग करते थे। पता नहीं आज के लड़के क्या उपयोग करते हैं।)। जबकि राजेश बेचारा तो सार्वजनिक रूप से तुम्हारे बारे में कोई बात ही नहीं करता था। मैंने ये कहा कि राजेश ये भी कहता है कि तुम दोनों के परिवारों ने तुम दोनों की शादी की बात भी कर रखी है। ये बात भी मैंने अपने ही मन से गढ़ ली थी। ऐसी, और इसी प्रकार की जाने कितनी बातें मैंने तुमसे कीं, जो मेरे शैतान दिमाग में कुछ तो पहले से ही तैयार थीं और कुछ तुरंत ही बनती चली गईं। क़रीब एक से डेढ़ घंटे तक मैंने तुमसे बातें कीं, इस शर्त के साथ कि तुम किसी से नहीं कहोगी कि ये बातें तुमको किसने बताई हैं, ये बातें मैं तुम्हारा शुभचिंतक होने के कारण तुमको बता रहा हूं। तुमने प्रामिस किया था कि तुम किसी को नहीं बताओगी कि तुमको ये सब मैंने बताया है। तुमने अपना प्रामिस निभाया भी।

उसके बाद दो दिन तुम कॉलेज नहीं आईं थीं। दो दिन बाद जब आईं तो तुमने हम सबके सामने ही राजेश की लू उतार दी थी। क्या क्या कहा था तुमने उस बेचारे को। तुम रो रही थीं, चिल्ला रही थीं और बोलती जा रही थीं। राजेश कुछ समझ नहीं पा रहा था कि ये सब क्या हो रहा है। हम

सबने बीच में बहुत मध्यस्थता करने की कोशिश की लेकिन तुम नहीं रुकीं। जितना भला-बुरा कह सकतीं थीं उतना कह दिया। राजेश ने भी अपना पक्ष रखने की बहुत कोशिश की लेकिन तुम सुनने के मूड में थीं ही कब। सब कुछ टूटता चला गया, बिखरता चला गया। उस दिन मुझे लगा था कि मुझसे गलती हो गई है। मैं नहीं जानता था कि मेरे उस सबका परिणाम इतना भयंकर होगा। हम सबके बीच में जिस प्रकार का रिश्ता था, उसके चलते मुझे लगता था कि हम सब मिलकर बात को संभाल लेंगे और तुम्हारा गुस्सा ठंडा कर देंगे। मगर वैसा हुआ नहीं। मैं आकलन करने में गलती कर गया था।

राजेश इस बात पर हैरान था कि ये आखिर हुआ क्या। ये सब जो हुआ उसके पीछे सूत्र क्या है। मुझे याद है अच्छी तरह से कि राजेश उस दिन शाम को मेरे कंधे पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोया था। धनंजय के कमरे पर। जहां केवल हम तीनों ही थे। वह रोता जा रहा था और एक ही बात कहता जा रहा था, मैंने किया क्या है, मेरी गलती क्या है। मैं क्या बताता कि उसकी तो कोई गलती है ही नहीं, गलती तो किसी और की ही है। मैं उस दिन उससे कहना चाहता था, सब कुछ बता देना चाहता था। मगर वह उम्र शायद उतनी मैच्योर नहीं थी कि उस उम्र में कोई इतना बड़ा कंफेशन कर सके। राजेश का बहुत बुरा हाल था उस दिन। उसके लिए दोतरफा नुकसान की बात थी। पहला तो पारिवारिक नुकसान था क्योंकि तुम लोगों के परिवारों के बीच बहुत अच्छे रिश्ते थे। दूसरा जो नुकसान था उसे अलग से बताने की जरूरत शायद नहीं है। जिस प्रकार तुम्हारी वह खिल-खिल हँसी मुझे आज भी जस की तस याद है उसी प्रकार मुझे राजेश का वह फूट-फूट रोना भी आज तक उसी प्रकार याद है। कतरा दर कतरा, जस का तस। तुम्हारी हँसी और राजेश के आंसू मेरे अंदर फासिल बन चुके हैं।

उस एक घटना से हम सब के बीच का वह सब कुछ खतम हो गया जो हम सबको बांधे हुआ था। रसायन के विद्यार्थी थे सो जानते थे कि एटॉमिक बॉण्डिंग के बारे में। किस प्रकार इलेक्ट्रांस और प्रोटांस के अफेक्शन के कारण अलग-अलग एटम संपर्क में आते हैं और एक दूसरे से जुड़ जाते हैं। जुड़कर एक नया अणु बनाते हैं। जैसे हाइड्रोजन के दो और आक्सीजन का एक परमाणु मिलकर एचटूओ या सरल भाषा में पानी बना देते हैं। हमें ये भी पता था कि जो जुड़ते हैं वे विखंडित भी हो जाते हैं किसी बाहरी फोर्स के कारण। बाहरी कक्षा के वे इलेक्ट्रान जो संबंध तोड़ देते हैं उनको लूजली बॉण्डेड इलेक्ट्रांस कहा जाता है। हमारे रिश्तों में लूजली बॉण्डेड इलेक्ट्रांस तो शायद नहीं थे लेकिन हमारे रिश्तों में वह बाहरी फोर्स मैं था। हम सबके बीच एक प्रकार का सूनापन आ गया था उस घटना के बाद। हमारी समोसों की, गानों की सारी गतिविधियां बंद हो गईं। ऐसा लगने लगा था कि हम सब एक रूटीन पूरा करने में लगे हुए थे। बस फाइनल करना है। कभी-कभी सोचता हूं कि वह आनंद उत्सव समाप्त हो जाना मेरे द्वारा किए गए कृत्य का सबसे बड़ा नुकसान था। बाकी के 6 महीने हम सबने एक अजीब सी खामोशी के बीच बिताए थे। खामोशी जो फिर नहीं टूटी।

मैंने जिस उद्देश्य को लेकर वह सब किया था वह भी पूरा नहीं हुआ। उस घटना के कुछ दिनों

बाद पता चला कि तुम्हारी शादी तय हो गई है। परीक्षा के बाद तुम शादी करके इंदौर चली जाओगी। तुम्हारी शादी भी इंदौर से ही होगी लड़के वालों की इच्छानुसार। तुम्हारी शादी तय होना ही थी और तुमको जाना ही था, लेकिन समय और परिस्थितियों ने उस घटना को भी मेरे मन में अपराध बोध की तरह जोड़ दिया। मुझे ऐसा लगता था कि मैं जो खाना स्वयं नहीं खा पाया उसे मैंने जमीन पर ढोल दिया था, दूसरे को भी नहीं खाने दिया।

परीक्षाएं हुईं, हम सब भारी मन से हमेशा के लिए अलग हो गए। उसे हमेशा के लिए ही कहा जाएगा। क्योंकि पीजी भी हो चुका था। अब तो आगे रास्ते अलग-अलग होने ही थे। हम सब मिलकर कितना रोए थे उस आखिरी दिन। हमारे जीवन के सुनहरे दिन खतम हो रहे थे और सामने एक संघर्षों से भरा जीवन नजर आ रहा था। और हम अलग-अलग चल दिए। अलग-अलग उन रास्तों पर जो कोहरे और धूल से ढंके थे, जिन पर आगे का कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा था कि ये रास्ते कहां लेकर जाएंगे।

रोया मैं एक बार और था, तब, जब मैं और धनंजय तुम्हारी शादी अटैंड करके इंदौर से लौट रहे थे। राजेश शादी में नहीं गया था। बस की सबसे पिछली सीट पर बैठा मैं अचानक धनंजय की गोद में सिर रख कर फूट-फूटकर रो पड़ा था। बस रात के अंधेरों को चीरती हुई चली जा रही थी और मैं रो रहा था। मैं तुम्हें हमेशा के लिए खो चुका था।

राजेश और मैं अब भी उसी शहर में रहते हैं। धनंजय यहां से तभी चला गया था। बेला और मीना का कुछ पता नहीं कि वे कहां हैं। तुम्हारे बारे में बस इसलिए पता है क्योंकि तुम्हारा भाई मिलता रहता है। उसीने बताया कि तुमने शादी के बाद पीएचडी की कार्सीनोजेनिक पदार्थों (कैंसर उत्पन्न करने वाले) पर और उसके बाद वहीं इंदौर के कॉलेज में असिस्टेंट प्रोफेसर हो गई हो। तुम्हारा ईमेल भी उसीने दिया था। राजेश और मैं उतने ही पक्के दोस्त हैं अभी तक भी। मिलते हैं, परिवार के साथ घूमने जाते हैं। फिल्में देखते हैं। होटल जाते हैं, जहां राजेश पीता है और मैं केवल चखना खाकर उसका साथ देता हूं। बाद में दोनों साथ खाना खाते हैं। अक्सर राजेश उस घटना का जिक्र कर बैठता है। पूरी हैरत के साथ कि आखिर वह क्यों हुआ था, क्या हुआ था। वह घटना उसके जीवन की एक पेचीदा गुत्थी है, जो आज इस पत्र के साथ ही सुलझ रही है।

जिंदगी न मिलेगी दोबारा, ये फिल्म राजेश और मैंने साथ ही देखी थी। उसका वह सीन जब दोस्त कंफेशन करता है कि उसने दोस्त की गर्लफ्रेंड को सब कुछ जानने के बाद भी पटा लिया था, देख कर मुझे अपना सीन याद आ गया। और अभी कुछ दिन पहले ही मैंने राजेश के साथ नई वाली चश्मे बद्दूर देखी। फिल्म तो कुछ खास नहीं थी, लेकिन उसमें भी वही तीन दोस्त और लगभग वही सब बातें। उसमें भी दोनों दोस्त मिलकर तीसरे दोस्त और उसकी गर्लफ्रेंड के बीच में समस्याएं पैदा करते हैं और उनको अलग कर देते हैं। फिल्म में एक गाना था जिसके बोल थे 'हर एक फ्रेंड कमीना होता है'। वह गाना बजते समय मैंने पास बैठे राजेश को ध्यान से देखा कि क्या उसके चेहरे पर इस गाने की कोई प्रतिक्रिया है। क्या वह जानता है कि वह भी एक कमीने के साथ ही बैठकर फिल्म देख रहा है। क्योंकि यदि उसे उस घटना की सच्चाई पता होगी तो ये गाना

उसके चेहरे पर कुछ न कुछ भाव तो लाएगा ही। मगर वैसा कुछ नहीं था। उसका चेहरा साफ और शफ्फाफ था, दोस्ती की रौशनी से जगमगाता हुआ। निर्दोष। उसी दिन मैंने तय कर लिया था कि राजेश के सामने उस घटना की सच्चाई खोल दूंगा। और तुम्हारे सामने भी।

पत्र समाप्त कर रहा हूं इस आशा के साथ कि तुम राजेश को माफ कर देना.....नहीं–नहीं तुम उससे माफी मांग लेना। गलती उसकी तो थी ही नहीं। इस ईमेल की कॉपी राजेश और धनंजय को भी भेज रहा हूं, बेला और मीना का ईमेल यदि तुम्हारे पास हो तो इसकी कॉपी उनको भी फारवर्ड कर देना। तुमको तो मैं बरसों पहले खो चुका था, आज पूरी तरह से खो रहा हूं और आज शायद राजेश को भी खो रहा हूं। कॉलेज के सुनहरे दिनों की अंतिम याद को खो रहा हूं। विदा....या शायद अलविदा, दस्विदानिया। तुम सबका ही

–समीर

* * *

''एक समय बंगाल की एक नदी से दूसरी नदी घूमता फिरा हूं, देखा है बंगाल के ग्रामों का नसाविध जीवन–निर्वाह...मैं कहूंगा, मेरी कहानियों में वास्तव का अभाव कभी नहीं आया। जो कुछ देखा है, खुद देखा, भीतर अनुभव किया है, वह मेरी आंखों देखी जानकारी है। मैंने जो छोटी–छोटी कहानियां लिखी हैं...वास्तव जीवन के चित्र उनमें पहली बार आंके गए।''

–रवींद्रनाथ टैगोर

कहानी

बंधुआ लोकतंत्र

प्रदीप जिलवाने

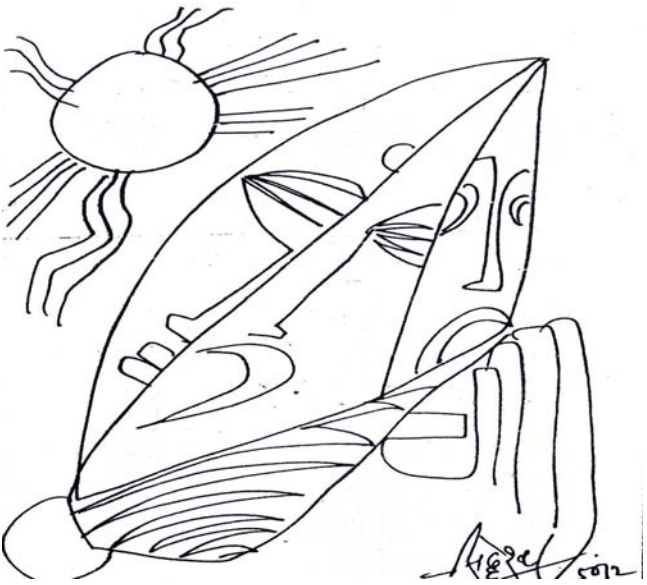

लोकतांत्रिक व्यवस्था में सोमसिंग की पहली सरपंची सुबह की कथा उसे सोमा कहिए या सोमड़ा या सोम्या, है तो वह सोमसिंग ही। नाम को सरलीकृत या कहें दूषित करने की यह परंपरा सिर्फ उसके लिए नहीं थी। उस जैसे और उसके फल्या जैसे और फल्यों और गांवों में भी थी, जहां रामसिंह राम्या हो जाता था तो दुरसिंग, दुरतिया और कालूसिंह, काल्या या कलुवा जैसा कोई मुंहचिढ़ाऊ नाम। सोमसिंग को भी उसके मूल नाम से कोई नहीं पुकारता था। पहले जब वह अपने फल्या में रहता था, तब भी नहीं और जब से वह इस गांव में रह रहा है, तब से भी नहीं। मगर जब वह चुनाव में खड़ा हुआ, तब उसके इसी मूल नाम का पर्चा पहली बार छपा।

जब सोमसिंग के पूरे नाम 'सोमसिंग पिता अनारसिंग डावर' से चुनाव के पर्चे छपे तो उसे मन ही मन गुदगुदी हुई थी। हालांकि वह उन हल्के गुलाबी कागज के पर्चों में छपे हुए अपने नाम को पढ़ नहीं सकता था, फिर भी उसे मालूम था कि उन पर्चों में जो बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था, वह उसका ही नाम था या होगा और नाम के सामने छपा हुआ 'सीढ़ी का चिह्न' उसका चुनाव चिह्न था। उसे अपना चुनाव चिह्न देखकर भी उतनी ही खुशी हुई थी। कितना अच्छा चुनाव चिह्न है! पहली

बार जब पर्चा उसके हाथ लगा था तो उसके चेहरे पर प्रसन्नता की एक उत्साही चमक कुछ देर के लिए आई थी, गोया छपी हुए सीढ़ी से कोई अदृश्य रोशनी निकल रही थी जो भूले-भटके उसके चेहरे पर आ रही थी। हालांकि यह प्रसन्नता सिर्फ अपने नाम भर के छपे होने की थी, चुनाव में खड़े होने की नहीं। चुनाव को लेकर तो शुरू-शुरू में उसके मन में छोटा-सा मगर अनजान-सा भय ही था, जिसे उसने किसी पर जाहिर तक नहीं होने दिया था।

सोमसिंग नहीं जानता था कि वह क्यों और किसलिए चुनाव में खड़ा था ? या यह कि वह किस पार्टी के लिए खड़ा था ? या यह कि उसे चुनाव में क्या करना होगा ? या चुनाव जीतने के बाद क्या करना होगा ? और न ही इस बात की चिंता या फिक्र थी कि चुनाव में वह जीतेगा या कि हारेगा ?

सोमसिंग को कुछ भी नहीं मालूम था। उसे मालूम था तो बस इतना भर कि अयोध्या बाबू ने जिनके यहां वो वरसुद पर था यानी बंधुआ मजदूर था, उन्होंने उसे चुनाव में खड़ा किया था। सोमसिंग नहीं जानता था कि अयोध्या बाबू ने उसे ही क्यों खड़ा किया था? या अयोध्या बाबू खुद क्यों नहीं खड़े हुए थे, जबकि पहले तो वही सरपंची का चुनाव लड़ते थे। अयोध्या बाबू सरपंची के लिए खुद नहीं खड़े हुए तो उनके चार-चार बेटे हैं, उनमें से किसी को क्यों नहीं खड़ा किया था ? सोमसिंग इन सारे सवालों के जवाब नहीं जानता था और न उसको इन सवालों के जवाब जानने की कोई उत्कंठा थी इसीलिए उसने जानने की कोई कोशिश भी नहीं की थी। उसे तो अयोध्या बाबू के घर, खेत और खलिहान से ही फुरसत नहीं होती थी।

अब सोमसिंग को कौन बताता कि इस देश में लोकतंत्र है। पिछड़ों, दलितों और आदिवासियों को चुनाव में आरक्षण है। इसी आरक्षण ने उसे इस गांव में सरपंची के लिए उम्मीदवार बनवा दिया था।

ऐसा नहीं था कि इस गांव में उसकी जाति का और कोई नहीं था। दस-बारह घर गांव की काकड़ पर और भी थे जो उसकी तरह अनुसूचित जनजाति के थे। मगर वे सब अयोध्या बाबू के यहां वरसुद तो नहीं करते थे ?

पर्चा भरने के बाद सोमसिंग इतना भर समझने लगा था कि वह अयोध्या बाबू के यहां वरसुद करता है, इसलिए उसे चुनाव में खड़ा किया गया था। अयोध्या बाबू अपने चौगाण में बैठे एक दिन अपने बड़े बेटे सुरेश को समझा भी रहे थे कि 'सोमसिंग अपना आदमी है, उसे हम जैसा कहेंगे, वह वैसा ही करेगा। उसे उठने का कहेंगे, तो उठेगा और बैठने का कहेंगे तो बैठेगा। आज बारह सालों से वह हमारे यहां वरसुद कर रहा है पर आज तक कभी किसी से झगड़ा नहीं किया। जैसा खिलाया, वैसा खा लिया। जैसा बोला, वैसा सुन लिया। अरे, सोमसिंग चुनाव में खड़ा तो नाम भर के लिए है, गांव की सरपंची तो हमें ही देखना पड़ेगी ना! और फिर लोग हमें देखकर वोट देंगे, सोमसिंग को देखकर थोड़े ही।'

सोमसिंग ने जब यह सुना था तो वह मन ही मन प्रसन्न हुआ था कि उसके मालिक उसके बारे में कितना भला सोचते हैं और उस पर कितना भरोसा करते हैं। अयोध्या बाबू की इन मीठी बातों

को सुनकर वह उन पिछली सारी छोटी-बड़ी बातों को भूल गया था, जब यही अयोध्या बाबू उसे ठण्ड, गर्मी और बरसात में उघाड़े बदन खेत में बैल की तरह काम में जुतवाए रखते थे। जरा-सा दम भर लेने की फुरसत मिलते ही दस खरी खोटी सुनाते थे। अयोध्या बाबू के बेटों ने तो दो-एक बार उस पर हाथ तक उठाया था। सोमसिंग उन सारी बातों को एक पल में भूल गया था, जब उसने अयोध्या बाबू के मुंह से सुना था कि 'सोमसिंग अपना आदमी है, उसे हम जैसा कहेंगे, वह वैसा ही करेगा।...'

सोमसिंग इसलिए भी खुश था कि उसे इस चुनाव में कुछ करना धरना नहीं होगा और चुनाव के बाद भी सरपंची की जवाबदारी अयोध्या बाबू की रहेगी। उसके मन का बोझ हल्का पड़ गया था। उसने मन ही मन यह सोच लिया था कि उसे तो बस वही करना है जो उसके मालिक कहेंगे। वहीं जाना है, जहां उसके मालिक ले जाएंगे। इसी में उसका हित है और उसके परिवार का हित भी।

उस दिन सोमसिंग ने जब रात में अपनी घरवाली बजरी को यह बात बताई थी तो वह भी खुश हुई थी। उसके तीनों बच्चों में से दो बच्चे जो उस समय जगे हुए थे, अपने बाप की बात तो नहीं समझ पा रहे थे, मगर अपने मां-बाप को खुश देखकर खुश हुए थे। तीसरा बच्चा सालेक भर का था और खाट के पाट से बंधी एक पुरानी साड़ी की झोली में सो रहा था।

बहरहाल चुनाव का दिन भी आ गया और सोमसिंग को अब तक कुछ करना भी नहीं पड़ा था। सच पूछा जाए तो उसे पक्की तौर पर मालूम भी नहीं था कि चुनाव किस तारीख को होना था ? हो सकता है इस कहानी के पाठकों को अचरज हो मगर सोमसिंग को यह भी नहीं पता था कि चुनाव में उसके सामने कौन खड़ा था ? या कितने और लोग उम्मीदवार थे ? बहरहाल उसे एक किस्म की राहत भी हुई थी कि जिस चुनाव को लेकर उसके मन में छोटा-सा संशय था, उसमें उसे कोई दौड़-धूप नहीं करनी पड़ी थी। एक कांडकिया (तिनका) तक उसे सरकाना नहीं पड़ा। उसका विश्वास था कि ऐसा अयोध्या बाबू के कारण हुआ था। हालांकि चुनाव के पहले अयोध्या बाबू के घर में सुबह से रात तक गहमा-गहमी का माहौल बना रहता था। अयोध्या बाबू खुद भी पूरे गांव में लोगों से मिलते-जुलते रहते थे। गांव के लोगों का उनके घर आना-जाना भी लगा ही रहता था। वह खुद ही तो दिन भर चाय परोसता था उनके घर सुबह से शाम तक आने जाने वालों को। कभी-कभी गांव वाले सोमसिंग का सेवा भाव देखकर उसकी तारीफ कर देते थे, तो वह शरम से झेंप जाता था और अपने मटमैले दांतों को फैलाकर मुस्कुरा भर देता था। हद तक मूर्खता से भरी मगर इस पवित्र झेंप से उसकी गर्दन झुक जाती थी।

जब कोई कहता था, 'अयोध्या बाबू तुम्हारा वरसुद्या तो बड़ा सीधा आदमी है। गाय है, बिल्कुल गाय।' तो सोमसिंग मन ही मन प्रसन्नता से ऐसे खिल उठता था जैसे उसकी सेवा और समर्पण खाली नहीं गया हो। चुनाव के दौरान घर में आने वाले लोग जब सोमसिंग की तरफ देखकर अयोध्या बाबू को कहते कि 'देखना इस चुनाव में सोम्या ही जीतेगा' तो उसे भला लगता था और उसकी आंखें भी अविश्वसनीय रूप से चमक उठती थीं, तब अयोध्या बाबू भी सोमसिंग की तरफ मुस्कुराकर देखते थे। अपने मालिक की मुस्कुराहट सोमसिंग को किसी वरदान से कम

नहीं लगती थी।

चुनाव वाले दिन जब गांव के स्कूल में, जहां चुनाव के लिए अस्थाई पोलिंग बूथ बनाया गया था, सोमसिंग अयोध्या बाबू के साथ आया था, तो चुनाव में खड़े होने की प्रसन्नता उसके चेहरे से छुपाए नहीं छुप रही थी। रहा सहा अयोध्या बाबू ने उसके उत्साह को और बढ़ा दिया था, उसके कंधे पर हाथ रखकर। अयोध्या बाबू ने जब अपने पीछे चल रहे सोमसिंग को थोड़े आगे करते हुए, उसके कंधे पर हाथ रखा था तो सोमसिंग को अचरज और खुशी दोनों हुई थी। इस तरह उसके कंधे पर हाथ तो उसके बाप ने भी कभी नहीं रखा था। इसी पल सोमसिंग ने अपने मालिक अयोध्या बाबू को अपना भगवान मान लिया था।

वोटिंग बूथ के अंदर जब बूथ प्रभारी सरकारी अफसर ने 'सोमसिंग पिता अनारसिंग डावर' कहकर उसे बुलाया था तो उसकी बांछें खिल गई थीं। उसकी छाती के बालों में सरसराहट हुई थी। वह जीवन में पहली बार दो कदम अकड़कर चला था। और उसी अकड़ के साथ बूथ से बाहर आया था लेकिन अयोध्या बाबू के पीछे-पीछे।

शाम को जब स्कूल में बूथ पर मतगणना हुई थी, तब भी सरकारी अफसर की निष्ठुरता के चलते सोमसिंग को अयोध्या बाबू ने खेत से बुलवाया था। यही नहीं, उसके लिए अपनी जीप तक भेजी थी ताकि उसे जल्द से जल्द पोलिंग बूथ पर लाया जा सके। सोमसिंग जब आया था, उसके बाद ही वोटों की गिनती शुरू हो पाई थी। हालांकि सोमसिंग नहीं जानता था कि यह सब क्या हो रहा था और उसे क्यों बुलवाया गया था। आने से पहले तक उसके मन में दस तरह के संदेह के कीड़े कुलबुलाते रहे थे मगर यहां आने पर सब सामान्य-सा लगा था तो उसे भीतर से एक बड़ी राहत महसूस हुई थी। फिर चूंकि अयोध्या बाबू भी वहां मौजूद थे, उनकी मौजूदगी उसे हिम्मत बंधाती रही थी। वोटों की गिनती के बाद जब सरकारी अफसर ने सोमसिंग की जीत की घोषणा की, तो अयोध्या बाबू के चारों बेटे और उनके साथी खुशी से नाच उठे थे। बाहर खड़ा हुआ हीरू ढोली जोर-जोर से ढोल पीटने लगा था। अयोध्या बाबू की उंगलियां बार-बार अपनी रौबदार मूछों पर अपने आप ही जा रही थी।

सोमसिंग अपने मालिक को उत्साह में मुस्कुराते और उनके बेटों और उनके साथियों को खुशी से नाचते-झूमते देख प्रसन्नता से भर गया था। ढोल की ढमा-ढम सुनकर उसका मन भी हुआ था कि वह भी अपने मालिक की इस खुशी में शामिल हो, मगर अपने भीतर इतनी हिम्मत वह नहीं जुटा पाया था और न जुटा पाता।

ऐसा नहीं था कि सोमसिंग को नाचना नहीं आता था। सोमसिंग बहुत अच्छा नचैया था, जब वह युवा था, भगोरिया में खूब जमकर नाचता था। तब वह बिना थके घंटों थिरकता रहता था और मृदंग की थाप पर जोर-शोर से भगोरिया के गीत गाता था,

पोले बोयड़े मारा डूरे,
इने बोयड़े तारा,
काय कारिने बुलाड़ो

सीटी दी ने बुलाड़ो

अब भी सोमसिंग सिर्फ भगोरिया के दिनों में अपने फल्या में जा पाता था। साल भर में सिर्फ भगोरिया के लिए वह अयोध्या बाबू से छुट्टी मांगता था। ये और कि उसमें भी अयोध्या बाबू उसे आनाकानी करके सात दिन ही छोड़ते थे जबकि भगोरिया इधर के आदिवासियों का प्रमुख त्यौहार होता है और पंद्रह दिनों तक इसे अलग-अलग फल्यों में बड़े उत्साह के साथ मनाया जाता है।

अयोध्या बाबू के सामने और फिर उनके बेटों के साथ नाचना एक बड़ी गुस्ताखी होगी, यह सोचकर उसके पैर ही नहीं उठ पा रहे थे। उसके पैर जैसे जमीन में गड़ गए थे। तभी अयोध्या बाबू के बेटों के साथ नाच रहे उनके दोस्त-यारों में से किसी ने सोमसिंग का हाथ पकड़कर उसे भी जश्न में शामिल करने की कोशिश की थी। सोमसिंग बहुत झेंप के साथ नाचने के नाम पर महज दो पांव इधर उधर कर पाया था, जबकि उसका मन भीतर से थिरक रहा था। वह किसी तरह हाथ छुड़ाकर एक बड़ी शर्म के साथ वापस अयोध्या बाबू के पीछे आकर खड़ा हो गया था।

इस बड़ी चुनावी जीत की खुशी में पोलिंग बूथ से जश्न के साथ रैली निकाली जानी थी, जो गांव की दो मुख्य गलियों की फेरी लगाते हुए अयोध्या बाबू के घर पहुंचनी थी। इसके लिए पड़ोस के कस्बे से एक और ढोल-ताशा पार्टी का इंतजाम पहले से करवा लिया गया था।

कानफोड़ू ढोल-ढमाके के बीच अयोध्या बाबू की खुली हुई जीप में वह पीछे बैठा था और सबको नाचते हुए देख-देखकर खुश होता रहा था। अयोध्या बाबू के गले में आठ-दस मालाएं डली हुई थीं। रास्ते में गांव के लोग जब अयोध्या बाबू को मालाएं पहनाते थे तो वे कुछ मालाएं निकालकर पीछे बैठे सोमसिंग के हाथों में रख देते थे। सोमसिंग ने उन मालाओं को हाथ फेर-फेर कर देखा था तो उसे अंदर ही अंदर प्रसन्नता हुई थी कि अपने मालिक की इस खुशी में वह भी शामिल था। उसके चुनाव जीतने के कारण ही उन्हें यह खुशी मिली थी।

जश्न का काफिला जब पूरे तीन घंटे बाद अयोध्या बाबू के घर के पास आकर थमा तो अयोध्या बाबू ने सभी गांव वालों को जो नाचते-झूमते हुए उनके काफिले में शामिल हुए थे, हाथ जोड़कर धन्यवाद दिया था। लेकिन सोमसिंग यह सब देखने के लिए नहीं खड़ा रहा, वह तो दौड़कर भीतर गया और फटाफट चौगाण में खाटें बिछाने में जुट गया था। पिछले दो चुनाव वह अयोध्या बाबू के यहां देख चुका था और उसे मालूम था, अभी देर रात तक चौगाण में मजमा जमेगा, चुनाव की बातें होती रहेंगी और देर तक ठहाके लगते रहेंगे।

देर रात में जब सोमसिंग अपनी झोपड़ी में, जो अयोध्या बाबू के ही खलिहान में बनी थी, आया था तो उसने अपनी घरवाली बजरी को इस जश्न और जुलूस के बारे में खूब हँस-हँसकर बताया था। सोमसिंग ने अपने मन की बात भी बताई थी कि 'मन तो म्हारो भी खूब थो, पण जुलूस म मालिक का सामने कैसो नाचतो!' (मन तो मेरा भी बहुत था पर जुलूस में मालिक के सामने कैसे नाचता!) बजरी सोमसिंग की बातें सुनकर बहुत खुश हुई थी। बजरी ने उसे बताया था कि ढोल-ढमाकों की आवाज उसने भी सुनी थी मगर घर में छोटा बच्चा रो रहा था, इसलिए बाहर देखने के लिए भी नहीं निकल पाई थी। सोमसिंग ने अपने तीनों सोते हुए बच्चों को एकबारगी मुस्कुराकर

देखा था और सबसे छोटे वाले के सर पर प्यार से हाथ फेरा था, जो पास ही में खाट से बंधी झोली में सोया था।

जश्न-जुलूस का सोच-सोचकर उस रात सोमसिंग को देर तक नींद नहीं आई थी। वह देर तक इधर-उधर कसमसाता रहा था इसलिए जब बजरी ने रोज की तरह सुबह के पांचेक बजे उठाया था तो उसे खीज आई थी। मगर चूंकि रोज की तरह आज भी उसे सुबह उठकर ढोरों का चारा-पानी करना था और भैंसों का दूध निकालना था, तो वह मन मारकर उठ गया था।

सोमसिंग की झोंपड़ी जिस खलिहान में बनी थी, उसी खलिहान में अयोध्या बाबू के ढोरों को बांधने की गवाणें भी थीं। और खेती-बाड़ी का दूसरा सामान पड़ा रहता था। और कड़बी चारा भी रखा रहता था। एक तरह से अयोध्या बाबू ने सोमसिंग को खलिहान में झोंपड़ी देकर उसके हिस्से इसकी चौकीदारी भी उसे सौंप रखी थी। ऐसा गांव के दूसरे वरसुदयों के साथ भी था। खैर अपनी आंखों को मिचमिचाता हुआ सोमसिंग उठा और गवाण में जाकर ढोरों का गोबर-पानी करने में जुट गया था।

सोमसिंग नहीं जानता था कि यह उसके लोकतंत्र के पंचायती राज की पहली सरपंची सुबह थी। उसके लिए तो यह भी और सुबहों की तरह ही थी।

तो सोमसिंग अब सरपंच बन गया था। मगर सोमसिंग, अयोध्या बाबू के घर कैसे आया, इसकी भी अपनी एक कहानी है। दरअसल सोमसिंग के पिता अनारसिंग को उनके फल्या के एक परिचित ने अयोध्या बाबू के यहां वरसुद पर लगवाया था। सुबह-शाम का खाना, साल भर में दो बार घर के पुराने कपड़े और महीने के पांच सौ रुपये उसे देते थे। तब सोमसिंग छोटा था और अपने फल्या में अपनी मां और बाकी कुनबे के साथ रहता था। अनारसिंग जब भगोरिया के दिनों में अपने फल्या में लौटता था, तब सोमसिंग महीनों बाद लौटे अपने बाप को पहचान भी नहीं पाता था। जब सोमसिंग तकरीबन सोलह-सत्रह साल का हुआ था तब उसके पिता अनारसिंग को अयोध्या बाबू के खलिहान में सोते हुए किसी जहरीले सांप ने काट लिया था और उसकी मृत्यु हो गई थी। तब अनारसिंग के मरने के बाद सोमसिंग को उसके परिवार ने अयोध्या बाबू की सेवा में भेज दिया था, तब से सोमसिंग अयोध्या बाबू के यहीं का होकर रह गया। वह भी सिर्फ भगोरिया के दिनों में ही अपने फल्या में लौट पाता था। शुरू-शुरू में उसे अपने फल्या और वहां के लोगों की बहुत याद आती थी। चाहे भूख और लाचारी के बीच ही सही मगर फल्या के जीवन की आजादी और उन्मुक्तता उसे बहुत याद आती थी। अपने फल्या के लोग ही नहीं जंगल, पहाड़, पशु, पक्षी, झरने सब उसे याद आते थे। मगर फिर भी अपने पिता की तरह वह भी अयोध्या बाबू के यहां सुबह मुंह अंधेरे से उठकर रात अंधेरा होने तक हाड़-तोड़ काम करता रहता था। कभी शिकायत का कोई मौका जान-बूझकर नहीं देता था। सोमसिंग जब बीस-इक्कीस का हुआ था, तब वह भगोरिया के दिनों में अपने फल्या में आया हुआ था। उन दिनों उसके फल्या के पास के कस्बे में भगोरिया का हाट लगा था, जहां उसने एक लड़की बजरी का हाथ धर लिया था और बजरी भी मुस्कुराते हुए उसके साथ भाग ली थी। इस तरह बजरी से उसका विवाह अपनी परंपरा के त्यौहार भगोरिया में ही

हुआ था, जिसमें लड़का-लड़की एक-दूसरे को पसंद करते हैं और भाग जाते हैं।

सोमसिंग जब बजरी को लेकर अपने फल्या में आया था तो उसके परिवारवालों ने उसे लाख मना किया था कि वह बजरी को अभी अपने साथ न ले जाए। मगर सोमसिंग नहीं माना था, तो नहीं माना था। वह बजरी को भी अपने साथ इस गांव में ले आया था।

अयोध्या बाबू को सोमसिंग के इस तरह अचानक ब्याह करने और दुल्हन को साथ ले आने ने बिल्कुल नहीं चौकाया था, बल्कि वे तो खुश ही हुए थे कि उनके घर के दूसरे छोटे-मोटे काम के लिए अब सोमसिंग की दुल्हन भी उपलब्ध रहेगी।

सोमसिंग की लुगाई बजरी के लिए यह गांव और यह दुनिया नई थी। चूंकि अपना जीवन साथी खुद उसने चुना था, इसलिए खलिहान की इस छोटी-सी झोपड़ी में ही सही मगर सोमसिंग के साथ आकर बजरी खुश थी।

सोमसिंग को अयोध्या बाबू के घर में या खेत में काम करते हुए कभी किसी तरह की कोई दिक्कत नहीं आई थी। बस उसे अयोध्या बाबू के बड़े लड़के सुरेश बाबू से हमेशा डर लगता था। सुरेश बाबू एक तो स्वभाव के बड़े गुस्सैल थे और जब-तब उसे हड़काते भी रहते थे। और उस पर उनका चरित्र भी बहुत अच्छा नहीं था। सुरेश बाबू अपने खेत में काम करने वाली कम उम्र या ठीक-ठाक उम्र वाली दाड़किनों (महिला मजदूरों) से अक्सर छेड़छाड़ करता था। यहां तक कि सोमसिंग ने खुद कई बार सुरेश बाबू को अपने खेत पर बने टप्पर में अक्सर किसी न किसी को 'निपटाते' हुए देखा था। अपनी नई दुल्हन के साथ गांव आए सोमसिंग को बस इसी एक बात का खटका मन में रहता था कि कहीं सुरेश बाबू की नजर उसकी घरवाली पर न पड़ जाए। मगर उसकी घरवाली अपनी परंपरा अनुसार कई दिनों तक लंबा घूंघट काढ़े रखती थी, तो उसका यह डर उसके मन से धीरे-धीरे चला गया था।

यह तकरीबन उसकी शादी के छः महीने बाद की बात थी, जब खेत में उसने अपनी लुगाई बजरी से सुरेश भैया को बातें करते हुए देखा था, तब किसी आशंका से उसकी पिंडलियां कांप गई थीं और किसी अदेखे डर ने सोमसिंग को पहली बार डराया था। वह बजरी की तरफ लगभग दौड़ते हुए पहुंचा था, तब सुरेश बाबू ने उसे आता देख दूर से ही बिना किसी बात के हड़काना शुरू कर दिया था। सोमसिंग क्या कहता और क्या करता, वह बस दीनता के साथ सुरेश बाबू को अपलक देखता रहा। बजरी तब तक वापस खेत में बाकी दाड़किनों के साथ कपास बीनने के काम में लग गई थी।

इस घटना के दो दिन बाद जब सोमसिंग अयोध्या बाबू के कपास के ट्रैक्टर के साथ कस्बे की मंडी में गया था और दूसरे दिन शाम को लौटा था तो अंधेरे में भी उसने देख लिया था, कि बजरी की आंखें रो-रोकर लाल हो गई थीं। उसने उस दिन बजरी को खूब टटोलना चाहा था कि क्या हुआ है, मगर वह जितना पूछता था, बजरी उतना ही रोते जाती थी। सोमसिंग की पिंडलियां फिर उसी अदेखे डर से कांप गई थीं।

हालांकि यह बात समय के साथ आई-गई हो गई और इसके बाद धीरे-धीरे बजरी भी इस गांव

और अयोध्या बाबू के घर परिवार में अच्छे से हिल-मिल गई थी। अब उसका घूंघट काफी कम हो गया था, सिर्फ अयोध्या बाबू के सामने या गांव-बाहर के गैर मर्दों के सामने ही वह ज्यादा घूंघट रखती थी।

अकथ अनंत कथा सोमसिंग

बहरहाल सरपंच बनने के बाद भी सोमसिंग, सोमसिंग नहीं बन पाया। वह सोम्या, सोमड़ा या सोमा ही रहा। और बीते दिनों की तरह ये दिन भी बीतते रहे। फर्क बस इतना भर आया था कि अयोध्या बाबू उसे जब तब तकरीबन रोज ही उसे किसी कागज पत्तर पर अंगूठा लगवाने के लिए अलग से बुलवाने लगे थे। सोमसिंग भी वफादार और ठेठ वरसुदया था, कभी उसने अपने मालिक अयोध्या बाबू से नहीं पूछा था कि क्या ? क्यों ? किसलिए ? उसे अयोध्या बाबू जब जहां कहते थे, वह खुशी-खुशी अपना अंगूठा लगा देता था। सच तो यह है कि उसे इस बात से खुशी होती थी कि वह अपने मालिक के किसी काम आ रहा है। और फिर यह बात भी उसके मन को गुदगुदाती थी कि उसके अंगूठे की भी अब कोई बखत है ?

तीसरी और महत्वपूर्ण बात यह थी कि सरपंच बनने के बाद भी उसे कुछ अलग से करना-धरना नहीं पड़ता था, सब अयोध्या बाबू संभाल लेते थे। उसे कभी गांव में या बाहर कहीं आना-जाना नहीं पड़ता था। जबकि सोमसिंग ने खुद पहले देखा था, जब अयोध्या बाबू सरपंच थे तो उन्हें इधर-उधर बहुत दौड़ना-भागना पड़ता था। इसी दौड़-भाग के संदेह से ही तो शुरू-शुरू में उसके हलक से पानी भी नहीं उतरता था। वह भीतर से घबराया हुआ रहता था। मगर जब उसने देखा कि सरपंची मिलने के बाद भी उस पर कोई विशेष अतिरिक्त बोझ नहीं पड़ा था, तो उसे अपने कंधे पर फिर अयोध्या बाबू के हाथ का स्पर्श याद आया था। यह बात सोचकर वह अकेले ही मुस्कुराने लगा। बजरी ने उसे अकारण मुस्कुराते हुए देखा तो उसे छेड़ते हुए पूछा था, -''काय सरपंच साब, वठ-वठ कांय की हसी आइ रइ।'' (क्या सरपंच साहब, बैठे-बैठे किस बात की हंसी आ रही है ?) बजरी का 'सरपंच साब' कहना, उसे गुदगुदा गया था।

सोमसिंग के सरंपच बनने के बाद अयोध्या बाबू के रुतबे में गांव में या घर में कहीं कोई कमी नहीं आई थी बल्कि एक तरह से उनका रुतबा बड़ा ही था कि 'देखिए, वे जब चाहे, जिसे चाहे खड़ा कर सकते हैं और चुनाव जीतकर दिखा सकते हैं।' पहले भी गांव के लोग अपनी समस्याएं लेकर अयोध्या बाबू के पास आते थे और अब भी आते थे। हफ्ते पखवाड़े में गांव वालों की बैठकी अब भी उन्हीं के चौगाण में लगती थी। हालांकि अब अयोध्या बाबू दौड़धूप के ज्यादातर काम खुद नहीं करते थे, अधिकतर वे ऐसे कामों के लिए अपने बेटों को यहां-वहां भेजते रहते थे। एक तरह से सोमसिंग निरात था कि उसके हिस्से सरपंची का कोई पचेड़ा नहीं आया था।

यह सोमसिंग के सरपंच बनने के तकरीबन चारेक साल बाद की बात है, जब पहली बार सोमसिंग का पुलिस से वास्ता पड़ा था। दरअसल सोमसिंग तो नाम भर का सरपंच था, और सरपंची का सारा कामकाज अयोध्या बाबू ही देखते थे और दौड़-धूप के सारे काम-काज उनके बेटे निपटा लेते थे। इन बीते चार वर्षों में जब भी गांव के विकास के लिए कोई सरकारी फंड आया था,

उसका अयोध्या बाबू ने भरपूर दुरुपयोग किया था। गांव में सीमेंट कांक्रीट की सड़क निर्माण के लिए आई राशि हो या नालियों और शौचालयों के निर्माण के लिए आया हुआ फंड हो या बेघर मजदूरों के लिए पक्के आवासीय भवनों की योजना का पैसा हो, सब का सब अयोध्या बाबू के भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ चुका था। हालांकि अयोध्या बाबू इसमें से बड़ा हिस्सा ऊपर के अधिकारियों को भी खिलाते-पिलाते थे या खिलाते-पिलाते रहे होंगे मगर इधर इन दिनों मीडिया का दखल सिर्फ शहरों में ही नहीं बढ़ गया था बल्कि गांव-देहातों तक खोजी पत्रकार खबरों के लिए पहुंच जाते थे। पिछले कई महीनों से पत्रकारों ने इस गांव में हुए भ्रष्टाचार की खबरों को प्रमुखता से स्थानीय अखबारों में प्रकाशित किया था और एक दो प्रादेशिक इलेक्ट्रानिक मीडियावालों ने भी इस गांव के भ्रष्टाचार की खबरों को कवरेज दिया था, जिन्हें अयोध्या बाबू ने अपने साम-दाम-दंड-भेद से किसी तरह दबाए रखा था।

अब सोमसिंग पढ़ा-लिखा तो था नहीं और न ही गांव-चौपाल पर सुबह शाम उसकी बैठकी थी इसलिए कभी उसे गांव की इन समस्याओं के बारे में या सरकार से मिलने वाले धन के बारे में कुछ पता ही नहीं चलता था। वह तो बस जहां अयोध्या बाबू कहते थे, अपना अंगूठा छाप देता था। अयोध्या बाबू यूं तो रोज ही किसी कागज-पत्तर पर उससे अंगूठा लगवाते थे, मगर उसने देखा था, तीन-चार बार अयोध्या बाबू ने खुश होकर उसे सौ-डेढ़ सौ इनाम भी दिया था और कुछेक बार उसके बच्चों के लिए पुराने कपड़े या उसकी लुगाई बजरी के लिए अपनी बहुओं से मांगकर कोई पुरानी साड़ी दी थी। सोमसिंग अपना अंगूठा लगाने के बदले कभी-कभार अपने मालिक से मिलने वाले इन तोहफों को किसी आशीर्वाद की तरह ग्रहण करता था और उनकी उदारता के लिए उन्हें खूब दुआएं भी देता था।

खैर सोमसिंग जब कस्बे के पुलिस थाने में अयोध्या बाबू के बड़े बेटे सुरेश बाबू के साथ आया था तो वह अंदर ही अंदर कांप उठा था। जब थाना पर मौजूद सिपाहियों ने सुरेश बाबू को देखकर राम-राम किया था, तो उसके प्राण वापस लौटे थे। सुरेश बाबू उसे बाहर बिठाकर अंदर किसी कमरे में गए थे और देर तक अंदर ही बैठे रहे थे। जब वे आधे घंटे बाद वापस आए थे, तो उसने सोमसिंग को बताया कि, -''सोम्या, तुम आज और कल दो दिन यहीं रहना। मैं परसों तुम्हारी जमानत करवाकर तुम्हें ले जाऊंगा और बाबूजी को भी बता दूंगा, कोई चिंता मत करना।'' सोमसिंग बस मुंडी हिलाकर रह गया था।

इस तरह सोमसिंग ने पहली बार दो रातें किसी पुलिस थाने में बिताई थीं। उसे बजरी और बच्चों की भी चिंता थी लेकिन यह भी भरोसा था कि वह आखिर अयोध्या बाबू का आदमी है और फिर सुरेश बाबू ने कहा भी है कि 'कोई चिंता मत करना' तो उसकी चिंताएं कुछ कम हो गई थीं।

खैर, सुरेश बाबू ने सही कहा था, सोमवार को कोर्ट में सोमसिंग की जमानत भी हो गई थी और वह वापस अपने झोंपड़े में आ गया था। मगर न सोमसिंग ने किसी से कुछ पूछा, न किसी और ने ही उसे कुछ बताया कि उसे थाने में क्यों रखा गया था या उसकी जमानत कोर्ट में ले जाकर क्यों कराई गई थी ? सच तो यह है कि सोमसिंग के मन में ऐसे कोई सवाल आए ही नहीं थे। वह तो

अपने झोंपड़े में जाकर अपनी पत्नी और बच्चों से मिलकर आया और वापस अपने काम में लग गया था।

इस घटना के बाद सोमसिंग ने एक बड़ा परिवर्तन यह महसूस किया कि अब उसे अयोध्या बाबू किसी कागज पत्तर पर अंगूठा लगवाने के लिए नहीं बुलवाते हैं। उसे पहले यह अच्छा लगा, फिर बुरा भी लगा। यह भी एक किस्म की दुर्लभ भोली सज्जनता है, कहानी के पाठक चाहें तो ऐसी सज्जनता को मूर्खता भी मान सकते हैं। सोमसिंग दुखी भी इसलिए हुआ था कि अंगूठा लगाने के बहाने कभी-कभार उसे कुछ इनाम मिल जाता था, अब नहीं मिलता।

दरअसल सोमसिंग नहीं जानता था कि वह जिन कागजों पर बिना सोचे-समझे अंगूठे छाप देता था, उसके कारण इस गांव के विकास के लिए आई राशि भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाती थी। अखबारों में इस गांव के विकास में पिछड़ेपन की खबरें छपी थीं। और गांव के सरपंच यानी उस पर लाखों रुपये की राशि के हेरफेर के आरोप चल रहे थे, जिसके लिए उसके खिलाफ वारंट भी निकला था, जिसे किसी तरह ले देकर अयोध्या बाबू ने उसकी जमानत करवा दी थी। सोमसिंग को इन सबके बारे में कुछ भी नहीं मालूम था। और सोमसिंग इन सब बातों को मालूम करेगा भी नहीं, यही सोचकर तो अयोध्या बाबू ने गांव में सरपंच के लिए उसका पर्चा भरवाया था कि सोमसिंग सरपंच नाम भर का रहेगा, सारा कामकाज तो फिर भी उनके हाथ में ही रहेगा।

खैर, न चाहते हुए भी सोमसिंग का पुलिस से दूसरी बार वास्ता फिर तीनेक महीने बाद हुआ। मगर अबकी बार उसे थाने में नहीं रहना पड़ा था बल्कि पहले कोर्ट ले जाया गया और फिर वहीं से उसे जिला मुख्यालय की जेल भेज दिया गया था। सोमसिंग कुछ समझ नहीं पा रहा था कि उसे जेल क्यों भेज दिया गया था ? हां, मगर कोर्ट में सरकारी वकील को यह कहते हुए सुना था कि, 'इस आदमी ने गांव में एक फूटी कौड़ी का काम नहीं करवाया है बल्कि पिछले चार साल में गांव के विकास के लिए राज्य सरकार और केंद्र सरकार से जितना भी धन आया है, सबका सब इसने अकेले ही भ्रष्टाचार करके निकाल लिया है।'

सोमसिंग कोर्ट में बस निरीहता और दीनता के साथ कभी वकील को, कभी जज को तो कभी सुरेश बाबू को देखता रहा था, मगर कुछ नहीं बोला था। हां, पर उसकी आंखें भर आई थीं।

जब वह जेल पहुंचा, तब दूसरे दिन उससे मिलने के लिए अयोध्या बाबू का बड़ा बेटा सुरेश आया था। सोमसिंग सुरेश बाबू को देखकर जेल की मोटी-मोटी सलाखों से सटकर नीचे बैठ गया था सुरेश बाबू के पैरों के पास। और कुछ देर बाद यकायक उसकी रुलाई फूट पड़ी थी। वह फफक-फफककर रोने लगा था। तब सुरेश बाबू ने उसे लगभग फटकारते हुए आश्वासन दिया था कि ''सोम्या तू क्या औरतों की तरह रोता है! चल अब चुप हो और सुन, बाबूजी ने कहा है कि तू चिंता मत करना। यहां से भी तुम्हें जल्द ही निकाल लेंगे। तुम्हारी लुगाई तो घर, खेत के काम करती ही है। और फिर हम हैं ना तुम्हारे बच्चों का खयाल रखने के लिए। तुम बिल्कुल फिकर मत करो।'' सुरेश बाबू से आश्वासन पाकर सोमसिंग को कुछ राहत तो जरूर मिली थी मगर वह उसी तरह बैठकर बस रोता ही रहा था। सुरेश बाबू अपनी बात कहकर वहां से चले दिए थे।

सोमसिंग अपनी नम आंखों से सुरेश बाबू को जाते हुए दूर तक देखता रहा और सुरेश बाबू के कहे शब्दों 'बाबूजी ने कहा कि तुम चिंता मत करना' के बारे में सोचता रहा था। सोमसिंग को मन ही मन विश्वास हो गया था कि यहां से भी उसे जल्द ही निकाल लिया जाएगा तो उसके चेहरे पर नामालूम-सी मुस्कुराहट आ गई थी जबकि गालों पर आँसुओं की मोटी धार अब भी मौजूद थी। समझ नहीं आ रहा था कि सोमसिंग इस लोकतांत्रिक व्यवस्था पर दांत निपोरकर हँस रहा था या कि रो रहा था।

* * *

आलेख

कहानी की स्त्री बनाम स्त्री की कहानी

पंकज पराशर

हिंदी कहानी में कथ्य, शिल्प और स्वर वैविध्य की जितनी बहुलता आज की कहानियों में दिखाई देती है, उतनी शायद ही किसी और दौर में नजर आती हो। पिछले दो-तीन दशकों में नगरों, महानगरों और छोटे कस्बों के अलावा ठेठ देहात से आए कहानीकारों के पास अलग-अलग तरह के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सत्ता की कार्य-शैली के जीवनानुभव हैं। विभिन्न सत्ताओं के शब्द और कर्म के द्वैत को पहचानने की सूक्ष्म दृष्टि और उनकी मनुष्यविरोधी प्रवृत्तियों को अनावृत्त करने का साहस भी है। पिछले दो दशकों में प्रेम, स्नेह और वात्सल्य जैसे शाश्वत विषयों पर जो कहानियां आई हैं, उसमें उदारीकरण के बाद निर्मित नई सामाजिक / सांस्कृतिक संरचना की शिनाख्त की जा सकती है। दूसरी तरफ वे लोग भी समकालीन कहानी से अनुपस्थित नहीं हैं, जो कथित सामाजिक विकास की धारा में पीछे छूट चुके हैं और तमाम तरह के विकास और संचार से कोसों दूर हैं। यह आकस्मिक नहीं कि आज के कथाकारों ने अपनी कथा-भूमि महज 'काउ बेल्ट' तक सीमित नहीं रखी, बल्कि उनकी कहानियों में असम, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों की आम जनता, किसान, मजदूर और शहरी मध्यवर्ग का जीवन-यथार्थ भी अभिव्यक्त हुआ है। इन कथाकारों ने कथ्य, शिल्प और भाषा में आमूल-चूल बदलाव के साथ-साथ प्रस्तुति के स्तर पर भी हिंदी कहानी को समृद्ध किया है। जिन भारतीय आम जन की कथा दु:ख ही रही है, उस जन की दंतुरित मुस्कान और शक्ति-संरचना के शास्ताओं के चरित्र को आज के कथाकारों ने काफी हद तक ठीक लक्षित किया है।

बीसवीं सदी के साठ के दशक से लेकर नब्बे के दशक के पूर्वार्द्ध तक की कहानियों को देखें, तो कथा-भूमि या तो हिंदी प्रदेश का गांव रहा है या शहर। गैर हिंदी भाषी कथा-भूमि से वाबस्ता कहानियां लगभग नहीं के बराबर मिलती हैं। इसकी वजह शायद यह हो कि हिंदी भाषी प्रदेशों के कथाकारों में घुमक्कड़ी की प्रवृत्ति उस अनुपात में कम पाई जाती है, जितनी बांग्ला या मराठी कथाकारों में। जिस वजह से वे भारत जैसे बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी देश की वास्तविकताओं और संशलिष्ट यथार्थ की परतों को भेदकर गैर हिंदी भाषी कथा-भूमि की कहानियां संभव नहीं कर पाते। नए कथाकारों ने बहुसांस्कृतिक और बहुभाषी देश की वास्तविकता को पिछली पीढ़ी के कथाकारों के

मुकाबले ज्यादा गहराई से जाना / समझा है और अपनी कथा-दृष्टि से अद्‌भुत आख्यान रचने में सफलता अर्जित की है। नई कथा-भाषा और प्रस्तुति के बावजूद स्त्रियों की दशा और समस्याओं की समझ के मामले में महिला और पुरुष कथाकारों की कहानियों में दृष्टिकोण की एक फांक नजर आती है। एक ही समय और समाज में जी रहे महिला और पुरुष कथाकारों की स्त्रियों को लेकर समझ और दृष्टिकोण में विद्यमान अंतर को स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है-पुरुषवादी भाषा, शब्द-चयन, अंदाज-ए-बयां और फिकरों में। असल में चेतन स्तर पर किसी चीज के प्रति हम साकांक्ष हों, तब भी अवचेतन में मौजूद सोच-भाषा, शब्द-चयन और शैली की असलियत को सामने ला देती है। स्त्री देह को लेकर जिस तरह की उन्मुक्तता और वर्णन इधर की कहानियों में नजर आती है, उसमें भी स्त्री और पुरुष कथाकारों के वर्णनों को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि दृष्टिकोण के फर्क से किस तरह चीजों के अर्थ और समस्याओं की समझ में तब्दीली आ जाती है।

आज की कहानियों की भाषा को ध्यान से देखें, तो लगता है कि कथा-भाषा में रंग-भाषा और चित्र-भाषा के प्रयोग की कोशिशें हुई हैं। कुछ कहानियों में उप-शीर्षकों के प्रयोग से शिल्प के साथ-साथ अर्थ के स्तर पर भी नए मानी पैदा होते हैं, जिस महामारी की तरह यह कहानियों में प्रयुक्त हो रही है उससे ऊब और व्यर्थता बोध अधिक पैदा होती है-पता नहीं कथाकारों को इस चीज का अहसास है कि नहीं। आजकल जिसे देखिए वह बिना उपशीर्षकों के कहानी लिख ही नहीं रहा है। अन्य मामलों में भले स्त्री और पुरुष कथाकारों के नजरिए में फर्क नजर आता हो, लेकिन इस मामले में क्या स्त्री, क्या पुरुष कथाकार सभी यह मान चुके हैं कि बिना उपशीर्षकों के कहानी अब संभव ही नहीं हो सकती। उपशीर्षक न हुआ, मानो अर्थ और शिल्प सौंदर्य का अनिवार्य तत्व हो गया! शिल्प और अर्थ सौंदर्य बढ़ाने की जगह यह यदि कथ्य में अवरोध पैदा कर रहा हो, तो ऐसे शिल्प को हर जगह इस्तेमाल करने का क्या फायदा?

हिंदी कहानी पर जबसे उत्तर आधुनिकता और बाजार का दबाव बढ़ा है, तबसे स्त्री देह को लेकर सहजता और स्वाभाविकता से अधिक लोकप्रियता का दबाव बढ़ गया है। शायद इसीलिए एक स्थापित स्त्री रचनाकार से नवोदित स्त्री रचनाकार सहजता से पूछ लेती हैं कि कहानी/उपन्यास में देह-वर्णन किस तरह और किस सीमा तक किया जाए कि उन्हें भी तत्काल प्रसिद्धि प्राप्त हो जाए! गनीमत यह है कि ऐसी महिला कथाकारों की संख्या अधिक नहीं है। ज्ञानेंद्रपति की काव्य पंक्ति है: 'छपते हुए अखबार/ और पकते हुए मांस को चाहिए/ गरम मसाला'। कई बार बोल्डनेस और उन्मुक्त वर्णन की साहसिकता दिखाने के लिए, तो कई बार कथा-परिदृश्य में बने रहने के लिए भी इस तरह के देह वर्णन को विस्तार से जगह दी जाती है।

स्त्री कथाकारों के यहां मौजदू स्त्री देह के डिटेल्स, शैली और भाषा को परिस्थिति, माहौल और स्वाभाविकता के लिहाज से देखें, तो चीजें ठीक से खुलती हैं। तकरीबन एक दशक पूर्व 'हंस' के अगस्त 1996 के अंक में लवलीन की कहानी आई थी 'चक्रवात'। इस कहानी में लवलीन ने स्त्री-पुरुष संबंध को बहुत बिंदास तरीके से चित्रित किया था, जिसकी चर्चा महीनों तक रही थी। यह कहानी है उन दो दोस्तों की जो दोस्त से कुछ अधिक हैं। दोनों ने कॉलेज और यूनिवर्सिटी में साथ

पढ़ाई की है और उसी जमाने से दोनों में एक-दूसरे के प्रति सहज जैविक आकर्षण है। कॉलेज खत्म होते ही दोनों की शादी किसी और से हो जाती है। कुछ समय बाद कीर्ति रणजीत के घर उससे मिलने आती है और हालात कुछ ऐसे बन जाते हैं कि दोनों के मन में कॉलेज के दिनों का दमित आकर्षण उस दिन चरम सीमा पर आ जाता है और मानवीय संबंधों का चक्रवात शुरू हो जाता है।

लवलीन के उन्मुक्त वर्णन को लेकर पुरुष पाठकों और रचनाकारों को लगा कि एक महिला होकर स्त्री-पुरुष संसर्ग का कितना बोल्ड वर्णन कर रही है! यानी कितनी साहसी महिला कथाकार है! अब तक तो परंपरा यही रही थी कि प्रेम और देह के मामले में स्त्री की भूमिका समर्पणकारी से अधिक की नहीं रही थी जबकि इन कहानियों ने पात्रों के माध्यम से दिखाया कि दैहिक संसर्ग को लेकर भी पुरुष और स्त्री की दृष्टि अलग है। ऐसी ही पृष्ठभूमि पर बीसवीं सदी के सातवें दशक में मन्नू भंडारी की एक कहानी छपी थी 'ऊंचाई'। जिसकी पात्र शकुन अपने युवा काल के मित्र, जिसके प्रति उसके मन में अत्यंत कोमल भावनाएं थीं, से मुलाकात के दौरान उससे दैहिक रूप से भी मिलती है। यह बात जब उसके पति को पता चलती है, तो तनाव, कटुता और संबंध विच्छेद जैसी बातें सामने आने लगती हैं। मन्नू भंडारी की ही एक और कहानी है 'स्त्री सुबोधिनी' जिसमें उन्होंने दिखाया है कि पुरुषवादी सत्ता का प्रतिनिधि पुरुष किस तरह स्त्री को पत्नी, प्रेमिका और रखैल की अलग-अलग भूमिकाओं में देखता है।

'हंस' के ही दिसंबर 2010 के अंक में युवा कथाकार जयश्री राय की कहानी छपी थी 'एक रात'। उस कहानी में जयश्री संभोगरत क्षण को देह से की गई प्रार्थना मानती हैं, 'ऐसी प्रार्थना जो दो शरीर, दो हथेलियों की तरह एक साथ जुड़कर एक ही छंद, लय और ताल में एक ही उद्देश्य से करते हैं-उस बंधन में जो योग और अर्द्धनारीश्वर है और उस मुक्ति के लिए जो बुद्ध का निर्वाण या आशुतोष का मोक्ष है। प्रेम में घटित हुआ संभोग बंधन में अपनी मुक्ति तलाश लेता है और हर मुक्ति को अपना आलिंगन बना लेता है।' स्त्री यौनिकता को लेकर भारतीय समाज में जिस तरह की मानसिकता और सोच रही है, उसको महिला कथाकारों ने अपनी ही तरीके से समझा है। उनमें यौनिकता को लेकर अलग नजरिया ही नहीं, स्पर्श, प्रेम और आलिंगन का मुख्तलिफ अहसास और संवेदनशीलता भी नजर आती है। इसी कहानी में जयश्री राय आगे लिखती हैं, 'जरूरी नहीं कि स्त्री पुरुष के जिस्म हमेशा एक प्रार्थना में दो हाथ की तरह जुड़ें, वे एक ही दुआ में दो हाथ की तरह अलग-अलग रहकर भी एक सनातन साथ में हो सकते हैं! आओ, हम हमेशा एक दुआ की तरह साथ रहें, प्रार्थना में जुड़कर अपना अस्तित्व समाप्त न कर लें... !' संयुग्मन के एकाकार क्षण में भी जयश्री राय इस बात के प्रति साकांक्ष हैं कि 'प्रार्थना में जुड़कर अपना अस्तित्व समाप्त न कर लें'।

इस कथांश को देखने के बाद एक प्रश्न सहज ही मस्तिष्क में आता है कि स्त्री देह को लेकर जैसी संवेदनशीलता और कोमलता जयश्री राय के वर्णन में दृष्टिगोचर होता है, क्या वैसा ही नजरिया स्त्री-देह और यौनिकता को लेकर उनके समकालीन पुरुष कथाकारों के यहां दिखता है? अब वरिष्ठ हो चुके कथाकार प्रियंवद की एक कहानी में एक मां अपने असामान्य बच्चे की बेहतरीन परवरिश करते हुए एक दिन उसका वीर्य स्खलित करवाने के बाद जिस मानसिक दशा में पहुंच जाती है, उसे

यदि कोई स्त्री रचनाकार लिखती तो क्या उसका ट्रीटमेंट भी इस कहानी के साथ यही होता? प्रियवंद की शिल्पसिद्ध कहानियों में असामान्य और अजीबो-गरीब पात्रों की यौनिकता को लेकर जैसी समझ और संवेदना दिखती है, उसी को यदि स्त्री रचनाकारों की दृष्टि से देखने पर एक भिन्न प्रकार का निष्कर्ष निकलता है।

कार्ल मार्क्स ने कहा था कि पूंजीवाद जब अपने चरम पर होता है तो हर औरत को वेश्या बनने के लिए लालायित करता है। आए दिन प्रकाशित/प्रसारित होने वाले विज्ञापनों में हम देख रहे हैं कि किस तरह हर उत्पाद के प्रचार में स्त्री देह का इस्तेमाल भी एक उत्पाद की तरह ही किया जा रहा है। वीर, भोग्या, वसुंधरा की तर्ज पर पुरुष वर्चस्व की सत्ता और बाजार दोनों की मानसिकता में कहीं-न-कहीं आज भी स्त्री महज भोग्या-भर का दर्जा रखती है। एक चर्चित और पुरस्कृत पुरुष कथाकार की एक लंबी कहानी कुछ महीने पहले एक पत्रिका में आई थी, जिसमें कथाकार ने वर्तमान समाज में लड़कियों को विवाह पूर्व यौन संबंध बनाने में बाधा बनने वाले परिवार को सबसे बड़ी स्त्री समस्या के रूप में दिखाया है। स्त्री शुचिता को लेकर समाज के इस दृष्टिकोण पर परंपरावादियों और प्रगतिशीलों में बहस हो सकती है, लेकिन दिक्कत तब होती है, जब पुरुष कथाकार स्त्री-देह को ही प्रेम का पर्याय बताते हुए विवाह पूर्व उन्मुक्त सुख-भोग को भारतीय स्त्री की सबसे बड़ी समस्या के रूप में दिखाता है। शिल्प के स्तर पर तमाम बाजीगरी दिखाने के बावजूद वह कहानी आज की लड़कियों की समस्याओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि कहीं-न-कहीं उन पुरुषवादी ताकतों के शक को पुष्ट करती-सी प्रतीत होती है, जो यह मानकर चलती है कि बाहर भेजने पर लड़कियों के बिगड़ जाने के खतरा रहता है।

पुरुष लाख यह दावा करे कि स्त्री उसके भीतर है, लेकिन भीतर की स्त्री को जब कोई बाहरी स्त्री ठीक से देखती है, तभी पता चल पाता है की भीतर की स्त्री मनुष्यवत है या महज एक देह-भर। स्त्री देह में किसी को उसका मांसल सौंदर्य और उन्नत उरोज दिखता है, तो किसी को भर बंधा यौवन के नीचे खाली पेट और कुपोषित देह। इसलिए मांसल देह-वर्णन से अधिक स्त्री-देह को देखने की जो दृष्टि है उस पर निर्भर करती है। युवा कथाकार कविता की एक कहानी है 'बावड़ी'। कहानी की मां बेटी अन्वी को लेकर कुछ अधिक ही पजेसिव है और बेटी की सुरक्षा को लेकर अति साकांक्ष। उसके पति उसकी इस अति साकांक्षता के कारणों से अपरिचित है, इसलिए वह पत्नी के भीतर छिपे डर और शक की वजहों को नहीं जान पाता। क्लब में टेंपरेरी स्टाफ जरा-सा दरवाजा क्या बंद कर देता है, उसके भीतर शक का बीज अंकुरित होने लगता है-कहीं बेटी के साथ कुछ ऐसा-वैसा तो नहीं घटित हुआ? उसने दरवाजा क्यों बंद कर दिया था?

मनुष्य अपने अनुभवों से ही सीखता है और 'बावड़ी' की नायिका के भीतर जन्मा शक और असुरक्षा बोध भी उसके अनुभवों की ही उपज है। रात के गहन अंधकार में जब उसका अतीत उसके भीतर जागता है, तो पाठकों को उसके असामान्य डर और व्यवहार का पता चलता है, 'नन्हीं-सी मैं घर के उस ड्राइवर की गोद में हूं, जो सबका प्रिय है। जो अक्सर मुझे गोद में बिठाकर रखता है, जांघों पर अपनी पूरी ताकत से दबा कर-जहां मेरा दम घुटता है। ट्यूशन पढ़ाने वाले भैया की वह गंदी सी

चुम्मियां जिसमें वह होंठ गालों से नहीं सटाते, होंठों पर रगड़ते हैं, कसकर...उस दूर के अधेड़ जीजाजी का पांव दबवाने के बहाने जगह-जगह उंगलियां फिराना...मैं चुप थी और चुप होती गई थी। कोई प्रतिरोध नहीं करना स्वभाव का एक हिस्सा बन गया हो जैसे। बस दु:ख...भीतर तक पसरता एक अजनबी, अनचाहा और अनजाना-सा दर्द।' इस दर्द को स्त्री होने के नाते कविता ने जिस संवेदनशील भाषा में एक मां की आशंका, व्याकुलता और मानसिक उद्वेलन के साथ लिखा है, वैसा किसी समकालीन पुरुष कथाकार ने लिखा हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। ऐसा नहीं है कि बड़ों के इन कुंठित व्यवहार का शिकार बच्चियां ही होती हैं, बच्चे भी होते हैं।

अभी 'हंस' के जनवरी 2013 के अंक में ही जयश्री राय की कहानी छपी है 'छुट्टी का दिन'। जिसके पुरुष पात्र को देखें, तो लगता है कि पुरुषों की लंपटता किसी भी उम्र में मौजूद रहती है। कामवाली बाई को लेकर उसके मन में उठने वाले विचारों को देखें, 'मराठी ढंग से बांधी गई तंग साड़ी से उसके विपुल नितंब मेरे एंगल से नगाड़े की तरह दिख रहे थे। यकायक किसी आदिम इच्छा से भरकर मेरा मन हुआ था कि उठकर उसे दनादन बजा दूं' दूसरी तरफ मोहल्ले की भाभियां ही नहीं, अंकल कहने वाली बच्चियों के प्रति भी उसके खयाल नेक नहीं हैं। यहां तक कि आमला भाभी को नहाते समय देखने की भी उसने तरकीब निकाल ली है। ऐसे पुरुषों की पत्नियां जब बराबरी पर उतर आती हैं, तो लंपटता की जमीन खिसकने लगती है। पुरुषों की लंपटता को बयान करने वाली कुछ इसी तरह की वंदना राग की एक कहानी अभी हाल में 'अनहद' में छपी है 'पति परमेश्वर'। बाजार किस प्रकार अपने साजो-सामान के साथ बेडरूम में भी घुस आया है, इसके प्रमाण हैं इस कथा के नायक सहायजी। सहायजी सेक्स-कुंठित ऐसे पात्र हैं जो अपने कार्यालय में सहकर्मियों से पत्नी से प्रेम करने के तरीकों पर चर्चा करते हैं-यहां तक कि महिला सहकर्मी रंजनाजी तक से ऐसी सलाह-मशविरा करने से गुरेज नहीं करते। पत्नी को फिल्म दिखाने ले जाते हैं, 'पिक्चर हाल पहुंच, पोस्टर देख संध्या अकबका गई, सारे एडल्ट पोज थे, 'अरे सुनो, ये कौन पिक्चर आ गए, गलत टिकिट ले लिए क्या?' 'नहीं!' खुशी को सीने में दबाते, लपके सहायजी संध्या का हाथ पकड़ हाल में घुसे।

गीताश्री की एक कहानी है 'गोरिल्ला प्यार'। यूरोप और अमेरिका में प्रचलित लिव-इन रिलेशनशिप अब भारत के महानगरीय जीवन का भी यथार्थ है। विवाह संस्था ने किस तरह औरतों की स्वतंत्रता, अस्मिता और आत्मसम्मान का जनाजा निकाला है, इसे कोई विवाहित स्त्री ही जानती है। इसलिए कथा की नायिका सोचती है, 'अर्पिता ने प्रेम किया, पर शादी उसे मंजूर नहीं थी कि शादी बंधन है और बंधना उसे स्वीकार नहीं। पत्नी के फ्रेम में तो वह छटपटाती रहती। घुट जाती। उसका प्रेमी दकियानूसी पति में बदल जाता। घड़ी के कांटों से दफ्तर जाना। सांझ को लौटना। कभी-कभी पिक्चर, पिकनिक और शॉपिंग। बच्चे-वच्चे, सास-ससुर, देवरानी-जेठानी, देवर और जेठ नहीं भी तो बंधी-बंधाई दिनचर्या। बंधा-बंधाया रिश्ता। कोई उष्मा नहीं, गर्माहट नहीं। सिर्फ औपचारिक प्रेम और किताबी रिश्ता-देह के स्तर पर भी, और दिमाग के स्तर पर भी।'

पुरुषवादी समाज में मर्दवादी मानसिकता का प्रतिनिधित्व सिर्फ पुरुष ही नहीं करते। दादी,

नानी, चाची, ताई, बुआ आदि के माध्यम से औरतें भी करती हैं। रघुवीर सहाय ने हिंदी को दुहाजू की बीवी कहते हुए उसकी अंतिम साध के बारे में बताया था कि 'खसम से पहले मरे' तो खसम से पहले मरे वाली जो सोच है, उस सोच में कंडीशंड मानसिकता की शिकार औरत की सोच के बारे में नवोदित कथाकार इंदिरा दांगी ने 'परिकथा' के जनवरी-फरवरी, 2012 के अंक में छपी अपनी कहानी 'मैंने परियां देखी हैं' में लिखा है, 'सदा की संस्कार लक्ष्मी शांतिदेवी तरुणाई से प्रौढ़ता तक गुस्सैल पति के ही पैरों चली थी, पति की ही आंखों देखती रही थीं। पति की ही जुबान बोलती रही थीं और पति को ही कुल अपने कुल विश्व के तौर पर समझ-बूझ पाई थीं। सुहागिन मरना ही उनके जीवन की सबसे बड़ी मनोकामना रही थी।' सिमोन द बोउवार की प्रसिद्ध स्थापना है कि औरतें पैदा नहीं होतीं, बनाई जाती हैं। पति ही औरत का कुल जहान और पति से पहले औरत सुहागिन मरे-यह विचार औरत के मन में किसी भावुकता या सहज तर्क के कारण पैदा नहीं होते। न ऐसे विचार अति प्रेम के कारण पैदा होते हैं। पितृसत्ता के द्वारा औरतों के दिमाग में शैशवकाल से ही ऐसे विचार बड़ी-बूढ़ियों द्वारा प्रक्षेपित किए जाते हैं।

चाहे औरत हो या मर्द, नीयत और चलन से तो नेक और बद हो सकता है, लेकिन बदचलन शब्द सामाजिक रूप से प्रायः औरत के लिए ही प्रयुक्त होता है। नवोदित कथाकार वंदना शुक्ला की एक कहानी आई है-'बदचलन'। हर चीज को बिकाऊ समझने वाला बाजार और हर गरीब औरत को बिस्तर तक ले जाने का आकांक्षी पुरुष समाज जब अपने मंसूबे में कामयाब नहीं हो पाता है, तो नीचता की सारी हदें पार कर जाता है। वंदना शुक्ला ने इस कहानी में सामाजिक संरचना, धन और प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ पुरुष मन की गहराइयों को भी ठीक से समझा है, 'ये औरतें छिनाल कहती हैं मुझसे कि इनके मर्दों पे डोरे डालती हूं मैं? पूछो अपने इन शरीफ शौहरों से, कि रात में कितनी बार कुंडी खटखटाते हैं मेरे दरवाजे की मर्दजात ये शरीफजादे! मेरे साथ सोने की क्या कीमत लगाते हैं? मुझे कितने में खरीदने की पेशकश करते हैं ये इज्जतदार मर्द!' परवीन के माध्यम से वंदना शुक्ला इस कहानी में पुरुषवादी मानसिकता और सामाजिक यथार्थ की पोल खोलकर रख देती हैं। इन कहानियों के उदाहरणों से पता चलता है कि स्त्री-जीवन के समकालीन यथार्थ को अधिक प्रामाणिक और वास्तविक रूप में स्त्री कथाकारों की नजर से ही देखना मुमकिन है।

* * *

दादागिरी

राजकुमार राकेश

पाठकगण, आपकी सूचना के वास्ते, मैं शुरू में ही यह दर्ज कर देना चाहता हूं कि यह कहानी महज किसी कल्पना या भविष्य के किसी सपने या किसी यूटोपिया से भरे नए समाज के बन आने की सकारात्मक प्रस्तुति इत्यादि का लेखकीय खाका या नतीजा भर नहीं है, बल्कि एक सच्ची घटना पर आधारित है, जो यूं तो पिछले कई बरसों से मेरे एक हमवतनी रामनाथ के साथ घटती रही है, किंतु अपना आरंभिक स्थूल आकार इसने कुछ बरस पहले ग्रहण किया था जब रामनाथ अपनी आइएएस की सरकारी नौकरी से रिटायर कर घर आकर बैठ गया था। बाद में जब उसे राष्ट्रराज्य ने कैद कर हवालात में डाल दिया और फिर अदालत में मुकदमा चलाया गया तो मैंने बतौर वकील उसका केस लड़ा था। उस मुकदमे में वह जीत तो गया लेकिन जैसे मृत्यु उसके इसी मुकदमे के खत्म होने का ही इंतजार कर रही थी।

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि आइएएस जैसी नौकरी के साथ जो ग्लैमर और फालतू आने वाला पैसा व संपत्ति बगैरा जुड़ा बताया जाता है, वह रामनाथ के साथ न रहा हो ऐसा मानना नादानी होगी, लेकिन इस तरह की सारी गतिविधियां क्योंकि पर्दे के पार रहती हैं, अतैव उनका जो भी विवरण वगैरा लिखने की कोशिश की जाएगी वह पूरी तरह काल्पनिक होगा और काफी कुछ बढ़ा-चढ़ा भी हो सकता है। इसलिए उस सबकी खोज-खबर में न पड़ते हुए मैं सिर्फ उस न कमाए जा सकने वाले धन तक ही खुद को सीमित रखना चाहता हूं जिसे लेकर यह कहानी बनने वाली है। रिटायर करने के बाद मेरे उस हमवतनी और बाद में क्लायंट बन आने वाले रामनाथ के पास जो भी धन था वह आश्चर्यजनक रूप से उसके परिवार के लिए कम पड़ गया तो उसके ऊपर जो दबाव पड़ा उनके चलते उसकी जिंदगी की यह कहानी बन गई। अन्यथा जिसकी कोई संभावना नहीं थी, क्योंकि

उसने नौकरी के दौरान सपाट, अधिकारपूर्ण और सांसारिक अर्थों में लगभग सफल जीवन जिया था जिसका ऐसा हश्र सोचना मुमकिन ही नहीं हो सकता था। जाहिर है ऐसी स्थिति में इस कहानी के भीतर भी तात्कालिकता के बहुत से दबाव मौजूद होंगे, जिनसे बच पाना चाहने पर भी बचना मुमकिन नहीं हो सकता था। तो मैंने ऐसी हर कोशिश को व्यर्थ जानकर छोड़ दिया और कहानी जहां जा रही थी उसे वहीं जाने दिया। हो सकता है इसके चलते इसकी विश्वसनीयता पर आंच आए लेकिन फिलहाल तो मैं आपको कोई आश्वासन न देते हुए महज यही एक बयान दर्ज करना चाहता हूं कि इससे पूरे यथार्थ की कोई अंश भर भी हानि नहीं हुई है क्योंकि जीवन में होने वाली किसी घटना या दुर्घटना पर लेखक का कोई नियंत्रण नहीं रहता फिर चाहे वह वकील ही क्यों न हो।

इससे भी आगे का मेरा आग्रह यह भी है कि इसमें भोपाल गैस त्रासदी की छाया बिल्कुल न पढ़ी जाए। वह घटना तो अपने को इस कहानी से पच्चीस बरस पहले ही सार्थक कर चुकी थी, वह भी तब जब भारत मुक्त नहीं था और उस पर हजारों हजार आर्थिक बंदिशें आयत थीं। आज यही भारत पूरी तरह मुक्त है और इस मुक्ति पर अनेकानेक ग्रंथ लिखे और प्रकाशित किए जा चुके हैं, तो उस समय के प्रधानमंत्री की तुलना में निस्संदेह आज के प्रधानमंत्री पर अमेरिका और उसकी पार्टी हाईकमांड के दबाव सैकड़ों गुणा ज्यादा होंगे ही। फिर जब से यह भारत और इन मुक्तिप्रसंगों के संदर्भ में पूरे की पूरी तीसरी दुनिया मुक्त हो गई है तो विधाओं का ऐसा घालमेल संभव हुआ है जिसने हर रिपोर्ताज तक को कहानी मनवा लेने के आग्रह, दुराग्रह चल निकले हैं। मुझे भी अब ऐसी किसी कार्यवाही से संकोच रहा नहीं, इसलिए भी इस कहानी का जन्म होता है। खास तौर पर ऐसी दशा में तो मूलभूत जरूरतों के साथ जब रामनाथ नाम के उस नायक का वकील मैं ही खुद था। हालांकि इस बात पर काफी बहस की गुंजाइश है कि क्या सचमुच वह नायक ही था या कुछ और, लेकिन आज के इस समय में ऐसे बहस मुबाहसे में पड़ने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि नायकों और खलनायकों के भेद तकरीबन पूरी तरह मिट चुके हैं।

और यह भी कि अगर इस गैरजरूरी सी लगती टिप्पणी के बगैर काम चलाया जा सकता तो मैं जरूर चला लेता क्योंकि यह किसी भी स्तर पर कहानी का हिस्सा नहीं है। तो छोड़ते हैं यह सब बयानबाजियां और सीधे कहानी पर ही चलते हैं जो खुद रामनाथ ने ही बयान की है। मैंने तो उसके कहे शब्दों के मुताबिक इसे सिर्फ कलमबद्ध भर किया है।

कलमकार और रामनाथ का वकील
आपका मैं, राजकुमार राकेश

'कुत्तों की मौत मरी साली नख्समी सौत,' मेरे राजा बेटे की मम्मी रानी ने मेरे कमरे में आकर अपने चेहरे पर फैल आई वीभत्सता में ज्यादा कड़वाहट भरकर कहा था। सौत शब्द को सुनते ही मेरे दिल के अंदर पहला धड़का कामिनी को लेकर हुआ था लेकिन कोई घंटा भर पहले ही तो उसका फोन आया था। तो क्या अब मासी नहीं रही? यह सवाल मेरे अंदर डरावने किस्म की धमाल मचाने लगा था। लेकिन मम्मी रानी आगे कुछ भी स्पष्ट किए बगैर कमरे से जा चुकी थीं और नर्स मेरे सामने आ बैठी थी। उससे पूछने का कोई फायदा होने वाला नहीं था। वह बहुत कम बात करती थी।

प्राय: नहीं के बराबर जैसे उसे और बाकी दोनों नर्सों को भी, जो बारी-बारी से मेरी देखभाल की ड्यूटी पर आती थीं, हिदायत हो कि मेरे साथ बात बिल्कुल नहीं करना है। कम से कम बाहर से आने वाली खबरों के बारे में तो बिल्कुल ही नहीं। लेकिन आज इस अघोषित से दिखने वाले नियम को तोड़ते हुए उसने खुद ही बता दिया था, 'आपकी मासी कदमकुआँ में हुए पुलिस गोलीकांड में मारी गई है।' कितना ही देर तक मैं सन्न सा उसे देखता रहा था फिर आंखों से दो आंसू लुढ़ककर मेरे गालों की तरफ बह निकले थे। मुझे लगता है इससे ज्यादा अब मैं कुछ कर नहीं सकता। अगर उसके अंतिम संस्कार में जाना भी चाहूं तो भी मुझे कोई यहां से निकलने देगा ही नहीं। इस कमरे से बाहर निकले महीनों बीत गए हैं। आखिर डॉक्टर ने मुझे पागल घोषित जो कर रखा है। फिर मम्मी रानी और उसका राजा बेटा मुझ जैसे घोषित नीम पागल को अपना कोना छोड़ने की अनुमति क्यों देंगे जबकि कदमकुआँ का तो झगड़ा ही मेरे इस पागलपन से जुड़ा हुआ है।

खैर, मेरे इस पागलपन को अभी तो आप भूल जाइए। मैं अपना परिचय आपको उचित समय आने पर दूंगा क्योंकि फिलहाल इसमें उलझना मुझे ठीक नहीं लग रहा है। इधर खबरें तो लगातार आ ही रही थीं और आज दोपहर बाद मम्मी रानी के मुंह से जो यह खबर सुनी थी उसने सचमुच मेरा मानसिक ही नहीं बल्कि शारीरिक संतुलन भी पूरी तरह गड़बड़ा दिया है। एक तो खबर ही ऐसी खतरनाक थी कि इस अकेले कमरे में बैठे उसे सुनते ही भलाचंगा कोई आदमी तक पागल हो जाए, फिर यह शैली कंपकंपा देने वाली हदों तक डरावनी थी जिसे ईजाद कर मम्मी रानी ने इस खबर को मुझ तक पहुंचाने के लिए चुना था। हालांकि कदमकुआँ की मौतों के बारे में आप बेहतर जानते ही हैं, इतना कुछ तो मीडिया में छप चुका है लेकिन उसके भीतर जो एक अलग किस्म का सच जिंदा है वह मेरे इस पागलपन से इस कदर गुंथा जुड़ा है कि उसे जाने बगैर आगे चलने का कोई मतलब होगा नहीं। लेकिन यह बस तो मेरे उस पागलपन के बाद हुआ है, जब कदमकुआँ की तलहटी की पूरे की पूरी बेहद उपजाऊ जमीन सरकार ने अधिगृहीत करके अंतिम तौर पर मार्क हिलसन के हवाले की थी। तब वहां के मूल जमीन मालिकों ने इसके खिलाफ आंदोलन चलाया हुआ था। इसका नेतृत्व मासी के पास था। लेकिन अपने इस कमरे में बैठे-बैठे मैं इस आश्वासन में जी रहा था कि सरकार का बल बाकी चाहे जितने ही लोगों को मार डाले किंतु सत्याग्रह पर बैठे, उसके नेता की हत्या करना उसके बूते से बाहर था। इसके पीछे मेरा तर्क था कि ऐसी किसी भी कार्यवाही से आंदोलन भड़क उठेगा। लेकिन जिंदगी के इतने बरस सरकारी अमले का हिस्सा रहते हुए भी मैं जैसे इस हिंदुस्तानी राष्ट्रराज्य की असल ताकत सही-सही आंकने से चूक गया था और जैसे यही कुछ भूल गया था कि कदमकुआँ की तलहटी में मेरे हिस्से की जमीन पर तो पहले ही मार्क हिलसन उस जहरीली गैस का उद्योग स्थापित कर उत्पादन शुरू कर चुका था, जिससे वह बाल रँगने की डाई बनाकर हिंदुस्तानियों को चिरयुवा बनाए रखने का सपना परोस चुकने के बाद, आराम से बैठने की बजाय वहां की बाकी सारी जमीन को भारत सरकार की मदद से अपने कब्जे में लेकर ऐसी कई जहरीली गैसों के दूसरे उद्योग लगाने की कवायदों में जुटा था और उनमें पूरी तरह कामयाब भी हो रहा था। मासी की हत्या के बाद जिस आंदोलन के भड़क उठने की आशंका मुझे

थी वह अनायास अपनी मौत आप मर गया और मार्क हिलसन की राह एकदम आसान हो गई थी। इसी मासी की मौत पर मम्मी रानी ने 'साली नख्समी' यह दो शब्द कहे थे, सौत तो गाहे बगाहे वह कहती ही रहती थी, लेकिन इनकी जहरीली कचोट तो जैसे मार्क हिलसन की डाई वाली उस जहरीली गैस से भी ज्यादा खतरनाक ढंग से मेरे भीतर को गलाती चल रही थी, पर मैं कुछ करने के काबिल बचा ही नहीं था। बचा होता तो मार्क हिलसन कदमकुआं में पैर ही कैसे धरता। और आप जानकर हैरान होंगे कि यह सारा माजरा राजा बेटे के कुछेक मोबाइल संदेशों से शुरू हुआ था। जी, कुछेक एसएमएस जिनमें से महज तीन की बानगी यहां उद्धृत की जा रही है।

पहला : डैड, क्या सोचा आपने? कब तक आप अपने उस स्वर्गीय बाप की अपने हिस्से की जमीन की लीज मार्क हिलसन के नाम करने वाले हैं? बार-बार के इन आग्रहों से अब मेरा संयम अपना साथ छोड़ रहा है। जान लो मैं कोई भीख तो मांग नहीं रहा हूं। (राजा बेटा, बगदाद से)

दूसरा : डैड, दो दिन हो गए मुझे आपसे पूछे पर कोई जवाब नहीं। आखिर आप खामोश क्यों हैं? जिंदगी भर तो आप अपने उसी बाप से लड़ते रहे जिसकी जमीन मैं अपने दोस्त मार्क हिलसन के नाम लीज करना चाहता हूं। आपको याद होगा इसी आदमी ने मुझे सद्दाम हुसैन से मिलवाया था और अरबों कमाने का मौका दिया था जिसकी वजह से हिंदुस्तान में आज इंटरप्रिन्यूरशिप में मेरा नाम है। उसके आगे दो टका की आपकी आइएएस की नौकरी की बिसात ही क्या है। अब मार्क हिलसन हिंदुस्तान में एक खरब डॉलर की इंवेस्टमेंट के वास्ते उस जमीन को लीज पर मांग रहा है तो अब जल्दी फैसला करने में आपकी फट क्यों रही है। अपने मरे हुए बाप के बाद अब बेटे से लड़ते रहने का इरादा है क्या? तो मैं आपसे आखिरी बार कह रहा हूं अगले हफ्ते तक मैं और मम्मी रानी भारत आ रहे हैं, उससे दूसरे-तीसरे दिन तक जमीन की लीज मार्क हिलसन के नाम हो जानी चाहिए। वह पुश्तैनी जमीन है। उस पर आपका ही नहीं मेरा और मम्मी रानी का भी पूरा-पूरा हक है। आई मीन व्हॉट आई एम सेईंग। अंडरस्टैंड? (राजा बेटा, बगदाद से)

और तीसरा : डैड, आपकी संवादहीनता से मैं ही नहीं मम्मी रानी भी बेहद दुखी हैं। तो मम्मी रानी का यह सुझाव बिल्कुल सही है कि अब मुझे आपका कोई अन्याय सहने की जरूरत नहीं है। लगता है आप अपना लाईफ स्टाइल बदलना ही नहीं चाहते किंतु जान लीजिए मार्क हिलसन को वह जमीन अगले दस दिनों के अंदर दी जानी है। तैयार रहो वर्ना नतीजा भुगतो। और आखिरी बात मेरे भविष्य के साथ बलात्कार करने की भूल अब मत करना। (राजा बेटा, बगदाद से)

प्रिय राजा बेटा, बगदाद से आने वाले आपके एस.एम.एस. मुझे 15 जनवरी की दोपहर बाद से मिलने शुरू हुए थे। उस रोज कड़कड़ती ठंड पड़ रही थी। शरीर अनायास कांप-कांप जाता था। यह संदेश आगे तीन दिन तक मिलते रहे थे। और उसके बाद तकरीबन छः सात दिन तक मैं सोचता रहा कि आपकी कुल परवरिश, शिक्षा और संस्कार में मुझसे गलती कहां हुई है। अब यह सोचने के अलावा मेरे पास जैसे कुछ बचा ही नहीं है। हाल ही में एम्स में इलाज करवाकर लौटा हूं। यूं ही आपकी सूचना के लिए बता रहा हं कि मेरे पैंक्रियास की ताजातरीन हालत यह है कि इसमें पाए जाने वाले जरूरी बीटा सैल्ज खत्म हो चुके हैं और डॉक्टर की हमेशा एक ही राय रहती है कि गैर जरूरी

तनावों से अपने आपको बचाए रखो वर्ना मधुमेह का यह प्रकोप किसी भी वक्त मेरी जान ले सकता है। यद्यपि मुझे अपनी जान की तो ज्यादा फिक्र नहीं भी है लेकिन जब ऐसा कोई तनाव पैदा होता है तो छाती के भीतर ऐसी अथाह पीड़ा महसूस होती है जिससे पार पाना उन कठिन लम्हों में जीवन का सर्वाधिक मुश्किल काम हो जाता है बल्कि ऐसे में मर जाना शायद उससे ज्यादा आसान काम होगा, हालांकि फिलहाल मर जाने की भी मेरी ऐसी कोई योजना नहीं है और आने वाले कुछ और बरसों तक मैं जीवित रहकर इस जीवन और जगत् को महसूस करते रहकर जीना चाहता हूं। आज 23 जनवरी है और मैं इस हालत तक पहुंच चुका हूं कि आपके लिए मेरे भीतर पाए जाने वाले इन उद्गारों के बारे में थोड़ा बहुत, जितना भी मुमकिन हो सकता हो, स्थिति स्पष्ट कर सकूं इसलिए यह खत।

आप शायद ठीक कहते हैं, मैं जिंदगी भर अपने बाप से लड़ता रहा और अब आपको भी पूरा हक है कि आप उसी परंपरा को बनाए रखें। मैं आपकी किसी अवधारणा, इतिहास की आपकी समझ और चीजों को अपने तरीके से विश्लेषित करने के आपके अधिकार वगैरा का खंडन नहीं कर सकता, यहां तक कि आपके किसी आरोप का भी नहीं। आप जो भी मेरे और मेरे अक्का के बीच के रिश्ते को समझ पाए हैं वह या तो आपकी अपनी समझ पर आधारित है या आपकी मम्मी रानी द्वारा आपके भीतर बिठाई गई इतिहास की समझ पर, और हो सकता है दूसरी बात पहली से ज्यादा सही हो, हालांकि मैं आपकी अपनी क्षमताओं को कम करके आंकने का कतई इच्छुक नहीं हूं। जो भी हो यह समझ एक खालीपन पैदा करती चल रही है हालांकि मैं आज पूरी तरह तस्लीम करना चाहता हूं कि मैं अपने अक्का का गुनहगार था और हो सकता है अगर मैं वक्त रहते उनके काम आ गया होता तो उन्हें सौ बीघा उपजाऊ जमीन का मालिक रहते आत्महत्या जैसा काम न करना पड़ता। लेकिन यह हुआ और इसके प्रति अपनी बेगुनाही और किसी दूसरे के गुनाहों को साबित करने के लिए मुझे कोई स्पष्टीकरण जारी करने की जरूरत नहीं है। यदि ऐसा किया भी जाए तो वह महज एक पक्ष भर होगा और उस पर एक सहमति के अलावा हजारों मतभेद होंगे। तो सारे जरूरी बयानात खुद इतिहास को ही देने दीजिए। यही हम सब के लिए बेहतर होगा।

मैं अक्का के ही एक बयान से अपनी बात शुरू करना चाहता हूं। खून तो मेरा भी अब भी कम गर्म नहीं है, किंतु जवानी के दिनों में जब यह कुछ ज्यादा ही गर्मी में रहने का आदी था, उस हालत में जब मैं अपनी ऊंची आवाज में अक्का के साथ तर्क करने लगता था तो पहले तो वे चुपचाप सुनते रहते फिर जब मैं लगातार अपनी ही कही गई बातों को दोहराने की हालत में आ जाता तो वे हौले से लगभग मुस्कुराते हुए यह चार शब्द कहते, 'अपनी वाणी ठीक कर।' तब शायद इन शब्दों का सही-सही अर्थ समझ पाने की कूवत मुझमें नहीं थी लेकिन अब आकर जब कोशिश करता हूं तो कुछ अर्थ खुलते हुए प्रतीत होते हैं। पहला तो शायद यही है कि तर्क का महत्व उसके तर्क होने में है, उसे ऊंची आवाज में कहे जाने में बिल्कुल नहीं। अगर उसमें ताकत है तो निश्चय ही कहने वाले को अपनी आवाज ऊंचा करने की जरूरत नहीं होना चाहिए। दूसरा, रिश्तों की पवित्रता को मुश्किल से भी मुश्किल हालात में बनाए रखना होगा फिर चाहे आप जितना भी सही हों आपकी आवाज

आपके वर्तमान और भावी संबंधों के हिसाब ही से तय होना चाहिए। तीसरे, आपके रिश्ते अर्थनीति से तय न होकर मानवीय आधारों पर ही तय होने चाहिए वर्ना उनका नतीजा आत्महत्याओं में जा चुकता है। जैसा कि अक्का के साथ हुआ ही है। यह मेरे कुछ निष्कर्ष हैं और मुझे इन तक पहुंच पाने में बहुत कुछ खो चुकने के बाद तक की एक उमर लगी है। इसके अलावा भी हो सकता है अगर आप ज्यादा गौर कर देखें तो आपको उन चार शब्दों के अंदर दूसरे कई अर्थ नजर आएं जिन्हें फिलहाल तक भी मैं नहीं देख पा रहा हूं। इस सिलसिले में आखिरी बात यह कि आपके लिए या फिर किसी के लिए भी मुझे अपनी जीवनशैली क्यों बदलनी चाहिए। यह मेरी सामान्य समझ से बाहर है। और उससे भी ज्यादा बाहर है यह कि आपको या ऐसे ही किसी दूसरे व्यक्ति को मुझसे मेरी जीवनशैली बदलने का आग्रह ही क्यों करना चाहिए। हर व्यक्ति आजीवन गलतियां करता रहकर अपने लिए जिस शैली का निर्माण करता है, वही उसके जीवन का अंग हो आती है और उससे उसे बदलने की मांग करना ज्यादती है। असल में तो यह उसे उसके जीवन से ही वंचित करने का आग्रह है।

अब आपके असल मंतव्य पर आता हूं।

अक्का की जिस पुश्तैनी जमीन की आप बात कर रहे हैं, निश्चय ही उसका तीसरा हिस्सा है बल्कि अभी मासी, जिसे आप मेरी सौतेली मां संबोधित करना ही बेहतर और अच्छा समझते हैं तथा जिससे आप और आपकी मम्मी रानी जिस भी कदर घृणा करते हों, के जिंदा रहते हुए तो सिर्फ चौथा ही हिस्सा। अलबत्ता आपके हर अर्थ के आलोक में जो मेरा है वह अंततः निश्चय आप ही का है। लेकिन उसके उपभोग को लेकर आपके संदेशों से जो ध्वनि आ रही है उस पर मेरा गंभीर मतभेद है। आपके मित्र मार्क हिलसन जैसे अमेरिकी नागरिक को ही क्या, मैं तो वह जमीन किसी को भी पट्टे पर देने के एकदम खिलाफ हूं, जिसकी सुध मैंने साठ साल की उमर तक आते एक बार भी नहीं ली और उसके रहते हुए अक्का को ट्रैक्टर जैसी मामूली सी चीज के उधार की किश्तें न चुका सकने के कारण आत्महत्या तक करनी पड़ी, उसी को लेकर अब आकर आप या आपकी मम्मी रानी मुझे अपने मनचाहे ढंग से हांक ले जाने की नहीं सोच सकते। इसके पीछे जो भी कारण हों और चाहे वे मेरे जितना भी निजी और भावनात्मक हों, मैं उनसे पीछे नहीं मुड़ सकता। संक्षेप में बात इतनी सी है कि जब तक मैं जिंदा हूं उस जमीन पर कोई विदेशी तो क्या कोई देशी नागरिक तक भी आकर अपना व्यापार नहीं कर पाएगा, फिर चाहे आपकी कितनी ही हानि हो। इस संकल्प के बावजूद भी अगर आप समझते हों कि मार्क हिलसन को वह जमीन न देकर मैं आपके साथ या आपके भविष्य के साथ बलात्कार कर रहा हूं तो उसे पाने के लिए आपको मेरी लाश पर से गुजरना होगा। (आपका पिता, रामनाथ)

मैं, रामनाथ वल्द स्वर्गीय अमरनाथ आज इस अंधेरी काली रात में अपने इस बेडरूम के अपने बिस्तर पर लेटा अपनी पूरी चेतना में यह कहने की कोशिश करता हूं कि मैं अपने परिवार के दोनों सदस्यों यानी मम्मी रानी और राजा बेटा समेत संसार के हर आदमी के साथ, हर मानवीय संभावना तक, अपनी रचनात्मक आवाज में ही बोलना चाहता हूं जो असल में मुझसे मेरी असल बात कहलवा

सकती है, लेकिन मैं बहुत हैरान और काफी हद तक दुखी हूं कि मुझे क्षणवादी लक्ष्य, सामने मौजूद व्यक्ति और उनके द्वारा तत्काल पैदा की गई स्थितियां अपने साथ कुछ इस कदर बहा ले जाती हैं जिसका नतीजा सामने उकसाने वालों की सी शैली में मेरे बोलते चले जाने में निकलता है। यह ऐसी हालत है जिससे मैं हमेशा बचना चाहता रहा हूं लेकिन दुर्भाग्य से बच कभी नहीं पाया, नतीजन बोल पाने के हालात में, मैं कभी हो ही नहीं पाया। यह मेरी सबसे बड़ी कमजोरी है और इसे तस्लीम करके ही मैंने राजा बेटा को, उसके इराक प्रवास के दौरान जहां उसकी मम्मी रानी भी उसके साथ थीं, यह खत लिखने का फैसला लिया था और फैक्स के माध्यम से भेज भी दिया था, जहां से वह यह और इसी तरह के दूसरे एसएमएस भेज रहा था। वह मुझे मेरे गुजरे जमाने की हर कार्यवाही के लिए दोषी ठहरा रहे थे, इनमें आइएएस की नौकरी में भरपूर पैसा न कमाकर उन्हें पैसे की कमी में रखना, उनसे ठीक ढंग से प्यार न करना और कदमकुआँ की तलहटी की अपनी पुश्तैनी जमीन को अपने कब्जे में न रखकर अपनी सौतेली मां यानी मासी के पास ही रहने देने जैसी अपराधिक कार्यवाहियां शामिल थीं। अब गरज यह कि वह कदमकुआँ की मेरे पिता की उस पुश्तैनी जमीन को एक अमेरिकी नागरिक मार्क हिलसन को पट्टे पर देने के लिए बगदाद से आदेश जैसा कुछ जारी कर रहा था। सद्दाम हुसैन का कत्ल हुए दो एक साल तो शायद हो गए होंगे लेकिन इराक में राजा बेटा को कई-कई ठेके देने की जो मेहरबानी वह मेरे इस परिवार पर कर गया था, वह इराक पर अमेरिकी कब्जे के बाद भी मार्क हिलसन के सौजन्य से अब तक जारी थी, और इस तरह राजा बेटे का धन अर्जन अभियान भी अबाध जारी था। मार्क हिलसन के बारे में उसी ने जानकारी दी थी कि वह बराक हुसैन ओबामा की पत्नी के मामा का ममेरा भाई था और इराक में कमाए गए खरबों डॉलर की इंवेस्टमेंट अब भारत में आकर करने का इच्छुक था, क्योंकि अमेरिका में जहरीली गैसें बनाने के कारोबार पर ओबामा के रिजर्वेशंज थे और यह काम भारत में कर पाना ज्यादा आसान था, इसलिए कदमकुआं की तलहटी की पुश्तैनी जमीन के जिस लीज की वह बात कर रहा था वह कुछ तिर्यक ढंग से और बाकी कुछ सीधे तौर पर अमेरिकी शासन से जुड़ने वाली थी, इसलिए वह मेरी आनाकानी वाली भाषा सुनने के बाद भड़क उठा था। मुझे लगा था कि मैं अपना पक्ष ठीक से उसके सामने फोन पर बोलकर रख नहीं पा रहा हूं और ऐसे में पूरी बातचीत उस ढंग से बहक रही है जो मेरा मंतव्य नहीं था, इसलिए मैंने यह खत लिखकर अपनी ओर से सहमति नहीं है लिखा। तब मेरे भीतर यह फहमी थी कि मेरे लिखे इन शब्दों को पढ़ चुकने के बाद राजा बेटा का न केवल अपना हृदय परिवर्तन हो जाएगा बल्कि वह मम्मी रानी के हृदय को भी बदल डाल देने की ओर अग्रसर होगा। लेकिन ऐसे समय में भी जब आप खुद तो गांधी को अपना नायक मानकर हृदय परिवर्तन कर चुके होते हैं तब भी दूसरे लोग उसी गांधी को खलनायक बना डालने पर ही तुले रहते हैं। तो सोच के ऐसे शुरुआती दौरों में अपनी किसी आमफहम धारणा को गलतफहमी मान लेने की मेरे पास तब कोई मजबूरी या प्रचुर कारण नहीं थे। लेकिन इस खत के मिलने के बाद तीसरी सायं वे दोनों मेरे सामने थे और ऐसे भड़क रहे थे जैसे आज की इस रात वे अपने साथ मेरे द्वारा आजीवन किए गए अन्यायों की श्रृंखला को खत्म करके अपने संसार की एक नई व्यवस्था स्थापित कर

डालेंगे। वे जैसे इराक से यही तय करके लौटे थे। यह उनके शब्दों से ज्यादा उनकी आवाज कह रही थी।

चिट्ठी आते ही राजा बेटा बमक पड़ा था, 'क्यों लिखी चिट्ठी। जो भी कहना हो मुझसे बात करो। मुझसे। मेरे पास चिट्ठी पढ़ने की फुर्सत नहीं है। मुझे ऐसी चिट्ठियां देखकर हँसी आती है। लिखा क्या है इसमें, मेरे पास यह समझने की फुर्सत नहीं है।' फिर जैसे जाने माने किसी रंगीन विज्ञापन की भाषा में उसने आखिरी चेतावनी जारी की थी, 'इसके बाद मैं ऐसी कोई चिट्ठी आपकी तरफ से अपने लिए देखना नहीं चाहता।' राजा बेटा जब यह कह रहा था तो मम्मी रानी भी कमरे में आ पहुंचीं और उसकी बात पूरी होते ही बोल पड़ीं, 'तेरे इस बाप ने अपने उस बाप से और सीखा क्या था। वह भी जिंदगीभर इधर पैसों के लिए खत ही तो लिखता रहा। अब मर भी गया पर जमीन जयदाद की हिस्सेदारी करना भूल गया। सब के सब पर उसी का कब्जा जमा बैठा है। देख लेना तुम्हारा यह बाप भी अपने ही उस बाप की तरह एक रोज आत्महत्या करेगा।' फिर जैसे किसी गंभीर रहस्यमय ढंग से उसने दोहराया, 'उसी की तरह।'

मुझे मालूम नहीं था कि आरोपों की शुरुआत का कारण मेरा वह खत बनेगा, हालांकि उसे लिखे जाने को लेकर अब भी मेरे भीतर किसी तरह का अपराधबोध नहीं है। उतने बेहतर तरीके के अलावा मेरे पास और कोई ढंग था ही नहीं जो मैं अपने पूरे पक्ष को उसके सामने रख पाता। सबसे बड़ी कमी तो वक्त की ही रहती थी। वे मुझे अपनी बात पूरी तरह कहने का मौका देते ही नहीं थे। इस रात भी जब वे शुरू हुए तो मैं उनके इन आरोपों का तमाम तरह से खंडन करना चाहता था, 'यह इतिहास का सिर्फ तुम्हारा पक्ष है,' लेकिन जब सुनने के बजाय दोनों ओर से सुनाने पर ही कांव-कांव होती चली गई तो मैं खामोश होकर सुनने लगा। हो सकता है इस बातचीत के शुरुआती दौर के उनके कुछेक आरोपों को मैं भूल गया होंऊं लेकिन बाद में जब मैं पूरी तरह खामोश हो गया, तब जितने भी आरोप सामने आए वे मुझे अच्छी तरह याद हैं और इन्हें दर्ज करते हुए यकीनन मुझे अपनी याददाश्त पर जोर डालने की जरूरत महसूस नहीं हो रही है। इस बीच मैंने राजा बेटा से बैठ जाने का आग्रह भी किया था लेकिन उसने खड़े-खड़े ही जवाब दिया था कि क्या यह कोई कचहरी है जहां तुम जैसे आदमी के सामने मुझे बैठ जाना पड़े। 'तुम जैसे आदमी के सामने,' उसने इन शब्दों पर एक बार फिर जोर देकर कहा था।

आरोपों की तफसील में न जाते हुए भी उनका कुल लब्बोलुआब बस इतना था कि मैंने जिंदगी भर उनसे प्यार नहीं किया, कि मैंने हमेशा अपना ईगो संतुष्ट करने के इरादों से ही हर काम किया और जिंदगीभर हमारे ऊपर दादागिरी चलाते रहे। 'हम' और 'दादागिरी' इन दो शब्दों का उसका उच्चारण बहुवचन का बोधक था, इसलिए बहुत जाहिर ढंग से यह मम्मी रानी को भी इसमें शामिल करता चल रहा था। यह बात तब ज्यादा स्पष्ट हो गई जब मम्मी रानी ने आरोपों की इस लड़ी में यह जोड़ा कि ''तुम्हारे इस बाप ने मुझे छोड़कर दो औरतें रखी हुई हैं।'' तो राजा बेटा ज्यादा ही भड़क उठा जबकि इस वक्त मैं सिर्फ यह सोच रहा था कि कामिनी के साथ के मेरे संबंध तो ठीक हैं लेकिन अचानक यह दूसरी औरत का आरोप कहां से चला आया है और जब मैंने तनिक स्पष्ट करने

के लिए कहा तो उसने मासी का नाम लिया। ''इसने दो औरतें रखी हैं, यानी मेरा शारीरिक संबंध न सिर्फ कामिनी के साथ है बल्कि मासी के साथ भी है जो मेरे स्वर्गीय पिता अमरनाथ की पत्नी है।'' तो यह सुनकर मुझे गहरा धक्का लगा था जिसके चलते यह पूछना चाहते हुए भी कि क्या तुम्हारे अपने इस राजा बेटा के साथ शारीरिक संबंध हैं जिसके अगल-बगल तुम इराक, अमेरिका और पाकिस्तान तक घूमती फिरती हो और अभी तक इक्कतीस बरस की आयु तक जिसकी तुमने शादी तक नहीं होने दी है, लेकिन इस सवाल को जुबान पर लाने की मेरी हिम्मत जवाब दे गई थी और जैसे मेरे भीतर का योद्धा युद्ध के मैदान में अपनी सवारी पर से जमीन पर आ गिरा घायल पड़ा था। लेकिन जब उसने अपना वही आरोप बार-बार दोहराते हुए मुझे यही सवाल पूछने पर विवश कर डाला तो फिर इसे सुन लेने की कूवत भी उसमें नहीं बची थी। वह देखते ही देखते उस उत्तेजना में भी जिसके बाद आरोप लगाने वाले पर सशस्त्र आक्रमण और उसकी हत्या का एकमात्र विकल्प बचता है।

इस वक्त तक तो मैं उन दोनों के जुबानी और शाब्दिक हमलों को थोड़ा सहजता से झेल पाने के लिए बिस्तर पर सिरहाने की टेक लगाकर पड़ा था। यह आराम कर पाने की मेरी चिरंतन मुद्रा भी है। सिरहाने की ओर से इस बिस्तर के गद्दे के नीचे मैंने अक्का द्वारा दिया गया एक छोटा सा गंडासा रखा हुआ था। पता नहीं क्यों बरसों तक इसे यहीं इसी हालत में रखे रहने के बावजूद अब तक मुझे लगता यही था कि यह मेरी अब भी वैसी ही रक्षा करता रहेगा जैसा कि अक्का को इसे मुझे सौंपते वक्त इसके ऐसा करने का विश्वास था। लेकिन आज तो जैसे उस विश्वास के पूरी तरह टूट जाने का दिन था। रानी मम्मी ने देखते ही इसे उसके उस स्थाई निवास से बाहर खींचा और पल भर की देर किए बिना मेरी गर्दन की ओर हमलावर अंदाज में मार डाला। अनायास चली आने वाली मृत्यु के उन पलों में मुझे सबसे कम आभास उसी मौत का था जो अगले ही पल मुझे गले लगाने वाली हो सकती थी, लेकिन आदमी के शरीर में खुद को सुरक्षित रखे रहने के लिए जो कुछ रोधी क्षमताएं प्रकृति ने पैदा कर रखी हैं उन्हीं के रिफलैक्सिज के चलते मेरा दायां हाथ उस आक्रमण की तरफ उठ गया, नतीजन गंडासे का वह वार मेरी गर्दन पर पड़ने की बजाय दाएं हाथ की कलाई पर जा पड़ा। आगे तो यह पाठक की कल्पना और उससे ज्यादा उसके विवेक पर निर्भर करेगा कि उस हमले का क्या और कितना असर हुआ होगा और अगर आप मुझसे ही जान लेने के इच्छुक हों तो मैं इतना ही बता सकता हूं कि मैं अपनी कलाई से निरंतर बहते लहू के रंग और उससे भी आगे उस लहू से उमगती भयंकर पीड़ा से चीख उठा था। फिलहाल तो यह उस वार की ही पीड़ा थी जो उस गंडासे के पैनेपन ने मेरे जीवित शरीर पर किया था जिसे मुझे मेरे अक्का ने संसार की दैवी व क्रूर ताकतों से मेरी कुदरती सुरक्षा के वास्ते दिया था। तब तक मैं यह बूझ पाने के काबिल बचा ही नहीं था कि इस भौतिक पीड़ा के बाद जो दूसरी आंतरिक पीड़ा उभरकर आने वाली है वह कितना भयानक होगी, लेकिन इस समय उसकी कल्पना कर सकना ही मुमकिन नहीं था। यह तो महज अपने ही लहू को बहते देख पाने की पीड़ा के क्षण थे। आत्मा में उभर आने वाली किसी अनजानी पीड़ा का अंदाज उस वक्त मुमकिन नहीं था।

उसके बाद क्या हुआ होगा मुझे ज्यादा ज्ञात नहीं हो सका। अलबत्ता जब होश आया तो अस्पताल के किसी वार्ड में मेरे सामने बावर्दी पुलिस खड़ी थी। कलाई पर पलस्तर चढ़ा था। कई दिन तक मैं उसी पहरे में खामोश रहा था। वहीं पर कुछेक घंटों बाद मम्मी रानी और राजा बेटा मेरे सामने जरूर आए लेकिन वे अकेले कभी नहीं आए, हमेशा साथ-साथ आए और इसी तर्ज पर साथ-साथ चले भी गए। दो एक बार मैंने उन्हें डॉक्टरों से बात करते जरूर सुना, जिससे थोड़ा यह आभास मिलता था कि मुझ पर आत्महत्या का जो मुकदमा चलने वाला है उससे मुझे बचाने के लिए उन्होंने इस देश के सबसे बड़े क्रिमिनल लॉयर की सेवाएं प्राप्त करने की ठान रखी है। एकाध बार तो उन्होंने राम जेठमलानी का भी नाम लिया था, किंतु मेरी समझ में यह नहीं आ पा रहा था कि आत्महत्या का क्या मतलब है। अब तक मेरे मन में शरीर के पार की वह दूसरी पीड़ा उभर आने लगी थी जिसका मैं पहले भी आपके साथ जिक्र करने की कोशिश कर चुका हूं, पर आत्महत्या और रामजेठमलानी का यह मामला मेरी समझ से बाहर था। रामजेठमलानी तो फिर भी किसी हद तक समझ में आ सकते थे कि उन्हें मम्मी रानी अपने इस हत्या के प्रयास के जुर्म से मुक्त करने के लिए नियुक्त कर लेतीं लेकिन आत्महत्या का यह मामला क्या था यह जान पाना कहां से और कैसे मुमकिन होता। मैंने पहरा देते पुलिस वालों से भी यह जान पाने की कोशिश की थी लेकिन वे एकदम खामोश खड़े रहते थे जैसे उन्हें बोलने की पूरी तरह मनाही रही हो। मेरे भीतर कुछ न कुछ ऐसा उबल रहा था कि मैं कभी भी अपने नियंत्रण से बाहर हो सकता था। और यह तब हो गया जब वे दोनों मेरे सामने आ खड़े हुए थे। उस रोज उनके साथ रामजेठमलानी तो नहीं पर कोई दूसरा वकील जरूर था। मैं उन्हें देखते ही जैसे भड़क उठा तो वकील ने ताली बजाई और लगभग ठट्ठाकर हँस दिया। ''हो गया, हो गया।'' उसने डॉक्टर की तरफ देखकर कहा, ''तुम लोग कैसे डॉक्टर हो, एक पागल का इलाज करते हुए भी उसके पागलपन को पहचान नहीं सकते।'' इसके बाद एक विचारशील किस्म की गहन गंभीर खामोशी ने अपनी जगह बना ली थी। उसी के बीच वापस वकील बोलने लगा था, ''आत्महत्या का मामला किसी पागल व्यक्ति पर नहीं चल सकता।'' उसके चुप होने के बाद मम्मी रानी ने डॉक्टर को संबोधित किया था, ''तुम लोगों ने तो हमारी परेशानी बढ़ाई हुई थी। मैं तो पहले ही न कहती थी कि इनके खून में पागलपन हमेशा से रहा है। इनके बाप ने भी आत्महत्या ही तो की थी। यह सरकारी रिकार्ड में दर्ज है।''

राजा बेटा तो अति उत्साह में आ गया था, ''अब देर मत करो। इस आदमी को पागल होने का प्रमाणपत्र जारी करो।''

अब मामला कुछ-कुछ मेरी समझ में आने को था। मेरा मन भड़क उठकर चीखने-चिल्लाने का हो रहा था। मैं जानता हूं यही आजीवन मेरी कुदरती ताकत रही है। इससे दूर होकर मैं अब वह रामनाथ नहीं रह पाऊंगा जो मैं असल में हूं और निश्चय ही वे मुझे वही कुछ तो रहने देना नहीं चाहते। मैं सचमुच चीखने लगा था, ''पागल होगा तुम्हारा बाप, तुम्हारे नाते रिश्ते, वे सब जो तुम्हारे अपने हैं।'' लेकिन तब तक मेरे शरीर पर बलपूर्वक कब्जा किया जा चुका था। तो मैं अब भली-भांति जान गया था कि जितना ज्यादा मैं चीखूं चिल्लाऊंगा उतना ही ज्यादा पागल करार दिया

जाऊंगा। पागल होना अब मेरी नियति है। उससे बाहर निकलने के लिए अपना विवेक ही काम आ सकता है। उसके सिवाय कुछ नहीं। लेकिन इस भीतरी धारणा के चलते भी अब तक मेरे भीतर ऐसा तो कोई विश्वास बचा ही नहीं था कि मम्मी रानी और राजा बेटा के अंदर आदमियत नाम की कोई चीज बाकी भी होगी, लेकिन यहां मैं शायद अपने भाग्य से कुछ ज्यादा ही भाग्यशाली निकल आया था। उनकी जिस आदमियत पर से मेरा विश्वास उठ गया था वह असल में अब तक भी काफी कुछ बाकी थी, जैसे वह सब अनायास और संयोग से ही हुआ हो और असल में वे मेरे वैसे दुश्मन नहीं थे जैसा कि मैं उन्हें समझ बैठा था। बल्कि उनके व्यवहार से प्रतीत हो रहा था कि असल में तो वे मेरे हितैषी थे जैसा कि आजीवन मैं उनका पालक और हितैषी रहा था। उन्होंने मुझे पागलखाने में उतने ही समय तक रहने दिया जितना कि जरूरत थी। उससे ज्यादा मुझे वहां रखना जैसे उन्हें खुद ही गंवारा नहीं था। मुझे विश्वास हो गया कि वे अब भी मेरे उतना ही अपने हैं जितना कि वे हमेशा थे। वे मुझे वापस घर ले आए थे और मेरे कमरे में लिटवा गए थे। ''यह घर तुम्हारा अपना है।'' मेरे माथे पर हाथ रखे मम्मी रानी बहुत सहजता और संवेदनशीलता से बोली थीं, ''तुम यह मत समझना कि मैंने जानबूझकर तुम पर हमला किया था। बस यूं ही तो सब हो गया था। लेकिन जो भी हुआ अच्छा ही तो हुआ। भगवान हमेशा अच्छा ही करवाते हैं।'' फिर जब वह जाने के लिए उठी तो मुस्कुराते हुए बोलीं, ''अब तुम्हारे आराम करने का वक्त है। उसका पूरा इंतजाम हमने कर दिया है।'' अगले ही पल मुझे उस इंतजाम की झलक भी मिल गई थी। नर्स सेवा के लिए मेरे सामने थी। बाद में मालूम पड़ा था कि चौबासों घंटों के लिए बारी-बारी से तीन नर्सें तैनात थीं। आदमियत सचमुच में कभी नहीं मरती, मैंने इत्मीनान की सांस ली और पलकें बंद कर सोने की कोशिश करता रहा था। कभी खूब नींद आती और कभी न आती लेकिन ऐसा कभी नहीं लगा कि मैं अपने घर में नहीं हूं जबकि अब कामिनी से मिल पाना संभव नहीं रहा था। जैसे किसी आदमी से उसकी आत्मा अलग कर दी गई हो, और कभी कभार इतना भी जरूर लगने लगा था कि मैं काफी हद तक बीमार हूं और हो न हो मैं सचमुच पागल ही हो गया हूं, लेकिन ऐसे हर अहसास से मुक्त होने के लिए मैं खुद को दिलासा दिया करता था कि मुझे दरअसल अपने ही वहमों में जीते चलने की आदत तो बचपन से ही रही है। अक्का ऐसा कई बार मुझसे कह ही चुके थे। तो ऐसा कुछ सोचने में भी नया कुछ नहीं था और इस तरह मन में आते इन विचारों को मैं बाहर निकालते रहने के रास्ते सफलतापूर्वक तलाश कर लिया करता था। यह मेरी इतनी व्यापक सफलता थी कि कभी तो मन ही मन इस पर इठलाने का मन हो आता था कि मैंने न केवल संसार को भुला डालने में सफलता पाई है बल्कि इससे भी आगे की यह सफलता अर्जित कर ली है कि जहां संसार खुद मुझे ही भूल चुका है।

इसके आगे मेरी पत्नी और बेटे की आदमियत की कई-कई मिसालें रोज-ब़-रोज मेरे सामने आती रहती थीं। जैसे हर पल मेरी सेवा में नर्स की तैनाती, जैसे मेरे सामने एकदम आदमी की आवाज में बोलता हुआ टीवी, जैसे रोज सुबह आते दस बारह अखबार वगैरहा। इनके चलते मेरा दिल फूलकर कुप्पा होता था। इन सबकी अहमियत सिर्फ यही नहीं थी कि इनके रहते मुझे पूरे

संसार की खबरें अपने इस कमरे में ही मिल जाया करती थीं, बल्कि उससे भी ज्यादा कदमकुआँ की अक्का की पुश्तैनी जमीन के मेरे हिस्से में आ रहे बदलावों की खबरें अब तक बहुत हुलसित करने लगी थीं। जैसे पूरा विश्व कदमकुआँ के उस हिस्से में सिमट आने को था। खबरें बताया करती थीं कि वहां ऐसा ग्राम बन रहा है जो पूरे विश्व को समेटकर जमीन के उस छोटे से टुकड़े पर ला सिमटाएगा। रोमन के इस भाव के आगे मुझे मेरा पागलपन बहुत छोटी चीज लगती थी।

कदमकुआँ में मार्क हिलसन ने अपना गैस उद्योग स्थापित कर दिया था और आसपास की जमीनों को कब्जाने के लिए संसार की भारत और अमेरिका जैसी लोकतांत्रिक शक्तियों और उनके भीतर की कारपोरेट ताकतों को सिर के बल खड़ा कर रखा था। जमीन पर उलटा गड़ी इन आंखों की पुतलियों में मेरे दोनों भाइयों और मासी के हिस्से की जमीन ही बहुत पास नहीं थी बल्कि अब तक तो कदमकुआँ की पूरी तलहटी उसकी आंख में तारे की तरह गड़ आई थी। क्या फर्क पड़ता है कुछ सौ लोगों के बेघरबार और दरबदर हो जाने से, कदमकुआँ विश्व के ग्राम से जुड़ेगा यह मुक्त भारत में महान काम था। और यकीन कीजिए यह सारी कार्यवाहियां अब मुझे भी अच्छी लगने लगी थीं, हालांकि शुरुआती दौर में जब मुझे मालूम पड़ा था कि राजा बेटे ने उस जमीन की लीज मार्क हिलसन को दे दी है तो भगवान का भजन करने के उस वक्त में, मैं सुबह सवेरे भड़क उठा था। मम्मी रानी ने इसे गंभीरता से लेने की बजाय हंस भर दिया था। लेकिन जब मेरी भड़काहट ज्यादा ऊंचा होने लगी तो राजा बेटा कमरे में आया और नर्स को एक ओर लगभग धकेलते हुए परे हटाकर, मेरे सामने आ खड़ा होकर बोला, ''ज्यादा दादागिरी दिखाई तो पागलखाने में दाखिल करवा आऊंगा।'' मैं चुप हो गया था। इसके सिवाय विकल्प था ही क्या जो मैं चुप न होता। संसार का हर प्राणी जानता है कि रहने के लिए घर किसी भी हालत में पागलखाने से ज्यादा बेहतर जगह है। और आप भी इस बात की अनुशंसा-प्रशंसा ही करना चाहेंगे कि हमारे अपने-अपने जीवन का पूरा संघर्ष असल में जीते रहने के लिए अच्छी जगहें तलाश करने ही का संघर्ष है। फिर चाहे कुछ लोग इसमें अपने दुस्साहस और कठिन फैसलों के चलते लगातार नाकामयाब होते रहें और बाकी के बहुत से लोग अपनी कायरताओं के कारण अथाह कामयाबियां हासिल करते रहें। लेकिन इस सब के चलते भी यह राजा बेटे की महानता थी कि उसने मुझे अपने बारे में और अपनी मम्मी रानी के बारे में और अपने मित्र मार्क हिलसन के बारे में और मार्क हिलसन के उस ईंटरप्रिंयूरिंग शाही व्यापार के बारे में मिलने वाली खबरों से वंचित नहीं किया था, जिसे मार्क हिलसन ने भारत नामक राष्ट्रराज्य के निर्वाचित लोकतांत्रिक शासन के प्रधानमंत्री की अनगिनत सहायताओं के चलते कदमकुआँ की उस जमीन पर उपनिवेश की तरह फैला ले जाने में असीम सफलताएं हासिल कर ली थीं, कभी जिसके पूरे मालिकाना हक-हकूक के बावजूद अक्का को आत्महत्या करनी पड़ी थी और जिसके होते हुए मैं अपने घर के भीतर पागल करार हुआ बैठा था, और जिसके कारण भड़क उठने की मेरी जन्मजात प्रकृति को अब दादागिरी का रुतबा हासिल था। कभी तो बिल्कुल विश्वास होने लगता है कि मैं आज के इस वक्त में पागल हूं और एक लिहाज से यह बहुत बेहतर है कि मैं पागल हूं वर्ना अगर ऐसा न होता तो जिसे स्वस्थ जिंदगी कहा जाता है वही मेरे लिए यात्रा बन गई होती। और हो न हो

मुझे भी अक्का की ही तरह वही कुछ करना पड़ता जिसे सभ्य समाज के भीतर उसकी कानूनी भाषा में आत्महत्या कहने का रिवाज है और जो भारतीय दंड संहिता की धारा 307 में जुर्म है। वैसे भी अच्छी जिंदगी पाने के अपने आजीवन संघर्ष से ज्यादा मैं जिंदगीभर जुर्म से दूर रहने के संघर्ष में ही ज्यादा लगा रहा हूं।

तो मासी की हत्या, उसे हर हाल में मैं हत्या ही कहना चाहूंगा, के बाद वह आंदोलन खत्म हो गया। बहुत से लोग बेघरबार होकर जाने धरती के किस हिस्से में चले गए। मासी के दोनों बेटे जगन्नाथ और मंगतनाथ शहर में चले आए और किराए के मकानों में रहने लगे। सुना है उन्होंने मुझसे मिलने की कोशिश भी की थी लेकिन मेरे पागलपन के चलते उन्हें इसकी इजाजत नहीं मिली। वे तब ही मुझसे मिल पाए थे जब मैं पुलिस हवालात में था। मुझ पर आरोप था कि मैंने कदमकुआँ की अपनी जमीन पर जहरीली गैस का जो उद्योग स्थापित करवाया था वह अवैध था। भारत सरकार ने मेरे नाम पर जो उद्योग वहां लगाने की अनुमति दी थी वह यह नहीं था जो लगाया गया था। यह उद्योग तो मार्क हिलसन का था जिसमें राजा बेटे और मम्मी रानी के तैंतीस-तैंतीस फीसदी हिस्सों की बात थी लेकिन असल में उसकी पूरी स्थापना मेरे नाम से निकली थी। उस जहरीली गैस लीक हादसे में कदमकुआँ की तलहटी के आर-पार बसे सैकड़ों गांवों के लगभग पच्चीस-तीस हजार लोग मारे गए थे। रामनाथ के दोनों भाइयों ने इस कलमकार को उसकी वकालत करने के अधिकार दिए थे। जब तक रामनाथ जमानत पर छूटता वे तीनों यानी राजा बेटा, मम्मी रानी और मार्क हिलसन भारतीय वायुसेना के एक अधिकृत विमान द्वारा वाशिंगटन डीसी में उतारे जा चुके थे। भारत सरकार ने प्रेस विज्ञप्ति जारी कर बताया था कि देश के प्रधानमंत्री को ऐसी कोई सूचना नहीं है कि उन तीनों को अमेरिका भेजा जा चुका है। यह सूचना अमेरिका के राष्ट्रपति बराक हुसैन ओबामा को भी नहीं थी। काफी हद तक यह उन तीनों का निजी मामला था सिवाय इसके कि वह वायुयान भारतीय सेना के एयरफोर्स विंग का था। इसकी अनुमति किसने दी थी यह कोई नहीं जानता था।

कुछ इतर नोट्स

1. 'संसार की कुछ चीजें एकदम स्याह और कुछ एकदम सफेद होती हैं। जैसे रामनाथ और उसका बाप अमरनाथ ही नहीं बल्कि उसकी मासी और दोनों भाई एकदम स्याह थे और खुद राजा बेटा और उसकी मम्मी रानी तथा उसके माता, पिता और भाई वगैरा एकदम सफेद और देवतास्वरूप थे। इसी तर्ज पर भारत की धरती एकदम स्याह थी और अमेरिका की एकदम सफेद। भारत में जमीन कौड़ियों के भाव मिलती थी और मजदूरी का तो कहना ही क्या इसलिए उद्योग सिर्फ भारत की धरती पर और रहना सिर्फ अमेरिका की धरती पर स्वास्थ्यवर्धक था। जहरीली गैसों के उद्योग भारत के लोगों को सुंदर बनाने के लिए थे तो उन्हें अमेरिका में नहीं लगाया जा सकता था। अमेरिका पहले ही से इतने सुंदर और गोरे चिकने लोगों का देश है कि वहां जहरीली गैसों के उद्योग लगाए ही नहीं जा सकते थे।'

यह सद्विचार मार्क हिलसन के नहीं बल्कि रामनाथ की पत्नी और बेटे के हैं और उन्हीं के सौजन्य सहयोग से साभार यहां संकलित है।

2. अक्का के पास कदमकुआँ की तलहटी में सौ बीघा जमीन थी। उन्होंने जब लोन लेकर नया ट्रैक्टर खरीदा तो उससे आगे लगातार पांच फसलें फेल हो गई थीं। भयंकर सूखा पड़ गया था। लोन की किश्तें जा नहीं पा रही थीं। बैंक वाले पहले तो तकाजे करते रहे फिर गुंडे आकर डराने लगे। अक्का ने रामनाथ को खत लिखा कि घर आकर मेरी आबरू बचा लो लेकिन मम्मी रानी ने दो टूक उसे बता दिया कि 'उनमें' और 'हममें' से जिसको चुनना हो चुन लो। उस बूढ़े को पैसा दिया तो मैं आत्महत्या कर लूंगी और हिंसा के कानून में तुम्हें फंसाकर जाऊंगी। तब अक्का ने खत लिखा कि अब जमीन का एक टुकड़ा बेच देने के सिवाय कोई चारा नहीं है। लेकिन तब ऐसा हुआ जिसकी कोई उम्मीद ही नहीं कर सकता था। राजा बेटा ने अदालत का दरवाजा खटखटाया कि पुश्तैनी जमीन को बेचने पर रोक लगाई जाए। अदालत से स्टे आर्डर मिल जाने के बाद अक्का मृत पाए गए थे। इसके बाद अक्का के करम धरम के दौरान मासी और उसके दोनों बेटों के साथ रामनाथ के सौहार्द्रपूर्ण और घनिष्ठ संबंधों का पुनर्निर्धारण हुआ था और पहले मम्मी रानी के साथ फिर राजा बेटे के साथ रामनाथ के जो संबंध बने उन पर वह खुद कहानी के कलेवर में काफी कुछ बता ही चुके हैं।

3. मासी के अलावा मम्मी रानी रामनाथ की जिस दूसरी रखैल का जिक्र अक्सर करती है उसका नाम कामिनी है। वह एक शादीशुदा औरत है और उसके दो बच्चे हैं। जब मम्मी रानी और राजा बेटा इराक जाने से पहले मार्क हिलसन से मिलने वाशिंगटन डीसी प्रवास पर थे तो रामनाथ को दिल का दौरा पड़ा था। ऐसे में ही उसकी मुलाकात कामिनी से हुई थी। वह अपने पति डॉ. कपूर के साथ उनसे मिलने आई थी। डॉ. कपूर की रामनाथ ने अपनी सर्विस के दौरान न भुलाई जा सकने वाली एक मदद की थी। राजनीतिक हस्तक्षेप के चलते डॉ. कपूर का तबादला कहीं दूरस्थ जगह के लिए हो गया था जहां वे अपने परिवार को नहीं ले जा सकते थे। घर में बूढ़े मां और पिता थे, बच्चे छोटे थे और कामिनी अपने इसी शहर के एक स्कूल में पढ़ाती थी। रामनाथ तब स्वास्थ्य सचिव थे। उन्होंने डॉ. कपूर का तबादला रद्द कर दिया था। इसे लेकर डॉ. कपूर उनके अहसानमंद रहा करते थे। बीमारी की उस हालत में डॉ. कपूर रामनाथ को अपने घर ले आए थे। तब से ही उस परिवार के साथ उनकी घनिष्ठता का इतिहास शुरू होता है। नहीं मालूम कामिनी के साथ उनका ऐसा क्या संबंध था जो मम्मी रानी उसे उनकी रखैल कहने पर मजबूर थीं। अलबता कामिनी बहुत खूबसूरत औरत थी और कोई भी दूसरी औरत उसके इस सौंदर्य और उसके संबंधों से ईर्ष्या कर सकती थी। इसके अलावा वह बहुत शांत स्वभाव की और सहनशील थी। मम्मी रानी के आरोपों से वाकिफ होने के बावजूद वह रामनाथ के साथ उसी सौहार्द्रपूर्ण तरीके से पेश आती थी जो उसके मूल स्वभाव में था।

4. कामिनी की तुलना में मासी बेहद साधारण औरत थी। वह अपनी वय से काफी बड़ी दिखती बदसूरत सी लगने वाली औरत थी। अपने शरीर से ज्यादा वह दूसरे लोगों के बारे में ज्यादा सोचती थी। कहीं किसी जनविरोधी फैसले के खिलाफ सत्याग्रह करना हो, कहीं किसी अन्यायी से भिड़ पड़ना हो या कहीं किसी निर्धन की मदद करने का सवाल हो तो वह कदमकुआँ में सबसे आगे दिखती थी। सरकारी गोली से उसकी हत्या और उसके बाद कदमकुआँ की तलहटी की

जमीन के अधिग्रहण के खिलाफ चलने वाले आंदोलन की मौत ही इसके पक्ष में खुद प्रमाण हैं बल्कि उसके व्यक्तित्व के आगे प्रमाणों का महत्व ही नगण्य हो जाता था।

इस वाकये के तमाम खुलासे के बाद अब कलमकार के लिए कहने को ज्यादा कुछ बचा नहीं है, सिवाय इसके कि पहले मासी और अब रामनाथ की मौत के बाद भी यह कहानी खत्म नहीं होती, बल्कि ऐसे अबाध ढंग से जारी है जहां पीढ़ियों को इंतजार की सजा भोगनी है। क्षणों की गलतियां पीढ़ियां सदियों तक भुगतती और चुकाती रहेंगी। रामनाथ उसमें अकेला कभी नहीं था और आगे भी हम सब उसी की तरह इसका भुगतान कर रहे होंगे।

***

जिंदगी की सच्चाई के किसी नए पहलू को सामने लाने के लिए जिंदगी की ज्यादा गहरी पहचान और अंतर्दृष्टि चाहिए। आज उसकी कमी है। ...इधर कहानी पूरी तरह सामाजिक हो गई है और इस हद तक सामाजिक हो गई है कि अमानवीय हो उठी है। पर कहानी जहां बनती है, वह सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं, बल्कि उसमें निहित मानवीय संवेदना है। यथार्थ के आग्रह के कारण हम लोग कहानी में वातावरण बनाने के लिए बहुत-सी कड़वी, अप्रिय, भयानक स्थितियों का चित्रण करते हैं और इस तरह परिवेश तो बड़ा यथार्थ हो जाता है, लेकिन कहानी तो इस परिवेश से बनती नहीं है। उस परिवेश में भाग लेने वाला मनुष्य कहां टूटता है, कहां खड़ा होता है, मार खाता है...कहां लड़ता है, मनुष्य की उस स्थिति में...या उसके मानवीय तेवर में कहानी होती है...कहानी वहां बनती है-

-नामवर सिंह

कहानी

अस्ताचल की धूप

रजनी गुप्त

''अरे ! रचित ! तुम यहां, अचानक, कैसे ?''

''और तुम ? कैसी हो ? कहां हो ?''

''मेरी छोड़ो, तुम अपनी सुनाओ, कैसे अचानक टूट पड़ा आसमान का सितारा जमीं पर ?''

''सिर को जरा उल्टी तरफ घुमाओ, वह देखो सामने वाला बैनर ....''

''ओहो, तो जनाब सेमिनार में आए हैं ..... आंखें चमकाते हुए बोल पड़ी वह।

अरसे बाद स्वत:स्फूर्त हँसी को खुलकर बाहर निकलने की राह दिखी हो जैसे गोया सालों से बंद पुराने ताले को किसी ने एक ही झटके में खोल दिया हो।

इतने दिनों की जमा बातों का एक सिरा छूटता तो दूसरा उसे झपटकर लपक लेता फिर दूसरे के हाथ से बात फिसलती तो पहला अपनी मुट्ठी में दाब लेता। ये सिलसिला ऐसे ही आगे भी चलता रहता मगर अनायास प्रोफेसर और हैड वहां से गुजरे-''अरे डॉक्टरसाब, आप, यहां ? हम कब से आपको ढूंढ रहे हैं ?''

''अच्छा, अच्छा ! बस अभी आते हैं थोड़ी देर में ..... भारत, अमेरिका और दक्षिण एशिया के अंतर्संबंधों पर आयोजित संगोष्ठी में मुख्य अतिथि के तौर पर आए थे प्रोफेसर रचित। बातों को विराम देते हुए उठे फिर रचना की तरफ आंखें गड़ा-गड़ाकर देखते रहे। चलते-चलते बोलते रहे-''तुम जरा भी नहीं बदलीं रचना, वही छरहरापन, जल्दी-जल्दी बात करने की आदतें और वैसी ही हड़बड़ाहट। अभी हूं यहां एक हफ्ते, मुझे भी खूब सारी पेट भर के बातें करनी हैं तुमसे, तो फिर मिलते हैं आज शाम को, ठीक 7 बजे ? ओके ?''

और उसके जवाब की प्रतीक्षा किए बगैर तेज कदमों से नजरों से ओझल हो गए।

उसके बाद तो सुबह शाम मिलने के सिलसिले शुरू हो गए थे। वे कभी गुजरे दिनों की पगडंडियों पर चहलकदमी करते तो कभी विगत की पटरियों से उतरकर वर्तमान पर लौट आते। दोनों ही कभी अपने जिए लम्हों को फिर से जिंदा करने की जद्दोजहद करते तो कभी अपने-अपने सीने में दफन दर्द को बांटने के लिए अकुला रहे थे। फड़फड़ाते शब्द अपने आप उछाल लगाकर बाहर आने को बेताब होने लगते।

''कैसे गुजरे इतने साल रचना, पता ही नहीं चला और देखते-देखते उम्र की ढलान आ गई।'' कहीं खोई-खोई सी आवाज सुनाई पड़ी।

''हमारी छोड़ो, तुम अपनी सुनाओ, कितने साल बीत गए तुम्हें वहां बसे हुए ? सुना है बला की खूबसूरत है तुम्हारी शरीकेहयात ?''

''रचना, एक बात मुझे परेशान कर रही है, तुम्हारे गले में सनातन बसने वाली पुरानी चहकनुमा चिरैया कहां गुम हो गई ? ये हँसी तुम्हारी उत्ताल तरंगों वाली हँसी तो नहीं।'' उसे ध्यान से देखते हुए पूछा।

''अरे, टॉपिक मत बदलो, जल्दी से बताओ अपने बारे में, सालों से जानलेवा उत्सुकता घेरे है मुझे।''

''तुम्हारी जुटाई सूचनाएं भला गलत कैसे हो सकती हैं ?'' बड़ी तटस्थता से उचारे बोल सुनकर ऐसा लगा जैसे उसकी आवाज ने उसका साथ छोड़ दिया हो। बामुश्किल अपने थूक को भीतर ठेलते हुए उसकी आंखों में ताकता रहा। बात को गोल-गोल घुमाते हुए उसके चेहरे पर बदलते हाव भाव को पढ़ने की कोशिश करती रही वह। पता नहीं क्या सोचकर भर आई आंखों को पोंछने के लिए एक झटके से उठी और झोले में रखी पानी की बोतल निकालकर हलक तक भर आए जहर को पानी के सहारे अंदर धकेला परंतु लावा की तरह खदकती बेचैनी कम होने का नाम ही नहीं लेती। लगा जैसे धूप सीधे सिर पर पड़ रही हो और दूर दूर तक कहीं कोई छांह देने वाला पेड़ नहीं। सब तरफ घाम ही घाम। बोलने के लिए होंठ थरथराए। रचित ने कांपती जुबान में पूछा-''कुछ तो बोलो रचना, चुप क्यों हो ?''

''शायद जो होना होता है, वही होता है, हमारे वश में कुछ भी तो नहीं।'' दुपट्टे से आंखें पोंछते हुए उसने चारों तरफ रेंगती धूप और जलते कूड़े के ढेर को देखा फिर गीली आवाज गले से निकली-''रचित, सपनों के सहारे कहीं जिंदगी चलती है ? तुम्हारे साथ भी तो देखे थे ख्वाब, लेकिन ..... हमारी मुट्ठी में क्या आ पाया ? कोरे शब्दों से जिंदगी चलती है भला ?''

''उसके लिए अब और ज्यादा गिल्टी फील मत कराओ रचना। मैं मानता हूं, सौ प्रतिशत गलती थी मेरी। क्या बताएं रचना, जिंदगी पूरी ताकत से झपट्टा मारकर खींच लेती है और हम बेबस लहरों की तरह खारे समुंदर में डूबते चले जाते हैं, शायद तब तक इतनी देर हो चुकी होती है कि फिर से कहीं और जाने के रास्ते सूझते ही नहीं। फिर एक दिन दुनिया विकल्पहीन लगने लगती हैं लेकिन हमें फिर भी जीना पड़ता है। क्या करें ? कहां जाएं ? तुम सच कह रही हो, मेधा बला की खूबसूरत है, प्रतिभाशाली है, मगर तकदीर में उसका साथ नहीं बदा था।''

रचना की प्रश्नातुर आंखें उसी पर टिकी थीं-''आगे बोलो, चुप क्यों हो गए ?''

''पता नहीं हमारे बीच कहां कैसे गड़बड़ी हुई, मैं खुद नहीं समझ पाया। गैर मर्दों के साथ उसका खुला बर्ताव मैं सह नहीं पाता था। उसे सही-गलत समझाने लगता। उसे लगता, मैं हर बात पर रोका-टोका करता हूं। सच तो ये है, उसने कभी मेरी परवाह नहीं की बल्कि जिस बात के लिए मैं मना करता, वह उतनी ही बेशर्मी से औरों के साथ अपना बिंदास सुलूक करती रहती। धीरे-धीरे

नौबत यहां तक आई कि मेरा कुछ भी बोलना उसे अपनी आजादी में खलल लगता। एक जमाना था, जब उसका उन्मुक्त रवैया मुझे जबरदस्त तरीके से खींचता था मगर बाद में यही हमारे अलगाव की वजह भी.....।

लगातार बोलते रहने की वजह से माथे पर पसीना बहते हुए नाक के रास्ते होठों तक पहुंचा और अपने खारेपन का अहसास कराने लगा। थोड़ी देर रुककर बोलने लगा- रचना, पिछले साल वह हमें छोड़कर अपने किसी कलीग के साथ रहने लगी। जानती ही हो, वहां ये सब कॉमन है। हां, हमारी एक बेटी उसी के पास है।

''जिंदगी पता नहीं क्या-क्या तमाशे दिखाती रहती, किसी को चैन से नहीं रहने देती, उफ !'' रचना, हमारे चाहने, न चाहने के बावजूद जिंदगी की दिशाएं नहीं बदल सकती। वह तो अपनी धुरी पर घूमती रहती हैं। ये जो बला की खूबसूरती है न, कभी-कभी जानलेवा साबित होती है। इस वक्त तो तुम मुझे बेहतर हाल में देख रही हो वरना मैं महीनों डिप्रेशन का मरीज रहा। हर वक्त पत्नी की दुश्चरित्रता का भूत सिर पर सवार होकर खौफ पैदा करता रहता। मुझे हर जगह उसी का चेहरा प्रेत बनकर पिछियाता रहता। तब जिस भी किसी औरत को देखता, उसे बाजारू, मतलबी, कमीनी और घटिया समझने लगता। सच बताऊं रचना, अपराधी हूं तेरा तभी तो ये सब भुगतना पड़ा, भटक रहा हूं तभी से, यहां से वहां जूझता हुआ।''

कैंपस के पीछे फैलते कानफोड़ू संगीत से बेखबर वे हरे भरे पार्क में अपने अपने विगत को झाड़ने में तल्लीन थे। बाहरी धूल झड़ती जरूर थी मगर गहरे धंसा कांटा कैसे भी बाहर नहीं निकल पा रहा था। थोड़ी देर मौन के बाद पस्त आवाज में रचित ने रचना को टटोलना चाहा-''तुम्हीं कुछ बोलो, क्या-क्या गुजरता घटता रहा तुम्हारी जिंदगी के आसपास ?''

''शायद हम सबकी यही कहानी है। हम जैसा चाहते है, जिंदगी वह देती नहीं। जैसे जीने के सपने देखते हैं, इस या उस वजह से लगातार खुद को स्थगित करते रहते हैं। फिर एक दिन जिंदगी अंगूठा दिखा देती है यानी हम कुछ करने लायक ही नहीं रह जाते। बस यही सोचती रहती हूं, क्यों जिएं ? किसके लिए ? जीने की कोई तो वजह हो।'' आवेश में बोलने के बाद अचानक माहौल में खामोशी बिछ गई।

''ऐ मैडम, कहां खो गई ? लौट आओ, वापस लौटो, चुटकी बजाते हुए रचित ने उसके चेहरे की तरफ देखा मगर वह तो आसमान की तरफ देखते हुए रुक-रुककर ऐसे बोलने लगी गोया किसी स्टूडेंट को लैसन समझा रही हो -''रचित, वक्त बस एकाध दो बार ही हमारा दरवाजा खटखटाता है। यदि उस वक्त किसी वजह से अनसुनी कर दी फिर कभी मौका नहीं देती जिंदगी और कभी कोई बुलाने नहीं आता। फिर हम लाख चीखें-चिल्लाएं, चाहे जितनी ताकत से दरवाजा पीटें, मगर कोई भी हमारी पुकार नहीं सुनता .....'' बोलते-बोलते उसने आंखें मींच लीं और पलकों के भीतर अंधेरे में वही बोझिल चट्टान गिरने लगी- तलाक, तलाक, तलाक, बस यही हकीकत ध्रुवतारे की तरह अटल सचाई का अहसास कराने लगती। बेशक, मैं आजाद हूं, खाली हूं, फ्रीबर्ड, जो चाहो करूं, जहां मनमर्जी हो, जैसे चाहूं, घूमूं-फिरूं, आजाद पंछी की तरह डाल-डाल

बैठकर जिंदगी का लुत्फ उठाने वाली ..... अचानक लगा जैसे सब कुछ भरभराकर बाहर निकल जाएगा, वही आवाजें, वही दर्द ... वही आरोप-प्रत्यारोप।

सचेत सतर्क नजरों से चारों तरफ घिरे अंधेरों से आंखें मिलाई फिर बोली - चलो चलते है, बहुत देर हो गई।

''रचना, इतना सोचती क्यों हो ? जानती हो, जिंदगी सोचने से आगे नहीं बढ़ती, जीने से बढ़ती है। अब किस मुंह से कहूं कि आज भी मेरे मन में तुम्हारी खास जगह है, आई एम सीरियस यार .....'' कहते हुए उसने बड़ी आशा भरी नजरों से उसकी तरफ देखा।

सुनी-अनसुनी करते वह आशा-निराशा के भंवर में डूबी जाने क्या क्या सोचे जा रही थी। उसे लगा जैसे उसे कुछ भी नहीं सुनाई दे रहा। काश ! कि यही बात कुछ साल पहले कही होती। अब कुछ नहीं बचा भीतर।

अपने ही वजूद के सैकड़ों टुकड़े बेवजह यहां-वहां छितराकर जब वह खुद के पास लौटती तो विचित्र किस्म के सूनेपन का हौलनाक मंजर उसे अपनी जद में ले लेता फिर वह चैन से नहीं सो पाती। रचित की आवाज उसके भीतर धीरे-धीरे बूंद-बूंद टपकते पानी की तरह गिरने लगी- ''रचना, जब कभी मौका मिले और जिंदगी में जितनी तरह के रंग भर सकती हो, जीवन को उतने रंगों में डुबो दो। नया अर्थ दो जीवन को, नया स्पेस दो और फिर खुद को नई ऊर्जा से भर लो। गुड थिंग्स आर नेवर टू लेट।''

शब्द दर शब्द आहिस्ते से जमाकर बोला गया जिसे सुनकर लगा जैसे सालों से सूखे कुएं की पाट पर किसी ने कई बाल्टियां पानी उड़ेल दी हों, वैसे ही भीगता रहा उसका अंतस। क्यों ऐसा लगता जैसे कुछ भी नया रचने की सामर्थ्य नहीं रही। रचित की आवाज भीतर जाकर लौटने लगतीं। बेरोकटोक बहती हवा की तरह कुछ ताजगी बख्शते शब्द उसके भीतर जा रहे थे-''कांट यू गिव मी एनदर चांस ?''

फड़फड़ाता प्रस्ताव हवा में ही लटकती कटी-फटी पतंग की तरह लहराता रह गया। उसे लगता जैसे अंदरूनी कुएं की अतल गहराइयों में सब सूख गया और बाहर सब उजड़ गया, यहां तक कि जिजीविषा भी। उसने कहना चाहा, बेशक तुम्हारे साथ घंटों घूमते हुए लंबी-लंबी बातें करना मेरे सूखे स्रोतों को थोड़ी देर के लिए भरता जरूर है मगर झर-झर बहते स्वत: स्रोत तो नहीं रहे अब पर कितना कुछ चाहकर भी नहीं कह पाई वह।

स्त्री जब नौकरी करते हुए आजादी से अकेले रहना शुरू कर दे तो पुरुषों का सुलूक उसके प्रति कितना अजीब होता है ? अनायास एक एक घटना की पुर्चियां खुलनी शुरू हो गई। उस राजकमल से आयकर विभाग में टकरा गई थी वह, फिर क्या था, वह गाहे-बगाहे फोन करने लगा। एक दिन घर आ धमका फिर शुरू हो गया बार-बार आने का सिलसिला। अचानक एक दिन गुस्से में आकर उसे कड़ाई से मना करना पड़ा। इसी तरह अपनी कलीग कामना के पतिदेव महीनों पीछे-पीछे चक्कर काटते रहे। तंग आकर कामना से शिकायत करनी पड़ी। सबके सब लार टपकाने वाले, हुंह ! पुरुष जाति ही शायद ऐसी है, अहमक, मतलबपरस्त और दोहरे मानदंडों में जीने वाली। सामंती

सिस्टम के इन पालनहारों के बारे में कहां तक सोचा जाए ? इतने कड़ुवे अनुभवों से गुजर चुकी कि प्रेम शब्द से यकीन उठ गया। नहीं, नहीं, प्रेम-व्रेम कुछ नहीं होता, बस खुद को बेवजह किसी भ्रम में झोंक देना, कोहरे पार की धुंध भर या ऐसा धुआं जो आंखें मींचने पर मजबूर कर दे मगर हमारी गिरफ्त में कभी न आ पाए।

''अच्छा रचित,जाना कब है ?'' अंदरूनी ऊहापोह को दबाकर मौन भंग करने की पहल करते हुए धीरे से पूछा।

''तुम जैसा कहो। वैसे भी मेरा वहां कौन बैठा है जो मेरी राह तकता हो।''

''आज मैं खुद से पूछूंगी और यदि मुकम्मल जवाब मिला तो मिलूंगी जल्द ही। फिर बताएंगे अपना फैसला। यू आर माई बेस्ट फ्रेंड एंड यू अंडरस्टैंड मी बैटर। सोचती हूं, अपनी इस टूटन और दिमागी अस्थिरता को थोड़ा दुरुस्त कर लूं फिर देखते है आगे-आगे होता है क्या क्या ? नया सांचा ढांचा गढ़ने लायक कुछ उत्साह, कुछ उमंग तरंग तो जुटा लूं अपने भीतर, नहीं ?''

उस दिन आसमान फीके और मटमैले रंगों से भर गया था। इधर उधर से लौटते पंछियों की किचपिच से बेखबर वे अस्ताचल के बदलते रंग भरे बादलों की बनती बिगड़ती आकृतियों की तरफ देखते रहे। टेढ़ी मेढ़ी पगडंडियों के मोड़ तक दोनों चुपचाप चलते रहे फिर धीरे-धीरे अपने-अपने जीवन की अंदरूनी पगडंडियों पर चलते चलते वे एक दूसरे से दूर, बहुत दूर निकलते गए।

उस दौर में हर चीज में कितने कितने रंग भरे थे। सपनों की जैसे हरदम बरसात होती रहती। तितली बना मन कभी भी चुप मारकर बैठने के लिए तैयार ही कहां था ? दिन दिन भर हॉस्टल से कैंपस, फिर कैंपस से लाइब्रेरी और फिर यूनिवर्सिटी के दसियों चक्कर काटते हुए वक्त फुर्र से उड़ जाता। शाम को कमरे पर लौटती तो सिर टिकाते ही नींद धर दबोचती। कभी रात 12 बजे तक रचित के साथ लाइब्रेरी से लौटती तो कभी अलस्सुबह हॉस्टल से कैंपस तक के शॉर्टकट वाली पगडंडी पर गुजरते हुए रचित संग जोर-जोर से बहस करते हुए ठहाके लगाती तब आसपास के लोग आंखें फाड़-फाड़कर उनकी तरफ देखने लगते लेकिन तब तो हरदम जुबान एक ही तकिया कलाम-हू केयर्स ?

अचानक कैसे क्या-क्या एक झटके में गुजर जाता और जिंदगी झपट्टा मारकर छीन लेती है हमारी रची दुनिया। सर्र से सब कुछ निकल जाता है फिर कभी न आने के लिए। रचित के बाहर जाने की खबर सुनकर स्तब्ध रह गई थी तब। उस रात की पीली रोशनी दीवारों से झरकर मन के अंदरूनी अंधेरों से एकाकार हो गई थी। क्यों इस जीवन पर अख्तियार नहीं रहता ? हालात कैसे हमें नियतिवाद की तरफ धकियाते रहते ? हमारे चाहने, न चाहने से कुछ भी नहीं बदलता। वक्त खुद अपने पैरों पर चलता है। न तो वह किसी के रोके रुकता है, न किसी के हांके हंकता है। जो जिंदगी में होता चला गया, आंखें मूंदे स्वीकार करना विवशता बनती गई। अकेली लड़की किसके बूते अपनी जिंदगी का सफर तय करेगी ? मां बाप ब्रह्मास्त्र लगातार डालते रहते। कुछ महीने तक तो रचित से संपर्क रहा फिर धीरे-धीरे उसके पत्र आने बंद होते गए। वह बार-बार शहर बदलता और तेजी से नौकरियां भी। साथ साथ घंटों गुजारने वाला रचित बिना बताए किस दिशा में रुखसत कर

गया ? सोचकर आश्चर्य होता है। बिना बताए कुछ न करने वाला रचित का आज कोई अता-पता नहीं, है न अजीब बात ? हकीकत का बैल उस वक्त अपने पैने सींग फैलाए, मुंह बाए खड़ा था।

वह अंधेरे में घुलती चीजों को समझना चाहती थी, कहीं कुछ तो रहस्यमय है, गहरी गुंथी छायाओं जैसा अबूझ लेकिन क्या ? क्या था वहां ? अब तक ढोई जिंदगी में ऐसे अनजान किस्म की गुत्थी का कोई ओर छोर, कोई अर्थ पकड़ पाती तो राज खुलता या कोई समझ विकसित होती। जिंदगी को खुशियों के रास्ते फलांगते हुए वह कितना कुछ जानना-सीखना भूलती गई। संबंधों के गणित से कितनी-कितनी अनभिज्ञ जो थी वह ?

कमरे की हर चीज को वह ध्यान से देखती- पलंग के सिरहाने रखी पानी की बोतल, ड्रेसिंग गाउन, अलार्म घड़ी, इधर-उधर छितरे कपड़े और दीवार पर टंगी तस्वीरें, लेकिन उसके कान बगल वाले कमरे से आते पति के खर्राटों की तरफ लगे। अचानक दीवार पर टंगी तस्वीरें उससे बतियाने लगीं- ऐ लड़की, चैन की नींद सोना है तो जो जैसा हो रहा है, उससे आंखें मूंदे चुपचाप सो जा। छुरी जैसी बातें सीने को भेद जाती। विनय जैसे पति की परछाई तक को पकड़ पाना मुश्किल था। अब अकेली क्या करे वह यहां इस कमरे में ? अनजान डर के मारे हलक सूखने लगा तो पानी की दो बूंदें गुटकी। ओफ ! ये काले धुएं जैसी बदबू नथुनों में कडुवाहट भरने लगती फिर उस घुटन को पीना पड़ता। नुकीला सवाल काट खाने को दौड़ता -''वह यहां क्यों पड़ी है ? पेट भरने लायक नौकरी कर तो रही थी फिर यहां क्यों ?''

कैसे कटेगी आगे की जिंदगी ? जितना सोचती, लहुलुहान हो उठती। आखिर क्या सोचकर शादी की थी उसने ? क्या वाकई पति का वजूद जीरो था जो सौतेली मां के इशारे से हिलता-डुलता। उसकी आवाज को सुनकर किस तेजी से वह भरे बैलून की तरह उछल पड़ता था-''जी, आया, अच्छा, हां, ओके ...।''

ऐसे ही चंद शब्दों के अलावा उसके मुंह से कभी कुछ भी नहीं सुना उसने। शादी से पहले एक बार आया था मिलने यूनिवर्सिटी कैंपस में। हॉस्टल की लड़कियां बर्रे की तरह झुंड बनाकर टूट पड़ी थी लेकिन तब भी वह बुत बना बैठा रहा। ज्यादा से ज्यादा,''हूं, हां, बस ठीक है,'' लेकिन लड़कियां बकर-बकर करती रहीं।

''ऐ मिस्टर, आपके जुबान तो है न ? सुना है नौकरी करते हैं, क्या वाकई ? बिना बोले काम चल जाता है वहां ? ऐ रचना, इन्हें किसी स्पीच थेरेपी वाले के यहां ले जाओ। जब थोड़ा बोलने लायक हो जाएं तभी करना शादी, सच्ची में, समझीं न ?'' समवेत हँसी के दौरान भी वह जस का तस बना रहा गोया नदी के बीचोंबीच पड़ी स्थिर चट्टान हो कोई। कुछ सहपाठी मित्रों के हाथ मिलाने पर वह पहले सकुचाया फिर वे सब उसके झेंपूपन का मजाक उड़ाने लगे। शायद ये ज्यादा ही सॉफिस्टिकेटेड है, सोचकर मैं टाल गई। उसके ढीले कपड़े देखकर सोचा, शर्मीला टाइप होगा, गावदू बच्चे जैसा मासूम है ये, घर वाले ऐसे तर्कों से चुप करा देते।

''कहीं घूमने चलना है ?'' मटकते-चटकते अंदाज में पूछ लिया उसने।

''कहां ? किसलिए ?''

अबोध बच्चे जैसी कोमल आवाज सुनकर रचना जोर से हंस पड़ी तो वह अचकचाते हुए उसे एकटक देखने लगा। ये इतना चुप्पा, सीधा और घुन्ना जैसा क्यों है, जरूर कोई हीनताग्रंथि या शर्म संकोच की शरी भरकम चट्टान तले तो नहीं दबाया गया इसका वजूद ? शायद ये किसी से अपने मन की बात कह ही न पाया हो, वह कयास लगाती रही लेकिन वह उसकी आंखों में टुकुर-टुकुर ताकता रहा फिर कोमल आवाज में धीरे से बोला-''रचना मैं अपनी मां से बहुत अटैच फील करता हूं, तुम प्लीज इसे ठीक से समझ लो फिर जैसा ठीक समझो। वह शायद मेरी कमजोरी हैं। उनका प्यार मेरा संबल है, मेरी सबसे बड़ी ताकत भी।''

''ठीक है, ठीक है, ...।'' उस दौरान इस बात को हल्के फुल्के ढंग से हँसी में उड़ा दिया। इसके बाद वह कुछ और नहीं बोल पाया। रचना ने घुमा-फिराकर कई जगह से घेरना चाहा मगर वह जड़वत बैठा रहा चुपचाप।

''ऐसे गावदू के साथ कैसे गुजारा होगा ?'' रचना ने साफ-साफ अपने पापा से कह दिया लेकिन वो उसे ही उल्टी पट्टी पढ़ाने लगे-''क्या हुआ जो थोड़ा शर्मीला है ? सीधा है, ऐसे नेक लड़के ढूंढे नहीं मिलते आज के जमाने में। वो तेरी तरह मुंहजोर नहीं है। कितनी उम्र निकलती जा रही है तेरी, ऐसे ही मना करती रही फिर कहां से मिलेंगे नए रिश्ते ? तेरी एक ही तो शर्त थी, नौकरी पसंद करने वाले लोग चाहिए वो इन्हें पसंद है..'' इधर मां के तर्क भी जोरदार थे-''ऐसे ही लड़के निभाऊ निकलते हैं, बाद में धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।''

बाद में कभी कुछ ठीक नहीं हो पाता। जिंदगी और रिश्ते अपने रास्ते पर आप चलते हैं, किसी के हंकाए भला कितनी दूर तक चल पाएंगे ? रेत की तरह हाथ से झड़ जाते हैं रिश्ते और यह सब एक झटके से अचानक से हो जाता है, हमारे चाहने, न चाहने से बेखबर, हमारी परवाह किए बगैर।

सो शादी ससुराल से जुड़े भ्रमजाल से जल्दी ही बाहर निकल आई वह। क्या आया उसके हिस्से ? जासूसी करती आंखें और कठपुतली की तरह हिलते-डुलते पति जिनके जीवन का हर कदम उनकी मां के इशारों पर आगे बढ़ता। ये कैसा घनचक्कर है ? क्यों वह बेवजह उन्हें अलग अलग रखने की चालें चलती रहीं ? क्यों वह जानबूझकर सुहागरात की रस्म अदायगी में भी अड़ंगे लगाती रहीं ? क्यों ? आखिर क्यों ? वैसे भी क्या था उस रात में ? सोचते ही वितृष्णा से होंठ टेढ़े होने लगते और पेट में उबलते पानी जैसा खौलने लगता और भाप बनने लगती ।

''रचना, मेरे पापा साइंटिस्ट थे, लेकिन होमफ्रंट पर मां की चलती है, उनकी हर बात मानना हमारा फर्ज है।'' वह बच्चों की नर्सरी राइम्स को दुहराता रहता और रचना गर्दन नवाए सुनती रहती। उस समय परी लोक में सैर कराने वाले सपने साथ छोड़ने को कतई तैयार नहीं थे मगर क्या करती ? उन अनछुए लमहों में था ही क्या ? कुरेदने की कोशिश करने लगी। शर्माना, झिझकना, दिल का धड़कना वगैरा सुना होगा ? नहीं, नहीं, ऐसा कुछ भी तो नहीं था। पति के चेहरे, हावभाव और आंखों में खुशियों के बादल छलांग क्यों नहीं लगा रहे ?

''रचना, ये तुम्हारे लिए है, मां ने दिए हैं.... ।'' बात बात में मां को ले आता, ओफ ! फिर वही मां। मन में आया, इसी वक्त अंगूठी निकालकर फेंक दूं मगर शिष्टतावश चुप साधे रही। लुटे पिटे

चेहरे वाला विनय दबे अंधेरे का फायदा उठाते हुए कब चुपके से सर्र से बाहर निकल गया, पता ही नहीं चल पाया। लब्बोलुआब ये कि हमारी गोल्डन नाइट धीरे-धीरे ब्लैकनाइट में तब्दील होती गई। सप्ताह भर बाद ही लौट आई मायके। लस्त-पस्त सी लुटी-पिटी सूरत देखकर मां तो सकते में आ गई मगर पापा का तकियाकलाम-''देखेंगे, बात करेंगे, धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।''

क्या वाकई कभी कुछ ठीक हो पाता है ? कालपी से उरई, फिर झांसी, ललितपुर और इलाहाबाद होते हुए अब इस पहाड़ी जगह की नौकरी। दिन भर पढ़ाती लेकिन शाम होते ही उचाट तन-मन लिए सूने आसमान को निहारा करती। इस दैत्याकार समय को भरने की कोई तरकीब नहीं सूझती। चारों तरफ पहाड़ियां, ताड़ के लंबे ऊंचे पेड़ों वाले हरे-भरे माहौल में नीरवता का दुर्भेद्य किला भेद पाना दुश्वार लगता जैसे घने अंधेरे में बजती पेड़ों की पत्तियां चुपचाप सिर नवाए उसके खोए वजूद की विवशता देखकर खामोश हो गई हों। रात की बोझिलता से हवा की सांसें घुटती हुई लगतीं। रचना के लिए दिन-रात एक ही मौसम रहता, वही उमस, बेचैनी और वैसी ही घुटन हर वक्त तारी रहती। धीरे-धीरे पति शब्द निरर्थक साबित होने लगा। कभी भ्रम होता जैसे बैठे-बैठे गाड़ी थोड़ी खिसकी हो मगर जल्द ही अहसास होता कि ये तो बगल वाली गुजरती ट्रेन को देखकर चलने का आभास हुआ था। न वह कभी रचना के पास झांकने आया, न ही संदेश वगैरा या फोन, न चिट्ठी, न कोई हालचाल, फिर है क्या आखिर हमारे बीच ? सवाल भटकती प्रेतात्मा की तरह पिछियाता रहता।

सास का तना चेहरा, झुर्रियों भरी बांहें और मिची-मिची आंखों में लाख खोजने पर भी मनुष्यता के निशान नहीं ढूंढ पाई वह। कुछ भी ऐसा नहीं था जो उनके रिश्ते को नार्मल रख पाता। वे सब दरवाजा बंद करके क्यों रहते हैं ? जरूर कुछ न कुछ छिपाया जा रहा। वे सब उसे चोर निगाहों से क्यों देखते हैं ? कुछ भी पूछने पर कन्नी काट लेते। शायद सब शाम से ही पीने बैठ जाते। उस कमरे में क्या चल रहा है ? कोई भी ठीक से बताने को तैयार ही नहीं। शादी के तुरंत बाद होली का त्योहार पड़ा था। रचना का मन उछाह से भरा था लेकिन खुद के बूते अकेले क्या कर पाऊंगी ? पड़ोस में भुनते खोए की खुशबू से मन किया कि चलो कुछ बनाया जाए मगर उस अजीब से परिवार में सब कुछ रेडीमेड चलता। रंग, गुलाल और लस्सी की याद आई तो सास से दबी जुबान में कहा। उन्होंने सुनकर अनसुनी कर दी। दूर कहीं बजते मंजीरों की धुन सुनकर उसके भीतर सोए राग बजने को अकुलाने लगे। अब तक सास की इच्छाओं को चीन्हने से इंकार ही तो करती आई है वह मगर क्या रहा हासिल ? ऐसे तो देह और मन को दबाते-दबाते उम्र निकल जाएगी, नहीं, अब और नहीं, फिर वह तय करती, आज विनय के सामने बाल खोलकर मैरून रंग की साड़ी पहनकर निकलूंगी तो वह जरूर प्यार की रागिनी छेड़ेगा और हमारे बीच जमी बर्फ पिघलेगी, फिर वही प्यार का जादू, मगर आज ये सब क्या अटपटा सा देख लिया ? कभी न हंसने वाला विनय आज कितनी जोर से खिलखिलाकर हँस रहा था, अपने एकलौते दोस्त के संग जो परफ्यूम की बोतल उसके ऊपर उड़ेलता हुआ निहायत ही गंदे तरीके से उससे सट रहा था। आखिर क्या था वह सब ? तभी उसने पीछे वाले आइने से रचना को घूरते हुए देख लिया तो एकदम से सिटपिटा गया। फिर जैसे एकदम

से चोरी पकड़े जाने पर सहमे, डरे और लुटे-पिटे अपने चेहरे को छिपाते हुए बालकनी में चला गया।

यकीनन, रचना ने अपनी आंखों से देखा, वे दोनों दरवाजा बंद करके घंटों पड़े रहते। अक्सर साथ-साथ पत्ते खेलते, खाते -पीते, हां वो अधेड़ सास भी उनके लिए बोतलें छिपाकर ले जाती। तो इस तरह मनाया गया वहां पर रचना का पहला होली का त्योहार।

ऐसे ही कुछ दिन और खिंचते रहे लोकलाज के नाम पर। नौकरी में अकेले पड़ते ही वही यक्ष सवाल घेरने लगता-इससे बंधे रहने की क्या तुक ? जिसकी जुबान प्रतिकार के लिए कभी न उठे, उसके साथ का औचित्य ? आखिर क्या सोचकर शादी कराई ऐसे आदमी की ? शक करने को अब बचा ही क्या था ? अचानक एक मौका हाथ लगा। शहर में दंगे शुरू हो गए थे सो कर्फ्यू लग गया। बैठे-बैठे ऐसा जी उचटा कि रात में ही चल पड़ी पति के पास। अब आर-पार का फैसला हो ही जाए। जो भी होगा, देखा जाएगा। आखिर कब तक टाला जा सकता है भविष्य ? आवेश से भरी रचना बिना खबर किए निकल पड़ी। अचानक उसे देखते ही घबड़ा गया वह। तुरंत मां को फोन मिलाने लगा। रचना ने लपककर रोकना चाहा मगर उसने एक न सुनी। पत्नी होने का हवाला दिया फिर अवश स्थिति में जोर-जोर से रोने लगी। शायद रोने-धोने से कुछ पिघला फिर उनके बीच पहली बार पति पत्नी के संबंध बने यानी ये नपुंसक नहीं है फिर क्यों है ऐसा ? कहीं कुछ तो फांस है, दिमाग के घोड़े कई दिशाओं में घूमने लगे। साफ लहजे में बात की मगर वह बात बात में मां का पल्लू छोड़ने को तैयार नहीं था।

''मैं अकेले कुछ नहीं फैसला कर सकता, आने दो उन्हें।''

''क्यों बुला रहे हो उन्हें, बीवी हूं तुम्हारी, इतना हक तो बनता है मेरा।'' आवाज में थोड़ी नाटकीयता थी।

''वह सब मैं नहीं जानता, तुम्हारे सवालों का मेरे पास कोई जबाव नहीं। हम कैसे साथ-साथ रहेंगे, आगे क्या करना है, जैसी बातें मां से ही डिस्कस करके।'' उसके हड़बड़ाते चेहरे पर परेशानी के भाव रेंगने लगे लेकिन आवेश से भरी रचना की आवाज कांपने लगी-''फिर क्यों रहूं तुम्हारी ब्याहता बनकर ? मां के साथ ही रहो।''

''जैसा चाहो करो। तुम अपने पैरों खड़ी हो सो खुद अपने तरीके से फैसले ले सकती हो, मैं तो यही कह सकता हूं।'' बड़ी तटस्थ मुद्रा में इतना भर बोल पाया वह।

इसके पहले कि भीतर सुलगती आग से पूरा घर जल पाता, उसकी मां ऐन मौके पर आ धमकी। बड़ी-बड़ी लाल आंखों से उन्होंने रचना को खा जाने वाली नजरों से घूरा फिर गुर्राती आवाज में बमक पड़ी-तुम्हें वहां नौकरी से अचानक भाग आने को किसने कहा था ? ऐसी क्या आफत आन पड़ी थी ?

''ऐसा ही कुछ कुछ समझ लो। क्यों, क्या मेरा कोई हक नहीं बनता इनके पास आने का ? पत्नी हूं आखिर इनकी .....।''

''बकवास बंद करो, समझीं ? बड़ी आई समझाने वाली। हुंह ! न खाना बनाने का शऊर, न घर

को ठीक ढंग से रखने की तमीज, न किसी से कायदे से बोलने की सलीका, चली आई उजड्डों के घर से मुंह उठाए, हद है बेशर्मी की भी, ऐसी भी क्या आग लगी थी तन-बदन में ?'' उसने इस बार सोच समझकर अचूक वार किया।

उसके भीतर दुबककर बैठी कमजोर स्त्री न जाने कहां गुम हो गई सो पूरी बेशर्मी से जवाब दिया-''हां, सच्ची में मन नहीं लगता वहां, इनके बगैर..... ।'' प्रेम दर्शाने का ट्रंप कार्ड खेला जा रहा हो जैसे।

''लेकिन अभी तो इसका तबादला वहां हो नहीं सकता और तुम्हारा भी यहां नहीं हो पा रहा। ऐसे में जैसा चल रहा है, चलने दो, बाद में देखते है....।'' बड़े संभल के जतन से बोले जा रहे थे चुनिंदा बोल।

''मुझे ऐसी नौकरी करने का कोई शौक नहीं, मैं ही क्यों वहां अकेले पड़ी रहूं ?''

''लेकिन तुम्हें नौकरी करनी है, ये मेरा फैसला है, बाकी तुम्हारी मर्जी, जैसा अच्छा लगे, करो।'' कहकर वे वहां से चलती बनी।

जहरीले बोलों की सुलगती राख से पुत गया रचना का तन-मन। झपट्टा मारकर चोंच में बंद कीड़े की तरह किलबिलाने लगी वह। ये पति नाम का जीव इतना दब्बू, कायर और घोंचू क्यों है ? क्यों इसके दिलोदिमाग में चौबीसों घंटे मां का खौफ तारी रहता है ? जरूर कोई गहरी साजिश है, कोई राज है, सोचकर रचना ने छानबीन शुरू कर दी। सबसे पहले मौका पाकर पति के कमरे की तलाशी ली। हर चीज को ध्यान से देखने लगी। कमरे में जहां-तहां मां के कपड़ों का साम्राज्य था। बिस्तर पर दूसरे मर्द के कपड़े, घड़ियां, और, और भी कुछ गड़बड़ तो है ...., अचानक उस रोज बिना खटखटाए कमरे में घुसने पर मां के चेहरे पर बिछी हड़बड़ाहट, क्या था उसमें ? कहीं कुछ तो है ।

और फिर एक दिन, जब वहां से लौटने का प्लान बनाया लेकिन प्लान के मुताबिक उसी रात लौटकर रसोई की टूटी खिड़की से जो मंजर देखा, फिर तो किसी से कुछ कहने-सुनने को कुछ रह ही नहीं गया था। दो मर्द एक दूसरे से बुरी तरह गुंथे हुए थे। मोमबत्ती की तरह सुलगता रहा वजूद। फिर आखिरी छोर तक पहुंचते-पहुंचते लगा कि साबुत कुछ भी नहीं बचेगा। चट्टान की तरह अडिग कुतर्क करते पुरुष का कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। स्त्री होकर भी स्त्री के प्रति न जाने किस जन्म की दुश्मनी निकाल रही थी वो मां बनी औरत ? कितनी तरह के सवाल जवाब बेदम होकर फर्श पर लुढके पड़े थे।

''ये सब हकीकत जानते समझते हुए क्यों की गई ये शादी ? किसके दबाव में आखिर क्यों ?'' जैसे कंटीले सवाल लहुलुहान करते रहे जिनके जवाब दोनों में से किसी के पास भी नहीं थे। शब्द बाहर आने के लिए अकुलाते मगर कहीं से कोई रास्ता नहीं मिला। धीरे-धीरे मौन का एक वृत्त बनता रहा। बाहरी लोगों के कहने-सुनने से क्या फर्क पड़ जाता ? तो क्या जिंदगी भर अकेले रहना पड़ेगा उसे ? जितना सोचती, बदन से गर्म लपटें निकलने लगती। यहां रहने के दौरान किन-किनसे वास्ता पड़ा जिनके एवज में क्या-क्या लेना चाहा , सोचते ही मादा होने का अहसास कड़ुवाहट

घोलने लगता। जिस तिस की सहानुभूति से चिढ़ होने लगती । सारे रिश्ते बेमानी लगने लगे। क्यों न इस जगह छोड़कर कहीं और शिफ्ट हो जाऊं ? सोचकर रचना ताबड़तोड़ ढंग से रिक्तियां देखती। फिर से इंटरव्यू के दौर शुरू हो गए। अब सब कुछ नए सिरे से शुरू करना होगा, सो इस दिशा में तेजी से हाथ पैर चलाने शुरू कर दिए।

बहती हवा की शक्ल में वक्त अपने होने का अहसास जब-तब कराता रहता। छत पर बिछी चांदनी, हिलते डुलते पेड़, मंदिर में बजती घंटियां, कीड़ों की घुरघुराहट, जलते पत्तों का धुआं और पड़ोस में लड़ते झगड़ते बच्चों की आवाजें मन के सूनेपन के साथ संगति बिठाने लगती। अरसे बाद रचित से मिलकर सुकून मिला। कुछ दिनों तक लगातार उसकी खुद से बातें होती रहीं। समवेत आवाजों के न जाने कितने अक्स रचना के भीतर आकार लेने लगते। इधर वह खुद से जूझती रही, उधर वह इसी बीच वह फिलाडेल्फिया उड़ गया। यह उसकी पुरानी आदत थी यानी जो भी उसके मनमुताबिक न हो तो वह बिना सफाई मांगे अपने तयशुदा रास्ते पर कूच कर जाता।

धीरे-धीरे उसके इर्द गिर्द धुएं की गाड़ी परत बनने लगी। अंधेरों से भरी रात में घंटों खुद से बातें करने की आदत सी पड़ गई। करवट बदलते ही घबराहट का ऐसा बगूला उठा कि पसीने से तरबतर हो उठी। थोड़ी देर बाद आंखें खोली, उफ ! फिर वही अंधेरा, वही काला रंग, ये रंग आसानी से पीछा नहीं छोड़ता। आंखें मूंदते ही लगता जैसे किसी को उसकी जरूरत नहीं, कोई भी तलबगार आंख दूर दूर तक नजर नहीं आती, सोचते ही बेचैनी घेरने लगती। इससे निजात पाने के लिए आंखें फाड़कर अंधेरे में हाथ पैर हिलाकर कुछ टटोलने की कोशिश की तो अलार्म घड़ी लुढ़कने की आवाज सुनाई पड़ी। ठूंठ की तरह बेढब जिंदगी ही उसके हिस्से आ रही थी जिसे रचित फोन पर लंबी-लंबी बातें करके चुटकियों में गायब कर देता और फिर सोए सपने जग जाते। कितनी विचित्र, कितनी रहस्यमय और जटिल पहेली है प्रेम। कभी लगता, इसकी कौंध के सामने सूरज की रोशनी भी फीकी पड़ जाए। एक साथ कितने फूलों की महक पहली बार सूंघने का अहसास जगा। अंदरूनी रेगिस्तान जैसे अचानक हुई बारिश से लबालब भर गया। उसकी तरंगित बातें सुनकर नए-नए पंख उगने लगते और वह निर्बंध उड़ान भरने लगती। कितना अनूठा, कितना विरल सुख है ये।

''आंटी, आप मेरा होमवर्क करा देंगी ?''

''हां, हां, क्यों नहीं ? चलो, अभी चुटकियों में कराते है'' उसकी आवाज में उल्लास फूट पड़ता।

घर के सामने रहते दिबू के साथ खूब सारा वक्त बिताने में इन दिनों उसे मजा आने लगा। जब भी वह खाली होता, लपककर रचना के पास चला आता फिर वे मिलकर खूब खेलते, कभी कैरम, ताश या पतंग उड़ाते और उसके दोस्तों संग मस्ती करते। उनके साथ बातें करके उसके भीतर सूखे स्नेह का नया सोता पनपने लगता। क्या इतना प्रेम पहले भी था उसके अंदर? खुद में आई तब्दीलियां देखकर वह खूब खुश होती। इस दिबू में ऐसा क्या था कि वह सब छोड़छाड़कर एक टेर पर उसके पास दौड़ जाती। उसकी भोली सूरत देखकर सारा अवसाद धुल जाता। एक दिन वह मिट्टी का

गुल्लक दिखाने लगा–''आंटी, मैं रोज इसमें एक एक सिक्का डालूंगा, फिर जब यह भर जाएगा तो कितने सारे पैसे होंगे न मेरे पास, इत्ते सारे ....।'' वह दोनों बांहें फैलाकर बताने लगता।

रचित के खयालों में खोई उसके भीतर एक और सोच आकार ले रही थी, प्रेम का गुल्लक भी तो ऐसा ही होता है, जब भी अतिरिक्त भाव उमड़ें, डालते जाइए। विचित्र बिडंबना है कि इस गुल्लक को तोड़ने पर हासिल क्या ? बक्त बेवक्त की मुसीबत से भिड़ने के लिए एक तिनके सी राहत, इसे यूं ही खनकाते रहें, ऐसे ही खूबसूरत भ्रमों से कटती है जिंदगी। इसे तोड़ना यानी असमय सपनों की मौत मतलब खुद की मौत।

''आप क्या सोचने लगी ?'' दिबू ने उसकी एकाग्रता भंग करते हुए उसका चेहरा अपनी तरफ खींचा फिर बोला–''आज छत पर पतंग उड़ाएंगे और बैडमिंटन भी तो खेलना सिखाएंगी आप ?''

कभी वह पतंग की डोर पकड़ती तो कभी छोड़कर वापस खींच लेती। जिंदगी का खेल भी तो ऐसा ही है। ये क्या होता जा रहा है उसे ? हर खेल में जिंदगी का मर्म बूझने बैठ जाती। चाहे अनचाहे अंतस में हर वक्त रचित के बोल बजते रहते। रोज रात को घंटों फोन करना –''कभी अपने को कम न आंकों, तुम्हें वक्त ने तोड़ा जरूर है मगर समझदारी भी तो बख्शी है। जानती ही हो, हर झटका एक नई सीख देता है सो इसे चुनौती की तरह लो और उसी ढंग से स्वागत करो जैसे अनचाहे मेहमानों का करती हो। मुझे समझने की कोशिश करो रचना, मुझे तुम्हारी हँसी चाहिए, तुम्हारी खुशी भी। लिसिन, आइ एम स्टिल वेटिंग योर रिप्लाई, जस्ट वेटिंग, वेटिंग एंड वेटिंग, सुन रही हो न ? मेरे लिए तुम वही हो जो सालों पहले थी।''

सुनते–सुनते आंखें भर आईं। फिर तो रचित ने उसे इतना हँसाया कि एकदम से कपूर की तरह हल्की हो उठी। ये देखो, रचित की बातों से कमरे का हर कोना राग की सुनहरी आभा से जगमगाने लगा। भीतर से कोई पुरानी धुन होठों से बजने लगी। जहां हर पल चौंकते, सहमते या सोचते हुए काटती थी, आज वही रात सपनों से गमक रही थी।

''ओके, रचना, हम अच्छे दोस्त की तरह ही हमेशा रहेंगे, एक दूसरे का सहारा बनकर जिएंगे। हम साथ साथ है न ?'' फिर वे देर तक हँसते हुए मीठे मीठे सपने देखते रहे।

ठंड के बावजूद रचना ने फुर्ती से बतख की तरह फुदकते हुए अपने लिए चाय बनाई और खिड़की से स्कूल जाते चहकते बच्चों को देखती रही। दिबू का एडमीशन किसी अच्छे स्कूल में कराना है, उसे एक नई जिंदगी के लिए तैयार करना है। उसकी अकेली विधवा मां भला कैसे क्या कर पाएगी ? सोचते हुए उसने राहत की सांस ली जैसे तेज चलती हवाओं ने भीतरी उमस को पल भर में छूमंतर कर दिया हो लेकिन जीवन इतना सरल होता कहां है ? अचानक जैसे नाटक शुरू होने से पहले ही मंच भचाक से टूट पड़ा हो ।

''नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, ओ गॉड .....।'' एक भयानक चीख उसके गले से निकली और दिशाएं दहल उठीं। लगा जैसे रेत भरे समुंदर में चारों तरफ से उठती तूफानी लहरें वेग से चली आ रही हों ओर जमीन से आकाश तक चारों तरफ काला धुआं, रेत और कीचड़ फैल गया हो। तूफान से घिरी बदहवास रचना के कदम क्यों नहीं बढ़ पा रहे ? उसे लगता जैसे एक ही जगह खड़े

होकर जैसे ही वह कदम आगे बढ़ाती, पैर जमीन में धंसने लगते। उसे सब तरफ भूचाल से टूटे मकान क्यों नजर आ रहे हैं ? ये सब कैसे हो सकता है ? अभी पिछली रात में ही घंटे भर बातें हुईं थी लेकिन आज किसी ने जैसे उसे तपती भट्टी में झोंक दिया हो –''एक्यूट डिप्रेशन से जूझ रहा था वह, सुबह-सुबह सड़क पार करते समय अचानक दो कारें आपस में जबरदस्त तरीके से टकराई एंड ऑन द स्पॉट, ही इज नो मोर .....।''

तपते बोलों को कैसे भी सह ही नहीं पा रही थी। कल कितने तरीके से समझा रहा था वह ''रचना, हम मिलकर इस जीवन का प्रयोजन ढूढेंगे और बचे-खुचे जीवन को एक नया अर्थ देंगे। यस, वी कैन डू इट, सुनो, हमारे इस साझे जीवन का एक मकसद होगा, हम इसमें रोज नए रंग भरेंगे और नया विस्तार भी देंगे, अस्ताचल जाते सूरज की तरह। तुम खूब सपने देखना, हम उन्हें साकार करेंगे।''

उसे लगा जैसे पतंग के मंझे से उसके दोनों हाथ लहुलुहान हो उठे हों। देखो-देखो, आकाश में टूटी हमारी पतंग किस कब्रिस्तान की तरफ जा रही है ? हमारी पकड़ से बाहर कहां भागी जा रही है वह ? कैसे भी रोक नहीं पा रही उसके टूटे वजूद को, वह देखो, ध्यान से, रचित जा रहा है, रोको उसे, पकड़ो उसे, पूरी ताकत से पकड़ लो, जाने न पाए, अरे , कोई है ? लेकिन कोहरे भरी उस सुबह में धुआं और धुंध के सिवाए कुछ नहीं सूझ रहा था।

***

आलेख

वैविध्य का संकट

राकेश कुमार सिंह

साहित्य में विषय-वैविध्य का प्रश्न ठहरकर सोचने पर विवश करता है। यह कुछ-कुछ अपने गिरेबां में झांकने जैसा है। अपने द्वारा निर्मित आईने में अपना ही चेहरा अधूरा-अपूर्ण दिखता है।

संदर्भ कुछ अलग था पर कभी गुलशेर खां शानी (काला जल / शालवनों का द्वीप) ने लगभग यही चिंता जताई थी। हिंदी कहानी से मुसलमान चरित्र गायब हो रहे हैं। अर्थात् एक वैविध्य विलुप्त हो रहा है। शानी की बात आज भी प्रासंगिक है पर उनका क्या जो कभी हिंदी कहानी में उपस्थित ही न हो सके? हिंदी कहानी में ईसाई समाज भी कितना है? आदिवासी समाज तो प्रायः अनुवादों का ही मुंहताज रहा है। पारसी समाज भी कहां दिखता है? ले-देकर मुझे मात्र 'टावर आफ साइलेंस' (मनोज रुपड़ा) की याद आ रही है या फिर उर्दू कहानी 'डूंगरवाड़ी के गिद्ध' (अली इमाम नकवी) का हिंदी अनुवाद।

हिंदी कहानी में कथ्य की विविधता का संकट नया नहीं है। यह एक खुद ओढ़ी हुई समस्या है जो वस्तुतः विभिन्न कथा-समयों और कभी आंदोलनों में स्थापित मुहावरों की अनुकृतियां गढ़ने की प्रवृत्ति में नालबद्ध है।

नई कहानी के ज्वार की तथाकथित तीन लहरों (मोहन राकेश-कमलेश्वर-राजेंद्र यादव) के आगे निर्मल वर्मा से लेकर शैलेश मटियानी और फणीश्वरनाथ रेणु तक हिंदी कहानी में मखमली भाषा और आंचलिकता के जो मुहावरे स्थापित हुए, अनेक परवर्ती कथाकार आगे बढ़ने की बजाय उन मुहावरों की अनुकृतियां गढ़ने में लग गए। ताजा पीढ़ी तक यह सिलसिला कमोबेश जारी है पर हर दौर को कभी न कभी खत्म होना होता है।

आगे बढ़ें। साठोत्तरी कहानी। ज्ञानरंजन (घंटा / बहिर्गमन) दूधनाथ सिंह (रीछ / रक्तपात) रवींद्र कालिया (काला रजिस्टर / नौ साल छोटी पत्नी) और काशीनाथ सिंह (सुधीर घोषाल / लोग बिस्तरों पर)...। इस दौर के कथित साढ़े चार यारों ने हंगामों-शगूफों के साथ-साथ अपने समय की हिंदी कहानी का नया मुहावरा भी निर्मित किया। पर इस कथा-समय की एक सीमा यह भी रही कि आदमकद आईने के सामने बैठकर लिखने वाली इस पीढ़ी का आत्म मुग्ध कथाकार अपनी छवि पर ही रीझता रहा। अपने बखान में जुटा रहा। साढ़े चार यारों के सृजन-जीवन ने

अपनी पीढ़ी को इतना प्रभावित किया कि यह पूरी पीढ़ी नव्यता, विविधता और नई कथाभूमियों की खोज को स्थगित कर स्थापित हो चुके मुहावरे की अनुकृतियां गढ़ने लगी।

जनवादी कहानी के साथ यही हादसा पेश आया। पूर्व निर्धारित अंत- आता सूर्य, रक्तिम आंखें, हाथ में पत्थर आदि-आदि के मुहावरों की सीमा में बंधा कथाकार स्वयं को यह विश्वसनीय धोखा देता रहा कि हिंदी कहानी आगे बढ़ रही है जबकि अपने मानक स्थापित करने, उच्चतम ऊंचाई तक पहुंचने के बाद जड़ता और फिर पतन का अटल विज्ञान अपना काम कर रहा था और इस ढलान पर बैठकर लिखी जा रही उस दौर की अधिकांश कहानियां वैविध्यहीनता और फार्मूलाबद्धता का शिकार होती गईं।

गौरतलब है कि प्रगतिशील-जनवादी कहानी के चमकदार दिनों में सांप्रदायिकता पर कई महत्वपूर्ण कहानियां सामने आईं। वांग-चू (भीष्म साहनी) क्या तुमने सरदार भिखारी देखा है (स्वयं प्रकाश) टुंड्रा प्रदेश, (पंकज विष्ट), भैया एक्सप्रेस (अरुण प्रकाश), मर गया दीपनाथ (चंद्रकिशोर जायसवाल), मुर्दा स्थगित (महेश कटारे) और लातूर गुम हो गया (अनंत कुमार सिंह), ग्रास-रुट (अवधेश प्रीत), कामरेड का कोट (सृंजय) कहानियां और भी हैं पर स्थानाभाव...।

इस दौर में ढेर-ढेर कहानियां फैशन में भी लिखी गईं पर सांप्रदायिकता के दैत्य पर जब भी निशाना साधा गया मात्र दाईं आंख को ही बेधा गया। इस लिपरोटिक क्वायन (कुष्ठ रोगियों हेतु निर्मित विशिष्ट सिक्के) के दूसरे पहलू की हिंदी कहानी में प्रायः अनदेखी की गई। हिंदू सांप्रदायिकता पर बयान देने से हिंदी कहानी कतराती दिखी मानो इस सिक्के के दूसरे रुख को छूते ही जल जाने का खतरा हो। प्रतिरोध की कहानियां लिखते जाने की धुन में मूल्यों की कहानियां रचने का बोध कहीं खो गया।

आज पृथ्वी के क्रोड़ से अनंत अंतरिक्ष तक कथा की परिधि में समाते जा रहे हैं फिर विषय-वैविध्य का सूखा कैसे हो सकता है? हां, नए क्षेत्रों की खोज में अकेले पड़ने या विफल होने के खतरे तो होते ही हैं। अपवादों को छोड़ दें तो हिंदी कहानी खतरे उठाने से कतराती रही है क्योंकि हिंदी कहानी ने आलोचना को रचना के निकष की बजाय रचना का नियामक स्वीकार कर लिया और विविधता की बजाय तय फार्मूलों को ओढ़ते-बिछाते रहना अधिक सुरक्षित समझा गया।

ग्राम्य-कथा के कारीगरों ने भी नागरीय आलोचना की संतुष्टि का अधिक ध्यान रखा। आंचलिकता को अपठनीयता के साथ नत्थी कर कहानी की असंप्रेषणीयता का जो हौव्वा खड़ा किया गया उससे आतंकित ग्राम्य कथाकार एक परछाईं को प्रेत मानकर राष्ट्रीय गांव को खूब-खूब लिखता रहा। नतीजा, आंचलिक कथा-रस, किस्सागोई का लोकधर्मी सलीका, अनेक दुर्लभ परिंदे, वनस्पतियों, मिथकीय आख्यान आदि-आदि की वैविध्य भरी दुनिया कहानी में दर्ज होने से वंचित हो गई। कथा रसाने की बजाय कथ्य गढ़े जाने लगे। आलोचना की सत्ता से आतंकित कहानी पाठक से अधिक आलोचक के लिए प्रस्तुत होने लगी। हिंदी कहानी से जनपदीय विविधता, रीति-रिवाज, मेले-ठेले, लोकजीवन और लोकवार्ता भी लगातार गायब होते गए। हिंदी कहानी इसी जी-तोड़ प्रयास में पिली रही कि नगरीय आलोचना उसे आंचलिकता का शाप देकर हिंदी कहानी की

मुख्यधारा से बहिष्कृत कर साहित्य के स्वर्ग से नीचे ना धकेल दे।

ताजा पीढ़ी की बात करें तो इस पीढ़ी की कहानियां मुख्यत: प्रेम-देह-बाजार-बेरोजगारी के चौखटे में जड़ी आत्मकेंद्रित कहानियां हैं। यहां चमकदार भाषा है, चमत्कारी शिल्प हैं, हिंग्रेजी शीर्षक हैं, तात्कालिक मुद्दे हैं, शब्दों से फुटबाल खेलने का खिलंदड़ापन भी हैं... नहीं है तो पीर पराई अनुभव करने का चलन। ऐसे में हाशिए की आवाजें क्षीण हैं (सत्यनारायण पटेल, पंकज मित्र, कैलाश बनवासी, मनीषा कुलश्रेष्ठ आदि कुछ नामों के कारण इस कोष्ठक की जरूरत पड़ी।)और हो भी क्यों नहीं?

जब कथाकार संपादक विशेष की पसंद-नापसंद के अनुसार लिखने लगें या निर्मल वर्मा की मखमली भाषा में उदयप्रकाश के जादुई यथार्थवाद की अनुकृतियां गढ़ते हुए अपने सहयात्री रचनाकारों को एकदम से चौंका देने के चमत्कार रचते रहें तो विषय वैविध्य का अकाल तो दिखना ही है... जबकि वस्तुत: है नहीं।

कथ्य-वैविध्य के लिए आज भी हिंदी कहानी को शिवमूर्ति (आखिरी छलांग), संजीव (लिटरेचर), जितेंद्र भाटिया (अंधेरे से अंधेरे तक), क्षमा शर्मा (कमीज पहन रहा है जैक द रियर) या मधु कांकरिया (सूखते चिनार) जैसे अग्रजों या वरिष्ठों के पास बैठना पड़ता है। नवउदारवादी आर्थिक नीति पर लिखने का प्रयास किया जाता है तो एक परिपक्व कलम (सृंजय-बुद्धिभोजी) मछलियों की प्रजाति और उसके स्वाद बताने में ही निपट जाती है। ऐसे में ताजा पीढ़ी की ओर देखें तो कारपोरेट जगत के द्वंद्व-छलावों पर राकेश बिहारी के अलावा (अपवाद उदाहरण नहीं बनते। राकेश का एक पूरा संग्रह 'वह सपने बेचता था' इसी भावभूमि की कहानियों का संग्रह है) कोई और शिद्दत से लिखता नहीं दिखता।

अभी कई ऐसे अनदेखे-अछूते इलाके हैं जहां कहानी की अनंत संभावना है पर नए प्रदेशों में उतरने के प्रयास नगण्य हैं। हिंदी में जहाजियों की कहानियां दुर्लभ हैं। यात्रा-कथाएं अनुपस्थित हैं। वेश्याओं के दखल, आतंकवादियों के मनोविज्ञान, रेल के माल डिब्बों के ताला तोड़, आदि-आदि पर भी कहां लिखा गया है? साहित्य के छद्म, साहित्यिक पत्रकारिता के पाखंड या साहित्यकारों के दो-चेहरेपन पर भी कितनी कहानियां हैं?

छोटी कहानियों के लिए विख्यात कथाकार एडगर एलन पो ने रहस्य, रोमांच और अपराध पर खूब लिखा है। हेमिंग्वे ने तो सांडों की लड़ाई पर भी उत्कृष्ट कहानियां रची हैं। स्वर्गीय श्रीलाल शुक्ल को विरल अपवाद मानें तो हिंदी के जासूसी साहित्य के लिए पाठक किसके पास जाए?

अन्य भारतीय भाषाओं में देखें तो बांग्ला में शरदेंदु बंद्योपाध्याय के व्योमकेश बख्शी या सत्यजित राय के 'फेलू दां के कारनामे' जैसा रहस्य-रोमांच तथा अपराध-अन्वेषण से जुड़ा साहित्य रचने की ललक तो हिंदी कहानी में कभी जागी ही नहीं। जासूसी आज भी हिंदी कहानी में अछूत विषय ही है। साहित्य में रहस्य-रोमांच को छूत का रोग मानने वाले कथाकारों के लिए प्रेम की भूत कथा (विभूति नारायण राय... आह! यह भी अग्रज पीढ़ी का ही एक नाम!) एक मनोवैज्ञानिक उपचार की भांति प्रस्तुत हुई है।

पठनीयता के कीर्तिमान बनाती 'हैरी पॉटर', 'लार्ड आफ द रिंग्स' 'नार्नियां की कहानियां' जैसी, श्रृंखलाओं की लोकप्रियता पर उंगलियां चलाने की बजाय हिंदी कहानी यदि देवकीनंदन खत्री (चंद्रकांता / चंद्रकांता संतति /भूतनाथ) की विरासत सहेज कर विस्तारित कर सके तो पाठक अभी भी गया वक्त नहीं हुआ जो वापस लौटाया ही न जा सके। लोकप्रिय साहित्य और गंभीर साहित्य के बीच के फासले को मिटाना पठनीयता के संकट को मिटाने की भांति होगा।

हिंदी कहानी की पाठकीयता का कथित संकट कहीं न कहीं वैविध्य के संकट से भी जुड़ता है। घटती पाठकीयता का स्यापा करने की बजाय आवश्यक है आत्म अन्वेषण! कहीं कहानी के पूर्व स्थापित फार्मूले घिस तो नहीं चुके? पूर्व निर्धारित विषयों पर लिखते-लिखते हिंदी कहानी इतनी पूर्वानुमेय (प्रिडेक्टेबल) तो नहीं हो गई है कि दो क्षेपक पढ़ते-पढ़ते पाठक में किसी परिचित लेखक की कलम से निसृत होने वाले उपसंहार का अनुमान लगा लेने की योग्यता विकसित हो चुकी है और इस कारण भी पाठक ऐसी कहानियों से ऊब चुका है?

पाठक की इस ऊब को तोड़ने और हिंदी कहानी की पूर्वानुमेयता का अतिक्रमण करने हेतु कथा-वैविध्य का संधान एक अनिवार्यता है। नए कथ्य, नए चरित्र, नया प्रस्तुतीकरण... हिंदी कहानी के क्षितिज पर एक नया इंद्रधनुष रचना एक अनिवार्यता है। छीजती पाठकीयता के बंजर को सींचने वाली कथा-धारा का मार्ग कथा-वैविध्य के नखलिस्तान से होकर गुजरता है। इस सच का संज्ञान लेना अब हिंदी कहानी की अनिवार्य आवश्यकता है।

***

स्मरण

सुभद्रा कुमारी चौहान की दुर्लभ कहानी

सुधि आई रे....

पुनर्प्रस्तुति- बंधु कुशावर्ती

सुधि आई रे... के बहाने

सुभद्राकुमारी चौहान (16 अगस्त 1904 से 15 फरवरी 1948) हिंदी में मुख्यत: कवियत्री के रूप में ही प्रसिद्ध हैं परंतु 1950 के आसपास अच्छी कहानियां लिखने के बावजूद हिंदी कहानी और हिंदी कथा साहित्य में उनके अवदान की चर्चा प्राय: नगण्य है। शिवरानी देवी की महिला कहानीकार के रूप में चर्चा होने के पीछे कहीं न कहीं प्रेमचंद का होना उसके पीछे रहा है, जबकि 19वीं सदी के आखिरी वर्षों से लेकर सन् 1930 तक की अवधि में दुलाईवाली समेत अनेक कहानियों की सुपरिचित कथा लेखिका बंग महिला यानी मिर्जापुर की राजेंद्रबाला घोष के अलावा यदि इनसे पूर्व में कहानियों-उपन्यासों के लेखन में यशोदा देवी, प्रियवंदा देवी, शारदा कुमारी, सरस्वती गुप्ता, हेमंत कुमारी चौधरी, ब्रह्मकुमारी, लीलावती देवी आदि रचनारत रहीं तो बाद में उषा देवी मित्रा, होमवती देवी, कमला चौधरी, चंद्रकिरण सोनरेक्सा, सुमित्रा कुमारी सिन्हा आदि के नाम हिंदी कथा लेखन में अत्यंत सुपरिचित रहे हैं। इसके बावजूद 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी कथा लेखन में राजेंद्र बाला घोष के अलावा कोई नाम नहीं लेते। इसकी अपेक्षा स्थिति को कुछ संतोषजनक कहेंगे कि हजारी प्रसाद द्विवेदी कुछ महिला कथाकारों के नाम लेते हैं, बल्कि कहानियों, कथा संकलनों का भी सामयिक उल्लेख करते हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो फिर भी स्त्री रचनाकारों की उपेक्षा स्पष्टत: हुई है। अन्यथा बांग्ला मातृभाषी उषा देवी मित्रा (1897-1966 ई.) जिन्होंने हिंदी को पांच उपन्यास व छह कहानी संग्रह दिए, उन्हें अपनी यह वसीयत नहीं करनी पड़ती- मेरी सारी पुस्तकें मेरे साथ चिता में जला दी जाएं।

सुभद्रा कुमारी चौहान के कथा लेखन की उपेक्षा इसीलिए संभव नहीं हुई क्योंकि स्वाधीनता आंदोलन की जुझारू कार्यकर्त्री और राष्ट्रीयता का निरंतर उद्घोष करने वाली कविताओं की रचनाकार भी वह समांतर रूप से रही हैं। सन् 1930 के बाद उनका काव्य लेखन यदि किंचित कम हुआ तो उसकी प्रतिपूर्ति उन्होंने घरेलू, सामाजिक व जेल जीवन में भी पंद्रह वर्षों तक कहानियां लिखते हुए की। उनके द्वारा कथा लेखन, स्त्री जीवन, बहुतायत में प्रक्षेपित हुआ है। कथा लेखन की इस अवधि में उनके अलग-अलग तीन कथा संकलनों, 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी' और 'सीधे सादे चित्र' में संकलित होकर 38 कहानियां पुस्तकाकार सामने आईं। सुभद्रा जी कथा लेखन से हिंदी गद्य लेखन में तो आगे बढ़ी हीं, कम ही लोगों को पता है कि उन्होंने 'विवेचनात्मक गल्प विहार' नाम से एक कथा संग्रह भी संपादित किया था जिसे इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया था।

बहरहाल कथा लेखन से हिंदी गद्य में पदार्पण करने वाली कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान को तब

काफी असहजता का अनुभव हुआ जब उनसे कहानी की मांग की गई। कविताएं तो वह बचपन से लिखती आई थीं, जो छपती भी रहीं और मंचों से लेकर समाज के बीच पढ़ते रहने से उन्हें प्रतिष्ठा भी दिलाती रहीं थीं। ऐसे में कहानियां लिखना यदि 'नौसिखियापन' साबित हुआ तो उससे कैसी मदद होगी, इस विचार मात्र से वह विचलित होने लगीं। तब मुक्ति का मार्ग उन्हें यह लगा कि प्रतिष्ठित लेखक (तथा 'सरस्वती' के संपादक भी रहे) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शीजी से अपने कथा लेखन को संपादित-संशोधित करने का अनुरोध किया जाए, इसके बाद ही निरापद और नि:संशय रूप से कहानियां छपने को दी जा सकती हैं पर कहानियां पढ़कर बख्शीजी ने उन्हें आश्चर्यचकित कर दिया। उन कहानियों में सच्चे भाव की सच्ची अभिव्यक्ति है।

बख्शीजी की इस सम्मति ने सुभद्रा कुमारी चौहान में कथा लेखन के प्रति उपजे संशय को दृढ़ता ही नहीं दी वरन् सहज स्वाभाविक और स्वत: स्फूर्त भाषा शैली में हिंदी में कहानियां लिखने का आत्मविश्वास भी दिया। यही कारण रहा कि सुभद्रा जी की कहानियां उनके आसपास के जीवन अनुभवों से परिपूर्ण तो हैं ही उनकी छायावादी काव्य भाषा के अतिक्रमण के साथ ही उनकी स्वच्छंदतावादी काव्य धारा की अपनी काव्य भाषा से भी अधिक सहज, सुबोध, साध्वीपूर्ण और अकृत्रिम भाषा शैली वाले कथ्य के साथ अपने पाठकों को लिए चलती है। किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल समेत हिंदी साहित्य के इतिहास में सुभद्रा कुमारी चौहान भी समकालीन अन्य कथा लेखिकाओं की तरह ही अनुपस्थित प्राय: हैं।

सुभद्राजी की जन्म शताब्दी (16 अगस्त 2004-2005)ने लेखकों और समीक्षकों-आलोचकों को उनके कथा लेखन की और भी आकृष्ट किया, उनकी कहानियों पर चर्चा का मार्ग प्रशस्त हुआ। 'हिंदी साहित्य का आधा इतिहास' (सुमन राजे) तथा 'हिंदी साहित्य का ओझल नारी इतिहास' (नीरजा माधव) के स्तर पर तो सुभद्रा कुमारी चौहान का कथा लेखन मूल्यांकित हुआ ही, 'हिंदी कहानी का इतिहास'(प्रथम खंड : सन् 1900 से 1950) में गोपाल राय ने सुभद्राजी की कहानियों पर पर्याप्त विस्तार से लिखा है। सुभद्रा कुमारी चौहान की कहानियों पर आनंद प्रकाश का स्वतंत्र रूप से विस्तृत आलेख सामने आया है। जन्म शताब्दी के क्रम में अथवा सुभद्राजी पर प्रकाशित विशेषांकों में भी उनके कथा लेखन पर दृष्टि-क्षेप हुआ है। यह इसलिए और भी संभव हुआ क्योंकि अमृतराय ने सुभद्राजी के तीनों पूर्वायुक्त कथा संकलनों को अंतत: 'सीधे साधे चित्र' शीर्षक से नया समन्वित कथा संकलन हंस प्रकाशन से प्रकाशित कर दिया। इसमें पूर्व में असंकलित रह गई और आठ कहानियां सम्मिलित कर दी गई थीं। परंतु सुभद्राकुमारी चौहान के उपयुक्त रेखांकित कथा संकलन में प्रकाशित 46 कहानियों के अलावा भी अभी सुभद्राजी की 6-7 कहानियां इन सतरों के लेखक के संज्ञान में दुर्लभ होने से असंकलित हैं। इनमें से कुछ तो अपूर्ण हैं, जिन्हें पूर्ण करने की भी कोशिश की गई है। प्रयत्न है कि यह दुर्लभ सामग्री सुलभ हो और सामने आए।अब बात दुलर्भ कहानी 'सुधि आई रे...' की

सुभद्रा कुमारी चौहान की यह कहानी लेखक संपादक व्योहार राजेंद्र सिंह को प्राप्त हुई थी। इसे उन्हें सुभद्राजी के देहांत के एक वर्ष बाद अपनी पत्रिका युग आरंभ जबलपुर में दूसरे वर्ष के तीसरे अंक यानी मार्च 1949 में प्रकाशित करने का अवसर मिला। सुभद्रा कुमारी चौहान का जैसे 1932-33 के बाद काव्य लेखन स्थगित पड़ता गया वैसे ही कुछ तो व्यस्तताओं के कारण पर ज्यादा वस्तुत: स्वास्थ्यगत कारणों से कथा लेखन में भी कमी आती गई थी। यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वह अधिक सक्रियता से जीना और लिखना चाहती थीं परंतु दुर्भाग्य कि 15 फरवरी 1949 को जिस दिन बसंत पंचमी भी थी (विचित्र संयोग है कि सन् 2013 के इस इस्वी वर्ष में उनकी पुण्यतिथि पर 15 फरवरी और बसंत पंचमी एक ही दिन पड़ी)

मोटर कार द्वारा नागपुर से जबलपुर लौटते हुए सिवनी के जंगलों में कार के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने से सुभद्राजी का आकस्मिक निधन हो गया। जाहिर है 'सुधि आई रे' सुभद्राजी के निधन के बाद प्रकाशित विरल रचनाओं में से एक है।

'सुधि आई रे' *कहानी स्वयं में संयोगपूर्ण दुखांत है। कथानक अब से 70-80 साल पहले के उस दौर का जब मध्यमवर्गीय परिवारों में युवकों-युवतियों के बीच प्रेम के आकर्षण और वैवाहिक जीवन में भी एक सार्वजनिक मर्यादा होती थी। संयम और आत्म नियंत्रण के स्तर पर समाज में उसे सुरक्षित रखने के आत्म अनुशासन का प्रयत्न व्यक्तिगत स्तर पर किया जाता था। भले ही आत्म त्याग क्यों न करना पड़े। 'सुधि आई रे' में सुभद्राजी के कथा लेखन के कौशल ने इस सबको प्रक्षेपित किया है।*

सुधि आई रे....

मीरा ने उठकर एक झटके के साथ खिड़की और दरवाजे बंद कर दिए किंतु पड़ोसी के घर के ग्रामोफोन पर जो रिकार्ड बज रहा था, वह अब भी बहुत साफ-साफ सुना जा सकता था। मीरा क्या करे ? इस रिकार्ड को वह सुन नहीं सकती। इसी रिकार्ड के साथ ही अतीत का एक चित्र, जिसे मीरा भूल जाना चाहती हैं, सजीव और साकार बनकर उसकी आंखों के सामने फिरने लगता है और गरीब मीरा तड़पने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाती। रिकार्ड फिर से लगा दिया गया और मीना ने सुना-सुधि आई रे, सुधि आई रे बलम परदेसिया की।

सुधि आई रे...

मीरा उठकर टहलने लगी। बरसों से वह इसी मकान में अपना एकाकी-जीवन बिता रही है इसके पड़ोस वाले मकान में जाने कितने लोग आए और चले गए। मीरा ने न कभी उनसे जान-पहचान की और न कभी ये ही जानने की कोशिश कि यह आने वाले कौन हैं, कहां से आए और कहां चले गए?

रोज नियम से स्कूल को जाना, लड़कियों को पढ़ाना, लौटकर कुछ पढ़ना-लिखना या अपने गरीब पड़ोसियों की कुछ सहायता, कुछ सेवा करना, यही मीरा के जीवन का कार्यक्रम था, जो बिना किसी उलटफेर के एक मशीन की तरह चला जा रहा है।

आठ दिन हुए जब से यह नए पड़ोसी आए हैं, मीरा के जीवन की शान्ति प्रायः खो-सी गई है। ऐसा जान पड़ता है कि इन पड़ोसियों में से किसी को वही रिकार्ड, जो मीरा की शान्ति को बरबस ही छीन ले जाता है, बहुत प्रिय है और शायद इसीलिए वह रिकार्ड, दिन भर में एक बार जरूर बजा लेता है। शाम हो, सुबह हो, यहां तक कि कभी-कभी आधी रात-रात के समय भी यही रिकार्ड बज उठता है और तब मीरा तन-मन से अधीर हो जाती है-पागल हो जाती है। कई बार वह पड़ोसी के दरवाजे तक जाकर अचानक जरा सचेत होते ही वापस आ गई है। वह चाहती है, वह अपने पड़ोसी से कहे कि उस पर रहम करके वह अपने रिकार्ड मीरा को दे दे। तब मीरा उस रिकार्ड के टुकड़े-टुकड़े कर किसी जलधारा में प्रवाहित कर दे। जिस व्यक्ति की याद में वह

रिकार्ड नहीं सुन सकती, वह जहां कहीं हो अच्छा रहे। मीरा यही चाहती है।

जो जलन मीरा को मिली है, उससे उसका परिचय भी न हो सके।

आज शाम को एक पड़ोसी के पेट में जब अचानक बायगोले का दर्द हुआ और मीरा के उपचार से उसे कोई लाभ न हुआ, तब मीरा एक दवा खोजने लगी। दवा खोजते-खोजते उसे बहुत से कागज भी उलटने पड़े और तभी शेखर का लिखा हुआ एक पत्र अचानक मीरा के हाथ में आ गया। मीरा ने उपेक्षा से पत्र उन्हीं कागजों के साथ सरका दिया। परंतु हृदय में टीस-सी उठी। उठते-उठते मीरा ने पत्र उठाकर पढ़ा। लिखा था-

मीरा, तो आज शाम को तुम मेरे घर आ रही हो। मैं एक बहुत ही अच्छा रिकार्ड लाया हूं मीरा। वह रिकार्ड इतना अच्छा है, इतना अच्छा है कि अकेले सुना ही नहीं जा सकता। तुम आज आना जरूर।

पत्र पढ़कर मीरा ने एक लंबी-सी गहरी सांस ली। उसे लगा-काश शेखर ने कभी उसे समझने की कोशिश की होती तो उसका जीवन यह न होता, जो आज है। पत्र को अलमारी के एक खाने में सहेजकर मीरा ने रख दिया और लेट गई। फिर वह पड़ोसी के लिए न दवा खोज सकी और न घर से बाहर निकली। अतीत के सुनहरे... रुपहले और काले बादल आंसू बनकर उनकी आंखों में बरस पड़े।

वह रात उसे याद आ गई, जब उसके लिए वर की तलाश में निकले हुए उसके पिता कई दिनों के बाद लौटे थे और उसकी मां ने उसके पिता से कहा था ''मीरा के लिए इतनी दौड़-धूप करने की क्या जरूरत है? शेखर से भी इसकी शादी हो सकती है।''

पिता ने एक गहरी सांस के साथ उत्तर दिया था, ''वह बहुत बड़े आदमी हैं। हम गरीबों की लड़की वह भला क्यों लेने लगे?

उसकी मां को इस बात का भरोसा कैसे हो गया था कि शेखर मीरा से शादी करना चाहता है, यह तो मीरा भी जानती न थी। पर मां का उत्तर साफ था वह बोली, ''करेंगे कैसे नहीं। ऐसी लड़की वह दिया लेकर खोजेंगे, तब भी न मिलेगी और शेखर, मीरा को बहुत चाहता भी तो है।''

पिता का उत्तर था, ''दिया के उजाले में चाहे न मिले, पर धन के उजाले में मिल जाएगी मीरा की मां। यह आशा मत करो, जिससे तुम्हें गहरी ठेस लग सकती हो।''

मीरा इसके बाद कुछ सुन न सकी और शायद पिता कुछ बोले भी न हों। पर मीरा के मन-मंदिर का देवता उसी दिन साकार हो गया। इसके कुछ ही दिन बाद, एक दिन अचानक हृदय की गति रुक जाने से मीरा के पिता का देहांत हो गया और विवाह की बात बहुत दिनों के लिए टल-सी गई।

शेखर आता-जाता था परंतु जिस घर पर मातम के बादल छाए थे, वहां वह अपने विनोदी स्वभाव को बहुत संयत करके रखता। पिता की मृत्यु के करीब 2 महीने होने के बाद एक दिन शाम को जब शेखर आया, तब मीरा को ऐसा लगा कि वह कुछ कहना चाहता है। परंतु मां को अकेली छोड़कर वह वहां से उठ न सकी और शेखर चला गया।

दूसरे दिन शहनाई की आवाज से ही मीरा की आंखें खुलीं। मीरा ने उठकर देखा तो यह शहनाई शेखर के घर ही बज रही थी। शहनाई की आवाज मीरा की मां ने भी सुनी। वह पति की मृत्यु के बाद से आधी पागल तो वैसे ही हो गई थी, किंतु जब उसने यह सुना कि शहनाई शेखर के घर बज रही है, आज उसकी लग्न पत्रिका पढ़ी जाने वाली है, तब वह एकदम पागल हो उठी, मीरा के बहुत रोकने पकड़ने पर भी वह बाहर निकल गई। सामने खड़ा शेखर कुछ मित्रों से बातें कर रहा था। मीरा की मां ने जाते ही शेखर को पकड़ लिया और उसे झकझोरते हुए बोली–''तो तुम शादी करने जा रहे हो? तुम किसी और से शादी कर लोगे तो मेरी मीरा कहां जाएगी? नहीं, यह नहीं हो सकता। तुम्हारी शादी तो मीरा से ही होगी। तुम और कहीं शादी नहीं कर सकते।'' और यह कहते-कहते आधी बेहोश सी होकर वह वहीं धरती पर गिर पड़ी। उसी दिन से उसे ऐसा बुखार चढ़ा कि 6 दिन के बाद भी बुखार तो न गया, पर मीरा की मां चली गई।

विवाह की तिथि टाली न जा सकती थी, इसलिए मीरा की मां को बीमार छोड़कर शेखर को विवाह के लिए जाना पड़ा। शेखर के जाने के दूसरे दिन ही मीरा की मां भी चल बसी थी।

हां, जाने के पहले यह जरूर था कि शेखर रोज मीरा की मां के पास, घर वालों की नजर बचाकर बैठ जाया करता था। एक दिन उसने मीरा से कहा था–''मीरा, जो बात तुम्हारी मां ने मुझसे अब कही, वह पहले भी कह सकती थीं, या तुम ही इशारे से बतला देतीं तब मेरा यह विवाह तो संभव न होता, जो अब हुआ जा रहा है।'' मीरा ने उसे बतलाया कि शेखर की मां ने ही मीरा की मां को विवाह का आश्वासन दे रखा था किंतु अब होनहार को कौन टाल सकता है?

शेखर उधर विवाह के लिए गया और इधर मीरा की मां चल बसी। शेखर के सुखमय जीवन में मीरा कांटा न बन जाए, इसलिए शेखर के लौटने के पहले ही मीरा वह घर छोड़कर यहां चली आई थी। कुछ दिन बाद हालत संभलते ही उसने स्कूल में नौकरी कर ली।

तब से आज 22 साल हो गए। शेखर का कोई समाचार नहीं मिला। पर वह शेखर को भूल नहीं पाई। वह उसे भूलने का लाख प्रयत्न करती है, फिर भी नहीं भूल पाती। यह नए पड़ोसी जब से आए हैं तब से मीरा का घाव ताजा हो गया है क्योंकि वह वही रिकार्ड है, जिसे मीरा और शेखर ने न जाने कितनी बार साथ-साथ बैठकर सुना है। अब मीरा को अकेले सुनना पड़ता है। मीरा का मन इतना अधीर हो उठता है कि संभाले नहीं संभलता।

आज शाम को शेखर का पत्र पढ़ना और रात की नीरवता को चीरती हुई रिकार्ड की यह आवाज। मीरा पागल हो उठी। वह पलंग छोड़कर उठ बैठी। पास ही खूंटी पर से उसने अपनी छोटी-सी शाल उठाकर शरीर पर लपेट लिया। कुछ फटी-सी चप्पलों को पहनकर वह पड़ोसी के पास पहुंची, दरवाजे पर थाप दी। दरवाजा खुल गया। सुनसान कमरे में एक दुबला-पतला अधेड़ व्यक्ति ग्रामोफोन के सामने लापरवाही से आरामकुर्सी पर पड़ा हुआ था। सामने एक स्त्री को देखकर वह कुछ घबराया किंतु तुरंत ही संभलकर खड़ा हो गया। बोला–''आइए, कहिए। क्या सेवा कर सकता हूं मैं आपकी?''

मीरा बेहोश सी थी। बोली, ''सबसे बड़ी सेवा मेरी आप यही कर सकते हैं कि इस रिकार्ड को

तोड़-फोड़कर फैंक दीजिए। मैं इसे नहीं सुन सकती... नहीं सुन सकती बंद कर दीजिए।''

पड़ोसी ने साउंड बॉक्स को रिकार्ड पर से हटाते हुए कहा-''आप बैठ तो जाइए। आखिर यह रिकार्ड इतना बुरा क्यों लगता है आपको कुछ तो कारण होगा ही?'' मीरा ने उसी स्वर में उत्तर दिया- ''कारण, बहुत बड़ा कारण है पर मैं कैसे बताऊं? इसे मैंने अपने शेखर.. नहीं, रहने दीजिए। आप कुछ न पूछिए। मेरा पागलपन था, जो नाहक यहां तक चली आई। मुझसे गलती हुई। माफ कीजिएगा। मैं जाती हूं।'' पड़ोसी उठकर दरवाजे पर खड़ा हो गया और बोला, ''माफ कीजिए मैंने रिकार्ड बंद कर दिया है। आपके कहने से। अब आप भी तो कुछ कहिए।'' मीरा जैसे आंखों में ही आंसू पिये चुपचाप वहां से चली आई। कौन जाने शेखर भी मीरा के लिए उतना ही व्याकुल है जितना मीरा!

* * *

(सौजन्य : युगारंभ (मासिक) जबलपुर, मार्च 1949)

हिन्दी अकादमी,दिल्ली
(राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली सरकार)
समुदाय भवन, पदमनगर, किशनगंज,दिल्ली -7
दूरभाष- 23690274,23693118,23694562,फैक्स-23696897
Email: hiniacafemydelhi@gmail.com,
hindiacademy_delhi@vsnl.net

अकादमी के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/अनुवादक	मूल्य
1	दिल्ली जो एक शहर है -	महेश्वर दयाल -	325.00
2	यादगारे गालिब	मो.अल्ताफ हुसैन हाली,अनु अब्दुल बिस्मिल्लाह	125.00
3	ज़िक्रे मीर	भाषांतरकार अजमल अजमली - सं. श्रीकृष्णदास	100.00
4	संभावना	सचिव, हिन्दी अकादमी दिल्ली	150.00
5	राष्ट्र भाषा हिन्दी का स्वरूप	डॉ.विजयेन्द्र स्नातक	12.00
6	मंझधार और किनारा	सुहेल एजाज सिद्दिकी	100.00
7	महाप्राण गांधी	उमेश सहगल अनु.डॉ.रामप्रकाश	125.00
8	डॉ.जाकिर हुसैन	जिया उल हसन फारूकी	50.00
9	कविता-दशक	संपा. डॉ.केदारनाथ सिंह	75.00
10	समीक्षा -दशक	संपा. प्रो.निर्मला जैन	75.00
11	भाषा -विमर्श	संपा. डॉ.मुकुंद द्विवेदी	75.00
12	भारतीय भाषाएँ और राष्ट्रीय अस्मिता	संपा. डॉ.मुकुंद द्विवेदी	160.00
13	दिल्ली और हिन्दी साहित्य	सचिव हिन्दी अकादमी,दिल्ली	300.00
14	शताब्दी का निबन्ध	संपा. डॉ.मुकुंद द्विवेदी	550.00
15	हिन्दी गद्य एवं अन्य विधाएं	संपा. डॉ.मुजीब रिजवी, डॉ हीरालाल बाछोतिया	450.00
16	सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा	मोहनदास करमचन्द्र गांधी,अनु.काशिनाथ त्रिवेदी	140.00
17	हिन्द स्वराज	मोहनदास करमचन्द्र गांधी , अनु. अमृतलाल	45.00
18	नमक के स्वाद जैसा कुछ	ऋतु कुमार ऋतु	100.00
19	परंपरा और प्रतिरोध	सदानन्द साही	125.00
20	हिन्दी काव्य चिंतन की परंपरा	दीपक प्रकाश त्यागी	100.00
21	देशान्तर (प्रवासी भारतीयों की कहानियां)	संपा.तेजेन्द्र शर्मा	170.00
22	देशान्तर (प्रवासी भारतीयों की कविताएं)	संपा. उषा राजे सक्सेना	170.00

उपयुक्त सभी पुस्तकें अकादमी के हिन्दी प्रसार केन्द्रों से या अग्रिम धनराशि (मनीआर्डर /बैंक ड्राफ्ट द्वारा सचिव , हिन्दी अकादमी दिल्ली के नाम) भेज कर मंगवाई जा सकती हैं । कृपया अधिक जानकारी के लिए पत्रिका / प्रकाशन (विक्रय) अनुभाग,हिन्दी अकादमी, दिल्ली (मुख्यालय) पदमनगर किशनगंज, दिल्ली -7 से सम्पर्क करें ।

इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक पत्रिका) (मूल्य एक प्रति -25/- रु, वार्षिक शुल्क-100 रु , द्वैवार्षिक शुल्क -300/-रु)

डॉ.हरिसुमन बिष्ट
सचिव हिन्दी अकादमी, दिल्ली
एवं संपादक, इन्द्रप्रस्थ भारती

आलेख

हमारे समय की कहानियां

सूरज पालीवाल

कहानी अपने समय को रचने की कला है। समय कहानी का मूलाधार है। कहानी अपने समय की धुरी पर ही सचाई को बयान करती है। समय यानी समकालीन यथार्थ कहानी के लिए जरूरी है। यथार्थ समय को देखने की भी कला है और कहानी में उसे पिरो देने की एक दृष्टि भी है। इसलिए अपने समय के यथार्थ से बचकर कहानी नहीं लिखी जा सकती। यथार्थ को लेकर कहानीकारों और आलोचकों में सैद्धांतिक बहस होती रही है, यह बहस यथार्थ को तराशने और तलाशने की दृष्टि प्रदान करती है। जितनी बहस होगी, यथार्थ का आग्रह भी उतना ही प्रबल होगा। यथार्थ पर दृष्टिपात करते समय यह प्रश्न अधिक मौजूं हो उठता है कि कहानीकार अपने समय को कैसे रेखांकित करना चाहता है ? क्या वह हारे और टूटे हुए लोगों के मनोविज्ञान को रूपायित करना चाहता है या जीवंत पात्रों की जय-पराजय की गाथा लिखना चाहता है ? यह दोनों स्थितियां लेखक की दृष्टि और संवेदना पर निर्भर होती हैं। कहानीकार के पास जीवन का अनुभव जितना प्रखर होगा, वह उतना ही सामाजिक पात्रों की कहानी लिखेगा। अनुभव की कमी और दृष्टि का संकुचन बहुत सीमित और संकुचित दुनिया तक ले जाता है।

हमारा समय क्या है और कहानीकारों ने उसे किस रूप में लिया है ? समय गत्यात्मक है और उसकी पहचान सापेक्ष। अपने समय को पकड़ने के लिए कहानीकार को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि की समझ होना जरूरी है। यह भी सही है कि केवल राजनीति, समाज विज्ञान और अर्थशास्त्र पढ़कर समाज को समझ पाना जरूरी नहीं है लेकिन यह भी सच है कि इन्हें पढ़कर जो एक दृष्टि विकसित होती है वह अपने समाज के यथार्थ तक ले जाती है, उस यथार्थ दृष्टि से हम अपने समाज और समय को पढ़ सकने में समर्थ होते हैं। मैं यह मानकर चलता हूं कि समाज के अध्ययन के लिए बहुत बड़ा ज्ञाता होना जरूरी नहीं है लेकिन साथ में यह भी मानता हूं कि विकट जीवन अनुभवों के बल पर अर्जित ज्ञान के आधार पर ही समाज को समझा जा सकता है। हमारी दृष्टि की निर्मिति जिन तत्वों से होती है उनमें विपुल अध्ययन और विशद अनुभवों का बहुत बड़ा योगदान है। कहानीकार के समक्ष अपने समय के यथार्थ को पकड़ पाने की समस्या हमेशा से रही है। अपने समय की महत्वपूर्ण कहानी अपने वर्तमान से बचकर नहीं लिखी जा सकती इसलिए कहानी के

मूल्यांकन के लिए आलोचक की साफ-सुथरी दृष्टि को मैं जरूरी मानता हूं।

कहानी अपने समय के यथार्थ को कैसे पकड़ती है इसके लिए हमें उन कहानीकारों, कहानियों और कहानी आंदोलनों को समझना होगा, जिन्होंने पूरी ईमानदारी के साथ ऐसा किया। आजादी के बाद आया 'नई कहानी' आंदोलन पहला आंदोलन था, जिसने कहानी की भाषा और शिल्प ही नहीं बल्कि विषय में भी आमूल परिवर्तन किए। यह एक प्रकार से उन पढ़े-लिखे युवाओं का आंदोलन था, जिन्होंने पश्चिम के बेहतरीन साहित्य को न केवल पढ़ा था बल्कि पचाया भी था। उनकी समझ ऐतिहासिक क्रम में लिखी गई हिंदी और अन्य देशी विदेशी कहानियों से निर्मित हुई थी। वे यह भी जानते थे कि आजादी के बाद की शहरी चकाचौंध और तेजी से बदलती मध्यवर्गीय दुनिया को परंपरागत कहानी के ढांचे में नहीं लिखा जा सकता। उसके लिए जिस माध्यम की आवश्यकता थी, वह उन्होंने किसी एक लेखक से नहीं बल्कि कहानी के मास्टरों से सीखा था। इसलिए चेखब, मोपांसा, ओ हेनरी, गोर्की तथा लू शुन इत्यादि कहानीकार इनके प्रिय हुए। 'नई कहानी' के योगदान को समझने के लिए हमें प्रेमचंद और उनके बाद की कहानियों को देखना-परखना होगा। पराधीन भारत की सामंती व्यवस्था तथा स्वाधीनता आंदोलन और उसके प्रभाव के तहत लिखी गई कहानियों की मानसिकता अलग प्रकार की है। इसे प्रेमचंद और उनके बाद अज्ञेय, यशपाल और जैनेंद्र इत्यादि की कहानियों में भली-भांति देखा जा सकता है। अज्ञेय, यशपाल और जैनेंद्र की कहानियां निश्चित ही प्रेमचंद से भिन्न प्रकार का तेवर लिए हुए हैं, फिर भी आमूल भिन्नता का अभाव है। मैं इसे समय के प्रभाव के रूप में देखता हूं। 'नई कहानी' का वैशिष्ट्य यही दिखाई देता है। देश स्वतंत्र हुआ, पहले आम चुनाव हुए, पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में नेहरूजी ने अपने सपनों के भारत का नक्शा प्रस्तुत किया, परंपरागत रूप से सामंती व्यवस्था में जड़ गांवों में नई रोशनी पहुंची, तमाम तरह के अधिकारी, मशीनरी और व्यवस्था अपनी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ गांव में पहुंची, जिसने गांवों के शांत एवं स्थिर जीवन में हलचल पैदा की। शहरों में नया मध्यवर्ग पैदा हुआ, गांवों और कस्बों के युवा बड़ी तादाद में शहरों में पहुंचे और उसकी चमक-दमक से इतने प्रभावित हुए कि शहर में ही बसने का निश्चय किया लेकिन शहरों का अकेलापन, बेरोजगारी तथा रोजमर्रा की कठिनाइयों से जल्दी ही उनका मोहभंग होने लगा। 'नई कहानी' ने इन स्थितियों को जिस बारीकी से उभारा है, यह अपने समय की समझ का नायाब नमूना है। मैं एक बार फिर कहना चाहता हूं कि यदि ये कहानीकार अपने समय से अनभिज्ञ होकर अपने पूर्ववर्ती लेखकों की तरह ही कहानियां लिखते तो उनका कोई महत्व नहीं होता। अपने समय के यथार्थ को पकड़कर इन्होंने जिस प्रकार की कहानियां लिखीं, वे इसलिए महत्वपूर्ण हुईं कि इससे पहले ये कहानियां लिखी ही नहीं जा सकती थीं। अमृतसर आ रहा है, सिक्का बदल गया है, जिंदगी और जौंक, पंचलाइट, बिरादरी बाहर, मलबे का मालिक, यही सच है, वापसी तथा भोलाराम का जीव जैसी कहानियां आजाद भारत में ही लिखी जा सकती थीं। इन कहानियों का महत्व छठे दशक के भारत की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में ही परखा जा सकता है। इसी प्रकार सातवें दशक में आए जनवादी उभार के दौरान नमिता सिंह, रमेश उपाध्याय, नीरज सिंह, बादशाह हुसैन रिजवी, महेश कटारे, स्वयंप्रकाश, संजीव,

प्रेम कुमार मणि तथा मिथिलेश्वर इत्यादि कहानीकारों ने एकदम अलग प्रकार की कहानियां लिखीं। ये कहानियां 'नई कहानी' आंदोलन के दौरान लिखीं गई बेहतरीन से बेहतरीन कहानियों के निषेध में खड़ी हैं। इन कहानियों में एक प्रकार का उल्लास है, नए भविष्य के प्रति विश्वास है, नए और बदलते भारत का सपना है, शोषण मुक्त समाज के लिए संघर्ष का आह्वान है। सातवें दशक में लघु पत्रिकाओं के उभार, जनवादी आंदोलन की तीव्र गति और भारतीय राजनीति की उठा-पटक ने एक सपना दिखाया था, ये कहानियां उन सपनों के प्रति अटूट विश्वास की कहानियां हैं। उस समय जो लोग प्रेम, अकेलेपन और मोहभंग की कहानियां लिख रहे थे, वे अकेले पड़ गए थे इसलिए उन कहानियों की चर्चा नहीं होती। अपने समय से पीछे चलने वालों की यही गति होती है। अपने समय को रेखांकित करने के खतरे भी कम नहीं होते, ऐसे खतरों से प्रेमचंद भी खेले थे और बाद के महत्वपूर्ण कहानीकार भी। जो लोग निरापद चलने में यकीन रखते हैं, वे दुनिया को कम समझते हैं और दुनिया भी उन्हें उसी रूप में देखना चाहती है।

नब्बे के बाद कहानीकारों की नई पीढ़ी के सामने चुनौती थी कि वे एक ओर सांप्रदायिक उभार और दूसरी ओर बाजारवाद के विरुद्ध किस प्रकार लिखें ? वैश्विक स्तर पर एक ओर सोवियत संघ का विघटन हो चुका था तो दूसरी ओर अमेरिका विश्व स्तर पर भूमंडलीकरण को बाजारवाद और विशेष रूप से अमेरिकी बाजार के हितों में न केवल जोरदार ढंग से अपितु विश्व मुखिया के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। यानी समाजवाद और पूंजीवाद का जो संतुलन था वह सोवियत संघ के विघटन के बाद समाप्त हो गया। अब एक ही विश्व शक्ति बची थी अमेरिका, जो अपने बाजारू हितों के लिए विकासशील और अविकसित राष्ट्रों को अपनी उंगली पर नचा रही थी। यह महज संयोग नहीं है कि भारत में भूमंडलीकरण के प्रवेश के लिए वह समय चुना गया जब सांप्रदायिक शक्तियां पूरे उभार पर थीं। धर्म के नाम पर सैकड़ों वर्षों की ऐतिहासिक बाबरी मस्जिद को ढहा दिया गया। सांझी संस्कृति वाले दावेदार भारत में धार्मिक उन्माद के समय विदेशी कंपनियों का इस प्रकार आना हमारे अपने दुचित्तेपन का नमूना है। अठारह सौ सत्तावन की हिंदू मुस्लिम एकता ने अंग्रेजों के दांत खट्टे कर दिए थे, वह एकता अब 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' में बदल गई थी। धर्म, जाति, प्रांत, भाषा, बोली और अपनी जड़ों की ओर लौटने की कबीलाई संस्कृति पूरे उभार पर थी, इसको बाजारवाद बढ़ावा दे रहा था। एक ओर बाजारवाद अपनी नंगई को विश्व आर्थिक अवस्था के रूप में प्रस्तुत कर रहा था तो दूसरी ओर तमाम तरह की संकीर्णताओं को बढ़ावा दे रहा था। जिन संकीर्णताओं के विरुद्ध हम पिछली शताब्दी से लड़ रहे थे, वे एक बार फिर नए रूप में बाजारवाद की गोदी में बैठकर प्रतिष्ठित हो रही थीं। कहानीकारों की नई पीढ़ी के सामने इस परिदृश्य को रेखांकित करने की चुनौती थी। जाहिर है कि इस सबको कहानी के पुराने फार्म में लिख पाना संभव नहीं था। मुझे यह मानने और कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं है कि नई पीढ़ी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपनी तरह से नई भाषा, नए शिल्प और नए कथ्य में रूपायित किया। यह भी सही है कि इस पीढ़ी की अपनी सीमाएं बहुत जल्दी ही दिखने लगीं। इस पीढ़ी के साथ एक दिक्कत यह हुई कि यह कुछ संपादकों तथा कुछ चमकीली पत्रिकाओं के कंधों पर बैठकर आई थी। उन कंधों ने इन्हें एक ओर

दिग्भ्रमित किया तो दूसरी ओर विकलांग। इस वजह से इस पीढ़ी के बहुत सारे कहानीकार अपनी कोई छवि नहीं बना पाए। इनके अंदर जो बेचैनी थी, वह एक दो कहानियों तक सिमटकर रह गई। इसलिए बाद में ये उसका पिष्टपेषण करते रहे या अपनी दुनिया में मगन पुरानी कहानी का ही कीर्तन करते रहे। अपने समाज को देखने की जो समग्र राजनीतिक दृष्टि इन्हें अपने अंदर विकसित करनी चाहिए थी, जिसके प्रकाश में यह बदलती दुनिया को देख सकते थे, उससे ये वंचित रहे। अपनी ही चकाचौंध ने इन्हें ऐसा चुंधिया दिया कि वे आगे नहीं जा सके। पीछे लौटने वालों का कोई इतिहास नहीं होता, चाहे वह जीवन में हों या साहित्य में। इस तेज-तर्रार पीढ़ी ने अपनी पुरानी पीढ़ी से यह सीखना जरूरी नहीं समझा कि लेखन की दुनिया में नितनवीन बने रहने के लिए निरंतर अच्छा लिखना जरूरी होता है। एक बार व्यक्तिगत बातचीत में स्वयं प्रकाश ने कहा था कि पाठक आपकी एकाध सतही कहानी के लिए क्षमा कर सकता है लेकिन निरंतर खराब कहानी लिखने के बाद वह आपको कचरा पात्र में फेंक देता है। हेमिंग्वे ने आत्महत्या निजी जीवन के अभावों के कारण नहीं की थी बल्कि अच्छा न लिखने के कारण की थी। हमारे नए कहानीकारों को भी अपने अहम् से बाहर निकलना चाहिए और उन्हें देखना चाहिए कि जिस युवा पीढ़ी को हाथोंहाथ लिया गया, वह बहुत कम समय में कहानी की दुनिया से बाहर क्यों कर दी गई ? क्यों नहीं अब इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक की इस युवा पीढ़ी पर बात होती, उसे भुला देने के कारण क्या हैं ? मुझे लगता है कि जीवन अनुभवों से कटाव, राजनीतिक समझ का अभाव तथा हाथोंहाथ लिए जाने का दंभ इस पीढ़ी के लिए अभिशाप बन गया है। साहित्य की दुनिया में निरंतरता जरूरी है, प्रासंगिक बने रहने के लिए लगातार कहानीकार उन प्रतिमानों को छूने की कोशिश करता है, जो अभी बने भी नहीं हैं।

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक की कहानियों में मोहभंग, हताशा या कुंठा फिर से लौट रही है। यह मात्र संयोग नहीं है कि छठे दशक में लंबी पराधीनता के बाद आई स्वाधीनता और विकास की तमाम योजनाओं के सपनों के टूटने से मोहभंग उत्पन्न हुआ था लेकिन इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक का यह मोहभंग पूंजी के असंतुलन से उत्पन्न हुआ है। विकास के नाम पर जो बहुराष्ट्रीय कंपनियां भारत में आ रही हैं, वे इकतरफा विकास कर रही हैं। यही कारण है कि एक ओर भारत में अरबपतियों की संख्या बढ़ रही है तो दूसरी ओर बीस रुपए पर रोजाना गुजर करने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। देश की अस्सी प्रतिशत पूंजी पर बीस कारपोरेट घरानों का अधिकार है। सांसदों, विधायकों, मंत्रियों और बड़े अधिकारियों का करोड़ों का मालिक होना विकास की गति को कलंकित कर रहा है। देशी पूंजीपतियों, राजनेताओं और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के परस्पर मेल से जो लूट संस्कृति पैदा हो रही है, उसमें मध्यवर्ग और निचले तबके का आदमी पिस रहा है उसे कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा है। बेरोजगारी लगातार बढ़ रही है, निजी कंपनियां अपने मुनाफे के लिए युवकों का खून-पसीना एक कर रही हैं, बाजार का आकर्षण ऋण संस्कृति को बढ़ावा दे रहा है, नगरों, महानगरों और यहां तक कि गांवों तक में भी बाजार ने अपने पैर पसार दिए हैं- इन स्थितियों में युवा रात-दिन भटक रहा है, उसे न कोई रास्ता दिखाने वाला है और न देश के राजनेताओं के पास ऐसा कोई सपना है, जो इन युवाओं को दिखा सके। प्रतिरोध का स्वर लगभग बंद हो चुका है, वामपंथी राजनीति

बैलेट के जरिए ही समाजवाद का सपना देख रही है, अन्ना हजारे जैसे लोगों के ऊपर एनजीओ का स्वर कैसे हावी होता है और एक बड़ा आंदोलन का कैसे पतन होता है, यह हमने अभी हाल ही में देखा है। जिस आंदोलन को मीडिया ने सबसे अधिक कवरेज दी, वह आंदोलन बड़ी राजनीतिक समझ के अभाव में स्वत: समाप्त हो गया और अन्ना जैसे कई लोग अप्रासंगिक करार कर दिए गए। अन्ना आंदोलन की पराजय ने भविष्य के आंदोलनों पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। इस माहौल में बहुत खुशनुमा न तो रहा जा सकता है और न वैसी कहानियां ही लिखी जा सकती हैं। मन समझाने के लिए ऐसी कहानी लिख भी ली तो उसका कोई दूरगामी परिणाम नहीं हो सकता। कारपोरेट सेक्टर से बाहर कर दिए युवक की मानसिकता पर मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'बयान बिल्ला' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करना चाहूंगा। यह कहानी ऐसे अनेक युवकों की कहानी बन सकती थी, जो अपनी आकर्षक नौकरी में शानदार जीवन जीते हुए अचानक बाहर कर दिए गए। भव्य संसार से अचानक बाहर कर दिया जाना सामान्य घटना नहीं है। यह एक दुख की नहीं बल्कि अनंत दुखों की महायात्रा की कहानी बन सकती थी पर मनीषा ने इसे बहुत हल्के-से लिया है। यह यथार्थ बचकाना है, यह समकालीन समाज का यथार्थ बिल्कुल भी नहीं है। जिस युवक की नौकरी छूट गई हो, जिस पर मकान का कर्जा हो, परिवार की जिम्मेदारी हो, पत्नी बहुत छोटी नौकरी करती हो, वह युवक और उसकी पत्नी इतने मसखरे नहीं हो सकते। मनीषा का विचार है कि प्रेम, अवैध संबंध या औरतों के बारे में इस प्रकार की चटखारेदार कहानियां या उपन्यास लिखकर पैसा कमाया जा सकता है। अपने समय के यथार्थ को न पकड़ पाने से कहानी ऐसे ही बचकाने निष्कर्षों पर समाप्त होती है। एक समय तक स्त्री लेखन की सीमा घर परिवार और साड़ियों की लंबी सूची होती थी लेकिन अब अवैध संबंधों के चटखारेदार वर्णन तक ही उनकी दुनिया सिमटकर रह गई है।

स्त्री लेखन में मनीषा कुलश्रेष्ठ के बाद की पीढ़ी भी सक्रिय है, जिनमें गीताश्री, जयश्री राय, आकांक्षा पारे, इंदिरा दांगी, ज्योति कुमारी, हुस्न तबस्सुम निहां, तथा शिल्पी आदि प्रमुख हैं। इनकी सक्रियता अपने समय के यथार्थ को कितना पकड़ पा रही है, यह तो उनकी कहानियां ही बताएंगी। गीताश्री, जयश्री राय तथा ज्योति कुमारी की कहानियां स्त्री पुरुष संबंधों के नए तानेबाने बुनती हैं। आर्थिक दबाव, महत्वाकांक्षाओं की सफलता तथा शरीर की कीमत भुनाने की ललक इनकी कहानियों में देखने को मिलती है। पूंजी की वाचाल गति ने स्त्री संबंधों की सीमा को मुक्त कर दिया है या स्त्री स्वयं उससे मुक्त हो गई है पर इस सबसे उसका नुकसान यह हुआ कि अब उसके पास अपना विवेक और सामर्थ्य नहीं बचा। इस विवेक और सामर्थ्य को पुरुषवादी समाज ने अपने कब्जे में कर उसे अपना बना लिया है। इसलिए एक तड़प और बेचैनी इन लेखिकाओं के यहां मिलती है लेकिन वह बेचैनी अपने हाथों सब कुछ लुटाकर हाथ मलने जैसी स्थिति की है। मैंने जो बात मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी के संबंध में कही थी वही बात गीताश्री की कहानी 'एक रात जिंदगी' के बारे में भी कहना चाहता हूं। क्या वजह है कि गीताश्री उस 19 वर्षीया स्त्री के दु:ख और पीड़ा को कहानी में नहीं उभार पातीं जो पचपन वर्ष के प्रौढ़ के साथ रहने को विवश है। कहानी का उद्देश्य वर्णन करना नहीं होता और न ही वह संस्मरण होती है। वह एक जगह केंद्रित होनी चाहिए, उसका

लक्ष्य उस विवश स्त्री की पीड़ा को उभारना है। पर कहानी बिखर गई है जबकि कहानी का काम बिखरे हुए को भी समेटना है। जयश्री राय, गीताश्री और ज्योति कुमारी को अभी बहुत आगे जाना है, उन्हें स्त्री जीवन के तमाम झंझावातों से उबरना है, उन्हें अपनी सीमाएं अभी से तय नहीं करनी चाहिए। इनकी पहली पीढ़ी की कुछ लेखिकाओं ने देह विमर्श को अपनी कहानियों का आधार बनाकर अपने बाड़े तैयार कर लिए थे, इन्हें उन बाड़ों को समाप्त कर देना चाहिए। आकांक्षा पारे और इंदिरा दांगी अतीत में लौटती हैं, जब बच्चे गर्मियों की छुट्टियों में नानी के घर जाया करते थे। यह अतीत मनोहर है पर बच्चों पर पढ़ाई के बोझ और कैरियर की अनंत महत्वाकांक्षाओं ने अब नानी और दादी सबको भुला दिया है। समय ने बच्चों का बचपन छीन लिया है, अब केवल बचपन पर कहानियां लिखी जा सकती हैं, उसे अनुभव नहीं किया जा सकता।

हिंदी की पहली प्रेम कहानी 'उसने कहा था' के प्रकाशन को सौ वर्ष पूरे होने जा रहे हैं। यह सच है कि हिंदी में प्रेम कहानियां कम लिखी गईं हैं लेकिन 'उसने कहा था', तीसरी कसम' तथा 'गदल' इस कमी को एक हद तक पूरा करती हैं। प्रेम बांधता है, उच्छृंखलता के विरोध में खड़ा रहता है। अब जीवन की आपाधापी और सब कुछ पा लेने की चाह में प्रेम के लिए बहुत कम जगह बची है, लेकिन प्रेम तो आदिम भावना है। मनुष्य जब तक रहेगा, प्रेम भी करता रहेगा और प्रेम कहानियां भी लिखता रहेगा इसलिए 'दस्विदानिया' (पंकज सुबीर), 'वो जो अव्यक्त है' (ज्ञानप्रकाश विवेक) तथा 'उनके पर जानें और ये आसमां जाने' (आशुतोष) की इस दृष्टि से जीवन में प्यार को नए तरीके से व्यक्त करने वाली कहानियां हैं। पंकज सुबीर बीस साल पीछे लौटते हैं, जब तब के वित्त मंत्री और आज के प्रधानमंत्री ने बाजार के लिए अपने देश की सीमाएं निर्बाध कर दी थीं। पंकज सुबीर तब अपने साथ पढ़ने वाली लड़की से प्यार में बोले गए झूठ का कंफेशन ईमेल के द्वारा करते हैं। बीस साल पहले ईमेल इतना लोकप्रिय नहीं था, आज है तो उसका उपयोग कहानी में भी होना चाहिए। कहानी में आए ईमेल के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उसने अपने साथ पढ़ने वाली लड़की का प्यार पाने के लिए अपने साथियों के लिए झूठ बोला था। एक समय प्यार की भावुकता कहानी का आधार होती थी लेकिन अब उस भावुकता से अलग ऐसी कहानियां लिखी जा रही हैं जिनमें प्यार पाना या न पाना कोई अर्थ नहीं रखता। अर्थ रखता है वो बोझ जो बीस साल से सिर पर लदा हुआ था। कहानीकार उस बोझ को जीवन के बोझ से थककर उतार देना चाहता है। कहानी प्रेम के विरोध में नहीं है, यह एक प्रकार से प्रेम का विस्तार ही है, ईमानदार विस्तार। जहां प्रेम करने वाला युवक अपने परिवार के साथ जीते हुए पुराने झूठ को उगल देना चाहता है। वह जानता है कि प्रेमिका के लिए अब इस कंफेशन के कोई मायने नहीं होंगे, वह अपनी दुनिया में, अपने परिवार में मस्त होगी लेकिन यह एक प्रकार की ईमानदारी है, जो कहानी को और गहराई प्रदान करती है। वह यह भी जानता है कि जिस मित्र के विरोध में उसने झूठे किस्से गढ़े थे, वह भी उसके ईमेल से नाराज होगा। कोई भी कंफेशन दुनियादारी के विरोध में ही होता है। यह एक प्रकार से उस सच्चाई से सामना करना होता है, जिसे समय के दबाव में छुपाया गया था। पंकज सुबीर इस कंफेशन के माध्यम से बीस साल की सीमाओं को ही नहीं लांघते वरन् बीस साल पहले और बाद के समय की

स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। ज्ञानप्रकाश विवेक की 'वो जो अव्यक्त है' टीबी सेनिटोरियम में पड़े अकेले, पारिवारिक षड्यंत्र के शिकार हुए बीमार युवक की पल-पल रिसते जीवन की कहानी है, जिसे एक नर्स अपने कोमल मन से भरती है। यह प्यार की नई परिभाषा है, जिसमें उदात्तता है। इक्कीसवीं सदी में ऐसी उदात्त प्रेम की कहानियों पर विश्वास कम ही जमता है क्योंकि यह समय तो परस्पर धोखा देने और धोखे में रहने का समय है। अभी पिछले महीनों में जिस प्रकार की खबरें स्त्री पुरुष संबंधों की आ रही हैं, उन्हें पढ़-सुनकर मनुष्यता से विश्वास उठता है। साहित्य इस विश्वास को फिर-फिर जमाने का काम करता है। ज्ञानप्रकाश विवेक की कहानी पानी की तरह तरल और पवित्र है, उसे समय में न भी बांधें तब भी वह बड़ी कहानी बनती है। ज्ञानप्रकाश विवेक पुराने कहानीकार हैं, लेकिन नए समय और नए ढंग की कहानियां लिखकर वे नितनवीन बने रहते हैं। प्यार पर जब-जब लिखा जाएगा, वह पुराना नहीं होगा। विवेक की यह कहानी भी पुरानी नहीं है।

'उनके पर जाने और ये आसमां जाने' आशुतोष की कहानी दो स्तरों पर चलती है। एक ओर तेजी से बढ़ते निजी-महाविद्यालयों पर माफिया, बाहुबली तथा जातिवादी राजनेताओं का कब्जा तथा दूसरी ओर विकास जैसे अकेले प्राध्यापक द्वारा इस अंधेरे को दूर करने का प्रयास। आशुतोष युवा कहानीकार हैं, पर उनकी राजनीतिक समझ साफ है। उनकी कहानी से यह संदेश भी जाता है कि राजनीतिक समझ के साथ लिखी गई कहानी एकतरफा नहीं होती, वह एकरेखीय भी नहीं होती। ऐसी कहानी अपनी व्यंजना में कई स्तरों पर प्रभावशाली होती है। आशुतोष जातिवादी-बाहुबलियों के महाविद्यालय में इतिहास के नए प्राध्यापक विकास के माध्यम से अपनी बात कहते हैं। इतिहास का सच्चा अध्यापक इतिहास पढ़ाता ही नहीं है अपितु इतिहास बनाता भी है। विकास ऐसे ही इतिहास के प्राध्यापक हैं जो विषम परिस्थिति में एक ओर जातिवादी राजनीति का विकल्प तलाश करते हैं तो दूसरी ओर दो युवा दिलों को जाति-पांत से अलग प्यार करने का स्वस्थ और स्वच्छ मार्ग दिखलाते हैं। हिंदी के कालजयी उपन्यास 'रागदरबारी' में श्रीलाल शुक्ल ने सातवें दशक का यथार्थ दिखलाया था जो तब उतना ही भयावह था, जितना अब है। तब सवाल उठता है कि आशुतोष जैसे युवा कहानीकार को अब कहानी लिखने की जरूरत क्यों महसूस हुई ? मैं समझता हूं कि आशुतोष के सामने अपना समय है, ऐसा समय जब शिक्षा जगत् पर से सारे नियंत्रण समाप्त कर सरकार ने उसे बिगड़ैल और भ्रष्ट राजनेताओं के हाथों सौंप दिया है। सातवें दशक ही नहीं नवें दशक तक भी शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा पर सरकार का नियंत्रण था। सरकार इसे अपना कर्तव्य मानती थी और उसी के अनुरूप व्यवस्था भी करती थी। उदारीकरण की आंधी में नैतिक कर्तव्यबोध के सारे बंधन उड़ गए। इसीलिए शिक्षा और स्वास्थ्य राजनेताओं, उनके चहेतों या उनकी छत्र-छाया में पल रहे माफियाओं ने हथिया लिए। और सुरक्षा तो चंद राजनेताओं के गर्व और गौरव की वस्तु बनकर उनके दरवाजे पर पहरा दे रही है। आशुतोष एक ओर महाविद्यालय की राजनीति से परिचित कराते हैं तो दूसरी ओर जातिवादी राजनीति से अलग प्रेम को भी उसका स्थान दिलाते हैं। कस्बाई राजनीति ने न केवल महाविद्यालय में शिक्षा का माहौल भ्रष्ट किया अपितु युवा दिलों में भी जातिवाद और स्वार्थ की कटुता फैला दी है। विकास जैसे अध्यापक इन दोनों स्थितियों को बखूबी समझ रहे हैं इसलिए

इनके बीच से ही मानवीयता का मार्ग तलाशते हैं।

उदारीकरण का भयावह रूप राजकुमार राकेश की कहानी 'दादागिरी' में जिस रूप में दिखाई देता है, वह डरावना है। इससे पहले चंदन पांडेय की कहानी 'सुनो' में भी इस डर की अनुगूंज सुनाई दी थीं। राजकुमार राकेश, एस.आर.हरनोट, केशव और राजेंद्र राजन की पीढ़ी के कहानीकार हैं, जिन्होंने हिमाचल की हिंदी कहानी को विशिष्ट पहचान दी है। राकेश उदारीकरण के विरोध में लगातार लिखते रहे हैं। उनकी समझ पर भरोसा करके ही मैंने उनकी कहानी 'दादागिरी' को पढ़ना आरंभ किया। कहानी एक भारतीय प्रशासनिक सेवा से सेवानिवृत अधिकारी रामनाथ की है। प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी कितने भी ईमानदार रहें या ईमानदार दिखाने की कोशिश करें पर उनको मिलने वाले वेतन और पद के साथ जुड़ी सुविधाओं के कारण उनका पद मलाई और मक्खनदार हो जाता है। रामनाथ की पैतृक संपत्ति के अलावा अन्य जो ठाट-बाट थे, वे इसी पद के कारण थे। लेकिन उनकी पत्नी और बेटे के संबंध अमेरिका के राष्ट्रपति ओबामा के रिश्तेदार मार्क हिलसन से थे, जिसने उन्हें इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन से मिलवाया था। इन अंतरराष्ट्रीय संबंधों में मित्रता का मतलब व्यापार होता है। परस्पर लेन-देन के आधार पर ऐसे संबंध बनते हैं जो स्वार्थसिध्दि में निरंतर फलते-फूलते हैं। इस तरह के व्यापारिक संबंधों में देश, देश के हित तथा राष्ट्रीय विकास और सुरक्षा जैसी भावुकतापूर्ण चीजें कोई मायने नहीं रखतीं। रामनाथ की पत्नी और बेटा अब अरबपति हैं, वे अपनी दौलत को रुपयों में नहीं बल्कि डॉलर में गिनने के आदी हो गए। मार्क हिलसन ने उन्हें इराक के ठेके दिलवाकर उपकार किया है। वह इसकी कीमत वसूलने के लिए पहाड़ की तलहटी की जमीन लेना चाहता है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार की दुनिया सामान्य नहीं होती, रामनाथ इससे अनजान नहीं होंगे लेकिन अपनी जमीन से उन्हें भावनात्मक लगाव है इसीलिए वे नहीं चाहते कि अमेरिकी हिलसन ऐसा कारखाना उनकी जमीन पर लगाए, जिससे लोगों का स्वास्थ्य और प्राकृतिक वातावरण जहरीला बने। पत्नी और बेटा पहले तो उन्हें पागल करार कर देते हैं और अंत में जेल भिजवा देते हैं। जो अकेला आदमी उनका विरोध कर रहा था, वही गैस के रिसाव के अपराध में पकड़ा जाता है और वास्तविक अपराधी भारतीय वायुसेना के विमान से सुरक्षित अमेरिका पहुंचा दिए जाते हैं।

यह काम सरकारों की मिलीभगत के बिना संभव नहीं होते। भारतीय वायुसेना किसी व्यापारी या सामान्य नागरिक के लिए अपने विमानों के उपयोग की अनुमति नहीं देती। यह स्थिति आपातकाल में ही संभव होती है। दोनों अंतरराष्ट्रीय दलालों के लिए कोई आपात् स्थिति नहीं थी। कारखाना हिलसन का था और जमीन रामनाथ के बेटे और पत्नी ने हथिया ली थी। रामनाथ तो 'रंगभूमि' के सूरदास की तरह कारखाने के विरोध में थे। आईएएस रहे रामनाथ को यह भी तो मालूम होगा ही कि उनके अकेले विरोध से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चल रहे व्यापार को रोक पाना संभव नहीं है। रामनाथ अपने पिता की तरह थे, जो स्वयं जमीन को बेचने के पक्षधर कभी नहीं रहे, रामनाथ उसी परंपरा का निर्वाह कर रहे थे। रामनाथ ने वृद्धावस्था में यह ज्ञान तो प्राप्त कर लिया था कि अपनी जमीन पर अपने आसपास के लोगों की जान जोखिम में डालकर विदेशी कंपनी द्वारा जहरीली गैसों के कारखाने को लगाने से बहुत बड़ा नुकसान होगा पर वे यह भूल गए थे कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार में जो लेनदेन

होता है, उसे रोक पाना अकेले आदमी के लिए संभव नहीं है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हथियारों, विमानों तथा अन्य बड़ी वस्तुओं का जो व्यापार चल रहा है वह सरकारों की कृपा दृष्टि से ही चल रहा है। उसके लिए अरबों के सौदे होते हैं, जो राष्ट्रीयता जैसी किसी भी भावुकता से ऊपर होते हैं। इन्हें सरकार का एक मंत्री या प्रधानमंत्री भी चाहे तो नहीं रोक सकता। इसके लिए बाहरी दबाव होते हैं, ये दबाव अपने हितों के लिए किसी की हत्या भी करा सकते हैं और सरकार भी बदल सकने में सक्षम होते हैं। ऐसे दबंग लोगों की एक अलग दुनिया है, जिन्हें किसी भी देश की सीमाएं बांध सकने में असमर्थ होती हैं। राजकुमार राकेश की यह कहानी ऐसे ही अंतरराष्ट्रीय माफियाओं के जाल से परिचित कराती है।

नई पीढ़ी में विवेक मिश्र उभरता हुआ नाम है। उनकी कहानियों ने लोगों का ध्यान खींचा है। ऐसी ही एक कहानी 'पार उतरना धीरे से' की चर्चा मैं यहां करना चाहता हूं। यह रातना कमैती नामक स्त्री की कहानी है, जिसको लंबे समय बाद देवी की मनौती मांगने पर बेटा होता है। इच्छा पूरी होने पर देवी मंदिर पर मेमने की बलि देने की परंपरा है। मेमने की बलि दी जाती है और बाद में बिना सिर के मेमने को नदी में प्रवाहित करना है। कमैती बिना सिर के मेमने को देखती है, उसके प्रति ममता उमड़ आती है और मेमने की जगह अपने बच्चे को नदी में प्रवाहित कर देती है। यह कहानी एक स्त्री की भावुकता की कहानी तो हो सकती है लेकिन उस मां की नहीं, जिसे शादी के बहुत दिनों बाद और बहुत मन्नतों के बाद बेटा हुआ था। यह भावुकता के निर्णय हैं जो कहानी में तो अच्छे लगते हैं पर जीवन की ताप पर ये कहीं नहीं ठहरते। विवेक मिश्र से उम्मीद है कि वे जीवन यथार्थ को अच्छी तरह पहचानेंगे। जीवन में इस प्रकार की घटनाएं अपवाद हो सकती हैं, पर अपवादों पर कहानियां नहीं लिखी जातीं। नई पीढ़ी के कहानीकारों को यथार्थ के प्रति अधिक सचेत होना चाहिए। त्याग और उदारता के ये उदाहरण उपदेशों या भक्ति कथाओं में तो ठीक लगते हैं लेकिन सामाजिक जीवन तो पहले से ही बहुत जटिल है।

हमारे समय के कहानीकारों को अपना रास्ता स्वयं बनाना चाहिए। बने बनाए रास्तों पर चलने वालों की कोई पहचान नहीं होती। हिंदी कहानी ने अब-तक कई पड़ाव पार किए है, लेकिन जब-जब नई प्रतिभा आएगी तब-तब उसे लगेगा कि एक पड़ाव उसे भी पार करना है। वह अपनी भाषा, अपना शिल्प और अपनी किस्सागोई के साथ ही तो कहानी कहेगी। यहीं मुझे लगता है कि उसके सामने सबसे बड़ी चुनौती पिछले दशक में लिखी गई कहानियां ही होंगी। वे कहानियां मात्रा में निश्चित ही सीमित हैं लेकिन भाषा, शिल्प और चमत्कार में बहुत आगे हैं। हमारे नए कहानीकारों के सामने चमत्कार का चौंध है, जिससे बचकर उन्हें अपने समय के यथार्थ को पकड़ना है। यह यथार्थ जो अब बहुत बारीक हो गया है। इसलिए कि बाजारवाद ने गांवों, कस्बों और शहरों की सीमाओं को बहुत कमजोर कर दिया है। गोरे बनाने की क्रीम, सुडौल दिखाने वाले अंग वस्त्र, अंकल चिप्स, ठंडे पेय पदार्थ और तमाम तरह की ऐसी चीजें जो युवा पीढ़ी के आकर्षण का केंद्र है, अब सर्वत्र उपलब्ध है। बाजार ने अब ऐसी कोई जगह नहीं छोड़ी है, जहां उसकी उपस्थिति न हो। सब जगह उपस्थित होकर, सबको भ्रमित करने वाले बाजार से युवा कहानीकार कैसे बचेंगे, यह उनके विवेक पर निर्भर

करता है। बाजार के साथ राजनीति भी अपनी प्रभावशाली मुद्रा में है। जिन्हें राजनीति नहीं करनी वे भी राजनीतिक निर्णयों से प्रभावित होते ही हैं। राजनीतिक दृष्टि हमें निर्णय करना सिखाती है, समय के पार हमें निराश होने से बचाती है और उस यथार्थ से रूबरू कराती है, जो कहानीकार को अपने समय का चितेरा बनाती है। पिछले दशक के युवा कहानीकारों के पास राजनीतिक समझ का अभाव है। वे क्यों अपनी इस कमी को ढंकने के लिए चमत्कारी शिल्प का सहारा लेते हैं ? शिल्प चाहे कैसा भी हो, यदि वह अपने समय के सच के साथ जुड़ा हुआ नहीं है तो अधिक दिन ठहर नहीं सकता। कहानीकारों की युवा पीढ़ी कथ्य को कमतर आंकती है, उसे अमिधा बताकर उसके निषेध पर कहानी रचती है। यह एक प्रयोग हो सकता है, जो कभी-कभी किन्हीं और कारणों से सफल भी हो जाता है लेकिन ऐसी कहानियां लंबे समय तक चल नहीं पातीं। लगभग सौ वर्षों की हिंदी कहानी के इतिहास में वे ही कहानियां आज भी चर्चा में हैं जिन्होंने अपने समय के सच को प्रातिनिधिक माना है, केवल भाषा या शिल्प के चमत्कार के आधार पर लिखी गई कहानियां बहुत कम समय में विस्मृत हो गईं। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक के कहानीकारों के सामने भी यही दिक्कत है कि उनके पास जीवन के अनुभव बहुत व्यापक नहीं हैं और न राजनीतिक समझ साफ है। आज के कहानीकारों को अपनी पूर्व पीढ़ी की इस स्थिति से परिचित होना चाहिए और अपना मूल्यांकन करना चाहिए कि वे अपने समय में रहकर महत्वपूर्ण कहानियां कैसे लिख सकते हैं ? यह सही है कि अपने समकालीनों का मूल्यांकन करना कठिन होता है लेकिन यह भी सही है कि हमारे समकालीन कहानीकार अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी को गंभीरता से पढ़ें और समझें। यह समझ ही उन्हें भविष्य का कहानीकार बनाने में सफल होगी।

* * *

कहानी

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा....

शरद सिंह

निहारिका घर लौटी। स्वभावत: उसने अपनी पत्र-पेटी को खोलकर देखा। मात्र एक लिफाफा था उसमें। निहारिका ने झुंझलाते हुए पत्र-पेटी बंद की और स्वयं से पूछा कि आखिर वह और किस पत्र की प्रतीक्षा कर रही है? वह कौन-सी चिट्ठी उस पेटी में रखी हुई देखना चाहती है? न तो उसके मन के पास इसका उत्तर था और न मस्तिष्क के पास। उसने अनमनेपन से दरवाजे का ताला खोला और घर में प्रविष्ट हो गई। मौसम गरम हो चला था। पंखा चालू कर दिया। एक पल मन किया कि बैठ कर सुस्ता ले फिर दूसरे ही मन ने कहा कि पहले एक कप चाय बना ली जाए उसके बाद ही बैठने के बारे में सोचें।

यदि मां घर पर होतीं तो वे बिना कहे ही रसोईघर जा पहुंचतीं और चाय बनाना शुरू कर देतीं। लेकिन मां तो बनारस गई हैं भाई के पास। वैसे अकेलेपन से निहारिका को कोई शिकायत नहीं रहती है। रहे भी कैसे? अब तो अकेलेपन की आदत पड़े वर्षों व्यतीत हो चुके हैं। लेकिन मां को निहारिका के अकेलेपन की चिंता रहती है इसीलिए वे कही भी जाती हैं तो शीघ्रातिशीघ्र लौटने को उतावली रहती हैं। भले ही निहारिका और मां के बीच वार्तालाप बहुत ही सीमित होता है। दोनों में परस्पर असीम प्रेम हो कर भी दोनों के बीच एक अदृश्य दीवार खड़ी रहती है। यह दीवार न तो उम्र के अंतर की है, न तो रुष्टता की और न ही दोनों अंतर्मुखी थीं। यह एक प्रकार का मानसिक तादात्म्य ही था कि दोनों एक-दूसरे की आवश्यकताओं और मनोदशा को भांप जाती थीं। इसी तादात्म्य ने उन दोनों के बीच संवादों की आवश्यकता को दोयम बना दिया था। उनकी बातचीत उस समय भी सीमित शब्दों में होती जब मां दूसरे शहर गई हुई होतीं और वहां से फोन करके निहारिका का हाल-चाल पूछतीं।

''सब ठीक है न निहू ?'' मां पूछतीं।

''हां, यहां सब ठीक है। तुम चिंता मत करो।'' निहारिका कहती। 'आराम से आना' कहना चाह कर भी नहीं कह पाती। वह जानती थी कि इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। इन्हें कहना औपचारिकता ही होगी। मां अपनी इच्छानुसार गई हैं और अपनी इच्छानुसार आ भी जाएंगी, वह भी शीघ्रातिशीघ्र। शायद मां को लगता है कि निहारिका अभी भी एक छोटी बच्ची है जो अपनी देख-

भाल स्वयं नहीं कर सकेगी या फिर अकेले घर में डर जाएगी, सहम जाएगी।

मां के इस तरह के उतावलेपन पर निहारिका को कभी खीझ आया करती थी लेकिन अब कोई विचार नहीं उठते।

निहारिका ने चाय का प्याला मेज पर रखा और सोफे पर पीठ सटाकर बैठ गई, कालीन पर।

''हर समय तो कुर्सी पर टंगे रहना पड़ता है, कम से कम घर में तो जमीन पर, पैर फैलाकर बैठा जा सकता है।'' निहारिका मुस्कुराकर कहती जब उसकी भाभी उसे टोकती। अब तो भाभी भी यहां नहीं हैं।

निहारिका ने चाय का प्याला उठाने के लिए हाथ बढ़ाया तो उसे वह लिफाफा दिखाई दे गया जिसे वह पत्र-पेटी से निकाल कर लाई थी। उसने लिफाफा उठा लिया। प्रेषक के स्थान पर प्राचीन इतिहास विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर का पता पढ़ कर वह उसे उलझन-सी हुई। उसने लिफाफा खोला। उसमें एक आमंत्रण-पत्र था।

'एलुमनी मीट' उस इन्विटेशन कार्ड पर सबसे ऊपर यही लिखा था। सन् 1998 के सभी छात्रों को आमंत्रित किया गया था। देखा जाए तो शिक्षण-सत्र बहुत पुराना नहीं चुना गया था, मात्र तेरह वर्ष पहले का। 'एलुमनी मीट' के लिए पंद्रह साल बहुत अधिक नहीं होते हैं लेकिन आजकल की इस भागती-दौड़ती जिंदगी में पंद्रह दिन पहले की बातें ही दशकों पुरानी लगने लगती हैं।

'एलुमनी मीट!' यानी उस समय के सभी विद्यार्थी आएंगे? नेहा, रुमी, लक्ष्मी, हरदीप, सुहैल, व्योम....और ....और क्या .... वो.....वो भी आएगा?

''नहीं! उस तक तो इन्विटेशन शायद पहुंच ही न पाया हो...क्या पता वह इस समय कहां हैं....दुनिया के किस छोर में है? क्या विश्वविद्यालय वाले उसे ढूंढ पाए होंगे? यदि ढूंढ भी लिया होगा तो यह आवश्यक नहीं है कि वह निमंत्रण स्वीकार करे ही। वह तो व्यस्तताओं से घिरा रहता होगा, हमेशा की तरह।'' निहारिका ने अपने मन को समझाया। एक साथ दो विचार निहारिका के मन में कौंधे-एक तो यह कि वह इस मीट में न आए तो अच्छा है और दूसरा यह कि वह आए ताकि निहारिका उसे एक बार फिर देख सके।

निहारिका देख सके कि वह कितना बदल गया है। क्या वह पहले से मोटा हो गया होगा? गंजा? दुबला? या पहले से अधिक स्मार्ट? उन दिनों उसे अपनी सज-धज पर बड़ा नाज हुआ करता था। निहारिका और उसका मूल विषय एक ही था किंतु विशेषज्ञता का विषय भिन्न था। निहारिका को मूर्तिकला और स्थापत्य कला में रुचि थी और उसने ये दोनों विषय चुने थे जबकि वह शिलालेखों और पुरालिपियों में दिलचस्पी रखता था। ब्राह्मी और पालि उसने अपनी मेहनत से सीख रखे थे। निहारिका एक प्राध्यापिका और एक इतिहासकार बनने का सपना देखती थी जबकि वह पुरालेख विशेषज्ञ बनना चाहता था और लंदन का रॉयल एल्बर्ट संग्रहालय एवं मिस्र का कैरो संग्रहालय उसके सपने के कार्यस्थल थे, जहां वह ढेरों-ढेर पुरालेख बांचना चाहता था और उनकी नए ढंग से व्याख्या करना चाहता था।

वह काशी हिंदू विश्वविद्यालय, बनारस से आया था। उसका नाम तो था विवेक लेकिन

निहारिका उसे 'रंगरेज' कहती थी।

''तुम इतनी अच्छी यूनिवर्सिटी छोड़कर यहां क्यों आए?'' निहारिका ने पूछा था।

''ये भी अच्छी है!'' विवेक ने कहा था।

''हां, यह भी अच्छी है लेकिन बी.एच यू. तो आखिर बी. एच. यू. है। यहां से बेहतर फेकेल्टी होगी वहां!''

''सो तो है लेकिन फेकैल्टी का अच्छा होना ही मायने नहीं रखता है, पढ़ने वाले की लगन पर निर्भर रहता है कि वह अच्छी यूनीवर्सिटी में पढ़कर भी गधा निकलता है या सामान्य यूनिवर्सिटी में पढ़कर भी जीनियस बनता है।'' विवेक ने कहा था।

''तुम्हें तो दर्शनशास्त्र लेना था।'' निहारिका हंसी थी। फिर पूछा था, ''सच बताओ, यहां मन लग रहा है?''

''मन का तो पता नहीं लेकिन दिल लगाने की कोशिश कर रहा हूं!'' कहते हुए विवेक भी हँस दिया था।

विवेक कुछ समय छात्रावास में रहा फिर किराए का एक कमरा ले कर सिविल लाइंस के क्षेत्र में रहने लगा। सागर के सिविल लाइंस को सागर का कनॉट प्लेस कहा जाए तो गलत नहीं होगा। लेकिन इसमें थोड़ा सुधार करके इसे कनॉट प्लेस के साथ-साथ चौपाटी भी कह सकते हैं। अर्थात कनॉट प्लेस और चौपाटी का कांबो पैक। एक ओर एक छोटा-सा मॉल, किराने से लेकर कपड़ों और इलेक्ट्रॉनिक्स तक की दुकानें। दूसरी ओर एक कतार से खड़ी चाट की दुकानें जो हमेशा चटखारे लेते ग्राहकों से खचाखच भरी रहतीं। उन ग्राहकों में अधिकतर युवा होते, विश्वविद्यालय और कोचिंग सेंटर्स पढ़ने वाले। हां, शाम को कई ग्राहक सपरिवार भी पहुंचते।

''कितना अच्छा और सक्सेसफुल धंधा है! यदि मैं इपीग्राफिस्ट नहीं बन सका तो चाट की दुकान खोल लूंगा।'' विवेक बड़े जोश से कहा था।

''वाह! व्हाट ए कांबीनेशन! इपीग्राफिस्ट नहीं तो चाट वाले भैया! इरादा बुरा नहीं है!'' विवेक की चाटवाले के रूप में कल्पना करते ही निहारिका ठठाकर हंस पड़ी थी।

निहारिका कभी-कभी सोच में पड़ जाती कि इतना खिलंदड़ा-सा दिखाई देने वाला लड़का अपने ऊंचे-ऊंचे सपनों को कैसे पूरा करेगा? विवेक बनारस के एक व्यवसायी परिवार का सबसे छोटा बेटा था। उसका सबसे बड़ा भाई बनारसी साड़ियों के निर्यात का काम देखता था और शेष दो भाई पिता का हाथ बंटाते थे। विवेक के पिता चाहते थे कि विवेक पढ़-लिखकर अपने बड़े भाई के साथ साड़ियों के निर्यात के काम में जुट जाए लेकिन विवेक तो किसी और ही रास्ते पर चलने के लिए बना था। यूं तो उसे गर्व था अपने पारिवारिक व्यवसाय पर किंतु वह स्वयं उसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहता था। विवेक चाहता तो कैरो और लंदन अपने बड़े आराम से जा सकता था, व्यवसायी के रूप में लेकिन उस पर तो इपीग्राफिस्ट बनने का भूत सवार था। बनारस में उसे पैतृक व्यवसाय की ओर खींचने का पूरा प्रयास किया जाता जिससे वह मानसिक दबाव महसूस करता इसीलिए उसने बनारस से बाहर रहकर पढ़ने का फैसला किया। उसके सामने दो विकल्प थे, एक दिल्ली का और

दूसरा सागर का। इन दोनों स्थानों पर उसके कई मित्र पहले ही पहुंच चुके थे। दिल्ली में भी परिवारवालों के दबाव से पीछा नहीं छूटता इसलिए उसने सागर को चुना।

''मैं तो इस शहर को देखते ही इस पर फिदा हो गया था।'' विवेक ने कहा था।

''और विश्वविद्यालय?'' रुमी ने पूछा था।

''यदि शहर अंगूठी है तो विश्वविद्यालय इसका नगीना है।'' विवेक ने प्रभावित स्वर में कहा था।

चकित रह गई थी निहारिका यह उपमा सुनकर। ऐसा तो उसने खुद भी नहीं सोचा था, कितनी सुंदर प्रशंसा!

''तुम तो कवि हो!'' निहारिका बोल पड़ी थी।

''नहीं मैं रंगरेज हूं!'' विवेक ने कहा था।

''रंगरेज? व्हाट यू मीन?'' निहारिका और रुमी एक साथ बोल उठी थीं।

''हां, हमारे यहां बनारसी साड़ियों पर पॉलिश का भी काम होता है। निहारिका, तुम उस दिन बता रही थीं न कि तुम्हारी मां की बनारसी साड़ी पर चाय के दाग लग गए थे और तुमने उसे ड्राईक्लीन कराया तो पूरी साड़ी का रंग फीका पड़ गया है....''

''हां, वो मां की फेवरेट साड़ी है। पिताजी की यादें जो सिमटी हैं उसमें।'' निहारिका बता बैठी थी।

''ओके! मैं दो दिन बाद घर जा रहा हूं। मुझे दे देना वो साड़ी, मैं उसे पॉलिश करा दूंगा। एकदम नई दिखने लगेगी।'' विवेक ने रुमी और हरदीप को अनदेखा करते हुए सीधे निहारिका से कहा था।

''क्या सचमुच?'' उत्साहित हो उठी थी निहारिका। वह जानती थी कि वह साड़ी उसकी मां के लिए कितना अधिक महत्व रखती है। वस्तुत: स्मृतियां अपने बने रखने का आधार ढूंढ ही लेती हैं। मां के लिए पिताजी की स्मृतियां यदि उस साड़ी के तानो-बानों में न रची होतीं तो किसी कंगन में लिपटी रहतीं, किसी फोटो में, नहीं तो किसी ऐसी निर्जीव वस्तु में जो पिताजी ने अपने प्रेम में पाग कर मां को उपहार में दी होती। संभवत: स्मृतियां व्यक्ति से कहीं अधिक उसके व्यवहार, उसकी भावनाओं की होती हैं। प्रेम-भावना की स्मृति सबसे तीव्र और कालजयी होती है। प्रेम-भावना किसी भी निर्जीव वस्तु को सजीव बना देती है, तभी तो निहारिका ने कई बार छिप कर मां को उस साड़ी से बातें करते भी देखा था। मानो मां पिताजी से बातें कर रही हों।

मां की उस अमूल्य साड़ी की सुंदरता लौट आने की कल्पना से ही निहारिका उत्साहित हो उठी थी। फिर भी उसके मन के किसी कोने में एक संदेह जाग उठा था।

''साड़ी और खराब तो नहीं हो जाएगी?''

''नहीं! चिंता मत करो!''

''ध्यान से वापस ले आना, भूलना नहीं!''

''नहीं भूलूंगा!''

''मां की सबसे प्रिय साड़ी है इसीलिए.....''

''रंगरेज हूं, कपड़ाचोर नहीं! समझीं निहारिका मैडम! सो फॉर गॉड सेक, डोंट वरी एबाउट साड़ी!'' विवेक झुंझला उठा था।

''ठीक है, रंगरेज साहब! ठीक है!'' निहारिका ने उसका मूड ठीक करने की दृष्टि से हँसकर कहा था,''किसी दिन अगर तुम्हारे घरवालों को पता चल गया कि तुम खुद को रंगरेज कहते हो तो वे लोग तुम्हारी बैंड बजा देंगे!''

''बात तो ठीक है तुम्हारी लेकिन उन्हें पता कैसे चलेगा? तुम बताओगी उन्हें?''

''हो सकता है...यदि किसी दिन तुमने मुझसे चतुराई दिखाने की कोशिश की तो .....''

''चतुराई दिखाने की कोशिश? अरे, मैं तो जन्मजात चतुर हूं। कोई शक?'' वह भी हँसा था।

वह सचमुच चतुर था, बुद्धिमान था। उसने अपनी बुद्धि का सबूत दे दिया था परीक्षा परिणाम के रूप में। निहारिका और विवेक दोनों प्रवीणता सूची में पहले और दूसरे स्थान पर आए थे। मात्र एक अंक का अंतर था दोनों के अंकों में।

''काश! यह तुम्हारा एक अंक मुझे मिल गया होता!'' चटकते स्वर में विवेक ने कहा था। उस स्वर को सुनकर चौंकी थी निहारिका। क्या निहारिका के पहले स्थान पर आने की खुशी नहीं है विवेक को?

''तुम ले लो यह नंबर!'' निहारिका ने मुस्कुराकर कहा था।

''वह तुम्हारे हिस्से का है, मेरे नहीं। और मैं किसी से उसका कुछ भी नहीं छीनता हूं...कुछ भी नहीं!'' अनमनेपन से बोला था विवेक ने।

''दु:खी हो?''

''नहीं!''

''लग तो रहा है!''

''तुम्हें भ्रम हो रहा है।'' विवेक ने अपने दु:ख को नकारते हुए निहारिका से पूछा था,''अब आगे क्या इरादा है?''

''पीएचडी करूंगी...और तुम?''

''मैं भी! पीएचडी तो करनी ही पड़ेगी। विशेषज्ञता की पहली सीढ़ी वहीं से तो शुरू होगी।''

सब कुछ स्पष्ट था विवेक के सामने। वह पहले से तय करके बैठा था कि उसे क्या करना है और कहां जाना है?

''तुम क्या करोगी पीएचडी के बाद?'' विवेक ने पूछा था।

''नेट भी ट्राई करूंगी....मुझे टीचिंग लाइन में जाना है।'' निहारिका ने भी यह जताने का प्रयास किया कि उसका रास्ता भी पहले से तय है।

''हाऊ बोरिंग! तुम एक अच्छी आइकनोग्राफर बन सकती हो! आई स्वेयर, तुम्हें मूर्तियों की लिपि पढ़ना आता है।'' विवेक ने निहारिका की प्रशंसा करते हुए कहा था। अच्छा लगा था यह सुन कर निहारिका को। अपनी प्रशंसा भला किसे अच्छी नहीं लगती? फिर कोई अपना प्रिय व्यक्ति प्रशंसा करे तो प्रसन्नता बढ़ कर दूनी हो जाती है। एक ही आकाशगंगा में हजार चंद्रमा और हजार सूरज

चमकते दिखाई देने लगते हैं।

विवेक क्या सचमुच 'प्रिय व्यक्ति' था निहारिका का? यह प्रश्न निहारिका ने अपने-आप से सैंकड़ों बार किया था। यह प्रश्न निहारिका के मन में उठना नहीं चाहिए था लेकिन उठा। कारण था विवेक का अबूझ व्यवहार।

पीएचडी के लिए आवेदन करने और एमए का परीक्षा परिणाम आने से कई माह पहले निहारिका को विवेक प्रिय लगने लगा था। हँसमुख, खिलंदड़ा विवेक सभी को प्रिय था, विद्यार्थियों से लेकर प्राध्यापकों तक को। जब से विवेक ने निहारिका की मां की साड़ी में पॉलिश करा कर दिया था तब से निहारिका को लगने लगा था कि विवेक उसकी ओर कुछ विशेष ध्यान देता है। अच्छा लगा था निहारिका को यह महसूस कर।

उस दिन विश्वविद्यालय के किसी कर्मचारी का निधन हो जाने के कारण शोक-सभा के बाद छुट्टी घोषित कर दी गई। सभी विद्यार्थी अपने-अपने घर लौट गए। निहारिका भी लौटने लगी।

''थोड़ी देर रुको!'' विवेक ने उसे रोका था।

''क्यों?''

''यूं ही!''

''लेकिन....''

''क्या नहीं रुक सकतीं?'' विवेक ने इस भाव से कहा कि निहारिका रुक गई।

वे दोनों विश्वविद्यालय परिसर में घूमते-घामते पुस्तकालय की सीढ़ियों पर जा बैठे। पुस्तकालय भी बंद था। पुस्तकालय की लंबी, पतली सीढ़ियों पर बैठकर सामने उस रास्ते को देखना अच्छा लग रहा था जो विश्वविद्यालय की पहाड़ी से उतरने का दूसरा रास्ता था। इस रास्ते को मजाक में 'लव साईट' कहा जाता था। क्योंकि घने जंगल की अनुभूति कराता सघन पेड़-झाड़ वाला रास्ता प्रेमी छात्र-छात्राओं के एकांत-मिलन का स्थल था। सुंदर, मनोरम रास्ता। हरियाली और प्रेम का साझेदार।

क्यों रोका है विवेक ने मुझे? निहारिका ने उस रास्ते की ओर देखते हुए सोचा।

''वो देखो! वो वहां...उस पेड़ के नीचे अगर तुम खड़ी हो जाओ तो बिलकुल शालभंजिका जैसी दिखोगी।''

''वो पेड़ शालवृक्ष नहीं है...माई डियर रंगरेज!'' निहारिका ने भी चुहल किया।

''अच्छा ये बताओ कि शालभंजिका यक्षिणी थी या कोई बौद्धयुगीन रानी?''

''बौद्धयुगीन रानी? ओह नो! शालभंजिका तो शालभंजिका थी, बस्स!''

''फुलिश आंसर!''

''सो, यू केन एक्सप्लेन इट!''

''मुझे लगता है कि सिद्धार्थ के जन्म के समय उनकी मां को जिस प्रकार वृक्ष के नीचे खड़ी हुई बनाया गया है, उसी से प्रेरित होकर शालभंजिका बनाई गई।''

''मे बी! बट आई एम नॉट श्योर! मुझे लगता है कि दोनों में ऐसा कोई साम्य नहीं है। यूं भी शालभंजिका का अर्थ है शाल वृक्ष की शाखा को तोड़नेवाली...न कि उसके नीचे खड़ी होने वाली।

सिद्धार्थ की मां मायादेवी शाल वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए खड़ी हुई थीं....कुछ लोग उसे अशोक का वृक्ष भी मानते हैं।'' निहारिका ने उत्तर दिया और सोचने लगी कि क्या यही बातें करने के लिए विवेक ने उसे रोका है? ये बातें तो पूरी क्लास के सामने भी की जा सकती हैं। फिर आज, इस समय ही क्यों?

''खजुराहो गई हो?'' विवेक ने पूछा।

''हां, कई बार! वहां ऐसी कोई मूर्ति है?''

''नहीं, लेकिन वहां एक से बढ़कर एक मूर्तियां हैं।''

''तुम क्या सोचती हो कि खजुराहो में काम संबंधी मूर्तियां क्यों बनाई गईं?''

''गहन जीवन दर्शन है उसमें....पहले तमाम सांसारिकता से निर्लिप्त या संतृप्त हो जाओ फिर मोक्ष को प्राप्त करो। इसीलिए मंदिरों की बाहरी दीवारों पर मिथुन मूर्तियां हैं किंतु गर्भगृह में देवता स्थापित हैं।....तुम गए हो खजुराहो?'' निहारिका ने पूछा।

''नहीं! अभी नहीं, किंतु यहां से जाने से पहले एक बार जाऊंगा जरूर!''

विवेक के सागर से जाने की बात सुन कर निहारिका उदास हो गई थी। शायद विवेक ताड़ गया।

''तुम भी मेरे साथ चलना!'' अचानक विवेक ने निहारिका का दायां हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा।

''कहां?''

''जहां भी मैं जाऊं!''

''तुम कहां जाओगे?''

''शायद पहले दिल्ली जाऊंगा या फिर सीधे लंदन....देखो, क्या होता है...अभी तो एमए पूरा करना है, फिर पीएचडी फिर कहीं जाकर असली रास्ता शुरू होगा।''

''हां, अभी बहुत समय है।''

''देखना मैं जल्दी से जल्दी अपनी पीएचडी पूरी कर लूंगा।'' विवेक ने कहा था। वह उतावला था दुनिया के सामने खुद को साबित करने के लिए।

''कम से कम अठारह माह तो लगेंगे ही।''

''मैं इससे भी कम समय में कर लूंगा और स्पेशल परमीशन लेकर अपना शोध समय से पहले ही जमा कर दूंगा।'' विवेक ने गंभीर स्वर में कहा था।

जिंदगी में अभी से सब कुछ इतना ठोंक-बजाकर क्यों? कुछ अपने-आप भी होने दिया जाना चाहिए। निहारिका को ऊब महसूस होने लगी थी।

''चलो, उठो! अब चला जाए!'' निहारिका ने कहा और अपना हाथ छुड़ाकर उठ खड़ी हुई थी।

निहारिका के भीतर जाग उठी प्रेयसी विवेक की सांसारिक बातें सुन-सुनकर व्याकुल हो उठी थी। प्रेम की आंच संवेगों को ठीक उसी प्रकार तपाने लगती है जैसे आग पर पानी से भरा पतीला चढ़ा दिए जाने पर आग की आंच पहले पानी की निचली सतह को गरम करती है और फिर गरम जल-कण ऊपर उठते हुए शेष जलकणों को भी तपा देते हैं, ब्वायलिंग प्वाइंट तक। यदि आंच वैसी

ही बनी रहे तो पानी खौलने लगता है और भाप बनकर पतीले को छोड़कर ऊपर उठ जाता है ताकि किसी बिंदु पर जाकर बादल में बदल जाए और फिर जल-कण बनकर बरस जाए। भले ही पतीले का पानी बादल नहीं बन पाता है किंतु वह प्रयास तो करता है बादल बनने का। वह आंच की प्रतिष्ठा को कम नहीं करना चाहता है। वह जता देना चाहता है कि आंच सब कुछ कर सकती है। तनिक भी आंच नहीं थी विवेक की बातों में, निहारिका को लगा।

''मेरे कमरे में चलकर एक कप चाय पियोगी? मेरे हाथों की बनी चाय...!'' विवेक ने स्वयं भी खड़े होते हुए पूछा।

''मैं सोचती हूं कि अब घर जाऊं!'' निहारिका ने उकताए हुए स्वर में कहा।

''चली जाना। जहां इतनी देर, वहां कुछ देर और सही!''

''ठीक है!'' निहारिका मना नहीं कर सकी और बेमन से विवेक के साथ चल पड़ी।

दोनों ही पैदल थे। रास्ते में दायीं ओर बेगनबेलिया के सुंदर फूलों वाले मध्यम ऊंचाई के पेड़ बहुत सुंदर लग रहे थे। कोई और दिन होता तो निहारिका उन फूलों की प्रशंसा करती नहीं थकती लेकिन उस समय उसका मन उचाट था।

विवेक के कमरे में पहुंचकर निहारिका इकलौती कुर्सी पर बैठ गई। विवेक ने हीटर जलाया और उस पर चाय का पानी चढ़ा दिया।

''मैं बना दूं?'' निहारिका ने पूछा।

''अरे नहीं, मैं बना रहा हूं न!'' विवेक निहारिका के सामने आ खड़ा हुआ और बोल उठा,''या तो तुम मुझे अपने रंग में रंग लो या तुम मेरे रंग में रंग जाओ, निहू!''

विवेक के बदले हुए स्वर में 'निहू' संबोधन सुनकर निहारिका चौंकी। इस नाम से तो उसकी मां ही उसे पुकारती है, और दूसरा कोई नहीं।

''तुम भले ही रंगरेज बन जाओ लेकिन मैं रंगरेजन नहीं हूं, विवेक!'' निहारिका ने अपने कंधे पर से विवेक का हाथ हटाते हुए कहा और वह खड़ी हो गई।

''अरे बैठो! मैं तो मजाक कर रहा था।'' विवेक ने खुद को और अपनी बात को संभाला।

निहारिका बैठ गई। वह स्थिति को और भद्दा नहीं बनाना चाहती थी। उसने मूर्तियों में हमेशा एस्थेटिक्स अर्थात् सौंदर्यतत्वों को ही देखा है लेकिन उसे लगा कि उसके स्वयं के जीवन के इस पहले अनुभव में रत्ती भर सौंदर्य तत्व नहीं था। किसी खंडित मूर्ति में बचे हुए सौंदर्य जितना भी नहीं।

उसके दिन के बाद दोनों के बीच हँसी-मजाक और भविष्य की योजनाओं की बातें तो बहुत हुईं लेकिन प्रेम की भावना पर विराम लगा रहा। दोनों ने एमए पूरा किया, फिर पीएचडी का काम शुरू किया। लगभग यही वह बिंदु था जहां से दोनों के रास्ते अलग-अलग होने लगे। यद्यपि उन्हें इसका पता भी नहीं चला।

''उस दिन हम दोनों एक दूसरे के रंग में रंग गए होते तो मेरा यहां से जाना आसान हो जाता!'' सागर से जाने से पहले विवेक ने निहारिका से पूछा था।

''नहीं विवेक, तब और कठिन हो जाता! क्यों कि तब हमारी देह तो रंग जाती लेकिन मन अछूता रह जाता।'' निहारिका ने उत्तर दिया था। उसके मन में यह पंक्ति कौंध गई थी-'मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा।'

''तुम ठीक कहती हो!....वैसे मैं एक दिन आऊंगा, तुम्हें अपने रंग में रंगने के लिए....जल्दी ही!'' विवेक ने कहा था।

विवेक नहीं आया।

वह आता भी कैसे? उसकी मंजिल का रास्ता सागर से होकर नहीं गुजरता था। उसे इतिहास की नई व्याख्या जो करनी थी। विवेक अपने रास्ते पर चलता हुआ बहुत दूर निकल गया। इतना दूर कि संपर्क की सीमा से भी ओझल ही हो गया।

निहारिका के जीवन में कई उतार-चढ़ाव आए। भाई-भाभी अलग दूसरे शहर रहने चले गए। मां बीमार पड़ गईं। लंबी बीमारी के बाद जब वे स्वस्थ हुईं तब तक निहारिका का मन बदल गया और उसने प्राध्यापक बनने के बदले स्वतंत्र लेखिका बनने का निर्णय लिया। समाजसेवा से भी जुड़ गई।

वर्षों बाद इस 'एलुमनी मीट' के आमंत्रण ने निहारिका के मन को रोमांच और कौतूहल से भर दिया।

''जाना ही होगा इस मीट में!'' निहारिका ने तय किया।

'एलुमनी मीट' का दिन आ ही गया। निहारिका नियत समय पर कार्यक्रम स्थल पर पहुंची। उसे देख कर प्रसन्नता हुई कि वहां नेहा, लक्ष्मी, सुहैल और व्योम उपस्थित थे। सुहैल पहले की अपेक्षा मोटा हो गया था। लक्ष्मी अपनी बेटी को साथ लाई थी। लक्ष्मी पर प्रौढ़ावस्था स्पष्ट रूप से झलक रही थी। जबकि नेहा और व्योम लगभग पहले जैसे ही दिख रहे थे, प्रथम दृष्टि में ही पहचान में आने योग्य। नेहा के साथ उसका पति आया था। नेहा ने बताया कि उसका पति सिंचाई विभाग में मुख्य अभियंता है और वह स्वयं इंदौर के एक कन्या महाविद्यालय में प्राध्यापिका है।

''तुम्हें अखबार, पत्रिकाओं में पढ़ती रहती हूं!'' नेहा ने चहककर कहा। निहारिका मुस्कुरा दी। उसका मन किया कि नेहा से कहे, मेरे लिखे हुए में 'मैं' नहीं मेरे आस-पास की दुनिया होती है....मुझे तो कभी पढ़ा ही नहीं गया।

व्योम बिहार के दरभंगा का रहने वाला था। वह एमए करने के बाद ही वापस चला गया था। वहां उसने खादी ग्रामोद्योग में नौकरी कर ली थी। अच्छे पद पर था। इतिहास प्रतियोगी परीक्षाओं के विषय के रूप में ही उसके काम आया। और भी विद्यार्थी आए थे किंतु निहारिका के ग्रुप में नेहा, रुमी, लक्ष्मी, हरदीप, सुहैल, व्योम और विवेक ही थे। हरदीप और रुमी के बारे में किसी को जानकारी नहीं थी कि वे इन दिनों कहां रह रहे हैं। विवेक के बारे में भी नेहा, लक्ष्मी, सुहैल और व्योम - ये चारों नहीं जानते थे।

परस्पर मिलकर सभी को बहुत प्रसन्नता हुई। अनेक यादें ताजा हो गईं। सभी ने बारी-बारी माईक पर आकर अपने अनुभव, अपने संस्मरण साझा किए।

इसके बाद विभाग के वर्तमान विभागाध्यक्ष ने घोषणा की कि ''विभाग के जरूरतमंद छात्रों की

सहायता के लिए हमारे पुराने छात्र जो कि न्यूयार्क से आए हैं, डॉ. वीके सिंह ने एक लाख की अनुदान राशि विभाग को दी है।''

कौन डॉ. वीके सिंह? किसी का भी ध्यान नहीं गया। औपचारिकता में तालियां बजा दी गईं। उसी समय निहारिका के मोबाइल पर मैसेज टोन बजी। कहीं मां ने तो कोई मैसेज नहीं किया? निहारिका ने सोचा और मैसेज बॉक्स खोलकर देखा। संदेश पढ़ कर उसके हाथ से मोबाइल छूटते-छूटते बचा।

''अरी ओ, रंगरेजन! आर यू रिमेंबर योर रंगरेज? आंसर इमीडिएट ....'' संदेश में लिखा था। इसका मतलब कि विवेक वहीं कहीं आस-पास था।

'विवेक' कहीं 'वीके सिंह' तो नहीं? हां, विवेक कुमार सिंह...ठीक तो है....निहारिका की आंखें उसे ढूंढने लगीं।

उसी समय माईक पर विभागाध्यक्ष ने कहा,''अब मैं डॉ. वीके सिंह से आग्रह करूंगा कि वे भी अपने संस्मरण, अपनी बातें हमसे शेयर करें...प्लीज कम..डॉ. वीके सिंह.....।'' तालियों की गड़गड़ाहट से मिलनस्थल गूंज गया।

ओह, ये तो विवेक ही है! चश्मा लगाने लगा है...चाल-ढाल में कुछ योरोपियन और कुछ अमरीकन लहजा आ गया है। पहले से अधिक स्मार्ट दिख रहा था वह।

''हैलो गाईज! माई ओल्ड स्कूल टीचर्स एण्ड ओल्ड स्कूल फ्रेंड्स ! आई एम ए आलसो ओल्ड ब्वाय...'' विवेक की बात सुन कर सभी हंस पड़े। इसके बाद उसने निहारिका सहित सभी को चौंका दिया,''एंड...मेरी रंगरेजन निहारिका!''

एक बार फिर हँसी का फव्वारा फूट पड़ा। जो छात्र निहारिका को 'रंगरेजन' के स्पेशल नाम से नहीं जानते थे वे इधर-उधर दृष्टि घुमाकर निहारिका को ढूंढने लगे। लक्ष्मी ने निहारिका को चिकोटी काटी। शायद वह सोचती रही होगी कि विवेक और निहारिका के बीच 'कुछ ऐसा-वैसा है'।

निहारिका मुस्कुरा दी। उसे यह सोच कर अच्छा लगा कि विवेक उसे भूला नहीं है। फिर वह यह जानने को उतावली हो उठी कि विवेक अब उसके बारे में क्या राय रखता है? इसी उधेड़बुन में विवेक का उद्‌बोधन उसे सुनाई ही नहीं पड़ा।

दोपहर के भोज के समय विवेक उसके सामने आ खड़ा हुआ।

''तुमने मेरे एसएमएस का जवाब नहीं दिया!'' विवेक ने कहा।

''जब तक जवाब देती, तुम तो डायस पर आ चुके थे।'' निहारिका बोली।

''चलो, इस भीड़ से बाहर चलें!''

''ठीक है!'' निहारिका को भी वहां मजा नहीं आ रहा था। ऐसा लग रहा था मानो सैकड़ों गौरैयें एक कमरे में छोड़ दी गई हों...हर तरफ बातों का शोर।

''वैल, वेट ए मिनट! मैं तुम्हें अपनी लाईफ पार्टनर से मिला दूं...यह पहली बार इंडिया आई है।...मीट माई ओल्ड फ्रेंड निहारिका...एंड ये है शर्लीन...मेरी जीवनसंगिनी!'' विवेक ने परिचय कराया।

शर्लीन बहुत सुरुचिपूर्ण और सुंदर लगी। उसकी पंजाबी मिश्रित अमेरिकन हिंदी से ही समझ में आ गया कि वह अमेरिका में बसे पंजाबी परिवार की है।

विवेक ने बताया वह न्यूयार्क के एक निजी संग्रहालय में क्यूरेटर है और शर्लीन भी वहीं असिस्टेंट क्यूरेटर कम रिसर्चर है। इपीग्राफिस्ट बनने के जिस जुनून में विवेक ने अपना घर, अपना देश छोड़ा था, वह जोश धन के प्रभुत्व तले कहीं दब कर रह गया।

''तुम कैसी हो? क्या इसी यूनीवर्सिटी में हो?'' विवेक ने पूछा।

''नहीं! मैंने नौकरी नहीं की...बस, किताबें लिखती हूं!'' निहारिका ने बताया।

''स्ट्रेंज! इंडिया में किताबें लिख कर पेट भरा जा सकता है?'' विवेक ने चकित होकर पूछा।

''मुझे पूरे भारत का पता नहीं लेकिन मेरा काम चल जाता है...मैं रंगरेजन जो हूं...खुद को ही अपने रंग में रंग लिया है।'' निहारिका ने मुस्कुरा कर कहा।

''ओह!'' विवेक के मुंह से निकला। ऐसा लगा जैसे सहानुभूति में डूबा हुआ 'ओह' हो। निहारिका के मन में कुछ चटक-सा गया। वह विवेक के बदले शर्लीन से बातें करने लगी। अपने प्रति विवेक की राय का उसे पता चल चुका था।

एलुमनी मीट समाप्त होने के बाद निहारिका घर लौटी। पता नहीं क्यों उसे पत्र-पेटी की ओर देखने की भी इच्छा नहीं हुई।

ऐसा क्यों? उसने अपने आप से पूछा।

उसे किसके पत्र की प्रतीक्षा रहती थी जो आज नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर भी उसके मन ने ही दे दिया.....विवेक तो रंगरेज भी नहीं निकला जो किसी और के मन को अपने रंग में रंग पाता...'मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा'.....और स्वयं निहारिका?.....उसका अवचेतन तो विवेक की स्मृतियों में ही रंगा रहा....निहारिका को याद आ गया विवेक का एसएमएस 'अरी ओ रंगरेजन!'....और वह मुस्कुरा दी।

***

कहानी

कितनी हैं सबला नारी

सरिता शर्मा

मैडम कल बहुत बुरा हुआ? कार पूल चलाने वाले रामप्रीत ने दफ्तर की सवारियों को ले जाते हुए सुबह कहा। क्यों ऐसा क्या हो गया। नीमा सुबह की भाग दौड़ से सुस्त हो गई थी, हमारे पड़ोस में तिलक राज है ना उनकी बेटी का रिश्ता पक्का करने के लिए लड़के वाले आए थे। पर वो अपने नीच जात के प्रेमी के साथ भाग गई। मां-बाप की हालत खराब, लड़के वालों को क्या मुंह दिखाए? उन्होंने झट से फैसला लिया और अपनी छोटी बेटी का रिश्ता पक्का कर दिया। रामप्रीत पूरे जोश में था। चलो मामला निपट गया। अब तो कोई टेंशन नहीं है न। नीमा को लगा कहानी खत्म हो गई। ऐसे कैसे निपट गया मैडम? असली कहानी तो अब शुरू होगी। तिलकराज ने कसम खाई हैं कि ये शादी निपट जाने दो। अगले साल वे रिटायर हो रहे हैं। बेटे की शादी हो गई है और बिजनेस बढ़िया चल रहा है। पैसे की कोई कमी नहीं है। रिटायर होते ही वे अपनी घर से भागी बेटी और छोटी जाति के दामाद का कत्ल करेंगे। पागल हैं क्या? किसी को मार देना इतना आसान है क्या? खुद जिंदगी भर जेल में सड़ेंगे। लड़की दामाद को मार देने से क्या गई हुई इज्जत लौट आएगी? नीमा बौखला गई थी। मैडम अगलों के पास रिवाल्वर है। कहते हैं मर्डर तो करना ही है। फिर कोई जिम्मेदारी भी तो नहीं बची होगी। ऐसी संतान किस काम की जो मां-बाप का सिर बिरादरी में झुका दे। ऐसी लड़कियों को मार देना ही ठीक है। रामप्रीत अपने मन की बात कह गया। मुझे तो लगता है कि उन्हें अपने हाल पर छोड़ देना चाहिए। आगे का किसने देखा? हो सकता है साल दो साल में वे बेटी दामाद को अपना लें। शुरू-शुरू में मां-बाप को गुस्सा आता ही है। रामप्रीत मानने को तैयार नहीं था। बिल्कुल नहीं मैडम। जिस लड़के के साथ उनकी बेटी भागी है वह प्राइवेट नौकरी में है और किराए के मकान में रहता है। इतने बड़े जमींदार के घर शादी तय की हुई थी, वहां जाती तो रानी

की तरह रहती। अब गरीबी में रहेगी तो अक्ल ठिकाने आ जाएगी, नीमा को झुंझलाहट होने लगी, उसने प्रेम किया है तो उसकी कीमत चुकाएगी ही। यह तो उसने भागने से पहले भी सोचा होगा कि कैसी जिंदगी चाहिए। उसके लिए प्यार ज्यादा जरूरी था पैसे से। मैडम ये प्यार-व्यार चार दिन का बुखार है। हमारे पड़ोस की एक और लड़की पांच-छह साल पहले किसी क्रिश्चियन के साथ भाग गई थी। वहां पति बना प्रेमी गैरजिम्मेदार निकला। खूब शराब पीता है और बीबी-बच्चों पर ध्यान नहीं देता। बेटे और बेटी के पालन के लिए वह लड़की पार्लर में नौकरी करने जाती है। सेहत खराब रहने लगी है। घरवालों को फोन किया करती थी। एक दिन बाप ने साफ कह दिया, अब क्यों हमसे मदद मांग रही है। जिसके साथ भागी थी वो कहां गया? खबरदार जो घर में फोन किया। हमारे लिए तू मर गई है। तेरी छोटी बहन की शादी करनी है, हम नहीं चाहते तू कहीं आसपास भी फटके।

नीमा चुप हो गई। क्या तर्क दे। जिस लड़की का पिता की संपत्ति में हक है उसे इस तरह कष्ट देकर मां बाप के अहंकार की तुष्टि होती है। साहित्य, पत्रकारिता, फिल्मों, मॉडलिंग और नौकरी पेशा उच्च मध्य वर्ग को देखें तो लगता है कितनी आजादी है। जात-पांत और शादी की कोई शर्त नहीं। बिना शादी किए जिस मर्जी के साथ जब तक चाहे प्रेम और यौन संबंध कायम कर लो। नारी विमर्श का डंका बजाने वालों ने एक ऐसी बंधनकारी दुनिया का निर्माण कर दिया है, जहां फेसबुक हो या असल जीवन नैतिकता-अनैतिकता की सीमा रेखा को मिटाया जा रहा है।

कैरियर में आगे बढ़ने के लिए औरतों को शब्दों और देह की उपयोगिता मालूम है। माता-पिता से बहुत दूर नौकरी करने के लिए शहर में बस जाने पर रोक-टोक का खतरा नहीं, नीमा के दफ्तर में ही शादीशुदा प्रतीक और जयंती का पिछले कई साल से अफेयर चल रहा है। दोनों के बच्चे बड़े होने लगे हैं। दोनों अपने घर में भी संतुष्ट हैं और बाहर भी। एक जान-पहचान की लेखिका चंदा बड़ी शान से लिव इन पार्टनर के बारे में बताती है, ''धर्म का पहली बीबी से तलाक हो गया और उसका बेटा कभी-कभी मिलने आता है। मैनन घर में नियम बनाए हुए हैं। जब मेरा कोई दोस्त मिलने आएगा उसका बेटा अपने कमरे में रहेगा। आखिर मेरा मकान है। ज्यादा रोक-टोक की तो बाहर का रास्ता दिखा दूंगी।'' उस निरीह पार्टनर का जिक्र किसी नौकर की तरह किए जाने पर नीमा को कोफ्त होती। बराबरी पुरुष को भी तो दी जानी चाहिए। हो सकता है धर्म मुफ्त में घर मिलने और बिना जिम्मेदारी के यौन संबंध से खुश हो। जिस बीबी से तलाक लिया था उसके साथ किए दुव्यर्वहार की भरपाई यहां हो रही है। चंदा के साथ मिलकर घर का आधा काम करता है और जब चाहे चंदा उसे दुत्कार देती है।

एनसीआर में रहने से नीमा समाज के मिले-जुले वर्गों से रू-ब-रू होती रहती है। गांव से अब भी जुड़ी हुई है। बचपन वहीं गुजरना और चाचा का परिवार अब भी वहीं बसा है। साल-छह महीने में किसी न किसी अवसर पर गांव जाना पड़ता है। दिल्ली शहर के नौकरीपेशा लोगों से गांव की दुनिया बिल्कुल अलग है। हर घर में बीमारी, गरीबी और बेरोजगारी पांव पसारे हुए है। कई सालों तक एक बेटा पैदा करने की चाह ने लड़कियों की इतनी कमी कर दी है कि गांव के कई

लड़के कुंवारे बैठे हैं। अब असम, बंगाल और यूपी, बिहार से उनके लिए बहुएं खरीद कर लाई जाती हैं। गांव के माहौल में आकर गरीब घर की लड़की अच्छी तरह एडजस्ट हो जाती है और अपने रिश्ते की चचेरी-ममेरी बहनों की भी गांव के किसी कुंवारे से शादी करा देती है। देह व्यापार में जाने या घरों में नौकरी करने की बजाय शादी कराके इज्जत की जिंदगी जीना हर तरह से ठीक लगता है। फिर जान-पहचान की और लड़कियां आ जाती हैं तो गांव में खूब मन लग जाता है।

गांव के बदले हुए हालात कई बार नीमा को सोचने के लिए मजबूर कर देते हैं। जब औरतों को खरीदकर लाया जाता है तो उनकी जाति-बिरादरी के बारे में कोई सवाल नहीं पूछा जाता है मगर जब लड़का-लड़की विजातीय से प्रेम करके शादी कर लेते हैं तो बवाल मच जाता है। स्कूल साथ आते-जाते हुए लड़के-लड़कियां अलग-अलग झुंडों में रहते हैं। कोई लड़की अकेले में किसी लड़के के साथ आती-जाती या बात करती दिख जाए तो दोनों की जमकर धुनाई होती है। औरतों की जिंदगी में जिम्मेदारी के सिवाय कुछ भी नहीं है। गांव में सुबह गोबर, कूड़ा उठाना, जानवरों की सानी बनाना, कुएं से पानी लाना, चौका बुहारना, लीपना, चक्की चलाना और दूध बिलौना, सुबह से कब रात हो जाती है पता ही नहीं चलता। पति प्यार करने वाला या हारी बीमारी में ध्यान देने वाला हो- ऐसा भी कम देखने को मिलता है। नीमा की दूर की बुआ के एक लड़के रामे ने अपनी बीबी का गला घोंट दिया था। उसके बाप ने पड़ोस के दो-चार लोगों को बुलाकर सुबह-सुबह मुंह अंधेरे लाश का दाह संस्कार कर दिया। रामे के ससुराल से अगले दिन कई लोग आए तो वह बोला मैं तो उससे बहुत प्यार करता था। वो मुझे किसी बात पर चिढ़ा रही थी। मैंने मजाक में गला दबाना शुरू कर दिया। पता ही नहीं चला कि मर गई और ससुरालवालों ने उसकी बात पर यकीन कर लिया। अब पीछे रह गए दो साल के बेटे धीरज के पालन पोषण का सवाल उठा तो रामे की शादी उसकी साली से कर दी गई। एक औरत की हत्या के बदले उसे इनाम मिल गया। ससुराल वालों को छोटी बेटी की शादी का खर्च बच जाने का सुकून था। औरतों की जिंदगी की कीमत इतनी कम है कि उसे मारा जाए या जिंदा रखा जाए आदमी की मर्जी पर निर्भर करता है।

गांव से जब पापा की नौकरी के बाद शहर आकर रहने लगे तो पास में रहने वाले फौजदार अंकल अपनी ताई के सती होने के किस्से सुनाते थे। हमारे परिवारवाले बहुत पैसे वाले थे। जयपुर का राजमंदिर सिनेमा हाल हमारा था और बहुत ज्यादा जमीनें थीं। मेरे ताऊजी की पहली बीबी की मौत हुई तो उनकी दूसरी शादी कर दी गई। फिर वे बीमार रहने लगे। ताई की एक बेटी हुई थी जो साल भर में मर गई थी। ताऊजी की हार्ट अटैक से मौत हुई तो ताईजी ने ठान ली कि वह सती होगी। सबने खूब समझाया, मगर वह नहीं मानी, पूरे गांव की पंचायत हुई और फैसला लिया गया कि कोई पुलिस को नहीं बताएगा। पति की लाश को गोदी में लेकर ताईजी चिता पर जा बैठीं और जलते हुए उसने उफ तक नहीं की। सती नारी के यही लक्षण हैं। बाद में पूरे परिवार को जेल में डाल दिया गया। बहुत सारी जमीन और राजमहल सिनेमाहाल जेल से छूटने और केस खत्म करने में चले गए। जज तो घरवालों को आजीवन कारावास की सजा सुनाना चाहता था मगर हमारी ताईजी ने उन्हें सपने में दर्शन दिए और कहा मेरे परिवार को छोड़ दे वर्ना तेरा नाश कर दूंगी। अगले

दिन सुनवाई हुई तो जज ने सती के सास, ससुर और देवर, जेठ को बरी कर दिया। अब हमने सती स्थल पर मंदिर बनाया हुआ है जहां हर साल उनके सती दिवस पर फंक्शन होता है। आप भी अगली बार चलिए न।

राजस्थान घूमने का प्रोग्राम बना तो उन्ही दिनों सती दिवस भी पड़ता था। श्मशान घाट को खूब सजा दिया गया था। सती मंदिर में एक पुजारी रखा गया था। दो कमरे मेहमानों के ठहरने के लिए, हॉल में एक तरफ मंदिर में सती और उनके पति की फोटो की पूजा और आरती की जाती थी। हॉल में सती के माता-पिता और सास-ससुर के फोटो लगे हुए थे। फौजदार अंकल का लंबा-चौड़ा परिवार सभी भाई, बहनें, बेटे, बहुएं और बच्चे आए हुए थे। 'मरण सुंदर बन आया रे'। महादेवी ने न जाने किस संदर्भ में कहा होगा। यहां स्वेच्छा से देह त्याग करने वाली औरत को इतना महिमामंडित होते देख नीमा को वितृष्णा होने लगी। इस परिवार में शिक्षित लड़कियां और बहुएं हैं जो डॉक्टर और इंजीनियर हैं वो बड़े भक्ति भाव से मेहमानों की आवभगत में जुटी हुई हैं। क्या उनके मन में कभी सती के अर्थ को लेकर सवाल नहीं उठता। लानत है ऐसी पढ़ाई और संस्कारों पर जो एक तरफ आगे बढ़ने का ढोंग करते हैं और दूसरी तरफ दकियानूसी सोच की दलदल में फंसे हुए हैं। जिस सती का बड़ी शान से समारोह किया जा रहा है उसके जीते जी क्या उसकी इज्जत की गई? विधवा और न जाने किन हालात में सती हुई होगी। हो सकता है जायदाद बंट जाने के डर से ससुराल वालों ने उसे सती हो जाने के लिए मजबूर कर दिया हो। मान लो वह पति के वियोग में विह्वल थी तो भी उसे जीते रहने की फैसला क्यों नहीं दिया गया। गांव वाले और परिवार के लोग उसे चिता पर बैठने से रोक सकते थे।

दिल्ली में बलात्कार को लेकर होने वाले कैंडल मार्च, मर्जी के कपड़े पहनने की आजादी की मांग करती और जिससे चाहे यौन संबंध स्थापित करने को जायज ठहराती उन्मुक्त महिलाओं को देखकर लगता है औरतें अपनी नानी और मां की पीढ़ी से कितनी आगे निकल गई हैं। पीछे मुड़कर देहाती समाज की तरफ नजर डालो तो सोच वही सदियों पुरानी लगती है। किसी भी तरह का विचलन बर्दाश्त नहीं किया जाता है। पिछले महीने ही पड़ोस में एक चाची लाजो का अपने पति से झगड़ा रहता था। उसे पैसे भी नहीं दिए जाते थे। छुट्टी मनाने गांव आए हुए पड़ोस के देवर मान सिंह से छुपकर मिलने लगी। एक रात घर से शौच के बहाने सुनसान जगह पर मान सिंह से लिपटी हुई थी कि उसके पीछे चुपके से आने वाले पति और जेठ ने घेर लिया।

मान सिंह भाग निकला मगर घरवाले लाजो को पीटते हुए घर लेकर आए। सर्दी के मौसम में उस पर कई घड़े ठंडा पानी डाला गया और सुबह-सुबह गांव से यह कहकर निकाल दिया कि अब उस घर में पांव न रखे। मां-बाप ऐसी बेटी को घर कैसे रख सकते थे, जहां शादी की है वहीं से अर्थी उठेगी, को सच करने के लिए लाजो ससुराल आई और पानी भरती हुए औरतों से बात करती हुई कुएं में कूद गई।

नीमा जब अपनी स्थिति को देखती है तो पाती है शिक्षा मिलना और घर से बाहर निकलकर नौकरी करने का अधिकार मिलना बहुत बड़ा सौभाग्य है। सगे चाचा की बेटियां कम पढ़ी-लिखी

हैं। चाचा की बहुएं पर्दा करती हैं। वे उस जीवन में संतुष्ट है। हालांकि पैसे की हमेशा कमी रहती है। उन्होंने दूसरी तरह की दुनिया देखी ही नहीं। इसी तरह शहरों में बेरोकटोक आजादी का जश्न मनाती, सामाजिक मर्यादाओं की धज्जियां उड़ाती हुई स्त्रीवादी महिलाओं ने भी तस्वीर के दूसरे पहलू को नहीं देखा। उनके लिए सब हरा ही हरा है। काश गांव में, सोच में, थोड़ा खुलापन आ जाए और साहित्य को बनावटी दुनिया से पाटने वाले लेखक अंधियारे पक्ष को उजागर करने लगें।

* * *

कहानी

अल्पविराम

शैलेय

घाटियों में बादल नीचे तक उतर आए थे। शिखरों पर खूब-खूब बर्फ गिर आने से हवा भी काफी शीतल हो आई थी। मंद-मंद हवा में तैरते बादल वृक्षों के साथ गलबहियां-अठखेलियां खेलते से लग रहे थे। शाल, शीशम-सागौन- बांझ-बुरूंस जैसे झक्क हरे-भरे पेड़ों के ऊंचे शिखर बादलों के ऊपर झूमते हुए अतीव सुंदर लग रहे थे। किंतु सूनी सड़कों को अपनी गुनगुनाहटों की मधुरिम रौशनी से भर-भर देने वाले उर्मि और हेमंत के बीच आज रास्ते भर गहरा मौन पसरा रहा। दरअसल इक्कीस दिवसीय यह प्रशिक्षण शिविर आज संपन्न हो गया है। जाहिर है कि विदाई समारोह शुरू होने के साथ से ही इन दोनों के मन भीग-भीगकर भर-भर आने थे। पहाड़ी की एक खूबसूरत करवट आई तो वे सड़क से लगी पगडंडी के सहारे कुछ ऊपर चढ़ आए और एक घने-ऊंचे झूमते देवदार के तले सहज होकर बैठ गए।

''सुनो, तुम कल कौन सी बस से निकलोगे?'' उर्मि की आंखों में एक उदास व्यग्रता थी।

''अभी कुछ नहीं सोचा है यार।''- कहते हुए हेमंत ने एक बार फिर से उर्मि के मासूमियत से भरे-भरे चेहरे को अपनी दोनों हथेलियों के बीच ले लिया। एक बार फिर से वह कुछ देर को उर्मि की आंखों में आंखें डाल उसे अपलक देखता रहा। फिर गहरी सांस के साथ एक गहरा बोसा उसने उर्मि के लुनाईदार होंठों पर सजा दिया।

उर्मि की आंखें भी कुछ देर के लिए एक बार फिर से पहले की तरह ही बंद रहीं। खुलीं तो उसने थोड़ा मायूसी के साथ कहा-''जाना तो होगा ही। ज्वाइनिंग तो सबको इनटाइम देनी है।''

''हां, सो तो है।''- हेमंत की आवाज भी बरबस ही भीग आई।

तत्काल संतुलन की गरज से उसने सामने ऊंचे पहाड़ों पर घाटियों के बीच उतराते-खेलते बादलों की ओर इशारा करते हुए उर्मि से कहा-''उर्मि! अच्छा बताओ, अगर किसी पहाड़ को बादल पूरा का पूरा ढक ले तो उस पहाड़ के दिल में तब क्या-क्या ख्याल आते होंगे?''

हेमंत ने इस बीच उर्मि के लंबे घने बालों को उसके कंधों तक फैला दिया था।

उर्मि चिंहुकती हुई बोली-''सोचता होगा कि आज तो मैं पूरा का पूरा हिमालय हो गया हूं। धवल और उन्नत।''

''लेकिन एक बात है। हिमालय कहने पर ही हिमालय याद आता है। वरना पहाड़ कहो तो फिर ऐसे ही पहाड़ याद आते हैं- शाल-शीशम-सागौन- चीड़-देवदार-बांझ-बुरांस के झक्क हरे-भरे ऊंचे पेड़ों से भरे-पूरे ऊंचे पहाड़। शीतल हवाओं का समंदर उलीचते पहाड़। क्यों ?''

''सहमत हूं। लेकिन पहाड़ और हरियाली दोनों एकदम अलग-अलग चीजें हैं। जैसे कि-बादल और बारिश।''-उर्मि की आवाज में अब तक काफी ताजगी और निखार आ गया था।

''अच्छा, अगर कुछ देर को हम भी परस्पर पहाड़ और बादल की तरह प्रेम करना चाहें तो बताओ कि तुम क्या बनना चाहोगी ?''- हेमंत की चुहल भरी आंखें उर्मि के चेहरे पर टिक गई।

''देखो, स्त्री तो बस प्रेम है। बिना शर्त। इसलिए जाहिर है कि मैं हर हाल हरियाली और बारिश ही होऊंगी। जाड़ों की गुनगुनी धूप भी। दरअसल मैं धरती और आसमान दोनों का रंग हूं। दोनों की रंगत। इसलिए अब जो कुछ बचा, वह तुम हो। तुम यानी पुरुष। सोच सकते हो।''-वह झूमती हुई मानो खिलखिला उठी। चेहरा गुलाब की तरह खिल आया। दंतपंक्ति बिजली से चमक उठी। आंखें जैसे दो लहराते समुद्र तो बालों की खुली लटें जैसे सावन-भादों के भरे-भरे घने बादल।

''तो अब बचा ही क्या है ?''- हेमंत को अभी भी सही उत्तर की तलाश थी।

''बचा है। बहुत कुछ बचा है अभी। जो आधार तो है किंतु जो स्वंय सरसब्ज नहीं हो सकता। मगरूर जो है।''

''मतलब ?''

''मतलब कि पुरुष खालिस पहाड़ है। मिट्टी और पत्थरों का ऊंचा सख्त ढेर। आरोही कितना ही प्यासा हो आया हो। थकान से कितना ही भर आया हो। पहाड़ तनिक भी नम्र नहीं होगा। अपनी ऊंची चोटी के साथ ऐंठा ही रहेगा। वह बादल भी होगा तो निपट आवारा। जाने कहां गरजे और बरसे कहां ? क्यों ??''- उर्मि ने तिरछे नैनों के साथ थोड़ा मुस्कुराते हुए कहा।

''यार तुम तो पूरी फिलोसफर हो गई हो। मुझे नाज हो आता है।''

''नहीं, मैं तो बस एक सीधा-सादा जीवन भर हूं। जीवन का स्पंदन। निस्वार्थ-निष्काम। बेशर्त समर्पण। और जिसे तुम मेरा दर्शन कह रहे हो न, वह तो स्त्री की बहुत सामान्य सी आभा है। विश्वास और सरलता की खुशबू। समझे।''- उर्मि अब थोड़ा गंभीर हो आई थी।

''नहीं उर्मि, इतना ही नहीं है। तुम चेतना भी हो जिसके बिना जीवन अधूरा होता। महज कुछ वर्षों के लिए मांस पिंड की एक उम्र भर। इसके लिए ही तो कहा गया है कि -साहित्य, संगीत, कला विहीन: साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन:।''

''तो यह चेतना भी तो पूरी तरह मेरी अपनी ईजाद कहां है ? याद है कल के अपने व्याख्यान में तुम्हीं तो कह रहे थे कि वस्तुत: हमारी यह चेतना हमारी आदम अवस्था से आज तक के समूचे इतिहास, समूचे दर्शन, समूचे विज्ञान और समूची संस्कृति का अविराम संघर्ष है। सतत गतिशील।''- अपने तर्क की स्वीकृति से हेमंत थोड़ा गर्व से भर आया। वह बात को और अधिक स्पष्ट करने लगा- ''बिल्कुल ठीक समझा है तुमने। वैसे बात केवल और केवल चेतना की ही नहीं, भावना की भी है। भावनाओं में भी कोमलतम भावना की। फॅार एक्जांपल, जैसे कि हमारा फिलवक्त का यह

व्यवहार दर्शाता है कि हमारे इस विरल संयोग या कहें कि अद्‌भुत् संगम के पीछे हमारी जो पारस्परिक भावना है, वह दरअसल हमारी चेतना ही उसका उत्प्रेरक है। हमारे प्रयोग और हमारी चेतना की नई भावना हैं हम।''– हेमंत ने उर्मि की आंखों में आंखें डाल दीं।

''सच ?''– उर्मि की आंखों में जैसे हजार फूल खिल आए। उसने सहज ही हेमंत के दोनों हाथों को अपनी दोनों हथेलियों के बीच ले लिया। अपनी गोद में खींच उन्हें चूम लिया।

लेकिन हेमंत को तो अभी इस 'सच' को सप्रमाण सिद्व करना था। फिलहाल भावविभोर होकर उसने भी उर्मि की दोनों हथेलियों को बरबस ही चूम लिया।

इस गहराते प्रेम ने उन दोनों को ही एक बार फिर से एकाएक झंकृत कर दिया। किंतु वे तत्क्षण सहसा उदास भी हो आए। ''सुनो, कल जब तुम चले जाओगे तो अपने भीतर गूंजता सन्नाटा मुझसे कैसे बर्दाश्त होगा ? सोच-सोचकर कांपे जा रही हूं। दिल जैसे किसी अंधे कुएं में धीरे और धीरे नीचे और नीचे बैठता ही चला जा रहा है।''-एक गहरी और उदास सांस के साथ उर्मि ने जैसे-तैसे कहा।

''लेकिन मुझे लगता है कि शायद हम दोनों का जीवन अब ज्यादा बेहतर होकर निखर आया है। यही अहसास हम दोनों के भविष्य को गुलाबी बनाए रखेगा। जानती हो क्यों ?''

''शायद इसलिए कि हम दोनों को ही अब जीने के लिए एक-एक ऐसी हूक मिल गई है जो हमारी क्रिएटिवटी को बनाए रखेगी। लेकिन ऐसी गहरी टीस को भी बर्दाश्त करना कोई आसान काम नहीं है। सच, मेरी स्थिति तो नदी से रेत पर पटक दी गई मछली जैसी हो जाएगी।'' – उर्मि जैसे भीतर ही भीतर छटपटा उठी।

लगने को तो हेमंत को भी बराबर यही लग रहा था। लेकिन वह विदाई के इन गहराते पलों में किसी को भी कमजोर नहीं होने देना चाहता था। इसलिए भी वह तमाम भावुकता के बावजूद उर्मि से भविष्य में किसी भी संबंध और व्यवहार के लिए सिर्फ उतना ही वायदा करना चाहता था, जितना कि सहजता से निभाया जा सके। वह उर्मि के कंधों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए बहुत संजीदा होकर बोला-'' उर्मि, मुझे लगता है कि भविष्य में भी हमें सिर्फ और सिर्फ इन्हीं प्रशिक्षण शिविरों, सेमिनारों और समारोहों में ही मिलना चाहिए। बीच की जिंदगी सामाजिक संदर्भ में कुछ भी क्रिएटिव करते हुए प्रतीक्षा में बिता देनी चाहिए।''

''आखिर ऐसा क्यों ?''- उर्मि जैसे बेताब हो उठी।

''ऐसा इसलिए भी कि हम दोनों की ही अपनी-अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियां भी हैं। उन्हें भी पूरी संजीदगी और शिद्दत के साथ निर्वाह करना जरूरी है। यानी कि न अपने और न उनके, किसी के भी साथ, किसी भी स्तर पर बेईमानी न हो तो यह निश्चय ही हम दोनों के लिए सबसे बेहतर रहेगा।''

उर्मि को जैसे किसी अंधेरी आग ने झपट लिया हो। उसके चेहरे पर आई उदासी जैसे हेमंत के हृदय में भी उतरने लगी। वह बात को और अधिक स्पष्ट करने लगा-'' मैं समझता हूं कि तुम्हें सबसे पहले इस संबंध को इसकी शुरुआत से फिर से समझना होगा।''

हेमंत की इस बात पर उर्मि भीतर तक झेंप आई। भीतर तक अपराधबोध से भर गई वह। उसकी हालत उस पानी की तरह थी जो ढाल की ओर स्वत: ही बहता चला जाता है। एक गहरा द्वंद्व भी तभी उसके हृदय को मथने लगा- तो क्या वह इतनी कमजोर है कि उसका अपना कोई स्वाभिमान नहीं! कोई स्टैंड नहीं!! फिर भी वह हेमंत के प्यार में इस हद तक डूब आई है कि फिलवक्त के लिए उसके लिए जैसे समूचे ब्रह्मांड का दूसरा नाम ही हेमंत है। उसने साहस किया। हेमंत के दोनों हाथों को अपनी हथेलियों के बीच थोड़ा कसकर पकड़ लिया। नीची हो आई अपनी उदास पलकों को थोड़ा ऊपर उठाया और हेमंत की आंखों में आंखें डालती हुई बोली-''हेमंत! देखो, सब समझती हूं मैं। लेकिन सबसे पहले मैं खुद को और बेहतर तरीके से समझना चाहती हूं। इसलिए यह जरूरी भी है कि इस प्रेमकथा को मैं एक बार फाइनली तुम्हारी निगाह से भी समझ लूं। हां, चलो समझाओ तो।''-उर्मि और अधिक सचेत हो आई।

लेकिन 'तुम्हारी निगाह' की बात पर अब हेमंत झेंप आया। गहरे अपराधबोध से भर आया वह भी। उसे लगने लगा कि शायद वह कोई प्रेमी नहीं, उसका उर्मि के साथ यह प्रेम मात्र एक नाटक है और इस नाटक की आड़ में है वह भी मात्र एक व्यभिचारी ही। फिर लगने लगा कि शायद यह प्रेम वस्तुत: उन दोनों के या फिर उसके अपने ही टूटे हुए दिल का एक कारगर मरहम है कि उसे सौंदर्य के साथ-साथ सौम्यता और गहरी समझदार साथी की भी बराबर सख्त जरूरत रही है। ऐसे साथी के अभाव की एक गहरी टीस है उसके भीतर। आज इस अभाव- इस टीस का कुछ उपाय उसे यहां दिखा तो उसके भीतर जलतरंग का मानो एक पूरा सैलाब उमड़ आया है। वह इस जलतरंग के सम्मान में इस कदर डूब-झूम आया कि उसे पता ही नहीं चला कि रोज-रोज के व्याख्यान की यह परस्पर तीखी बहस जाने कब प्यार बनकर निजी जिंदगी का आख्यान बन गई। इस रस- इस जलतरंग- इस आभा- इस ओज को वह न चाहते हुए भी समग्रता में ग्रहण करने को जैसे आतुर हो उठा। हां, यह सही है कि इस रोमांच- इस औदार्य में वह भीतर तक इस कदर हिल भी गया है कि उसके समूचे जेहन में कहीं एक बार फिर से निजी जिंदगी के बिखराव का डर भी बढ़ गया है। गौरतलब है कि यह डर भी उसे केवल अपने को लेकर नहीं है, बल्कि उर्मि को लेकर भी है कि आखिर कोई भी संवेदनशील व समझदार इंसान अपने सबसे प्रिय दोस्त को इस तरह क्यों बिखर जाने दें ? कि क्यों वह उसके बिखरने का खुद ऐसा कारण बने ? जघन्य पाप होगा यह। मनुष्यता विरोधी। अक्षम्य अपराध।..... लेकिन तब वह क्यों नहीं एक झटके से इस संबंध को अपने से झटक दे। इतना दूर हो जाए कि वह खुद में रह सके। कि अपनी निजी जमीन पर हो भरोसा रखते हुए नित नए-नए प्रयोग करे। साधने से आखिर क्या हासिल नहीं हो जाता ? 'करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।' वह मन ही मन उर्मि के प्रति जितने सम्मान-जितनी गहरी भावना से भरा है, उससे कहीं अधिक गहरी टीस के साथ वह अपनी पत्नी के एकांतिक प्रेम और समर्पण को लेकर भर आया। उसके प्रति क्षमाप्रार्थी होता हुआ।

इस तरह अब वह घर को लेकर तरह-तरह से सोचने लगा।

''क्या सोचने लगे ?'' उर्मि ने विचलित होकर पूछा।

''कुछ नहीं यार, बस क्या बताऊं?''- हेमंत स्थिर बना रहा।

''फिर भी!''

''यों समझो कि बीच में एकाएक घर याद आ गया।''

अब उर्मि सचमुच में गहरे विचलित हो आई। हेमंत की तरह ही झेंप आई वह भी। एक बार फिर गहरे अपराधबोध में भर आई वह। उलझन। आंखें बरबस ही नीची हो आईं लेकिन नजर तभी सीधे बीच घाटी में बह रही नदी पर पड़ गई। धीरे-धीरे वह स्वयं भी खोती हुई नदी के बहाव में उतराती बहने लगी.....

हां, नदी ही तो है वह। ठीक इसी की तरह वह भी तो अपने हिमशिखरों का पवित्र वरदान है। कैसे वह भी अपने आंगन में पहाड़ी नदी सी कल-कल छल-छल खेलती रही है। ऊंचे धवल झरने की भांति इंद्रधनुष के सातों रंगों में डूबी बड़ी-खड़ी हुई है फिर जिंदगी के कैसे-कैसे उकाव-हुलार फांदती आज इस घाटी के बीच शांत-गहरी नदी भी धीरे-धीरे बहती सयानी हो रही है। फिर सहसा लगा नहीं, शायद अब वह नदी नहीं रह गई है। उसके हिस्से का जल किसी महानदी से छिटककर अलग जा पड़ा है। किसी बड़े से सूने गड्ढे का तालाब होकर रह गई है वह। कोई झील भी नहीं कि कम से कम प्रकृति सौंदर्य प्रेमी के वास्ते ही सही, कभी-कभी इसकी भी गाद साफ होती रहे। एक कच्ची रोड इसके भी चारों तरफ बन जाती। कुछ काफल-बांझ-बुरूंस-देवदार के झक्क हरे-भरे पेड़ लग जाते। नहीं, अब इसके जीवन में ऐसा कोई पानी नहीं रहा कि कोई राहगीर दो घूंट पीकर अपनी प्यास बुझा सके।..... कि जिस पर बतखें और सारस तैर सकें.....कि सैलानी अपनी नाव खे सकें।.....कि किसी को भी अपना चेहरा इसके जल में भी साफ-साफ दिख सके।

वह गहरी पीड़ा से भर आई। भय, खीझ और जुगुप्सा से भर-भर आई वह। लगा जैसे उसे अब उल्टियां आने ही वाली हैं.....कि उसके गहरे जल में धीरे-धीरे आखिर कितनी सड़ांध भर आई है..... कि छोटी-छोटी कामनाओं सी व्याकुल मछलियां जैसे एक-एक कर सब मर गई हों और उनकी जगह पर मच्छर, कीड़े-मकोड़े और केकड़े आ भरे हों।..... कि जैसे धीरे-धीरे उसका समूचा व्यक्तित्व सिकुड़ता और विकृत होता चला गया है। ''छी!''- वह एकाएक ही जैसे बिलबिला उठी।

उर्मि की इस एकाएक 'छी' सुनकर हेमंत भी जैसे गहरे ध्यान में छिटककर अपने वर्तमान में आ पटक गया।

''क्यों क्या हुआ ?''- उसने उर्मि से घबराई हुई कौतूहलता से पूछा।

''क्या कहूं कि मुझे अपने आपसे किस कदर घिन आ रही है। अपने व्यक्तित्व पर कितनी कोफ्त हो रही है। क्या तुम्हें नहीं लगता कि मेरी सुंदरता, सौम्यता और समझदारी सब बाहरी आवरण है? अपनी ही आत्मा पर बोझ है यह जिंदगी। क्या इस घुटन- इस कोफ्त से उबर पाने का कोई ईमानदार उपाय तुम सुझा सकते हो ?''

हेमंत के दबे-दबे घाव पर से जैसे किसी ने पपड़ी उचेड़ दी हो। उसे लग रहा था कि जैसे उर्मि

खुद को नहीं, बल्कि उसकी जिंदगी की किताब उलट रही है। उसका एक-एक अक्षर जैसे उसकी एक-एक सच्चाई को उघाड़ दे रही है। वह अपने आप में इस कदर शर्मिंदा हो आया कि वह उर्मि को कोई सुझाव क्या सुझाए, उसे तो खुद ही मुंह छिपाने की कोई जगह चाहिए। वह एकाएक ही बहुत भावुक और तार्किक एक साथ हो आया। उर्मि से आंखें मिला पाना उसे अब बेहद कठिन लग रहा था। फिर भी उसे फिलवक्त उर्मि की गोद से अधिक माकूल, अधिक सुरक्षित और कोई जगह नहीं लग रही थी। और हुआ भी यहीं। हेमंत ने चुपचाप अपना मुख उर्मि की गोद में धंसा लिया। चुपचाप।

इधर, शर्म से लाल और आत्मग्लानि से क्षुब्ध उर्मि को भी जैसे कोई आड़ मिल गई हो। प्रसंगवश सहज ही उसकी उंगलियां हेमंत के बालों के बीच आ लगीं लेकिन हकीकत यह है कि उसे लग रहा था कि जैसे वह खुद के किसी घाव को सहला रही है। खुद की पीड़ा को पीने की क्षमता जुटा रही है।

सहसा हेमंत को लगा कि उसका यह व्यवहार एक प्रेमी-एक पुरुष के लिए कतई भी शोभायमान नहीं। उसने सोचा कि अगर यह संबंध अपराध है तो वह इसका अकेला अपराधी नहीं है बल्कि वे दोनों ही बराबर-बराबर के भागीदार हैं। और अगर यह संबंध मनुष्य होने के नाते सहज-स्वाभाविक है तो निश्चय ही उन दोनों को इस भाव कथा को सहजता से आत्मस्वीकार कर लेना चाहिए। उसने खुद से तर्क किया और पाया कि इस भावकथा को सहजता से लेने का बस एक ही उपाय है कि वह इस संबंध पर उर्मि के साथ पूरी तार्किकता से बात करे। केवल तभी दोनों के द्वंद्व का सही-सही समुचित विरेचन संभव है। आगे के सहज जीवन के लिए नया आत्मविश्वास, नया आत्मबल मिल सकता है। इसी भरभूर आत्मविश्वास के साथ उसने उर्मि की गोद से सिर उठाया तो वह हैरान रह गया। उर्मि की आंखों से आंसुओं की अजस्र धार बह रही थी।

लेकिन हेमंत घबराया नहीं। पूरे धैर्य और प्रेम के साथ उसने उर्मि के चेहरे को अपनी हथेलियों के बीच लिया और आंसुओं की धार समेत उसकी पलकों को चूम लिया।

''चलो चाय पीते हैं यार!''- हेमंत ने उर्मि का हाथ पकड़कर उठने का उपक्रम किया।

''किसी रेस्तरां में जाने का मन नहीं है यार। प्लीज! तुम चाय यहीं ले आओ न! बुरा न मानना।''

''ठीक है।''- कहते हुए हेमंत उठ खड़ा हुआ। तेज-तेज कदमों से पहाड़ी की दूसरी करवट पर स्थित रेस्तरां की ओर बढ़ गया।

उर्मि हेमंत को चाय लेने जाते हुए और वापस आते हुए एकटक अपलक देखती रही। सोचने लगी कि काश हम दोनों की यह परस्पर मुलाकात समय से हो गई होती। तब यही जिंदगी कितनी सुरीली आबोहवा से भरी-भरी इंद्रधनुषी होती। यह सोचते ही उसे हेमंत के प्रति एकाएक ही इतना प्यार उमड़ आया कि वह पल भर पहले की अपनी समूची पीड़ा- समूची आत्मग्लानि सब भूल गई।

हेमंत के पास पहुंचते ही उसने शरारत भरी उनींदी सी आंखें बना उसका स्वागत किया '' आओ,

मेरे बरबाद गुलिस्तां! आओ!! और फिर से यहीं बैठो। मेरे एकदम निकट। कि हम दोनों इन प्यालियों में से बारी-बारी से बराबर-बराबर घूंट पीते हुए इन प्यालियों को समूचा अपने भीतर उलीच लें जैसे कि हमने एक-दूसरे को बराबर-बराबर एक-दूसरे में उलीच दिया है।''

कहां तो हेमंत को उर्मि के पास आते हुए अपने कदम भरजोर भारी लग रहे था, कहां अब वह उर्मि के इस रोमानी व्यवहार से चौंक-चौंक उठा। पल भर में उसकी भी पीडा, झेंप और आत्मग्लानि जैसे काफूर हो गई। रोमांचित होते हुए वह बोला-'' यार उर्मि! सचमुच किसी स्त्री की थाह पाना बड़ा मुश्किल है। खास तौर पर तुम जैसी क्लासिकल पर्सनालिटी की। गहराई इतनी कि समुद्र भी पनाह मांगें। ऊंचाई ऐसी कि कोई कितना भी आसमान हो जाए, तुम कुछ और ऊपर ही नजर आती हो। एक्सट्रीम, बट फैक्ट।''- उर्मि खिलखिलाकर हँस पड़ी। परंतु जल्द ही गंभीर हो आई- ''बस-बस अतिश्योक्ति बंद करो। जरा यथार्थ पर उतर आओ। यथार्थ यह है कि हम दोनों ही ऑलरेडी शादीशुदा बालबच्चेदार लोग हैं। फिर भी हम दोनों के बीच आज पागलपन की हद तक प्यार है। अब प्यार है तो इसका रोमान भी जरूर होगा। रोमान है तो जैसा कि यह समाज है और जैसी कि हमारी अपनी स्थिति है, इसमें एक न एक दिन तो समूची जिंदगी के लिए दर्द उभर आएगा। अब दर्द है तो जरूर इसकी अपनी दास्तां भी होगी। हेमंत! दास्तां के इसी मनोविज्ञान को मैं ट्रांसपरेंट समझना चाहती हूँ। ताकि जिंदगी को सुरखाब का पर न लगे। ख्वाब भी लगे तो इन्हीं पलकों के नीचे-इन्हीं कदमों के साथ-साथ ताल पर ताल चलती हुई। अब हालात और जिंदगी चाहे जिस करवट हो। निराला ने 'शक्ति पूजा' में कहा है न कि 'यह एक और मन रहा राम का जो न थका।' , इसी जीते जी मृत्यु के पार भी देख चल लेने वाले मन को थामो हेमंत! मुझे अपनी निगाहों से समझाओ इसे, जैसा कि अभी कुछ देर पहले तुम शुरू करने जा ही रहे थे।''

हेमंत अब तक काफी सहज हो आया था बल्कि उर्मि की रोमानी बातों ने उसे भी खिलती हुई मोहब्बत से लबरेज कर दिया था। अब मौका था कि वह अपने मन की गुत्थियों को खोले ताकि यह संबंध यह प्रेम अपने परवान पर भी आसान बना रह सके। चाय के आखिरी घूंट के साथ ही वह बोला ''उर्मि! क्या तुमने कभी महादेवी का यह गीत कहीं पढ़ा-सुना है कि 'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ बसंत रजनी।''

''हां, लेकिन बसंत तो साफ-साफ समझ आ रहा है किंतु रजनी से इसका संदर्भ जरा खोलकर बताओ।''- उर्मि ने आंखें फैलाते हुए कहा।

''देखो, बसंत रंगों का उत्सव है। रंग दिन के उजाले में ही दिखाई देते हैं किंतु उन रंगदार फूलों की महक रात में भी वातावरण को सुगंध से भरपूर सुरमई बनाए रखती है। मेरे मन में भी तुम्हारे प्रति ठीक यही ख्याल है। अंधेरे के बीच एक अचीन्हे उजाले का आत्मीय उत्सव। कुछ समझी।''- कहते हुए हेमंत ने उर्मि के झुके चेहरे को थोड़ा ऊपर उठाया। उसकी रतनारी आंखों से अपनी आंखें मिलाईं और गीत की उस पंक्ति को रचनाकार की भांति गाने लगा-''धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत रजनी.....।''

'' देखो, तुम्हारी यह गूढ़ दार्शनिकता मुझे चकरा देने के अलावा और किसी काम की नहीं

हेमंत! प्लीज! तुम बिना किसी अतिरिक्त बिंब, प्रतीक और संदर्भ के मुझे हमारे इस संबंध को प्रशिक्षण प्रारंभ होने के दिन की पहली मुलाकात से आज अब तक के एक-एक अनुभव को सीधे-सीधे समझाओ। एकदम अभिधा में। प्लीज!''- उर्मि ने बहुत ही प्रेम में डूबा हुआ आत्मीय निवेदन किया।

''देखो, जहां तक प्रथम मुलाकात की बात है तो वह ज्यादा से ज्यादा किसी के प्रति किसी भी कारण विशेष से आकर्षण मात्र हो सकता है। बस। वैसे भी महत्वपूर्ण यह नहीं है कि जिंदगी में कितने लोगों से हमारा परिचय होता है, बल्कि महत्वपूर्ण यह है कि उनमें से कितनों के साथ हमारे संबंध आत्मीय बन पाते हैं। हम उसके प्रति धरती-आकाश बन आते हैं कि तब ब्रह्मांड में हमें सिर्फ वहीं एक शख्स सबसे जुदा सबसे प्यारा- सबसे नया ही नहीं लगता, बल्कि युगों-युगों तक चिरनवीन।''

उर्मि को जैसे अब थकान और खीझ होने लगी। वह हेमंत को रोकती हुई बोली-''अरे यार! तुम फिर कहां इस युग दर्शन की सैर करने लगे। मैं बात इसी माह की सात तारीख की कर रही हूं जब हमारा यह इक्कीस दिवसीय प्रशिक्षण शुरू हुआ। इतना मुझे खूब याद है कि प्रशिक्षण शिविर में तुम दोपहर बाद पहुंचे थे। बल्कि जिस वक्त तुमने लेक्चर थियेटर में प्रवेश किया, मंच पर मैं ही थी। और हां, इतना और याद दिला दूं कि मेरे व्याख्यान के बाद सवाल-जवाब के सत्र में हम दोनों के बीच तर्क-वितर्क की खासी भिड़ंत हो गई थी।''

''अरे हां याद आया, तुम सांस्कृतिक जीवन मूल्यों पर बात रखती हुई कर्मों के संचय को प्रारब्ध करार दे रही थीं। जीवन शैली को अंतिम संस्कृति कह रही थीं जबकि मैं संस्कृति की पृष्ठभूमि के पेंचोखम खोल रहा था कि किसी भी व्यक्ति या समाज की संस्कृति का मूलतः निर्धारक तत्व राजनीति ही है। बस इसी की व्याख्या जरा आगे बढ़ गई थी क्यों ?''- हेमंत गौरव से भर आया था लेकिन उर्मि भी कम नहीं थी। हेमंत के दोनों कंधों को पकड़ती हुई बोली-

''अरे भई, यह चूंकि तुम एक कल्चरल और पॉलीटिकल एक्टीविस्ट भी हो इसीलिए इतना तर्क-कुतर्क कर रहे थे। फिर दूसरी बात, तुम्हारी भाषा इतनी प्रांजल और सारगर्भित थी कि ईमानदारी से कहूं तो मैं तुम्हारे आगे डिगने लगी थी लेकिन मैंने भी अध्ययन-मनन- चिंतन के कुछ कम अस्त्र-शस्त्र नहीं बटोर रखे थे। सो मेरा चक्रव्यूह तोड़ने में तुम्हें भी अच्छी-खासी नानी याद आ गई थी क्यों?''

''तो बताओ कि मैं सही कह रहा था कि नहीं कि राजनीति से कुछ भी मुक्त नहीं होता।''- हेमंत ने अपनी बात की पुष्टि करनी चाही।

''तो क्या प्रेम भी राजनीति की गिरफ्त में होता है?''

''देखो, राजनीति केवल पार्टी पॉलीटिक्स ही नहीं होती। इसका अपना एक मनोविज्ञान होता है जिसका हमारी चेतना यानी हमारी दिशा-दशा और विजन से गहरा रिश्ता होता है।''- हेमंत की बढ़ती तार्किक श्रृंखला को उर्मि ने जैसे विराम दिया-

''खैर मैं फिर किसी बहस में नहीं उलझना चाहती। मैं सिर्फ यह जानती हूं कि मुझ पर तुम्हारी

लंबी-चौड़ी पर्सनालिटी, गहन दार्शनिक बौद्धिकता और प्रतिबद्ध कवि होने का गहरा असर पड़ा। फिर तो दिन-ब-दिन की तुमसे बात-बात पर इतिहास, संस्कृति, साहित्य और समाज को लेकर जब-तब होती बहसों से तो सच हारते जाने के बावजूद मैं तुम्हारी दीवानी होती चली गई। ठहरो, इसमें एक जरूरी संशोधन अभी होना है बल्कि जुड़ना है कि इस निपट दीवानेपन में मैं अकेली ही नहीं थी एकतरफा बल्कि तुम्हारी खुद की भी इस सब में गहरी भूमिका रही है। बोलो सच है कि नहीं ?''

''हां, यह सच है। लेकिन आधा-अधूरा सच बल्कि मेरा नजरिया थोड़ा भिन्न है। दरअसल मैं तुम्हारी कमनीयता, तुम्हारी तार्किक बौद्धिकता यानी तुम्हारे व्यापक अध्ययन और संप्रेषण से प्रभावित जरूर था लेकिन प्यार तो तुमसे किसी और वजह से ही हुआ।''

उर्मि आपाद उत्सुक हो उठी। धुकधुकी बढ़ आई थी- 'तो क्या थी वह वजह ? देखो सच-सच बताना!''

''वह थी तुममें इंसानियत भरी गहन संवेदना में संपृक्त तुम्हारी सदाशयता और सामूहिकता की अविराम पक्षधरता। कुछ समझी ?''

''जरा कोई अनुभव-कोई उदाहरण देकर समझाओ तो!''

''तो सुनो, अनुभव और अंदाज नंबर एक- बात प्रशिक्षण प्रारंभ होने के पांचवें-छठे दिन की है। हम पांच छः लोग शाम के समय ऊपर माल रोड पर घूमते हुए कुछ अधिक ही आगे तक बढ़ आए थे। जंगल शुरू हो चुका था। तेज हवाओं के झोंकों के बीच चीड़ के पेड़ ऐसे झूम रहे थे मानों उनका कोई उत्सव हो रहा हो। जंगल में ऊपर-नीचे चारों तरफ हवाएं चीड़ से मिलकर सीटियां सी बजा रही थीं। मैं कोई बहुत मस्त प्रेम गीत गा रहा था। तभी एक मोड़ के पास सड़क से थोड़ा नीचे ढाल पर चीड़ के एक अधसूखे जटिल पेड़ के नीचे एक लगभग तीन-चार साल का एक बच्चा नजर आसमान की ओर गड़ाए हुए दहाड़ मार-मार कर बहुत ही कारूणिक आवाज में जार-जार रो रहा था। दरअसल उसकी मां पेड़ के ऊपर चढ़ी हुई थी। सूखी टहनियां काट रही थी। चूल्हे की आग की खातिर। हम सभी लोग इतने सीधे खड़े ऊंचे और जटिल पेड़ की शाख पर बहुत आगे तक बढ़कर टहनियां काटती उस महिला को देख-देखकर जितना खौफ खा जा रहे थे, उतना ही उस रोते हुए बच्चे पर तरस खा रहे थे। अब चूंकि यह कठोर दृश्य पहाड़ी जीवन-शैली का एक आम दृश्य था। रोजमर्रा का इसलिए हम सभी सड़क पर शीतल हवा और जंगल की खूबसूरती का आनंद लेते हुए धीमे और धीमे आगे और आगे की ओर बढ़े जा रहे थे। सभी साथियों का ध्यान मेरे दर्द भरे प्रेमगीत में डूबा हुआ था कि सहसा तुमने अपनी सेंडिल सड़क के किनारे उतारी। साड़ी को थोड़ा संभालती हुई तुम तेजी से ढाल को उतर गई। वह बच्चा तुम्हें अपने इतने पास इस तरह एकाएक पाकर शायद कुछ घबरा आया था। उसने और जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया लेकिन तुमने जैसे-तैसे उसे चुप करा लिया। पर्स में से एक चॉकलेट निकालकर उस बच्चे को दी। बच्चा कुछ चुप हुआ तो तुमने ढलान पर वहीं बगल में फूटी पानी की सीर में से कुछ अंजुरी पानी बटोरा और उस बच्चे का मुंह धो दिया। पर्स से तौलिए जैसा एक छोटा रूमाल निकालकर बच्चे का मुंह पोंछा। उसके बाल सहलाए।

पर्स से एक और चॉकलेट निकालकर उस बच्चे को थमाई और उसके दोनों गालों को कसकर चूमकर तेजी से ऊपर चढ़ आई। सड़क पर। हम फिर चलने लगे लेकिन मेरे लिए इस दृश्य ने यह सिद्ध कर दिया था कि बात-बात पर तमाम-तमाम बौद्धिक तर्क करने वाली स्त्री के भीतर प्यार का एक छलछलाता समुद्र भी है जो अपनी सामाजिक और सामूहिकता, बल्कि कहें कि मनुष्यता में बरबस झलकता दिखाई देता है। मैने दिल से तुम्हें धन्यवाद कहा लेकिन ऐसे अनेक दृश्य तुम्हारे व्यवहार में जब-तब दिख जाने पर लगने लगा कि तुम्हारा व्यक्तित्व सचमुच मेरे बहुत निकट है। इस निकटता की लगातार बढ़ती हुई पेंगें आगे बढ़कर कुछ दिनों में शायद धीरे-धीरे प्यार का रूप लेने लगीं। लेकिन यह पहला दृश्य था, जब मैंने बिना स्पर्श के तुम्हें अपने बाहुपाश में ले लिया था।

''थैंक्स। चलो तुमने इतना समझा तो सही कि अपने भी इतने निकट पा लिया हमें।''

''उर्मि! सच तुम्हारे व्यक्तित्व में बहुत कुछ सुंदर है। टेक योरसेल्फ सीरियसली।''

''अगेन थैंक्स। लेकिन तुम सचमुच बहुत भोले हो हेमंत!''

''मतलब ?''

''मतलब यह कि कुछ देर पहले तुमने कहा था न, किसी स्त्री की थाह पाना मुश्किल काम है। मैं स्वीकारती हूं हेमंत कि अंततः यही हमारा भी सच है। तुम इसे अभी तक समझ नहीं पाए। इसलिए कहती हूं कि तुम एकदम भोले हो। नासमझ। नादान।''

''यार उर्मि! तुम तो प्रेम में भी जैसे तलवार लेकर बैठी हो।''

''हां हेमंत! अब जाकर तुम छिपे हुए एक और सत्य के नजदीक आ सके हो लेकिन तलवार मेरे नहीं, किसी और के हाथों में सजी है हेमंत! मैं तो स्वयं ही भयभीत हूं आतंकित। वह भी खुद को नहीं, बल्कि तुमको लेकर।

सुनकर हेमंत की तो जैसे घिग्घी बंध आई। मन एकाएक ही अचकचा आया। डरी हुई आंखों से उर्मि को देखते हुए जैसे-तैसे पूछा- ''मतलब ?''

उर्मि जैसे बात की परतें खोलती हुई समझाने सी लगी-''यार, पता नहीं यह प्रेम इतना स्वार्थी, इतना क्रूर और घातक क्यों होता है? अपनी पूर्णता तक पहुंचने के लिए किसी भी हद तक सहज ही चला जाता है। कभी-कभी तो पति-पत्नी के तलाक से लेकर अपने ही बीच हत्या-आत्महत्या तक।''

हेमंत की बेचैनी और बढ़ आई थी-''उर्मि, प्लीज पहेली न बुझाओ। जरा साफ-साफ कहो। और हां, जरा धैर्य रखते हुए।''

''कोई पहेली नहीं, यह हकीकत है हेमंत कि इस प्रेम में मैं जितना गहरे डूब चुकी हूं, लग रहा है कि इससे ताउम्र उबर पाना अब मुश्किल ही है। ऐसे में अगर कभी किसी प्रसंगवश चूक से या कभी अपनी बेचैनी में ही नींद की बड़बड़ाहट में भी तुम्हारा नाम अगर मुख से निकल गया तो पक्का समझो कि तब हम दोनों की ही खैर नहीं। खाप पंचायत का सदस्य है मेरा पति। मृत्युदंड घोषित करने में तनिक भी देर नहीं लगाएगा।''

''उर्मि!''- हेमंत पैर के नाखून से लेकर सिर की चोटी तक एकाएक ही थर-थर कांप उठा। पल

भर में उसकी आंखों के आगे पत्नी, बच्चे, नौकरी और समाज जैसे सबके सब उसके चारों तरफ सवाल बनकर खड़े हो गए। इन चीखते सवालों के चक्रव्यूह के बीच उसकी अजीब सी स्थिति हो आई। दिल बैठने लगा तो सांस धौंकनी पर धौंकनी हुई जा रही थी। देखते ही देखते उसका समूचा बदन पसीने से जैसे तरबतर हो आया। उसे ठीक-ठीक कुछ भी सुझाई नहीं दे रहा था।

कभी उर्मि उसे अपनी साक्षात मौत दिखाई दे रही थी तो कभी अपने समूचे वजूद के साथ उसे पोर-पोर रोम-रोम आकंठ अटूट प्यार करने वाली। मृत्यु के पार जाकर भी प्रेम के नए प्रतिमान गढ़ने वाली। अप्रतिम प्रियतमा। उसने स्थिति को संभालने की कोशिश की। लेकिन उसकी आंखें जैसे फटकर उर्मि के चेहरे पर गढ़ आई।

अब तक उर्मि का चेहरा भी जैसे सपाट हो आया था। एकदम सूखा हुआ। होंठ कंपकंपा रहे थे तो आंखें सुर्ख लाल हो आई थीं।

हेमंत घबरा गया। वह उर्मि से अब क्या कहे, कुछ समझ नहीं पा रहा था। किंर्तव्यविमूढ़। किंतु तभी सहसा उर्मि ने अपने दोनों हाथ उठाए। हेमंत के कंधों को कसकर पकड़ा और बदहवास सी उसे झिंझोड़ने लगी।

इससे पहले कि हेमंत उर्मि की मन:स्थिति को कुछ ठीक से समझता उससे पहले वह हेमंत की गोद में सिर रख फफक-फफककर रोने लगी।

हेमंत अभी तक अपने द्वंद्व और भय से उबर नहीं पाया था। अभी भी किंकर्तव्यविमूढ़। इतना भी साहस नहीं रह गया था कि रोती हुई उर्मि के सिर या पीठ सहलाकर उसे चुप कराने की कोशिश कर सके।

तभी उर्मि ने अपना सिर उठाया हेमंत की फटी-फटी सी आंखों को अपार प्रेम और करुणा से देखती हुई बोली-''हेमंत! मुझे माफ कर दो प्लीज!!'' और किसी वृक्ष से टूटी हुई शाख सी उसके सीने पर पसर गई।

हेमंत को अब जाकर कुछ सांस आ पाई। कुछ धैर्य, कुछ स्थिरता और अपार प्रेम फिर भर आया। उसने जैसे कुछ साहस बटोरा। उर्मि को अपने बाहुपाश में लेते हुए उसे धीरज बंधाने लगा।

सहसा उर्मि को अपने सिर और गले पर कुछ गीली बूंदें सी महसूस हुईं। उसने सिर उठाया। देखा कि हेमंत की आंखों से भी आंसुओं की अजस्र धार फूटी पड़ी है। उसका हृदय जैसे एक बार फिर अगाध प्रेम और उन्माद से भर आया। उसने हेमंत के चेहरे को अपनी दोनों हथेलियों के बीच लिया और बदहवाश सी उसके गाल-माथा-होंठ-पलकें सब चूमने लगी। थक जाने की हद तक। फिर उसने बरबस ही अपना चेहरा हेमंत की गोद में धंसा दिया। चुपचाप। एकदम शांत।

हेमंत हालांकि पहले से काफी सहज हो आया था। फिर भी वह क्या कहे, इस बात को लेकर अभी तक किंकर्तव्यविमूढ़ ही था। वह बस चुपचाप उर्मि के बालों को सहलाता रहा। देर तक।

''सुनो, चाय नहीं पियोगे?''- उर्मि ने अपना सिर उठाकर हेमंत से कहा।

''ले आता हूं।''- कहते हुए हेमंत उठ खड़ा हुआ।

''उर्मि! चलो पहले मुंह धो लेते हैं और हां जरा अपनी बिखरी हुई लटों को भी फिर से संभाल

लो प्लीज!''-हेमंत ने कहा।

उर्मि उठ खड़ी हुई। दोनों बगल में ही खिलखिलाकर बह रहे झरने में जाकर मुंह छपछपाए। पोंछे। वापस आकर बैठे और शांत चित्त चाय शिप करने लगे। उर्मि चिंताकुल हो आई थी। गहरे द्वंद्व से निकल उसने चुप्पी को तोड़ते हुए जिज्ञासा प्रकट की-''हेमंत! सुनो, आखिर हमारा भविष्य क्या है ?''

''जो इस चाय की पत्ती का है।''- हेमंत के पास जैसे रेडीमेड उत्तर था।

''मतलब कि क्या इस संबंध को अब यहीं समाप्त समझा जाए ?''

''मैंने यह तो नहीं कहा। अच्छा, जरा पल भर को गौर से सामने का यह प्राकृतिक दृश्य देखो। बता सकती हो कि बरसात में पहाड़ों पर बादल इतने नीचे क्यों उतर आते हैं कि अक्सर हम खुद को इसके ऊपर पाते हैं।''

''अब यह तो मुझे नहीं पता, पर लगता बहुत सुंदर है।''

''बस। अब इसी सुंदरता में खुद को जरा रूपांतरित करके देखो तो!''

''कैसे ?''

''जैसे कि अभी यह बादल-फिर बारिस-फिर नदी- फिर समुद्र-फिर भाप और फिर यही बादल। बरसात के इन दिनों में घाटियों के बीच यों उतरता हुआ किंतु जिसे गरमी पाते ही फिर पानी हो जाना है।

''तो क्या हमें भी पानी जैसा ही हो जाना चाहिए ?''- उर्मि हेमंत को फटी-फटी आंखों से देखते हुए बोली।

''डेफीनेटली। सतत् गतिशील और ट्रांसपरेंट जो प्यास बुझाता है किंतु जो बाढ़ और बिजली का कारक भी है।''

''ओह हेमंत! तुम जीने नहीं दोगे।''

''इनकरेक्ट बट ग्रेट फैक्ट। बोझ समझेंगे तो निश्चय ही यह जीवन दारुण और दुष्कर हो जाएगा। अपना ही वजन समझेंगे, जिम्मदारी, तो नो डाउट इसे भी खुशी-खुशी उठाकर आगे और आगे बढ़ते चला जा सकता है।''

''आखिर किधर ?''

''जिधर दर्शन है। क्योंकि उसमें कभी भी पूर्ण विराम नहीं आता। हर नया अध्याय जैसे एक अल्पविराम भर होता है। देखो, सच्चे अर्थों में यहीं जिंदगी है। यही प्रेम भी क्योंकि प्रेम भी सदैव रूपांतरित होता रहता है इसलिए उसमें भी कभी पूर्णविराम नहीं आता जबकि जिंदगी की एक सीमा है। हां।, अगर जीते जी इस निजी सीमा के पार की भी कुछ जुगत कर सको, सही अर्थों में सामाजिक हो सको तो उम्र भी क्या है ? एक अल्पविराम भर!... बस।''

''आखिर कैसी जुगत ?''

''मतलब कि कुछ नईं जिम्मेदारियां, जिस आबोहवा में हम जी रहे हैं, उसके प्रति।''-हेमंत में फिर तर्क का गौरव उभर आया था।

''लेकिन जो निजी जिम्मेदारियां अभी हम पर हैं। मसलन हमारे घर-परिवार। आखिर उनके प्रति भी तो कुछ नैतिकता-कुछ प्रतिबद्धता है। और उस पर यह हमारा प्रेम भी तो एक नई.....।''- बोलते-बोलते उर्मि एकाएक चुप हो गई।

लेकिन उर्मि के इस अधूरे कथन में छिपे पूरे अर्थ ने हेमंत को भी जैसे झंकृत कर दिया। अनायास ही दोनों की निगाहें एकाएक आमने-सामने हो आईं और उनके जेहन में अपने-अपने घर तैर आए। तब एक बार फिर दोनों के बीच जैसे एक गहरा मौन पसर आया। इस मौन का शोर इतना भयावह था कि बरबस ही दोनों की आंखें फिर नीची हो आईं। दोनों के स्वर जैसे भीतर ही भीतर कहीं डूब रहे थे। डूब-डूब कर पानी-पानी हो रहे थे। पानी भी ऐसा कि जिसमें कसैलापन ही अधिक था। अधूरी जिंदगी की असहनीय टीस थी यह जिसे दोनों ही अपनी-अपनी तरह से सहन कर लेने की क्षमता की जुगत में जुटे थे।

सूरज पहाड़ी के पार डूबा ही जा रहा था। उर्मि ने कलाई पर बंधी अपनी घड़ी हेमंत को दिखाई। वापसी का समय होने पर हेमंत ने सिर हिलाकर अपनी हामी दी।

उठने से पूर्व सहसा दोनों को एक साथ ही एक लंबी सांस आई। जैसे दोनों ने एक फिर एक साथ बहुत कुछ जज्ब किया- बहुत कुछ उलीचा हो।

''सब लोग अब तक हॉस्टल पहुंच चुके होंगे।''- उर्मि ने चिंतातुर होकर कहा।

हेमंत ने फिर चुपचाप हामी में अपना सिर हिला दिया। दोनों चुपचाप पहाड़ी से नीचे सड़क पर उतरे और हॉस्टल की ओर बढ़ गए।

हालांकि दोनों एक-दूसरे के कंधों पर हाथ रखे हुए चल रहे थे, किंतु दोनों के बीच छाए मौन ने दोनों की चाल इतनी भारी कर दी थी कि एक-एक कदम पहाड़ लग रहा था जबकि इधर हवा कुछ तेज बह आने से घाटियों में पैठते बादल अब छितरा आए थे। अपनी-अपनी जड़ों पर खड़े शाल-शीशम-बांझ- चीड़-देवदार-बुरूंस ऐसे झूम रहे थे मानो प्रेम के असल गगनचुंबी गीत तो ये ही गा रहे हैं।

* * *

कहानी

पार उतरना धीरे से

विवेक मिश्र

सूरज सिर पर था। धूप में नदी का पानी ऐसे चमक रहा था मानो नदी न हो, चांदी की कोई चादर धीरे-धीरे हिल रही हो। पानी की सतह से उठती भाप ने धरती और आसमान के बीच एक झीना पर्दा तान दिया था, जिससे उस पार की हर चीज धुंधली दिख रही थी। रातना कमैती के मन में भी आस्था-अनास्था के बीच, ऐसा ही एक झीना-सा पर्दा पड़ा था। वह बार-बार सिर झटककर उस पर्दे के पार देखने की कोशिश कर रही थी, पर सब कुछ धुआं-धुआं था। दाहिने हाथ में दबा तीन दिन का बच्चा जोर-जोर से रो रहा था। तभी एक 'घच्च,घूं उं,' की आवाज के साथ रक्त की बूंदें उसके मुंह पर पड़ी थीं। रक्त का एक फव्वारा-सा उड़ा था, जिसकी कुछ छींटों ने नदी में बहती चांदी को भी एक पल के लिए लाल कर दिया। आस्था के नाम पर कुछ बूंदें सूरज-चांद और किसी अदृश्य शक्ति तक भी गई होंगी, पर रातना कमैती को केवल अपने पैरों के नीचे की खून से सनी हुई धरती ही दिख रही थी और उसे देखकर उसका सिर चकरा रहा था। वह जैसे समय की गति से पीछे छूटती जा रही थी। अनायास ही वह कई दिन-महीने लांघकर बिना किसी तारीख वाले अपने जीवन के एक सामान्य से दिन में जा पहुंची थी। रोज की तरह उस दिन भी वह भोर के काम निपटाते-निपटाते फिरकिनी-सी घर के हर कोने में घूम आई थी। वह थक गई थी, हांफ गई थी और अभी दिन बीतना तो दूर पूरब में सुबह की चादर खुलनी शुरू भी न हुई थी। हां, आसमान रात के पकने से थोड़ा लाल जरूर हो गया था।

वह सुबह होने से पहले ही कुछ सोचे-समझे बिना किसी मशीन की तरह हजार काम निपटा लिया करती। उसे जाने-अनजाने भोर और उसकी प्राची बहुत भाती। इस समय आस-पड़ोस के हर आंगन में सन्नाटा रहता। केवल उसी के घर में उसके इतनी जल्दी उठ जाने से बर्तन खड़कने लगते। इस समय उसका घर आंगन जागता और चारों तरफ दूर-दूर तक गली-मुहल्ला-चौपाल, कहूं तो पूरा गांव ही सोया रहता। धीरे-धीरे चिड़ियां चहचहातीं, फिर ढ़ोर-बछेरू रंभाने लगते, रात भर चैन से सोई घिर्री के घड़घड़ाकर घूमने और बाल्टी के कुएं में उतरने की आवाजें आने लगतीं। जैसे-जैसे यह आवाजें तेज होतीं औसारे में बैठी रातना कमैती कुछ अनमनस्क होने लगती। वह मन ही मन सोचती कि रोज की तरह अभी गिद्धू झा की माई लाठी टेकती उसके घर के सामने से गुजरेंगीं,

थोड़ा ठिठक के भीतर की आहट लेंगी और फिर यह कहती हुई आगे बढ़ जाएंगी कि आस न औलाद, फिर न जाने कौन-सा नाज फटकती है कमैती इतने भिनसारे और ऐसा ही होता। लगभग रोज ही कमैती उनकी यह बात सुनकर भी अनसुनी करती और भीतर आकर चापाकल पीटने लगती। भलभलाकर ढेर सारा पानी बाल्टी से उफनकर नाली में बह जाता। उसकी धोती घुटनों तक भीग जाती, पर वह भीतर-बाहर सूखी ही रहती। इससे पहले कि भोर का झुटपुटा दिन की चटक रोशनी में बदले, धूप की किरचें शीशे की चकमक-सी उसकी आंखों में चुभें, उन्हें चुंधियाएं और आस-पड़ोस के घरों के बच्चे जागकर अपनी आवाजों से उसके घर को अन्य घरों से अलग कर दें। वह कई लोटे पानी अपनी देह पर डाल देती।

दालान में पड़ी खाट पर सोए बीरन महतो, जब तक मुंह पर भिनभिनाती मक्खियों से आजिज आकर, उठकर बैठते, तब तक कमैती नहा-धोकर किसी दूध से धुली प्रतिमा की तरह साफ-स्वछ हो, माथे पर बड़ी-सी बिंदी लगा, मांग में सिंदूर भरकर तैयार हो जाती। धूप-दीप जलाती। भीतर के कोठरे में धरे भगवान जी के आगे मन ही मन बुदबुदाकर ढेर चिरौरी-बिनती करती। उसके बाद चूल्हा जलाकर बीरन महतो के लिए चाय चढ़ाती। वह एक बार में लोटा भर चाय पीते और चाय लोटे से प्याली में पलटते हुए कहते जाते, ''जे चाय की लत भी बुरी है, पर बिना इके सुबै का कारजक्रम स्टारट ही नाहीं होता'' अक्सर वह ऐसा कहने के बाद किसी अदृश्य व्यक्ति के सामने एक सवाल उछालते, ''आखिर क्या किया जाए?'' फिर अनुत्तरित लौट आए अपने प्रश्न का स्वयं एक जवाब गढ़ते और गहरी और सीने में बड़ी देर से दबी सांस छोड़ते हुए कहते, ''दुक्खों का संसार में कौनउ अंत नहीं है'' उनकी इस बात से कमैती का चेहरा थोड़ा मलिन पड़ जाता, पर वह जल्दी ही उसे अपने पल्लू में छुपाकर काम में लग जाती।

कमैती लगातार कुछ न कुछ सिरजती-सहेजती रहती, पर उसे अपने हर काम में एक अधूरापन लगता। उसे लगता जैसे उसका मन उसकी देह से बाहर कहीं दूर टंगा हुआ है और देह एक भारहीन छाया-सी यहां-वहां मंडरा रही है। कैसे बैठे उसकी देह में गुरुत्व? कौन उतार लाए किसी अदृश्य टहनी पर टंगा मन? कैसे उसका साफ-स्वछ-सुंदर, पर पीला और उदास चेहरा लला उठे? कैसे आए कोख में भार? कैसे कोई ऐसी सुबह हो जिसमें वह धीरे से उतारे अपने पांव धरती पर, एक धरणी के गौरव के संग? ये सभी प्रश्न हवा में तैरते उसके साथ-साथ चलते। कई बार तो ये प्रश्न इस तरह उसके कानों में गूंजते कि उसे कान पर चीखते आदमी की बात तक सुनाई देनी बंद हो जाती। ये प्रश्न इस तरह आंखों के सामने नाचते कि नाक की सीध में पड़ी चीज तक दिखाई न देती।

ऐसी ही अवस्था में एक दिन मंदिर घाट पर नदी में स्नान करके लौटते हुए कमैती को एक पत्थर से ठोकर लगी थी। उसके दाहिने पैर के अंगूठे का नाखून उखड़ गया था। तब लहूलुहान हो गए पांव में रसूलन काकी की पतोहू, माने उनके बड़े बेटे की बीबी, मदीनी ने अपने पुराने सूती दुपट्टे से धंजी फाड़कर कमैती के अंगूठे पर बांधी थी। उसने धंजी बांधते हुए कमैती के कान में कहा था कि ऐसी हालत में रास्ते के गड़हे-पत्थर न दीखना वाजिब है। ऐसा उसके साथ भी होता था, जब तक उसकी गोद नहीं भरी थी।

कमैती मदीनी को पहले से जानती थी। वह यह भी जानती थी कि मदीनी अपने बियाह से पहले हिंदू थी। जात की कुम्हार, पर रसूलन काकी के बेटे से उसने भागकर रिश्ता जोड़ लिया था। इस बात पर नीचे दोनों परिवारों में और शायद ऊपर दोनों मजहबों के आलाकमानों में कई दिनों तक अच्छी-खासी ठनी रही थी। कई दिन तक मदीनी और उसके पति को अपने चाचा के खेत पर मड़ही डालकर रहना पड़ा था। फिर एक दिन रसूलन काकी के भाई, जो हज करने के बाद सीधे काकी से मिलने आए थे, उनके कहने पर मदीनी को काकी के परिवार ने स्वीकार कर लिया था। मदीनी का यह नाम भी उन्हीं रसूलन काकी के भाई जान यानी 'हाजी साब' का दिया हुआ था। कमैती मदीनी को बहुत मानती थी। उसने दो-दो धर्मों पर ईमान लाया था। वह एक जन्म में ही दो जन्म जी चुकी थी। उसके मन में धर्म की दोहरी मान-प्रतिष्ठा थी, पर इधर घर में सब कुछ ठीक हो जाने पर भी कोख तो मदीनी की भी कई दिनों तक नहीं भरी थी। उस दिन कमैती के पांव के अंगूठे में धंजी बांधते समय मदीनी उसके कान में यह भी कह गई थी कि वह जानती है कि उसके दु:खों का अंत कैसे हो सकता है।

अंगूठे पर दूसरा नाखून आ जाने से कमैती की चोट तो कुछ दिन बाद ठीक हो गई थी, पर मदीनी की कही बात उसके मन में जस की तस बसी हुई थी। एक दिन बीरन महतो की गैर मौजूदगी में वह मदीनी के घर जा पहुंची थी। मदीनी उसे देखते ही जान गई थी कि कमैती उसके पास क्यूं आई है। कमैती के बिना कुछ कहे ही मदीनी ने कहा था कि वह बिलकुल चिंता न करे, देवी की अनुकंपा से जरूर हरिया जाएगी उसकी गोद। बस वह जैसे-जैसे कहती जाए, वैसे-वैसे कमैती करती चले।

उसके बाद तो कमैती और मदीनी के बीच मिलने-जुलने का एक सिलसिला ही शुरू हो गया। जल्दी ही, मदीनी ने नदी किनारे मंदिर घाट वाले देवी के उसी मंदिर पर एक तांत्रिक अनुष्ठान शुरू करा दिया, जहां से लौटते समय कमैती के पांव में ठोकर लगी थी। महीनों चलने वाले इस तंत्र-मंत्र में जहां कमैती को लगातार दूध और फल का सेवन करना था वहीं उसके पति बीरन महतो को बीड़ी, सिगरेट, पान-तंबाकू और शराब ही नहीं चाय तक से परहेज रखना था। कमैती तो उसकी बात एक बार में ही मान गई थी, पर बीरन ने इस सबका पालन करने में बहुत ना-नुकुर की थी। वह मदीनी की बातों पर आसानी से विश्वास नहीं करते थे, पर कहीं न कहीं बीरन महतो भी इस अनुष्ठान को अपने दु:खों के अंत के रूप में देख रहे थे। इसलिए उन्होंने भी कमैती के साथ पूरे जतन से देवी मंदिर से मिले निर्देशों का अक्षरश: पालन करना शुरू कर दिया। हालांकि बीड़ी-शराब के बिना रहना तो फिर ठीक था, पर सुबह की चाय और खैनी के बिना उनका गुजारा बहुत मुश्किल था लेकिन अपनी किसी कमजोरी के कारण वह आने वाले समय को अंधेरे में धकेलना नहीं चाहते थे, सो मन मसोसकर ही सही पर वह कमैती का साथ देने लगे थे।

करते-कराते किसी तरह उस बात को दो-महीने बीत गए। अब इसे किसी अदृश्य शक्ति का चमत्कार कहें, या दोनों की बदली हुई दिनचर्या और सही खान-पान का नतीजा, एक दिन जब कमैती ने मुंह अंधेरे अपना पांव धरती पर रखा, तो न धरती पहले सी थी और न उसका पांव। वह

जैसे-तैसे कमर पर हाथ रखकर उठी भी, तो उसे लगातार चक्कर आते रहे। उस दिन उसे मंदिर भी जाना था, पर न तो उसका कोई काम ही समय पर निपटा और न ही वह समय से तैयार ही हो सकी। यहां तक उस दिन इतनी देर हुई की बीरन महतो को बिना कुछ खाए ही काम पर जाना पड़ा।

उधर जब मदीनी मंदिर के बाहर बैठी कमैती की बाट जोहते-जोहते थक गई, तो खुद ही उसका हाल जानने उसके पास आ पहुंचीं। कमैती जहां मंदिर न जा सकने के कारण दु:खी थी वहीं मदीनी उसका हाल सुनकर खासी उल्लासित हो रही थी। उसने कमैती को गले लगाकर बधाई दी और बताया कि ऊपर वाले ने तेरी सुन ली। पहले तो एक पल को कमैती को अपनी किस्मत पर विश्वास ही नहीं हुआ, फिर मदीनी के अनुभव पर भरोसा करके वह भी हल्के से मुस्कराने लगी। मदीनी ने मौका देखकर उसे आगे की योजना के बारे में बताने से पहले विश्वास दिलाया कि तेरी गोद में देवी की कृपा से ही बीज ठहरा है, इसलिए तुझे आगे भी उनके आदेशों का पालन करते रहना है। कमैती को तो जैसे देवी की कृपा का साक्षात प्रमाण ही मिल गया था। अब तो वह कुछ भी करने को तैयार थी, पर उस रोज जो कुछ मदीनी ने आगे उससे कहा, वह सब करना उसके लिए लगभग नामुमकिन ही था, पर अब मदीनी की कही किसी बात को न करने की गुंजाइश ही नहीं थी। उस दिन उसने बड़े बुझे मन से उसे हां कहा और सोने चली गई, पर उसकी आंखों में नींद कहीं नहीं थी।

एक जीव को पाने के लिए दूसरे की जान लेने को उसका मन कतई तैयार नहीं था। उसे तो जीव की देह और आत्मा का इतना विचार था कि वह जब बियाह के आई थी तो ससुराल में लगे चापाकल का पानी तक नहीं पीती थी, बस किसी ने कह दिया था कि उसके भीतर चमड़े का बासर लगा होता है। बीरन महतो के खूब समझाने-बुझाने पर भी वह बड़ी मुश्किल से उस पानी को बरतने के लिए तैयार हुई थी। ऐसे में अपने स्वार्थ के लिए किसी जीव की हत्या! किसी की बली! यह ख्याल ही उसके लिए गले में कांटे की तरह था, पर साथ ही साथ कोख में जो पुलक थी, जो उभार था, वह उसके मन में एक ऐसा मोह पैदा कर रहा था कि उसके लिए वह कुछ भी करने को तैयार हो सकती थी।

बीरन महतो को जब यह खुशखबरी मिली तो उन्हें लगा कि दु:ख के बारे में सालों से उनके ही मुंह से निकलने वाली बात झूठी साबित हो गई है। उन्हें पहली बार भरोसा हो चला था कि दु:ख कितना भी बड़ा हो, उसका कभी न कभी अंत अवश्य होता है, पर जब उन्हें कमैती की उदासी का कारण पता चला, तो वे उस पर बहुत हँसे। वह उसकी मनोदशा समझते थे। उन्हें याद था कि उन्होंने कमैती के घर में आने के बाद मांस-मछली खाना एकदम बंद कर दिया था क्योंकि कमैती जीव हत्या नहीं देख सकती थी, पर बाप कहलाने की ललक, संतान का लोभ, उसके इस संसार में आकर सुरक्षित बने रहने की आस के आगे उन्हें बच्चे के जन्म पर, उसके बाद जन्म लेने वाले किसी मेमने की बली देने की बात, किसी तरह से गलत नहीं जान पड़ती थी और फिर यह कोई ऐसा काम तो था नहीं कि जिसकी शुरुआत गांव में उन्हीं से हो रही हो। औरों ने भी ऐसे तांत्रिक अनुष्ठानों को मंदिर घाट पर देवी की विराट प्रतिमा के सामने पहले भी कई बार संपन्न करवाया था। इस विषय में

वह कमैती की भावुकता को भी समझते थे, पर जैसे इस अनुष्ठान में उन्हें अपने कई अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर मिल रहे थे। इसलिए वह बिना कुछ कहे-सुने ही इसके लिए सहमत हो गए थे। अचानक मदीनी भी उन्हें बहुत समझदार और उनके परिवार की हितैषी लगने लगी थी। उन्होंने शायद पहली बार मदीनी से बात की थी और बली के लिए कमैती की जचकी के बाद जन्मने वाले जीव का इंतजाम करने का जिम्मा उसी के ऊपर यह कहके डाल दिया था कि उसकी सहेली के लिए सही-गलत, सब कुछ वह खूब समझती है, इसलिए वही यह सब देखे और रुपए-पैसे की रत्ती भर भी परवाह न करे।

रातना कमैती के दिन चढ़ने लगे थे। वह अब पहले की तरह उतनी सुबह नहीं उठ पाती थी। गिद्धू झा की माई, जो उसे सालों से ताने देती आई थीं, कमैती की दिनचर्या में आए बदलावों से सशंकित थीं। अब सुबह चापाकल बीरन महतो चलाने लगे थे। अब कमैती के गाल धीरे-धीरे ललाने लगे थे। वह भीतर से बहुत खुश थी पर मदीनी की बली वाली बात याद आते ही उसका दिल बैठने लगता था, पर बीतते समय के साथ, धीरे-धीरे वह बात आई-गई हो गई और फिर वह दिन भी आ गया, जब कमैती को बच्चा हुआ। जचकी कराने में मदीनी, दाई से भी आगे रही। बच्चे की पहली किलकारी गूंजते ही, उसने टाठी पीट-पीट कर ऐलान किया कि कमैती के बेटा हुआ है और रूप-रंग में अपनी मां को पड़ा है। गोरा-चिट्टा, सुंदर और फूल-सा कोमल। बस आंखें बीरन महतो जैसी हैं। बच्चे की सूरत देखके कमैती के अब तक के सब दुख-दर्द दूर हो गए थे, पर मनुष्य जैसे ही एक बाधा को लांघता है, दूसरे की चिंता मन में आ बैठती है, सो दूसरे दिन से ही उसे देवी के मंदिर में तांत्रिक अनुष्ठान में एक जीव की बली के साथ होने वाले समापन की चिंता सताने लगी। वह बार-बार अपना मन यही कहके समझा रही थी कि अब तक जो हुआ सब नियति का खेल था, सो आगे जो होगा वह भी उसकी नियति ही होगी, पर इतने भर से उसका मन शांत नहीं हो रहा था। जब जचकी के दूसरे दिन, शाम को मदीनी ने उससे यह कहके विदा ली कि कल का दिन बड़ा खास है और इस पूरे कारजक्रम का समापन कल नदी किनारे मंदिर घाट पर एक नन्हें मेमने की बलि देकर करने का समय आ गया है। इससे बच्चे की सारी अलाय-बलाय टल जाएंगी और उसके परिवार के सारे दु:ख और कष्ट बली में बहने वाले रक्त के साथ मैया की कृपा से नदी में बहते हुए किसी और घाट जा लगेंगे। कमैती ने मदीनी की सारी बात सुन तो ली, पर जैसे उसी समय से उसके भीतर से कुछ फूटने और रिसने लगा, उस रात उसे किसी करवट नींद नहीं आई।

सुबह जब कमैती बुझे मन से बीरन महतो के साथ बच्चे को लेकर मंदिर पहुंची, तो मदीनी पूरे साजो-सामान के साथ पहले से ही वहां उपस्थित थी। उनके पहुंचते ही बड़े उत्साह से उसने अनुष्ठान के आखरी चरण की शुरुआत कराई और खुद कमैती के बेटे को अपनी गोदी में लेकर मंदिर के बाहर बैठकर उसकी आंखों में देखने लगी। मदीनी हिंदू-मुसलमान दोनों के धर्म को मानती थी, सो दोनों में से किसी धर्म ने भी उसे एक सीमा से आगे प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी थी, पर मदीनी की मन्दिर-मस्जिद दोनों की देहरी के बाहर खासी चलती थी।

बीरन महतो और रातना कमैती हवन कुंड के आगे बैठे, आग में घी झोंक रहे थे। मंदिर के बाहर

बजते ढोल-मजीरों से घाट की सीढ़ियों पर बंधे मेमने की देह रह-रहकर फड़क जाती थी। तभी एक जोर के शंखनाद के साथ हवन के समापन की घोषणा हुई और कमैती और बीरन मंदिर से बाहर निकलकर सीढियों पर आ खड़े हुए। ढोल-मजीरे और तेज हो गए। मंजीरे बजाने वाले ने जेब से गुलाल लेकर हवा में उड़ा दिया। बीरन और कमैती के बाल गुलाल से रंग गए। अब सूरज सिर पर आ पहुंचा और नदी का पानी धूप से झिलमिलाने लगा। सीढ़ियों पर बंधे मेमने को खोलकर उस पर पानी-फूल-रोली छिड़की जाने लगी। कमैती ने सांस साधकर मुंह फेर लिया। मदीनी ने कमैती की दशा भांपते हुए उसके दाहिने हाथ में उसके बेटे को पकड़ा दिया। भूख और सिर पर चटकती धूप से बच्चा बिलख-बिलख कर रोने लगा, पर कमैती आंखें मूंदे, दांत भींचे नदी की ओर मुंह किए खड़ी थी। बीरन, सब कुछ अच्छे से निपट जाने से चेहरे पर संतोष का भाव लिए निश्चिंत से खड़े थे।

तभी अचानक मेमने का सिर घाट की सीढ़ियों पर लुढ़क गया था।

न चाहते हुए भी कमैती के मुंह से चीख निकल गई। उसके सामने वही दृश्य था जिसे वह कभी देखना नहीं चाहती थी। उसके भीतर जैसे एक ही पल में सब कुछ सूख गया था। वह अपने भीतर से उठते किसी चीत्कार जैसे स्वर को सुनने की कोशिश कर रही थी, पर ढोल-मंजीरों के तेज स्वर ने जैसे उसे बहरा कर दिया था, अब उसे भीतर-बाहर का कोई भी स्वर सुनाई नहीं दे रहा था। माथे पर लगा गुलाल बहकर चेहरे पर फैल गया था। आंखें फाड़ने पर भी उसे चारों ओर खून के अलावा कुछ नहीं दिख रहा था। तभी मदीनी ने उसे जोर से झिंझोड़ा और एक काली कसी हुई देह वाले आदमी ने बिना गर्दन के मेमने को लाकर कमैती के बाएं हाथ में पकड़ा दिया। उस आदमी ने लगभग चीखते हुए कमैती के कान में कहा इसे और बच्चे को साथ में लेकर धार में उतरना और मैया का नाम लेकर हाथ बदल लेना। बच्चे को दाएं से बाएं में ले लेना और इसे बाएं से दाएं में लेकर धार में छोड़ देना। मेमने की देह को पकड़ते ही कमैती को लगा था कि वह गर्दन कटने पर भी जीवित है, उसका दिल अभी भी जोर-जोर से धड़क रहा है और सांस अभी भी चल रही है। उसकी गर्दन से बहते लहू से कमैती का आंचल लिथड़ा जा रहा था। दाहिने हाथ में दबा बच्चा अभी भी रो रहा था। कमैती समय के पार किसी और संसार में विचर रही थी। मदीनी ने उसे हिलाते हुए कहा ''देर न कर कमैती बच्चा बड़ी देर से भूखा है। नन्ही-सी जान कब से बिलख रही है।'' मदीनी की बात सुनकर कमैती बिना कुछ कहे घाट की सीढ़ियां उतर कर तेज धार की ओर बढ़ने लगी। बीरन को ढोल-मंजीरे बजाने वालों ने घेर लिया। बीरन के नियम-संयम के दिन खत्म हो गए थे। वह अपनी अंटी में से पैसे निकालकर खुशी से उन पर लुटा रहे थे। उधर कमैती घाट की सीढ़ियां उतरकर कमर डुबां पानी के तेज बहाव में पहुंच गई थी। मदीनी ने लगभग चीखते हुए कहा, ''रुक जा कमैती, यहीं रुककर हाथ बदल ले और मैया का नाम लेकर बहा दे इस जीव को'', पर जैसे कमैती तक मदीनी की कोई आवाज नहीं पहुंच रही थी। कमैती की हालत देखकर घाट पर खड़े सभी लोग अनिष्ट की आशंका से आक्रांत हो उठे थे। सहसा ढोल-मजीरे बजने बंद हो गए थे। बीरन जब तक कुछ समझ पाते तब तक कमैती ने हाथ बदला, बांए हाथ का जीव दाएं में किया और

दाएं हाथ का बाएं में और बाएं का जीव लगातार तेज होती जा रही धारा में बहा दिया। मदीनी ने जोर से छाती पीट ली। बीरन यह दृश्य देखकर सीढ़ी पर ही ढह गए। घाट से दो तीन तैराक धार में कूद पड़े, पर जीते-जागते भूख से रोते-बिलखते तीन दिन के बच्चे का धार में दूर-दूर तक कोई निशान नहीं था। कमैती बिना सिर के मेमने को छाती से लगाए घाट की सीढ़ियों पर बैठी विलाप कर रही थी, ''ई देखा, इ अबहां जियतआ, मरा नाही है, हम सांची कहत हैंन, इ मरा नाही है''।

मदीनी अपने दोनो हाथ उठाए दो-दो मजहबों के खुदाओं से तेज धार की बली चढ़ चुकी नन्हीं-सी जान को बचाने के लिए गुहार लगा रही थी।

थोड़ी ही देर में तीनों तैराक खाली हाथ घाट पर लौट आए थे। नदी धीरे-धीरे शांत होकर सम पर बहने लगी थी। कमैती के होशो हवाश लौटने पर बिना किसी आवाज के उसका आर्तनाद हवा में नमी की तरह घुलने लगा था। उसको लग रहा था भोर हो रही है और गिद्धू झा की माई लाठी टेकती हुई उसकी ओर बढ़ रही हैं। वह कह रही हैं, ''आस ना औलाद फिर जाने कौन-सा नाज फटकती है, कमैती इतने भिन्सारे''। वह जोर-जोर से चापाकल पीट रही है। पानी बह रहा है और उसी में बहा जा रहा है, उसका तीन दिन का बच्चा। कमैती भरे कंठ से, अपनी स्मृति के बहुत अंधेरे कोठार से एक गीत निकालकर गा रही है, 'पार उतरना धीरे से.....धार उतरना धीरे से।'

***

आलेख

वर्तमान कहानी और सर्जनात्मकता की चुनौती

वैभव सिंह

संभवत: हम कहानियों के लेखन और उनकी लोकप्रियता की दृष्टि से किसी सर्वश्रेष्ठ समय में नहीं रह रहे हैं। हिंदी ही नहीं बल्कि दुनिया भर में कहानियों की जगह सिकुड़ती सी नजर आती है। कहानियों का प्रकाशन करने वाली पत्र-पत्रिकाएं लुप्त हो रही हैं और अखबारों ने या तो कहानियां छापना बंद कर दिया है या वे कमजोर कहानियां छापकर कहानियों से कोई पुरानी शत्रुता निकाल रहे हैं। नई पीढ़ी अपनी बेहतर रचनाशीलता के बावजूद खुद को स्वीकृति तथा वांछित महत्त्व से वंचित होता देख रही है। जाहिर है कि यह परिदृश्य आजादी के बाद तथा दूसरे महायुद्ध के बाद के उस दौर से भिन्न है जब बड़ी मात्रा में पत्रिकाएं निकलने लगी थीं और कहानियों को अनायास ही बड़ी वाहवाही और लोकप्रियता प्राप्त होने लगी थी। कथा को लेकर कथाकार, पाठक और उसके आलोचक सब ही किन्हीं ताजी पहल का उत्सुकता से स्वागत करने के लिए तैयार थे और कथा-सिद्धांतों पर चर्चा करना एक आवश्यक काम था। 'कहानीकारों की फौज' और 'दर्जनों साहित्यिक पत्रिकाओं' के प्रकाशन में किसी सामूहिक सर्जनात्मक मन की अभिव्यक्ति को रेखांकित करना चलन में था। नामवर सिंह को तब अपना प्रसिद्ध निबंध 'नई कहानी: नया संदर्भ' लिखकर यह घोषणा करनी पड़ी थी- 'शोरगुल के बीच यह सर्जनात्मक संभावना कहीं दब न जाए, इसलिए इतिहास के पूरे परिदृश्य में वस्तुस्थिति को स्पष्ट करना आवश्यक हो उठा है।' यानी कहानी की साहित्यिक प्रतिष्ठा को निर्विवाद माना जा सकता था और कहानी के भाव-बोध, शिल्प तथा कसौटियों को बहस के केंद्र में लाने की विकलता का ऐतिहासिक रूप तथा आधार बना हुआ था। इस बीच कहानियां कई दशकों को पार करते हुए, हिंदी साहित्य को समृद्ध करते हुए जब 90 के दशक में आईं तब कहानियों में नई ऊर्जा की वापसी के संकेत दिखने लगे और एक साथ ही स्वयंप्रकाश, उदयप्रकाश, संजय से लेकर मैत्रेयी पुष्पा एवं कैलाश बनवासी सरीखे रचनाकारों ने कहानियों का नया विस्तृत दृश्य हमारे सामने लाकर खड़ा कर दिया। 'हंस' और 'पहल' जैसी पत्रिकाओं ने कहानियों में प्राण फूंक दिए और कहानी अपने युग का सबसे विश्वसनीय साक्ष्य बनकर हमारे सामने आ गई। इसी दशक में आई कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' ने तो जैसे गांव की बदलती दुनिया में पुराने मूल्यों के क्षरण, अराजकता तथा दिशाहीन जीवनशैली को बेबाक

अभिव्यक्ति प्रदान की और यह स्थापित किया कि किसी दौर में केवल मध्यवर्ग या शहरी समाज व्यवस्था ही रचनात्मकता की मुख्यधारा को नहीं तय करते हैं बल्कि रचनाकारों की दृष्टि को भारतीय गांवों की तरफ भी अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए। यह वह दशक है जब भारत उदारीकरण की आंधी में बह रहा है और गांव नष्ट हो रहे हैं। इसी दौर में दो एकड़ जमीन और एक टूटे-फूटे पुरखौती कच्चे मकान का स्वामी रामधन अपने बैलों को बाजार में बेचने के लिए बाध्य होता है पर वह जब बैल नहीं बिकते तब अपने को मुक्त और संतुष्ट पाता है। यह ऐसा यथार्थवाद है जो अस्मितावादी मुहावरों में कैद नहीं है और न शहरी कथाओं के फैशन के पीछे चलने में यकीन करता है। इसमें कथा की कला झलकती है और कला का दर्प अहमियत नहीं रखता है। कह सकते हैं हर कहानीकार अपने तरीके का और स्वयं की जीवन-दृष्टि के अनुकूल बैठने वाले यथार्थवाद को चुनता है और यथार्थवाद कि चाहे जितनी भी शास्त्रीय परिभाषाएं गढ़ ली जाएं पर वह कथाकार के अनुभवों के बीच जाकर नए मौलिक रूपों को ग्रहण कर ही लेती हैं।

पर 21वीं सदी के पहले दशक तक आते-आते कहानियों को लड़खड़ाते हुए भी देखा जा सकता है। पिछली सदी के आखिरी दशक में कहानियों की जो तेज उठान थी, वह न केवल स्थिर हो गई बल्कि वह हर तरह की प्रतिबद्धता, विचारधारा तथा एक सीमा तक वैचारिकता से मुक्त होने के बाद मूलहीन-रसहीन शाखाओं में तब्दील होती चली गई। संपादकों को जब कहानी को फिर से अपने पैरों पर खड़ा करने का कोई रास्ता न दिखा तो वे 'विशिष्ट विशेषांक' तैयार कराने लगे और कहानी को मनोरंजन, प्रेम व बेवफाई के तीखे मसालों के साथ परोसने लगे। कुछ तो ऐसे निकले जो हिंदी कहानी को अतृप्त यौन व कामलोलुप ग्रंथियों का बोझ उठाने के लिए इस्तेमाल करने की सलाहें देने लगे। उन्होंने खासतौर पर महिला लेखिकाओं को फोन कर बेशर्मी के साथ सेक्स की कहानियां मांगनी आरंभ कर दीं। इससे वातावरण में क्षणिक उत्तेजना तो जन्म लेती है पर बाद में उसी तरह से निराशा भी पसरती चली जाती है। कहानियों का पाठक समुदाय खंडित होता चला गया और यह अहसास जन्म लेने लगा कि मनोरंजन माध्यमों की बहुलता के युग में कहानियां हाशिए पर धकेली जा चुकी हैं। तकनीक की सर्वोच्चता के युग में कहानियों के शब्द ढलान पर जाते प्रतीत होने लगते हैं। संसार में झांकने और दीवार के पार देखने में कहानियां खिड़की का काम करती रही हैं लेकिन अब ढेरों ऐसी खिड़कियां समाज और विज्ञान ने और भी खोल दी हैं। लेकिन हाशिए पर रहकर भी स्वयं को केंद्र मानने का पुराना अभिमान इतनी आसानी से पीछा छोड़ने वाला नहीं है। दलितों और स्त्रियों की कथाओं ने दमदार सकारात्मक हस्तक्षेप किया और यह स्वीकार कर लिया गया, जो एक जमाने में आसानी से नहीं माना जाता था, कि साहित्य अपने समय की राजनीति की भी उपज होता है और वह उस राजनीति का विस्तार भी करता है। आधुनिकता, आधुनिक भावबोध, विभ्रम, यथार्थवाद या अस्तित्ववाद की पदावलियां अकस्मात ही पिछले दस-पंद्रह साल में बौनी होती चली गईं और पाठक की तुलना में पाठ तथा मनोरंजन की तुलना में मूल्य-उच्छेदन के उद्यम ने ज्यादा रफ्तार भी पकड़ ली। यह अनुभव होने लगा कि विचारों को साझा करने और व्यक्त करने की कोई सार्वभौमिक भाषा अभी बननी बाकी है क्योंकि अस्मिताएं खुद भी सार्वभौमिक नहीं बल्कि

स्थानीय और संकीर्ण हैं। इसलिए पहले अस्मिताओं को व्यक्त होने दो, उन्हें अपना पक्ष रखने दो और फिर बाद में सार्वभौमिक की चिंता करना शुरू करेंगे। इसी दौर में कथाओं के माध्यम से संस्कृति का पुनर्पाठ करना अधिक रोचक साहित्यिक दायित्व बन गया और ऐसा लगने लगा कि जब समाज की हर संस्था सत्तापरस्त हो चुकी है, तब साहित्य ही सत्ता तथा संस्कृति का सबसे विश्वसनीय प्रतिपक्ष गढ़ने में सफल हो रहा है।

अब इसी ऐतिहासिक बोध तथा बिंदु और उसकी विडंबनाओं के धरातल पर कहानियों की नियति और कुंडली तैयार होती रही। हिंदी कहानी के पिछले एक दशक में कई चर्चित नाम भी सामने आए हैं जैसे कुणाल सिंह, चंदन पांडे, वंदना राग, जयश्री राय, सत्यनारायण पटेल, कैलाश वानखेड़े आदि। हिंदी कहानी का यह विचित्र चरण भी है जहां हिंदी कहानियों की प्रवृत्तियां ढूंढने के बजाय कथाकारों की नाम-चर्चा पर जोर अधिक बढ़ा है और कथाकारों को भी इसमें लाभ ही नजर आता है। उन्हें इसमें जल्द लोकप्रिय होने की संभावना दिखती है पर जल्द हासिल होने वाली लोकप्रियता अक्सर ही कम टिकाऊ होती है और कम विश्वसनीय भी। कह सकते हैं कि प्रवृत्तियों को लेकर बातचीत का दबाव कम होना कोई शुभ लक्षण नहीं है क्योंकि ये दो चीजें एक साथ दर्शाता है। पहला, कथाकार हों या आलोचक दोनों ही कहानी के प्रति भले ही गंभीरता को खो नहीं रहे हों लेकिन कहानी को केवल अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति बनाते जा रहे हैं। इस रूप में वे कहानी को नहीं बल्कि कहानीकार के व्यक्तित्व को केंद्र में रखने में सारा जोर लगा रहे हैं। कहानी की तुलना में कहानीकार का महत्त्व बढ़ना वैसे ही है जैसे -वृक्ष की विशेषताओं को हम मिट्टी से अलग करके ही न देखें। दूसरा, पाठक के पास कहानी पहुंचना तो चाहती है पर पाठक से उसका संवाद कमजोर पड़ा है और नतीजतन पाठक इस बात से बेफिक्र हो गया है कि वह जो कथाएं पढ़ रहा है, उनका असल वैचारिक-सैद्धांतिक आधार क्या है। यह इतिहास के अजीब पेंच भरे और घुमावदार मोड़ का भी सूचक है जिसमें लेखन और पाठक के बीच संवादहीनता भी बढ़ती गई है। कहानीकारों का समुदाय बढ़ा है पर पाठक समुदाय की वृद्धि दर नकारात्मक हो चुकी है। निराशा के बीच चमकीली रेखाएं वहां हैं जहां कहानीकारों का अपनी विधा को लेकर उत्साह थमा नहीं है और वे इस बात से अवगत हैं कि कहानियों के बिना किसी दुनिया की कल्पना नहीं की जा सकती, इसीलिए कहानियों का मोर्चा परास्त किए जाने योग्य मोर्चा नहीं है। पर केवल उत्साह काफी नहीं होता क्योंकि सृजन बिना किसी मुकम्मल विश्व-दृष्टि के अंधी गली में फंसता चला जाता है। दुर्भाग्य से नई पीढ़ी के रचनाकारों के साथ यह भयानक सीमा है कि वे किसी आंदोलन, प्रतिरोध, स्वप्न से अपने को जोड़ने में संकोच करते हैं और यह संकोच और कुछ नहीं बल्कि रचनाशीलता को हर तरह के जोखिम से काटने की सुविधावादी सोच का ही परिणाम है। वे न सत्ता के लिए खतरा हैं, न सामाजिक अन्याय को बरकरार रखने वाले सांस्कृतिक तंत्र के लिए। उनकी कहानियां किसी तरह का मूल्य-बोध जगाने के मामले में कमजोर हैं और गलत मूल्यों के खिलाफ सच्ची घृणा को भी वे ठीक से नहीं पैदा कर पाती हैं। केवल स्त्री या दलित या चंद मानवतावादी जुमलों के भरोसे रहने से कहानी-कला भी अविकसित रहती है और कहानी की दिशा तय न होने के कारण कथा-रस भी नहीं पैदा हो पाता है।

वे किसी सामाजिक वस्तु-सत्य के निकट पहुंचती हैं पर लेखकीय पूर्वग्रहों के कारण अपने प्रभाव को खो बैठती हैं। कहानी की कला उतना साथ नहीं छोड़ती है, जितना कहानी की दृष्टि। कई बार तो बहुत संभावनाशील कथाकार आंचलिकता के गुणों को कहानी में उभारते हैं, स्थानीय लोक-संस्कृति के बारे में उनकी सहानुभूति भी स्पष्ट रहती है पर वे आंचलिकता में इस तरह उलझ जाते हैं कि कहानी का हाल वही होता है जो बारीक सूत कातने वाले उस अनाड़ी का होता है जो अच्छी मशीन और कच्चे माल का सहारा तो लेता है पर सूत उसका उतना नायाब नहीं हो पाता है।

इधर के कथाकारों ने कुछ ऐसी कथाएं भी लिखी हैं जो मनुष्य के अंधकारपूर्ण सत्य को नहीं बल्कि उजले अंतर्विरोधों को उजागर करने में सफल रही हैं। इस संदर्भ में हाल ही में आई कुणाल सिंह की कहानी 'इतवार नहीं' या जयश्री राय की कहानी 'अपनी कैद' को पढा जा सकता है। 'इतवार नहीं' का लेखक सरकारी और व्यावसायिक तंत्र में रोजमर्रा की दोहरावभरी जिंदगी में ऊबते और लगभग निढाल हो चुके लोगों की कथा को घर और दफ्तर के बीच के तनावपूर्ण जीवन के माध्यम से उभारता है। यहां सादगी का झीना आवरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना सादगी भरे जीवन में कदम-कदम पर खड़ी मुश्किल जटिलताओं की अभिव्यक्ति। सार्त्र कहा करते थे कि मनुष्य ने हर रहस्य का पता लगा लिया है पर यह फिर भी नहीं पता चल सका कि जीवन को कैसे जिया जाए। यहां जिंदगी से हारकर लोग खुदकुशी कर लेते हैं, तब निरंतर संघर्षशील चरित्र भी सोचने लगते हैं- 'ऐसा नहीं कि इतना दुखी हूं कि खुदकुशी जैसा कुछ बस यों ही। पहले ऐसा नहीं सोचता था, लेकिन साल भर पहले दफ्तर के कैशियर देवीशीष बाबू ने खुदकुशी कर ली, तब से, पता नहीं, लगता है कि एक रास्ता इधर को भी जाता है।' यहां घर का सुखचैन बाहरी तंत्र की विराट जकड़नों के आगे निरंतर सीमित होते जाने को अभिशप्त है और उसी के बीच से ही जीवन में सांसें, भागदौड़ और अनुभव का पूरा संसार किसी तरह से सुरक्षित रखा जा रहा है। कहानीकारों के आगे हमेशा ही यह चुनौती होती है कि वे अपने अनुभव को प्रामाणिक अभिव्यक्त दें पर साथ ही यह भी कम बड़ी चुनौती नहीं होती कि आत्मानुभव के बाहर के जीवन का भी उसी रचनात्मक गहराई के साथ स्पर्श करें। दूसरों के अनुभव का हिस्सा बनना, उनकी दृष्टि को ग्रहण करना और अपने अहं के पार जाकर दूसरों के मर्म को छूना ही वह जरूरी प्रक्रिया है जो किसी कहानीकार को बड़ा बनाती है।

गनीमत की बात है कि अपने अनुभव या सामाजिक अनुभव, व्यक्ति बनाम समाज, बाह्य यथार्थ बनाम आंतरिक यथार्थ, स्थूल बनाम सूक्ष्म, रूप बनाम अंतर्वस्तु के पहले जैसी ध्रुवीकृत बहसें अनोखे ढंग से शांत पड़ चुकी हैं और लेखकों में यह अहसास जन्मा है कि कहानी को अपने-अपने तरीकों से लिखो और बाकी पाठकों पर छोड़ दो कि वे रचना के भीतर से पैदा हो रही बहुअर्थी ध्वनियों और अर्थ-बहुलता को किस तरह से ग्रहण कर पाते हैं। कहानी पहले भी जीवन के किसी एक टुकड़े और चुने हुए विषय की प्रतिनिधि थी। पर अब कहानी अधिक विषय-केंद्रित विधा के रूप में देखी जाने लगी और इसी लिए स्त्री कहानी, दलित कहानी, यौन विषयक कहानी, पर्यावरणवादी कहानी, बाजार-विरोधी कहानी जैसे ढेरों विषय में विभाजित कर कहानियों की श्रेणियां ऐसे बनने लगीं जैसे किसी जैव वैज्ञानिक लैब में जीव-जंतुओं को अलग-अलग जार या

ट्यूब में रसायन में घोलकर रखा जाता है और फिर आगंतुकों को दिखाया जाता है। इससे कहानी की लोकप्रियता नहीं बढ़ी है और न कथालोचना का विकास हुआ है। अगर कुछ हुआ है तो वह है जीवन की अपार असमस्याओं को किसी समग्र दृष्टि से समझने के स्थान पर उन्हें खंडित, विभ्रमपूर्ण और निर्विकल्प तरीकों से समझने की चेष्टा करना और अंततः पाठक और लेखक दोनों को समग्र जीवन यथार्थ समझने और समग्रतापूर्ण और महा-आख्यानपरक विजन से दूर करना।

विषयों में कहानियों के विभाजन का बुरा प्रभाव कथाकारों पर भी इस रूप में पड़ा है कि वे अपनी कहानी को किसी एक विषय में अटाने में शक्ति लगा देते हैं ताकि उनकी कहानी उस विषय की सबसे बोल्ड प्रवक्ता बनकर उभर सके। जैसे कि स्त्री की देहवादी मांगों और उसकी अतृप्त यौन कुंठाओं पर रचित कहानियों को देखें। हाल ही में 'कथाक्रम' पत्रिका में छपी जयश्री राय की कहानी 'अपनी कैद' भिन्न विषय को चुनती है जिसमें ऐसा चरित्र है जो पड़ोस की स्त्री में अपनी मां की छवि को देखने लगता है और मां की तरह ही उसका हर समस्या से मुक्ति दिलाना चाहता है। तब वह अपनी जिम्मेदारी महसूस कर सिगरेट छोड़कर काम की तलाश करने लगता है और ऐसा महसूस करता है जैसे उसे किसी बड़े उद्देश्य को हासिल करना है। वह उसके किसी काम आ सकने के लिए खुद को तैयार करता रहता और शैरोन को देखकर उसे लगता- 'तितली के परों को छूने से जैसे अंगुली के पोर रंग जाते हैं, मौसम की मेहंदी शैरोन पर भी गहरे चढ़ी थी। बुझने से पहले मोम की तरह वह तेज शिखा में एकदम से जल उठी थी। उसका दिपता रूप मुझे खुशी के साथ एक अनाम डर से भी भर गया। उसका बुझना मेरा अंधकार होगा, असीम अंधकार।' इसके बाद कहानी वह झटकेदार मोड़ लेती है जब पति की पिटाई और घर की बदहाली से टूटी शैरोन कथा-चरित्र (नैरेटर) के भीतर पल रही मातृ-छवि को खुद ही भंग कर देती है और बोलती है- 'तुम बिना मांगे मुझे बहुत कुछ देते आए हो, और मैं लेती भी रही हूं..मगर आज मुझे मेरे मन की एक चीज दे दो..ये रात..दे दो।' मातृ-छवि में कैद युवक को एक विवाहित स्त्री द्वारा मुक्त करने की यह पहल स्त्रीवाद की झलक देती है और साथ ही स्त्री-मन की अतल गहराइयों से भी पाठकों को अवगत करा देती है। इस रूप में हिंदी कथाएं कहीं-कहीं अति नाटकीयता के निकट पहुंचने में सार्थकता भी देखती हैं। लेकिन यह भी लगता है जैसे देहवादी विमर्श का परचम उठाने के लिए आतुर कहानीकार इस जल्दबाजी में हैं कि कहीं कहानी से देह-संभोग आदि विषय गायब न हो जाएं इसी का परिणाम है कि कहानी के अंत में जिस कथा-नायिका शैरोन की जिस्मानी जरूरत को किसी खूबसूरत प्रतीक या परोक्ष रूप में व्यक्त कर कहानी को अधिक संतुलित बनाया जा सकता था, वहां वही नायिका 'अपनी रात दे दो-रात दे दो' जैसी मनुहार करने में लगी है जो स्वाभाविक कम प्रतीत होता है। वह संभोग के क्षण को किसी कीमत पर खोना नहीं चाहती है। यह सही है कि जिस तरह से अति-साधारणता जीवन का अभिन्न अंग है, उसी तरह कभी फैंटेसी तो कभी स्वप्नाकांक्षा के रूप में अति-नाटकीयता भी जीवन के भीतर ही मौजूद है। लेकिन अति नाटकीयता की यह इच्छा मन में अधिक रहती है और रचनाकार को भी उसे मन में मौजूद आकांक्षाओं के रूप में ही प्रस्तुत करना पड़ता है। यहां जीवन का अर्थ दुकान से मिले रेडीमेड माल की तरह नहीं है बल्कि मानव-चरित्रों के आपसी संबंध और

जीवनाचार के बीच निर्मित होता है और इसीलिए वह ढेर सारी परोक्ष प्रतीकात्मकता से जुड़ा होता है। शब्दों को भरी हुई पिस्तौल भी बताया गया है और यह बात इस रूप में भी सही है कि कहानी में हर शब्द किसी विशेष अर्थ की ओर हमें ले जाता है और वे अर्थहीन जीवन के अर्थों र्तथा अर्थपूर्ण जीवन की अर्थहीनता को उजागर करते चलते हैं।

वर्तमान कहानियां विकराल पूंजीवादी अवस्था और बिखरते मूल्यों के बीच से विकसित हो रही हैं और कहानीकारों को इस चुनौती को स्वीकार करना होगा कि वे कैसे कहानी की कला और अपने सामाजिक विवेक, दोनों को धार देते हुए इस भ्रमित, अनिश्चित और संवेदना को बाधित करने वाले दौर में कहानी को पाठकों तक पहुंचाते हैं और कैसे कहानी को सम्मानित विधा के तौर पर स्थापित करते चलते हैं। इसके लिए यह जरूरी है कि कहानीकारों के नेटवर्क, मेट्रो शहरों की साहित्यिक सियासत, आपसी प्रशंसा–निंदा और पुरस्कार या उपेक्षा के जाल से कहानी को मुक्त कराना और कहानी पर ही सारी चर्चा को केंद्रित करना। केंद्र में कथा हो क्योंकि अंतत: कथा ही पाठक के लिए महत्त्वपूर्ण होती है।

* * *

लेखकों के पते

अरविंद कुमार सिंह–सी–5/44 ए गली नं 2, सादतपुर, दिल्ली–110094 मो.–9971898709
अभिज्ञात–40 ए ओल्ड कोलकाता रोड, पो. पातुलिया, टीटागढ़, कोलकाता–700119
मो.– 9830277656
आशुतोष– हिंदी विभाग, डा. हरि सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर –470003 मो.–9479398591
आकांक्षा पारे काशिव –फीचर संपादक, आउटलुक हिंदी, एबी–6 सफदरजंग इंक्लेव नई दिल्ली–110016
अर्चना वर्मा–जे 901 निहो हाई बर्ड स्काटिश गार्डन, अहिंसा खंड, इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201014 (उप्र) मो.– 987128207
अशोक गुप्ता–305 हिमालय टावर अहिंसा खंड–2, इंदिरापुरम, गाजियाबाद– 201014 (उप्र) मो.– 9871187875
भरत प्रसाद–सहायक प्रोफेसर हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, नेहू परिसर, शिलांग–793022 मेघालय मो.–9863076138
ज्ञानप्रकाश विवेक–1875, सेक्टर–6, बहादुरगढ़–124507 (हरियाणा) मो.–9813491654
गोविंद उपाध्याय–जी. वन. टी. –257, अरमापुर इस्टेट, कानपुर–208009 मो.– 9651670106
गीताश्री–डी–1142, गौर ग्रीन एवेन्यू, अभय खंड–2, इंदिरापुरम, गाजियाबाद–201010 (उप्र) मो.– 9818246059
हुस्न तबस्सुम निहां –सावित्रीबाई फुले छात्रावास, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा–442005 (महाराष्ट्र) मो.– 9415778595
इंदिरा दांगी–162 दाता कालोनी, एयरपोर्ट रोड, भोपाल (मप्र) मो.–8109352499
जयनंदन–एस एफ– 3/116 बाराद्वारी, सुपरवाइजर फ्लैटस, साकची, जमशेदपुर– 831001 (झारखंड) मो.–9431328758
ज्योति कुमारी–डी–18 ज्योति कुटीर, बुद्धा कालोनी, पटना–800001 (छत्तीसगढ़)
मो.–7428168649
कैलाश बनवासी–41 मुखर्जी नगर सिकोलाभाठा, दुर्ग–492001 (छत्तीसगढ़)
मो.–9827993920
कृष्णकांत– एफ–89 गली नंबर–3, पश्चिमी विनोद नगर, दिल्ली–110092 मो. 9718821664
मनीषा कुलश्रेष्ठ –9/96 अर्जन विहार, दिल्ली कैंट, 110010 मो. 9911252907

मनोज मोहन- एलपी-61/बी पीतमपुरा, दिल्ली-110034 मो.- 9868664457
नीलम शंकर-सी- 12 एचआईजी, गोविंदपुर कालोनी, इलाहाबाद (उप्र) मो.- 9415663226
नीरजा पांडे-14 अलकापुरी कालोनी, कुर्सी रोड, लखनऊ-226022(उप्र) मो.- 9235499454
पल्लव-393 डीडीए ब्लाक सी एंड डी, कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, दिल्ली-110088 मो.- 8130072004
प्रेम भारद्वाज-संपादक पाखी, बी-107 सेक्टर-63, नोएडा-201303(उप्र) मो.9350544994
पंकज सुबीर-पीसी लैब, सम्राट कांप्लेक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर-466001 (मप्र) मो. 9977855399
प्रदीप जिलवाने-काला खेत, केके स्कूल के सामने, खरगोन-451001 (मप्र) मो.-9755980001
पंकज पराशर-सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अलीगढ़-202002 (उप्र) मो. 9634282886
राजकुमार राकेश-2544 सेक्टर 27 सी, चंडीगढ़ मो. 9418884205
रजनी गुप्त –5/259 विपुल खंड, गोमती नगर, लखनऊ(उप्र) मो. 9452295943
राकेश कुमार सिंह-कंचनप्रभा, जयप्रकाश नगर, (कतीरा), आरा-802301 (बिहार) मो.9431852844
बंधु कुशावर्ती-सी-1423/2 इंदिरा नगर, लखनऊ-226016(उप्र) मो.9721899268
सूरज पालीवाल-अधिष्ठाता साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो.- 9421101128
शरद सिंह-एम- 111 शांति विहार, रजाखेड़ी सागर (मप्र) मो. 9425192542
सरिता शर्मा-1975 सेक्टर अर्बन इस्टेट, गुडगांव 122001 (हरियाणा)
शैलेय-दानपुर, रुद्रपुर, उधमसिंह नगर-263153 (उत्तराखंड)मो. 9760971225 (उत्तराखंड)
विवेक मिश्र –123- सी पाकेट-सी, मयूर विहार फेज-2,दिल्ली- 110091 मो. 9810853128
वैभव सिंह- मो. 9711312374
सिद्धेश्वर- अवसर प्रकाशन, पो. बाक्स नं. 205, करबिगहिया, पटना-800001 (बिहार) मो. 92341760365

* * *